पालि साहित्य का इतिहास

लेखक
भरतसिंह उपाध्याय, एम० ए०
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, जैन कालेज, बड़ौत

२००८
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

कल्याणमित्र

श्री तुलसीराम वर्मा को

प्रकाशकीय

श्री भरत सिंह उपाध्याय एम० ए० के इस ग्रन्थ 'पालि साहित्य का इतिहास' का प्रकाशकीय लिखना मे अपने लिए विशेष महत्त्व की बात मानता हूँ। विद्वान लेखक बौद्ध और जैन साहित्य के पण्डित हैं। "बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन" पर इन्हें बंगाल हिन्दी मण्डल से १५००) का 'दर्शन' पारितोषिक मिल चुका है। पर यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। गभीर साहित्य पर लिखने वाले हिन्दी में अभी बहुत कम हैं। जिन इने गिने व्यक्तियों का नाम उँगलियों पर गिना जा सकता है उनमें एक उपाध्याय जी है यह इनके इस प्रकाशित ग्रन्थ के आधार पर पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है। लेखक ने चार वर्षों के अध्यवसाय और तपस्या से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। ससार के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य को हिन्दी जनता के लिए सुगम बनाने का श्रेय लेखक को मिल कर रहेगा। इस ग्रन्थ का लाभ देश की दूसरी भाषाओ को भी मिलेगा। साहित्य के विद्यार्थी इससे ईसा पूर्व के सामाजिक जीवन, भाव और विचार से परिचित होगे।

यह ग्रन्थ दस अध्याय और उनमे वर्णित वैज्ञानिक विभागों मे पूरा हुआ है। विषय-सूची को एक बार देख लेने पर सामान्य हिन्दी पाठक का बौद्धिक क्षितिज अनायास विस्तृत हो उठता है और ग्रन्थ के भीतर पैठने की जिज्ञासा जाग जाती है। हिन्दी साहित्य के विकास और उन्नयन के लिए सस्कृत की जानकारी जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यक है पालि की जानकारी भी। संस्कृत का परिचय सस्कार और अभ्यास से शिक्षित वर्ग को थोड़ा बहुत मिलता रहा है पर पालि परिचय के लिए हिन्दी मे अब तक के प्रकाशित ग्रन्थो मे यह ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है, यह कहने मे हमे सकोच नही है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दर्शनो में लेखक की रुचि और जिज्ञासा पाठक के भीतर दर्शन और साहित्य दोनो की रुचि जगा देती है।

पालि साहित्य में शाक्यमुनि के आचार-विचार, धर्म और संघ के विवरण के साथ इस देश का वह इतिहास जो ईसा-पूर्व और बाद की कई शताब्दियो का

इतिहास है, हमें मिल जाता है। पालि में उपलब्ध सामग्री जो न मिलती तो फिर उस काल का हमारा इतिहास भी लुप्त हो गया होता। दो सहस्र वर्ष पहले का हमारा समाज, हमारे जीवन का तल, हमारी आशा आकाक्षायें, हमारी दिन-चर्या, बुद्धि और कौतुक के सभी क्षेत्र कम या अधिक इस ग्रन्थ से हमें सुगम बन जाते हैं। संस्कृति का वह सूत्र जिसे हम भूल चुके थे, लेखक ने जिस मनोयोग से खोज निकाला है, उसका अभिनन्दन हम इसलिए करेंगे कि महत्त्व के ऐसे कठिन कार्य अर्थ और यश की कामना से सम्भव नही होते। गहरी निष्ठा, कठोर संकल्प, अडिग समाधि और अनासक्त बुद्धि से, व्यक्ति जब निर्माण मे लगता है तभी वह ऐसी रचनायें दे सकता है। श्री उपाध्याय जी का सरल स्वरूप कितनी सरलता से पाण्डित्य का पर्वत उठा सका है, देख कर विस्मय होता है। अभी वे तरुण है और कार्य करने के अनेक वर्ष उनके सामने है। सकल्प और साधना की यही योगवृत्ति जो उनमे बनी रही तो वे अभी और कई ग्रन्थ रत्न हिन्दी भाषा को दे सकेंगे।

लक्ष्मीनारायण मिश्र
साहित्य मन्त्री

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में बौद्ध साहित्य और उसमे भी पालि-साहित्य का बहुत महत्त्व है, इतना कहने से भी हम पालि साहित्य के महत्त्व को अच्छी तरह प्रकट नही कर सकते। वस्तुतः ईसवी सन् के पहले और पीछे की पाँच शताब्दियो के भारत के विचार, साहित्य, समाज सभी क्षेत्रो की हमारी जानकारी बिलकुल अधूरी रह जाती यदि हमारे पास पालि साहित्य न होता। हमारे इतिहास के कितने ही अन्धकारावृत भागों पर पालि साहित्य ने प्रकाश डाला है। हमारे ऐतिहासिक नगरो और गाँवों मे से बहुतो को विस्मृति के गर्भ मे से बाहर निकालने का श्रेय पालि साहित्य को है। फिर भारत के सर्व श्रेष्ठ पुरुष गौतम बुद्ध के मानव रूप का साक्षात्कार करने के लिए पालि साहित्य तो अनिवार्यतया आवश्यक है।

दुनिया की प्राय सभी उन्नत भाषाओ मे पालि साहित्य की अनमोल निधियो के अनुवाद हुए हैं, पालि साहित्य के ऊपर परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे गए हैं, यह खेद की बात है कि हमारी हिन्दी भाषा में ऐसी कोई पुस्तक नही लिखी गई थी। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के अनुवाद अवश्य हुए हैं, लेकिन वहाँ भी बहुत थोडे भाग मे काम हो सका है। श्री भरत सिंह उपाध्याय ने पालि साहित्य के इतिहास पर एक विस्तृत ग्रन्थ लिख कर हिन्दी साहित्य की एक बडी कमी को पूरा किया है। उनके ग्रन्थ मे पालि साहित्य और तुलनात्मक भाषा के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सामग्री दी गई है। इस ग्रन्थ के सब गुणो का परिचय देना यहाँ सम्भव नही है। किन्तु मै समझता हूँ कि यह पुस्तक पालि साहित्य के उच्च विद्यार्थियों एव अध्यापको के लिए तो बहुत सहायक साबित होगी ही, साथ ही साहित्य में रुचि रखने वाले पाठको के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

दिल्ली — **राहुल सांकृत्यायन**

२-६-४९

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

भूमिका

हिन्दी में पालि साहित्य सम्बन्धी अध्ययन का अभी सूत्रपात ही हुआ है। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवादो के अतिरिक्त पालि साहित्य सम्बन्धी कार्य हिन्दी मे प्राय बहुत कम ही हुआ है। अनुवाद भी प्राय. विनय-पिटक और सुत्त-पिटक के कुछ ग्रन्थो के ही हुए है। सुत्त-पिटक के भी सयुत्त और अंगुत्तर जैसे निकाय अभी अनुवादित नही हो पाए है। खुद्दक-निकाय के भी अनेक ग्रन्थ अभी अनुवादित होने को बाकी है। सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक पर तो अभी हाथ ही नही लगाया गया। इसी प्रकार सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य, जिसमे बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की अट्ठकथाएँ और अन्य विशाल साहित्य सम्मिलित है, अभी अनुवाद की बाट देख रहा है। इस साहित्य मे से केवल 'मिलिन्द-प्रश्न' और 'महावश' तथा कुछ अन्य अल्पाकार ग्रन्थ ही हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर सके है। 'विसुद्धिमग्गो' जैसा ग्रन्थ अभी हिन्दी जनता को अविदित है। ऐसा लगता है कि एक महान् उत्तराधिकार से हम वचित हो गए है। जिस दिन अवशिष्ट पालि साहित्य हिन्दी रूपान्तर ग्रहण कर लेगा, उस दिन भारतीय मनीषा को एक नई स्फूर्ति मिलेगी। उसकी आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत, जो आज सूखे पडे है, पुन आप्लावित हो उठेंगे, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

जो दशा पालि ग्रन्थों के अनुवादो की है, वही उनके मूल पाठों के नागरी सस्करणो की भी है। सन् '३७ मे पुण्यश्लोक बर्मी भिक्षु उत्तम ने भिक्षु-त्रय, महामति राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित खुद्दक-निकाय के ११ ग्रन्थो को नागरी लिपि में प्रकाशित किया था। तब से बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से निदान-कथा, महावस, दीघ-निकाय (दो भाग), मज्झिम-निकाय (मज्झिम-पण्णासक), थेरीगाथा,

थेरगाथा, मिलिन्दपञ्हो तथा पातिमोक्ख आदि का प्रकाशन नागरी लिपि में हो चुका है। पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य के भिक्खु और भिक्खुनी पातिमोक्ख के तथा डा० विमलाचरण लाहा के 'चरियापिटक' के नागरी संस्करण भी स्मरणीय है। इसी प्रकार मुनि जिनविजय का 'अभिधानप्पदीपिका' का संस्करण, प्रोफेसर बापट के 'धम्मसंगणि' और 'अट्ठसालिनी' के संस्करण, आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के 'विसुद्धिमग्ग' एव स्वकीय नवनीत-टीका सहित 'अभिधम्मत्थ सगह' के संस्करण तथा भिक्षु जगदीश काश्यप का मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित 'पालि महा-व्याकरण' ये सब हिन्दी मे पालि-स्वाध्याय के महत्त्वपूर्ण प्रगति-चिन्ह है। इनके अलावा कुछ अन्य ग्रन्थों के भी नागरी सस्करण निकले है और धम्मपद, सुत्त-निपात, तेलकटाहगाथा, खुद्दक-पाठ आदि कुछ ग्रन्थो के मूल पालि-सहित हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए है। फिर भी जो कुछ काम अभी तक हो चुका है वह उसके सामने कुछ नही है जो अभी होना बाकी है। भारतीय विद्वानों के सामने एक भारी काम करने को पडा हुआ है। यह काम सफलता-पूर्वक हो, इसके लिए अथक परिश्रम और आर्थिक व्यवस्था दोनो की ही बडी आवश्यकता है। महाबोधि सभा की कई योजनाएँ आर्थिक अभाव के कारण अपूर्ण पडी हुई है। भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत सयुत्त-निकाय का हिन्दी-अनुवाद वर्षों से पड़ा हुआ है और उसके प्रकाशन की व्यवस्था अभी-अभी हुई है। इसी प्रकार उनके द्वारा सकलित बृहत् पालि-हिन्दी शब्द कोश के प्रकाशन का सवाल है। अनेक पालि ग्रन्थों के मूल पाठ, जिन्हे विद्वान् भिक्षुओं ने नागरी अक्षरो मे लिख लिया है, विद्यमान है, किन्तु उनके छपने की कोई व्यवस्था नही। यही अवस्था अनेक अनुवादो की है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि महाबोधि सभा या कोई पुरानी या नई साहित्य-सस्था सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और हिन्दी-अनुवाद को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ मे ले और विद्वानो के सहयोग से उसे निकट भविष्य मे पूरा करे। सरकार और जनता का भी कर्तव्य है कि वह इसमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग दे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दिनों मे हम प्रत्येक स्वाधीनता-दिवस पर अग्रेजो पर यह आरोप लगाया करते थे कि अन्य अनेक ह्रासो के साथ उन्होंने हमारा सांस्कृतिक ह्रास भी किया है। आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के चौथे वर्ष में भारतीयों को यह याद दिलाने की आवश्यकता

प्रतीत नहीं होगी कि जब कि हमारी अपनी भाषा में कुछ गिने-चुने पालि ग्रन्थों के मूल पाठों और अनुवादो के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अंग्रेजों ने बीसों वर्ष पहले सम्पूर्ण पालि साहित्य के मूल पाठ और अग्रेजी अनुवाद को रोमन-लिपि में रख दिया था। क्या पालि साहित्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अपेक्षा अंग्रेजी संस्कृति और सभ्यता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्धित है ? क्या हमारी अपेक्षा पालि साहित्य का महत्त्व और ममत्व अंग्रेजो के लिए अधिक था ? क्या ५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० नक का भारतीय इतिहास हमारी अपेक्षा अंग्रेज लोगो के लिए अधिक ज्ञातव्य विषय था ? सन् १९०२ मे 'बुद्धिस्ट इंडिया' लिखते समय रायस डेविड्स ने अपने देश की सरकार की उदासीनता की शिकायत करते हुए लिखा था कि इगलैण्ड मे केवल दो जगह सस्कृत और पालि की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है जब कि जर्मनी की सरकार ने अपने यहाँ बीस से अधिक जगह इसका प्रबन्ध किया है "जैसे कि मानो जर्मनी के स्वार्थ भारत मे हमसे दस गुने से भी अधिक हो।" आज सन् १९५१ मे भारत मे पालि के उच्च स्वाध्याय की अवस्था और उसके प्रति सरकार के शून्यात्मक सहयोग को देख कर कोई भारतीय विद्यार्थी यह दुःखद अनुभूति किए बिना नही रह सकता कि सन् ५१ मे भारतीय सरकार का जितना हित इस देश की सस्कृति और साहित्य के साथ दिखाई पाड़ता है उसके कदाचित् दुगुने और बीस गुने से भी अधिक क्रमश इगलैण्ड और जर्मनी का सन् १९०२ मे था !

जब पालि ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद और उनके मूल पाठों के नागरी-सस्करणों की उपर्युक्त अवस्था है तो पालि साहित्य पर हिन्दी में अभी विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने का कोई आधार ही नही मिलता। किसी भी साहित्य के विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन एवं उस पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने के लिए पहले यह आवश्यक है उसके मूल सस्करण और अनुवाद उपलब्ध हो, जिनके आधार पर उपादान-सामग्री का सकलन किया जा सके। हिन्दी इस शर्त को पूरा नही करती। इसीलिए सिर्फ दो-एक निबन्धों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ कोई विवेचनात्मक ग्रन्थ हमें नहीं मिलते। पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने सिंहल मे अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप पालि ग्रन्थों का एक संक्षिप्त विवरण लिखा था जो 'पालि वाङ्मय की अनुक्रमणिका' शीर्षक से काशी विद्यापीठ

की पत्रिका 'विद्यापीठ' के संवत् १९९३ के आश्विन-पौष अंक में निकला था। एक दूसरा पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के चतुर्थ परिशिष्ट के रूप मे है। सरसरी तौर पर यहाँ पालि साहित्य के विकास को दिखाने की चेष्टा की गई है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुवादो की प्रस्तावनाओं मे उन उन ग्रन्थो सम्बन्धी विवरणो के साथ-साथ सामान्यतः पालि साहित्य सम्बन्धी परिचयात्मक विवरण भी कही-कही दे दिया गया है। विशेषत. महापडित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्ध-चर्या', 'दीघ-निकाय', 'विनय-पिटक' एव 'अभिधर्म-कोश', आदि की भूमिकाएँ, भदन्त आनन्द कौसल्यायन की 'जातक' (प्रथम खण्ड) और 'महावश' की भूमिकाएँ और भिक्षु जगदीश काश्यप की 'उदान' और 'पालि महाव्याकरण' की भूमिकाएँ इस दृष्टि से देखने योग्य हैं। भदन्त श्री शान्ति भिक्षु जी के भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध इधर 'विश्व भारती पत्रिका' और 'विशाल भारत' मे निकलते रहे है। 'धर्मदूत' मे भी पालि साहित्य सम्बन्धी निबन्ध त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित जी, भिक्षु शीलभद्र जी, भिक्षु धर्मरत्नजी, तथा अन्य अनेक बौद्ध विद्वानो के पालि साहित्य सम्बन्धी लेख प्राय निकलते रहते है। इधर बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी कुछ विवेचनात्मक ग्रन्थ भी हिन्दी मे निकले है। उनमे भी यथास्थान पालि साहित्य का कुछ विवरण है। पर उनमे कोई ऐसी मौलिकता या विशेषता दृष्टिगोचर नही होती जिससे उसे विशिष्ट महत्त्व दिया जा सके। अत. प्रकीर्ण निबन्धो, प्रस्तावनाओ और गौण सक्षिप्त विवरणों के अतिरिक्त पालि साहित्य के इतिहास पर हिन्दी मे अभी कुछ नही लिखा गया है।

हाँ, अग्रेजी मे पालि साहित्य के इतिहास पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। मेबिल बोड का 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा' (लन्दन, १९०९) और जी० पी० मललसेकर का 'दि पालि लिटरेचर आंव सिलोन' (लन्दन, १९२८) क्रमशः बरमा और लका के पालि साहित्य पर अच्छे विवेचनात्मक ग्रन्थ है। डा० विन्टर-नित्ज ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर' (कलकत्ता, १९२३) की दूसरी जिल्द (पृ० १-४२३) में पालि साहित्य का संक्षिप्त किन्तु

अत्यन्त प्रामाणिक विवरण दिया है। पालि भाषा और साहित्य का अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर विद्वत्तामय विवेचन जर्मन विद्वान् डा० विल्हेल्म गायगर ने अपने ग्रन्थ 'पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज' (अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, १९४३) में किया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पालि साहित्य का निर्देश तो अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में किया गया है (पृष्ठ ९–५८), किन्तु पालि भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन (पृष्ठ १–७ तथा ६१–२५०) इस ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र कही नही। पालि भाषा और साहित्य दोनो के परिपूर्ण और शृंखलाबद्ध विवेचन की दृष्टि से डा० विमलाचरण लाहा का दो जिल्दो मे प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' (लन्दन, १९३३) एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि इसका भाषा-सम्बन्धी विवेचन डा० गायगर के ग्रन्थ के सामने नगण्य सा है। पालि साहित्य-सम्बन्धी इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के अलावा उसके विभिन्न पहलुओ पर प्रकाश डालने वाले अनेक प्रबन्ध एवं परिचयात्मक निबन्ध आदि है, जो पालि टैक्स्ट् सोसायटी के 'जर्नल' मे अनुसन्धेय है। रॉयल एशियाटिक सोसायटी के 'जर्नल' तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स मे भी प्रासंगिक तौर पर पालि साहित्य सम्बन्धी प्रभूत सामग्री मिलती है। पालि टैक्स्ट सोसायटी लन्दन के अग्रेजी-अनुवादो की भूमिकाओ और अनुक्रमणिकाओ में भी भारी सामग्री भरी पडी है, जिसका उपयोग पालि साहित्य के किसी भी इतिहासकार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है। सम्पूर्ण पालि साहित्य में प्राप्त व्यक्तिवाचक नामों का विवरणात्मक कोश (पालि डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स) जिसे अत्यन्त परिश्रम और विद्वत्ता के साथ सिहली विद्वान् डा० मललसेकर ने, विशेषत: पालि टैक्स्ट सोसायटी के अनुवादो की अनुक्रमणियो के आधार पर, ग्रथित किया है, पालि साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदा एक प्रेरणा की वस्तु रहेगी। पालि साहित्य के विभिन्न पहलुओ पर विवेचन हमे कर्न के 'मैनुअल ऑव इन्डियन बुद्धिज्म (स्ट्रैसबर्ग १८९६), रायस डेविड्स के 'बुद्धिज्म: इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर' (लन्दन, १९१०) एव 'बुद्धिस्ट इंडिया' (लन्दन, १९०३) आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते है। वंश-साहित्य पर डा० गायगर का 'दीपवस एण्ड महावंस' (अंग्रेजी अनुवाद, कोलम्बो १९०८) एक महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक ग्रंथ है। अभिधम्म-पिटक के विषय का विवेचन करने वाले प्रबन्धो और ग्रन्थो में स० ज०

औग का 'अभिधम्म लिटरेचर इन बरमा' (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९१०-१२), डा० सिलवा का 'ट्रीटाइज्ज औन बुद्धिस्ट फिलासफी' श्रीमती रायस डेविड्स की 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' (धम्म सगणि का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन १९००) की भूमिका, महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक (लुज़ाक एण्ड कं०, लन्दन, १९३८) एव भिक्षु जगदीश काश्यप की 'अभिधम्म फिलॉसफी) (दो जिल्दे, सारनाथ १९४२) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार सुत्त-पिटक, विनय-पिटक, पालि काव्य, व्याकरण, अभिलेख-साहित्य, अट्ठकथा-साहित्य आदि पालि-साहित्य के विभिन्न पहलुओ पर इतनी विवेचनात्मक सामग्री अग्रेजो और यूरोप की अन्य भाषाओ जैसे फ्रेंच और जर्मन में भरी पडी है कि उसके सक्षिप्त तम निर्देश के लिए भी एक महाग्रन्थ की आवश्यकता पडेगी। यह कहना अतिशयोक्ति न जान पड़े इसलिए यहाँ यह बता देना जरूरी है कि गत सत्तर-अस्सी वर्षो मे पश्चिमी देशो में भारतीय विद्या-सम्बन्धी जो खोज-कार्य हुआ है, उसका तीन-चौथाई बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति से ही सम्बन्धित है।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा मे पालि साहित्य के इतिहास पर लिखी जाने वाली यह प्रथम पुस्तक है। इस पृष्ठभूमि से देखने पर इसमे अनेक अनिवार्य कमियाँ मिलेगी, जिनकी पूर्ति भावी विद्वानो की कृतियाँ करेगी। १२-१-४७ के अपने कृपा-पत्र मे पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने मुझे उत्साहित करते हुए लिखा था—"हिन्दी मे 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो ऐसा ही लिखा जाय कि अंग्रेजी इतिहास फीके पड़ जायें और १९४७ तक की साहित्यिक खोज का पूरा पूरा सार रहे। . . . .अपनी राष्ट्र-भाषा मे 'पालि साहित्य का इतिहास' लिखा जाय तो वह ऐसा ही होना चाहिए कि उसे ही पढने के लिए लोगों को हिन्दी पढ़नी पडे"। मैं नही कह सकता कि पूज्य भदन्त जी ने मुझसे जो बड़ी आशा बाँधी थी, उसे पूरा करने मे मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ। परन्तु मुझे विश्वास है कि बरमा, सिंहल और स्याम के निवासी भी यदि बुद्ध के देश के इस माणवक के पालि साहित्य सम्बन्धी विवरण को पढ़ेंगे तो अधिक निराश नही होगे। महापडित राहुल सांकृत्यायन और पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप जी के अनुवादो से मुझे इस पुस्तक के लिखने में बड़ी

सहायता मिली है। पूज्य भिक्षु काश्यप जी के अभिधम्म-सम्बन्धी अध्ययन के फलों और निष्कर्षों को (जैसे कि वे अभिधम्म फिलॉसफी में प्रस्फुटित हुए हैं) पाठक इन पृष्ठों में हिन्दी-रूप मे प्रतिबिम्बित देखेंगे और पूज्य राहुल जी की विद्वत्ता के फलो से मैं कितनी प्रकार लाभान्वित हुआ हूँ, इसकी तो कोई इयत्ता नहीं। उन्होंने कृपा कर इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा है, जिसके लिए उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। पूज्य आचार्य श्री वियोगी हरिजी ने इस रचना मे आदि से ही बड़ी रुचि दिखाई है, यह मेरे लिए एक बड़ी प्रेरणा और आश्वासन की बात रही है। उन्होंने ही श्री राहुल जी से मेरा परिचय कराया और इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता भी की। आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी ने इस ग्रन्थ की रूपरेखा को देखकर मुझे अत्यधिक उत्साहित किया, जिसके लिए उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री जगन्नाथ तिवारी जी, आचार्य श्री धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री, आचार्य श्री सीताराम जी चतुर्वेदी एव आचार्य श्री कृष्णानन्द जी पन्त का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होने कृपा कर पाडु लिपि के कई अशो को ध्यानपूर्वक पढ़ा और सत्परामर्श दिये। राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदासजी टडन, श्री चन्द्रबलीजी पाण्डेय, श्री कृष्णदेव प्रसादजी गौड, श्री दयाशकरजी दुबे, श्री प० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र, श्री रामप्रतापजी त्रिपाठी, एव सम्मेलन की साहित्य-समिति के सदस्यो का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होने इस पुस्तक को सम्मेलन के द्वारा प्रकाशन के योग्य समझा। अन्त मे मैं श्री सीतारामजी गुण्ठे, व्यवस्थापक सम्मेलन मुद्रणालय तथा उनके सहयोगियो के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन्होने बड़ी दक्षता से इस पुस्तक को छापा है। भगवान बुद्ध का अनुभाव उन पर अभिवर्षित हो !

किसी खोजपरक विवेचनात्मक ग्रन्थ के लेखक के लिए आजकल यह प्राय. आवश्यक माना जाता है कि वह यह बताये कि कहाँ तक उसने अपने पूर्वगामियो का अनुसरण किया है अथवा कहाँ तक उसने मौलिक स्थापनाएँऔर निष्कर्ष उपस्थित किए हैं। मैं समझता हूँ यह काम तो पालि-साहित्य के मर्मज्ञ समालोचक ही, जिन्होंने पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के ग्रन्थो को पढा है, कर सकेंगे। जहाँ तक मैं समझता हूँ मैंने इस पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ, पक्ति-पक्ति, शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर का विश्लेषण कर देखा तो मुझे कही 'मै' या 'मेरा' नही मिला, 'अपना' कुछ दिखाई

नहीं दिया। जो 'मैं' नहीं है, जो मेरा 'अपना' नहीं है, उसको जितना जल्दी हो छोड़ देना ही मेरे लिए कल्याणकारी होगा। इसी विचार के साथ मैं समाप्त करता हूँ।

जैन कालेज, बड़ौत,
१०-९-५१

भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

पहला अध्याय

पालि भाषा

दूसरा अध्याय

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-विभाग

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

चौथा अध्याय

विनय-पिटक

पाचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग

(१०० ई० पू० से ४०० ई. तक)

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, अभिलेख आदि

उपसंहार

पहला अध्याय

पालि भाषा

'पालि' शब्दार्थ-निर्णय

जिसे हम आज पालि भाषा कहते हैं, वह उसका प्रारम्भिक नाम नही है। भाषा-विशेष के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। कम से कम ईसा की तेरहवी या चौदहवी शताब्दीसे पूर्व उसका इस अर्थ में प्रयोग नही मिलता। 'पालि' शब्द का सब से पहला व्यापक प्रयोग हमे आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी) की अट्ठकथाओं और उनके 'विसुद्धिमग्ग' में मिलता है। वहाँ यह शब्द अपने उत्तरकालीन भाषा-सम्बन्धी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों मे इस शब्द का प्रयोग किया हैं, (१) बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ मे, (२) 'पाठ' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ मे। चूँकि 'मूल त्रिपिटक' और 'मूल त्रिपिटक के पाठ' मे भेद कहने भर को है, अत मोटे तौर से कहा जा सकता है कि 'मूल त्रिपिटक' या 'बुद्ध-वचन' के सामान्य अर्थ मे ही बुद्धघोष महा-स्थविर ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया है। जिस किसी प्रसंग में उन्हें पोराण-अट्ठकथा (प्राचीन अर्थकथा) से विभिन्नता दिखाने के लिये मूल त्रिपिटक के किसी अश को उद्धृत करना पडा है, वहाँ उन्होने 'पालि' शब्द से बुद्ध-वचन या मूल त्रिपिटक को अभिव्यक्त किया है, जैसे 'विसुद्धिमग्ग' मे "इमानि ताव पालियं, अट्ठकथायं पन ...." (ये तो 'पालि' में है, किन्तु 'अट्ठकथा' में तो ......" तथा वही "नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं" (यह न 'पालि' में आया है और न 'अट्ठकथा' मे)। इसी प्रकार 'सुमंगलविलासिनी' (दीघ-निकाय की अट्ठ-कथा) की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में "नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति" (यह न 'पालि' में दिखाई देता है और न 'अट्ठकथा' मे) तथा पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा में "पालिमुत्तकेन पन अट्ठकथानयेन". ('पालि' को छोड़कर 'अट्ठ-कथा' की प्रणाली से) आदि। इसके अलावा जहाँ उन्हें त्रिपिटक की व्याख्या करते हुए कही कही उसके पाठान्तरों का निर्देश करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने 'इति

पि पालि' (ऐसा भी पाठ है) कह कर 'पालि' शब्द से मूल त्रिपिटक के 'पाठ' को द्योतित किया है, जैसे 'सुमंगलविलासिनी' की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में 'महच्च-राजानुभावेन' पद की व्याख्या करते हुए पहले उन्होंने उसका अर्थ किया है 'महता राजानुभावेन' और फिर पाठान्तर का निर्देश करते हुए लिखा है 'महच्चा इति पि पालि' अर्थात् 'महच्चा' ऐसा भी पाठ है। यहाँ 'पालि' का अर्थ निश्चित रूप से 'पाठ' ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि समान प्रसंगो में 'पालि' के समानार्थ वाची शब्द के रूप में 'पाठ' शब्द का भी प्रचुर प्रयोग आचार्य बुद्धघोष ने किया है। कुछ एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। "सेतकानि अट्ठीनि....सेतट्ठिका ति पि पाठो" (समन्तपासादिका—वेरञ्जकण्डवण्णना) तथा "अपगतकाळको.....अपहतकाळको ति पि पाठो" (समन्तपासादिका-वेरञ्जकण्ड-वण्णना)

आचार्य बुद्धघोष के कुछ ही समय पूर्व लंका में लिखे गये 'दीपवंस' ग्रन्थ में भी जो चौथी शताब्दी ईसवी की रचना है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के अर्थ में ही किया गया है।[1] आचार्य बुद्धघोष के बाद भी सिंहल देश में 'पालि' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनो अर्थों में होना रहा। आचार्य धम्मपाल (पाँचवी-छठी शताब्दी ईसवी) ने अपनी 'परमत्थदीपनी' (खुद्दक-निकाय के कतिपय ग्रन्थो की अट्ठकथा) मे भी 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल त्रिपिटक के 'पाठ' के अर्थ में किया है, यथा "अयाचितो ततागच्छोति .. आगतो ति पि पालि"। इसी प्रकार 'बुद्ध-वचन' के अर्थ मे भी 'पालि' शब्द का प्रयोग वहाँ उपलक्षित होता है। 'चूलवंस (तेरहवी शताब्दी) मे भी , जो 'महावंस' (छठी शताब्दी) का उत्तरकालीन परिवर्द्धित अश है, 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन, अट्ठकथा से व्यतिरिक्त मूल पालि त्रिपिटक, के अर्थ में ही किया गया है। उसका एक अति प्रसिद्ध वाक्य है—"पालिमत्तं इधानीत नत्थि अट्ठकथा इध"[2] (यहाँ केवल 'पालि' ही लाई गई है, 'अट्ठकथा' यहाँ नहीं है)। इसी प्रकार 'पालि महाभिधम्मस्स' अर्थात् 'मूल त्रिपिटक के अन्तर्गत अभिधम्म का' ऐसा भी प्रयोग वही मिलता है।[3] उसी के

---

१. २०।२० (ओल्डनबर्ग का संस्करण)
२. ३७।२२७; मिलाइये वहीं ३३।१०० (गायगर का संस्करण)
३. ३७।२२१ (गायगर का संस्करण)

समकालिक 'सद्धम्मसंगह' (तेरहवी-चौदहवी शताब्दी) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।[1]

उपर्युक्त उद्धरण 'पालि' शब्द के अर्थ-निर्धारण मे बड़े महत्व के हैं। चौथी शताब्दी ईसवी से लेकर चौदहवी शताब्दी ईसवी तक जिन अर्थों मे 'पालि' शब्द का प्रयोग होता रहा है, उसका वे दिग्दर्शन करते हे। अन उनसे हमे एक आधार-मिलता है, जिसका आश्रय लेकर हम चौथी शताब्दी ईसवी से पहले 'पालि' शब्द के इतिहास पर विचार कर सकते हैं। त्रिपिटक में तो 'पालि' शब्द मिलता नही। त्रिपिटक को आधार मान कर लिखे हुए साहित्य में भी बुद्धघोष की रचनाओ या 'दीपवस' के समय से पूर्व किसी ग्रन्थ मे 'पालि' शब्द का निर्देश नही मिलता। फिर आचार्य बुद्धघोष ने किस परम्परा का आश्रय ग्रहण कर 'पालि' शब्द को उपर्युक्त अर्थों मे प्रयुक्त किया, यह हमारे गवेषण का मुख्य विषय है। दूसरे शब्दों मे, बुद्धघोष के समय से पहले 'पालि' शब्द का इतिहास हमे जानना है। भाषाओ के विकास मे, स्थान और युग की विशेष परिस्थितियो के कारण, शब्दों के रूपो, अर्थो और ध्वनियो मे नाना विकार होते रहते हैं। ध्वनि, रूप और अर्थ के उन विकारों का हम ढूढना है, जिनका अतिक्रमण कर 'पालि' शब्द बुद्धघोष के समय तक 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा और फिर तेरहवी-चौदहवी शताब्दी तक उसी अर्थ को धारण करता रहा। उसके बाद के अर्थ-विकार की बात तो बाद मे। उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण उद्धरणो मे 'पालि' शब्द के जो अर्थ व्यक्त किये गये है, उन्ही को आधार मानकर कुछ आधुनिक विद्वानो ने 'पालि' शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध मे कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की है, जिनमे तीन अधिक प्रभावशाली हैं। पहली स्थापना इस बात को प्रमुखता देकर चलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाओ मे चूँकि 'पालि' शब्द 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक' के अर्थ को व्यक्त करता है, इसलिये उसका मूल रूप भी कोई ऐसा शब्द रहा होगा जो बुद्ध-काल मे इसी अर्थ को सूचित करता हो। दूसरी स्थापना इसी प्रकार 'पालि' शब्द के 'पाठ' अर्थ का प्रमुखता देकर चलती है। तीसरी स्थापना संस्कृत शब्द 'पालि' जिसका अर्थ पंक्ति है, को प्रधानता देकर उसे बुद्धघोष आदि आचार्यों

---

१. पृष्ठ ५३ (सद्धानन्द द्वारा सम्पादित एवं जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १८९०, में प्रकाशित संस्करण)

के द्वारा प्रयुक्त 'पालि' शब्द के अर्थों के साथ संगत करने का प्रयत्न करती है। इन तीनों स्थापनाओं की समीक्षा हमे करनी है।

पहली स्थापना के अनुसार 'पालि' शब्द का प्राचीनतम रूप हमे 'परियाय' शब्द मे मिलता है। 'परियाय' शब्द त्रिपिटक में अनेक बार आया है। कहीं कही 'धम्म' शब्द के साथ और कही कही अकेले भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। उदाहरणत. 'को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायो ति'[१] (भन्ते! यह किस नाम का धम्म-परियाय है) 'भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो'[२] (भगवान् ने अनेक पर्यायों से धर्म को प्रकाशित किया) आदि, आदि। स्पष्टत ऐसे स्थलो मे 'परियाय' शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश है। बाद मे 'परियाय' शब्द का ही विकृत रूप 'पलियाय' हो गया। अशोक के प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेख मे 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे मिलता है। मगध के भिक्षु-सघ को कुछ चुने हुए बुद्ध-वचनो के स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए प्रियदर्शी 'धम्मराजा' कहते हे "भन्ते! ये धम्म-पलियाय हे। मै चाहता हूँ कि सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक और उपासिकाएँ, इन्हे सदा सुने और पालन करे।"[३] 'पलियाय' शब्द के 'पलि' उपसर्ग का दीर्घ होकर बाद में 'पालियाय' शब्द बन गया। 'पालियाय' शब्द का ही संक्षिप्त रूप बाद मे 'पालि' होकर 'बुद्ध-वचन' या 'मूल त्रिपिटक' के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। इस मत की स्थापना भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालि महाव्याकरण' की वस्तुकथा मे योग्यतापूर्वक की है।[४]

दूसरा मत, जिसकी स्थापना भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने अंग्रेजी निबन्ध "पालि भाषा का उद्गम और विकास, विशेषत. सस्कृत व्याकरण के आधार पर" में की है,[५] इससे कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार 'पालि' या ठीक कहे तो 'पाळि' शब्द

---

१. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ. १।१)

२. सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ-१।२)

३. इमानि भन्ते धम्मपलियायानि............एतानि भन्ते धम्मपलियायानि इच्छामि किंति बहुके भिखुपाये भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु च उपधालेयेयु च। हेवं हेवा उपासका च उपासिका चा।

४. पृष्ठ आठ-बारह।

५. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४१-६५६

का मूल उद्गम संस्कृत 'पाठ' शब्द है। इस मत के अनुसार सस्कृत 'पाठ' शब्द का का ही विकृत या परिवर्तित रूप 'पाळि' या 'पालि' है। यह विकास-क्रम भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार कुछ-कुछ इस प्रकार चला। प्राचीन काल मे 'पाठ' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण लोग विशेषत. वेद-वाक्यो के 'पाठ' के लिये किया करते थे। भगवान् बुद्ध के समय मे भी यह परम्परा ब्राह्मणों मे चली आ रही थी। जब अनेक ब्राह्मण-महाशाल बुद्ध-मत में प्रविष्ट हुए तो उन्होने इसी शब्द को, जिसे वे पहले वेद के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त करते थे, अब बुद्ध-वचनो के लिये प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। यह स्वाभाविक भी था। जब उन्होंने बुद्ध को 'मुनि' 'वेदज्ञ' 'वेदान्तज्ञ' कह कर अपनी श्रद्धा अर्पित की, तो उनके वचनों के निर्देश के लिये भी वे पवित्र 'पाठ' शब्द का अभिधान क्यो न करते? भिक्षु सिद्धार्थ ने ठीक ही 'पाठ' शब्द के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दो की सूची दी है, जो पहले वैदिक परम्परा के थे किन्तु बौद्ध संघ में आकर जिन्होने नये स्वरूप ग्रहण कर लिये थे। 'संहिता' 'सहित' होगई, 'तन्त्र' 'तन्ति' हो गया, 'प्रवचन' 'पावचन' हो गया। अतः प्राचीन 'पाठ' शब्द का भी बौद्ध संस्करण असम्भव न था। किन्तु बौद्धो ने जो कुछ लिया उसे एक नया स्वरूप भी प्रदान किया। सस्कृत 'पाठ' शब्द भिक्षु-संघ में आकर 'पाळ' हो गया। यह ध्वनि-परिवर्तन भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर सर्वथा सम्भव भी था। सस्कृत के सभी मूर्द्धन्य व्यञ्जन (ट् ठ् ड् ढ ण्) पालि और प्राकृत भाषाओं में 'ळ्' हो जाते है। उदाहरणत संस्कृत 'आटविक' पालि मे 'आळविक' है, सं० 'पटज्वर' पालि मे 'पळज्वर' है, सं० 'एडक' पालि में 'एळक' है। इसी प्रकार स० वेणु-पालि वेलु; स० दृढ़-पालि दळह, आदि, आदि। 'पाळ' शब्द का ही बाद में विकृत रूप 'पालि' हो गया। यह भी भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमों के असंगत न था। अन्त्य स्वर-परिवर्तन का विधान पालि मे अक्सर देखा जाता है, जैसे संस्कृत 'अंगुल' से पालि 'अगुलि-अंगुली; सं० 'सर्वज्ञ' से पालि सब्बञ्ञु आदि, आदि। अतः मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पाळ' शब्द का विकृत रूप 'पालि' हो गया। 'पालि' शब्द में 'ल्' व्यञ्जन वैदिक मूर्द्धन्य 'ळ्' ध्वनि का प्रतिरूप था। इस ध्वनि का विकास कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'ड्' के रूप मे हुआ है। यह वैदिक ध्वनि अन्तःस्थ 'ल्' से भिन्न थी। किन्तु 'ल्' और 'ळ्' के उच्चारणों में भेद न कर सकने के कारण बाद मे मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पालि' शब्द को 'पाळि' शब्द के साथ मिला दिया गया, जो वास्तव में व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से एक बिलकुल भिन्न शब्द था। 'पाळि' शब्द के साथ इस

प्रकार मिल कर 'पालि' शब्द भी बुद्ध-वचन के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार 'पालि' शब्द की यही निरुक्ति है।

तीसरे मत का निर्देश करने से पूर्व इन दोनों मतो की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दोनों मत निर्दोष है। ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों पर दोनो खरे उतरते है। दोनो एक दूसरे के विरोधी भी नहीं हैं। जहाँ तक वे भिन्न भिन्न हेतुओ से 'पालि' शब्द का तात्पर्य 'बुद्ध-वचन' में दिखलाते हैं, वे एक दूसरे के पूरक है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भिक्षु सिद्धार्थ के मत की एक निर्बलता है। उन्होंने 'पाठ' शब्द का विकृत रूप 'पाळ' बतलाया है और फिर उससे 'पाळि' या 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की है। इसे ऐतिहासिक रूप से ठीक होने के लिये यह आवश्यक है कि 'पाळ' शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य मे उपलब्ध हो। तभी उसके आधार पर 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना की जा सकती है। ऐसा कोई उदाहरण भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने उक्त निबन्ध में नही दिया। आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से जो उदाहरण उन्होंने दिये है, उनमे भी 'इति पि पाठो'ही बुद्धघोषोक्त वचन है, 'इति पि पाळो' नही। जब बुद्धघोष के समय अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक 'पाठ' शब्द का वैसा ही सस्कृत का सा रूप पालि-साहित्य में मिलता है, तो फिर इस स्थापना के लिये क्या आधार है कि बुद्ध-काल में ही संघ में आकर उसका रूप 'पाळ' हो गया था? वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से तो यही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है कि 'इति पि पालि' के बाद ही, उससे पहले नहीं, 'इति पि पाठो' लिखना आरम्भ किया गया होगा, जब कि त्रिपिटक के पठन-पाठन का प्रचार कुछ अधिक बढा होगा। श्रीमती रायस डेविड्स का भी यही मत है[1]। अत. भिक्षु सिद्धार्थ की व्युत्पत्ति के लिये कोई अवकाश नहीं रह जाता। इस ऐतिहासिक आधार की कमी के कारण वह प्रामाणिक नही माना जा सकता। भिक्षु जगदीश काश्यप के मत में ऐसी कोई कमी दिखाई नही देती। मात्रू शिलालेख का अद्वितीय साक्ष्य उसे प्राप्त है। 'पेय्यालं' शब्द में भी यही तत्व निहित है[2]। अतः एक पूरी परम्परा का आधार लेने के कारण और इस कारण भी कि पालि साहित्य में उपलब्ध 'पालि' शब्द के समस्त विकृत

---

१. देखिये उनका शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स, पृष्ठ ४२९-३०
२. देखिये पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तेतालीस (वस्तुकथा)

या विकसित रूपो के साथ उसकी संगति लग जाती है, वह मत हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है।

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में तीसरा मत प० विधुशेखर भट्टाचार्य का है। उनके मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ 'पक्ति' है और इस प्रकार वह सस्कृत 'पालि' शब्द का पर्यायवाची है। इस मत को पालि भाषा और साहित्य का भी कुछ समर्थन प्राप्त न हो, ऐसी बात नहीं है। प्रसिद्ध पालि कोश 'अभिधानप्पदीपिका' (बारहवी शताब्दी) में 'पालि' शब्द के 'बुद्धवचन' अर्थ के साथ साथ 'पक्ति' अर्थ भी दिया गया है। "तन्ति बुद्धवचन पन्ति पालि"। पालि-साहित्य में 'अम्ब-पालि' 'दन्तपालि' जैसे प्रयोग भी 'पालि' शब्द के 'पक्ति' अर्थ को ही द्योतित करते है। अत 'पालि' शब्द का अर्थ पक्ति' और बाद मे 'ग्रन्थ की पक्ति' इस आधार पर कर लिया गया है और बुद्धघोष द्वारा प्रयुक्त अर्थ के साथ उसकी सगति भी मिला ली गई है। किन्तु इस मत मे दोष फिर भी स्पष्ट है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने उसमे प्रधानतया तीन कमियाँ दिखाई है।[1] (१) 'पक्ति' के लिये लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। त्रिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व से पहले लिखा नही गया था। अत उस समय के लिये त्रिपिटक के उद्धरण के लिये 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द इस अर्थ मे नही उपयुक्त हो सकता था। (२) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पक्ति' होता तो उस अवस्था म 'उदान-पालि' जैसे प्रयोगो में 'उदान पक्ति' अर्थ करने से कोई समझने योग्य अर्थ नही निकलता (३) 'पालि शब्द का अर्थ यदि 'पक्ति'होता तो अट्ठकथाओ आदि में कही भी उसका बहुवचन में भी प्रयोग दृष्टिगोचर होना चाहिये था, जो नही होता। अत 'पालि' शब्द का 'पक्ति' अर्थ उसके मौलिक स्वरूप तक हमें नही ले जा सकता। हाँ, भिक्षु जगदीश काश्यप ने जो आपत्तियाँ उठाई है, उनमे से प्रथम के उत्तर मे आशिक रूप से यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटक की अलिखित अवस्था मे 'पालि' या 'पक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल शब्दो की पठित पक्ति से लिया जाता रहा होगा और उसके लेखबद्ध कर दिये जाने पर उसकी लिखित पक्ति ही 'पालि' कहलाई जाने लगी होगी। श्रीमती रायस डेविड्स ने इसी प्रकार का मत प्रकाशित किया है।[2]

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ आठ (वस्तुकथा)

२. देखिये उनका शाक्य और बुद्धिस्ट ओरीजिन्स, पृष्ठ ४२९-३०

फिर भी इस मत से 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति पर कुछ प्रकाश नही पडता। अत प्रस्तुत प्रसग मे वह हमारे लिये महत्वपूर्ण नही हो सकता।

उपर्युक्त मतो के अलावा एक मत जर्मन विद्वान् डा० मैक्स वेलेसर ने सन् १९२४ और फिर १९२६ मे प्रकाशित किया था। इस मत के अनुसार ('पाटलि' या 'पाडलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) शब्द का ही सक्षिप्त रूप 'पालि' है। चूंकि 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ मे अट्ठकथाओ तक मे कही मिलता नही, अत. मैक्स वेलेसर का मत अपने आप गिर जाता है। डा० थॉमस द्वारा उसका पर्याप्त प्रतिवाद कर दिये जाने पर[1] आज उसका कोई नाम नही लेता। यही भाग्य कुछ अन्य अल्प प्रसिद्ध मतो का भी हुआ है, जिनम ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा उनके उद्भावको का बुद्धि-वैचित्र्य ही अधिक दिखाई पडता है। इस प्रकार कुछ 'पल्लि' (गाँव) शब्द से 'पालि' भाषा की उत्पत्ति बनाकर उसे ग्रामीण भाषा बताना चाहते है, कुछ प्राकृत-पाकट-पाअड-पाअल-पालि इस प्रकार उसकी व्युत्पत्ति करना चाहते है, कुछ सस्कृत 'प्रालेय' या 'प्रालेयक (पडोसी) शब्द से उसकी व्युत्पत्ति बताकर उसमे एक विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्य की खोज करना चाहते है[2]। यह सब अन्धकार ही अन्धकार है।

हाँ, 'अभिधानप्पदीपिका' के 'पालि' शब्द के महत्वपूर्ण अर्थ को लेकर हमे कुछ और विचार कर लेना चाहिये। 'पालि' शब्द को तन्ति ' (सस्कृत तन्त्र) 'बुद्ध-वचन' और 'पक्ति' का समानार्थवाची मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति वहाँ की गई है—"पा-पालेति रक्खतीति पालि" अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, वह 'पालि' है। किसको पालन करती है ? किसकी रक्षा करती है ? स्पष्टतम उत्तर है बुद्ध-वचनो को। 'पालि' ने किस प्रकार बुद्ध-वचनो का पालन किया, किस प्रकार उनकी रक्षा की ? एक उत्तर है त्रिपिटक के रूप मे उनका सकलन कर के,

---

१. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, दिसम्बर १९२८ पृष्ठ ७७३; मिलाइये विंटरनित्ज़ः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट दूसरा); लाहाः पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १८ (भूमिका); देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३०-३१ में डा० कीथ द्वारा मैक्स वेलेसर के मत का खण्डन भी।

२. देखिये जहांगीरदार-कृत कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी ऑव दि इन्डो आर्यन लेंग्वेजेज़ में पालि-सम्बन्धी विवेचन।

दूसरा उत्तर है लंकाधिपति वट्टगामणि के समय मे उनको लेखबद्ध कर के। त्रिपिटक का सकलन किया, इसलिये 'पालि' 'बुद्ध-वचन' है, त्रिपिटक को लेख-बद्ध किया, इसलिये 'पालि' 'पंक्ति' है।' ऐसा मालूम पडता है 'अभिधानप्पदीपिका कार ने 'पालि' शब्द के इस पालन करने या रक्षा करने सम्बन्धी अर्थ पर जोर देकर उस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य की ओर सकेत किया है,जो सिंहल मे सम्पादित किया गया और जिसके विषय मे 'महावश' मे लिखा है "त्रिपिटक की पालि (पक्ति) और उसकी अट्ठकथा को, जिन्हे पूर्व में महामति भिक्षु कठस्थ कर के ले आये थे प्राणियो की (स्मृति-) हानि देख कर, भिक्षुओ ने एकत्रित हो, धर्म की चिरस्थिति के लिये पुस्तको मे लेखबद्ध करवाया।"[१] कुछ भी हो, 'पालि' शब्द के इतिहास की दृष्टि से 'अभिधानप्पदीपिका' की निरुक्ति अवश्य महत्वपूर्ण है, यद्यपि वह 'पालि' शब्द के मौलिक रूप 'परियाय' पर विचार नही करती। वह केवल उसका समानार्थवाची 'बुद्ध-वचन' शब्द दे देती है। कुल मिलाकर हम कह सकते है कि 'पालि' शब्द की निरुक्ति और उसका अर्थ-निर्वचन जो 'परियाय' या 'पलियाय शब्द मे उसके मुल रूप को खोजता है, हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है। 'तत् समन्वयात्'।

पालि भाषा

ऊपर हमने चौदहवी शताब्दी तक का 'पालि' शब्द का इतिहास देखा है। इस बीच हमे एक भी उदाहरण ऐसा न मिला जिसमे 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ मे किया गया हो। फिर कब इस शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के स्थान पर जिस भाषा मे बुद्ध-वचन लिखे गये, उसके लिये होने लगा, इसका निर्धारण करना कठिन है। फिर भी हुआ यह बडे स्वाभाविक नियम के आधार पर। पहले 'तन्ति' या त्रिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिये सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद मे प्रयुक्त होने लगा। पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की भाषा। बाद में स्वय 'पालि' शब्द ही भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य हम उस भाषा से लेते है, जिसमे स्थविरवाद बौद्धधर्म का

---

४. ३३।१००-१०१; देखिये महावंश पृष्ठ १७८-७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रक्खा हुआ है। किन्तु 'पालि' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्वयं पालि-साहित्य में भी कभी नहीं किया गया है। जिस भाषा में तिपिटक लिखा गया है, उसके लिये वहाँ मागधी, मगध-भाषा, मागधा निरुक्ति, मागधिक भाषा जैसे शब्दों का ही व्यवहार किया गया है, जिनका अर्थ होता है मगध-देश में बोले जाने वाली भाषा। इस प्रकार के प्रयोगों के कुछ-एक उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होंगे, यथा, मागधानं निरुत्तिया परिवत्तेहि (मागधी भाषा में रूपान्तरित करो)--महावंश, परिच्छेद ३७। ...... भासिस्सं मागध सद्दलक्खणं (मागधी भाषा के व्याकरण का निरूपण करूँगा)--मोग्गल्लान-व्याकरण का आदि श्लोक, आदि। सिंहली परम्परा के अनुसार मागधी ही वह 'मूल' भाषा है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे और जिसमे ही उनका संग्रह 'तिपिटक' नाम से किया गया था। इसी अर्थ को व्यक्त करते हुए कच्चान-व्याकरण में कहा गया है "सा मागधी मूल भासा....सम्बुद्धा चापि भासरे" (मागधी ही वह मूल भाषा है जिसमे.....सम्यक् सम्बुद्ध ने भी भाषण दिया)।अट्ठकथाचार्य भगवान् बुद्धघोष की भी यही मान्यता थी"सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो" (सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा-प्रयोग)--समन्तपासादिका। इस रूप में मागधी भाषा की प्रतिष्ठा स्थविरवादी बौद्ध साहित्य ने इतनी अधिक है कि कहीं कहीं उसके गौरव के विषय में इतना अधिक अर्थवाद कर दिया गया है कि वह आधुनिक ऐतिहासिक बुद्धि को कुछ अखरता भी है। मागधी भाषा को यहाँ सम्पूर्ण प्राणियों की आदि भाषा ही मान लिया गया है। आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' में कहा है "मागधिकाय सब्बसत्तान मूलभासाय" (सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी का)। इसी प्रकार महावंश, परिच्छेद ३७ में कहा गया है "सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया" (सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी भाषा का) आदि। निश्चय ही सिंहली परम्परा अपनी इस मान्यता में बड़ी दृढ़ है कि जिसे हम आज 'पालि' कहते है, वह बुद्धकालीन भारत में बोले जाने वाली मगध की भाषा ही थी। कहाँ तक या किन अर्थों में यह परम्परा ठीक है, यह हमारे अध्ययन की सम्भवतः सब से अधिक महत्वपूर्ण समस्या है। पालि स्वाध्याय के प्रथम युग में उपर्युक्त सिंहली परम्परा सिंहली भिक्षुओं की एक मनगढंत कल्पना मानी जाती थी। ओल्डनबर्ग ने इस मान्यता के प्रचार में काफी योग दिया था। अनेक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् भी उनके इस प्रवाह में बह गये

थे।[1] किन्तु उसके बाद इस दिशा में जो महत्वपूर्ण गवेषण-कार्य हुआ है, उससे अब हमें पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। इस महत्वपूर्ण समस्या पर हम अभी भारतीय भाषाओं के विकास में पालि की पृष्ठभूमि को देखने के बाद आयेंगे।

भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान

भारतीय भाषाओ का इतिहास तीन युगो या विकास-श्रेणियो में विभक्त किया गया है (१) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा युग (वैदिक युग से ५०० ईसवी पूर्व तक (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग (५०० ईसवी पूर्व से १००० ईसवी तक (३) आधुनिक आर्य-भाषा युग (१००० ईसवी से अब तक)। प्रथम युग की भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की भाषा मे मिलता है। उसमें तत्कालीन अनेक बोलियो का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद की भाषा का विकास अन्य वेदो, ब्राह्मण-ग्रन्थो और सूत्र-ग्रन्थो मे हुआ है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग मे एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया, उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणाम-स्वरूप एक राष्ट्रीय, अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का 'सस्कृत' के नाम से विकास हुआ और दूसरी ओर उसी के समकालिक ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा अनेक प्रान्तीय बोलियो के रूप मे विकास ग्रहण करती गई। जब भगवान् बुद्ध ने मगध-प्रान्त मे भ्रमण करते हुए वहाँ की जन भाषा में उपदेश दिया तो यह वही ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा के प्रान्तश विकसित रूपो में से एक थी। तथागत के 'वाचनामग्ग' होने का गौरव मिलने के कारण इसका भी रूप बाद मे राष्ट्रीय हो गया और इसी कारण अनेक बोलियो, प्रान्तीय भाषाओ और उपभाषाओ का समिश्रण भी इसमें हो गया। इसे हम आज 'पालि' भाषा कहते हैं। इस प्रकार सस्कृत और पालि का विकास समकालिक है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा युग मे इस जन-भाषा के विकास के हम तीन स्तर देखते हैं (१) पालि और अशोक की धर्मलिपियो की भाषा (५००

---

१. डा० विमला चरण लाहा जैसे आधुनिक विद्वान् भी इस मोह से मुक्त नहीं हो पाये हैं। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ, ११ (भूमिका) जहाँ उन्होंने मागधी निरुक्ति को सिंहली भिक्षुओं की शुद्ध भ्रांत कहा है।

ईसवी पूर्व से १ ईसवी पूर्व तक (२) प्राकृत भाषाएँ (१ से ५०० ईसवी तक) (३) अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ईसवी से १००० ईसवी तक। आधुनिक युग में आकर इन्ही अपभ्रंश भाषाओं से हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान प्रान्तीय भाषाओ का विकास हुआ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बाद अब हमे पालि भाषा के स्वरूप आदि पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार करना है।

पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी ?

पालि भाषा के विषय में सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है—वह किस प्रदेश की मूल भाषा थी ? सिंहली परम्परा उसे मागधी या मगध की भाषा मानती है, यह हम अभी कह ही चुके है। किन्तु यह समस्या इतनी सस्ती निबटने वाली नही है। विद्वानो के एतद्विषयक मतों का यदि संग्रह किया जाय तो वह एक लम्बी सूची होगी। सभी मत उसे भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषा मानने के पक्षपाती है। कुछ विद्वानो के मतो का निदर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा।

(१) प्रोफेसर रायस डेविड्स[1]—पालि भाषा का आधार कोशल प्रदेश मे छठी और सातवी शताब्दी ईसवी पूर्व मे बोले जाने वाली भाषा थी। कारण (१) भगवान् बुद्ध कोशल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये थे (२) भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेश मे ही उनके उपदेशो का संग्रह किया गया।

(२,३) वैस्टरगार्ड[2] और ई० कुह्न[3]—पालि उज्जयिनी-प्रदेश की बोली थी। कारण (१) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है (२) कुमार महेन्द्र (महिन्द) जिन्होंने लंका मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया और पालि त्रिपिटक को वहाँ पहुँचाया, की मातृ-भाषा यही थी।

(४) आर० ओ० फ्रैंक[4]—पालि-भाषा का उद्गम-स्थान विन्ध्य-प्रदेश

---

१. बुद्धिस्ट इन्डिया, पृष्ठ १५३-५४; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इन्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ १८७; पालि डिक्शनरी, पृष्ठ ५ (प्राक्कथन)

२.३,४,५ लाहा:पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ५०-५६ (भूमिका); बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ २३३ देखिये गायगर:पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज पृष्ठ ३-४ (भूमिका) विंटरनित्ज: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०४ (परिशिष्ट दूसरा)

है। कारण (१) गिरनार-शिलालेख से उसका सर्वाधिक साम्य है। निषेधात्मक कारण देते हुए फ्रैंक ने कहा है कि पालि उत्तर भारत के पूर्वी भाग की भाषा नहीं हो सकती, उत्तर-पश्चिमी भाग के खरोष्ट्री लेखों से भी उसकी समानताएँ और असमानताएँ दोनों हैं, इसी प्रकार दक्षिण के लेखों की भाषा से भी उसकी विभिन्नता है। अधिकतर उसका साम्य मध्य-देश के पश्चिमी भाग के लेखों से है, यद्यपि यहाँ भी कुछ असमानताएँ है। अतः पालि भाषा का उद्गम-स्थान 'विन्ध्य के मध्य और पश्चिमी भाग का प्रदेश' है।

(५) स्टैन कोनो[५]—विन्ध्य-प्रदेश पालि-भाषा का उद्गम-स्थान है। कारण (१) पैशाची प्राकृत से पालि का अधिक साम्य है। (२) पैशाची प्राकृत विन्ध्य-प्रदेश में उज्जयिनी के आसपास बोली जाती थी। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि पैशाची प्राकृत-सम्बन्धी स्टैन कोनो का यह मत प्रसिद्ध भाषातत्वविद् ग्रियर्सन के मत से नहीं मिलता, जिसके अनुसार पैशाची प्राकृत केकय और पूर्वी गान्धार की बोली थी। ग्रियर्सन का मत ही अधिक युक्तियुक्त माना गया है।

(६) डा० ओल्डनबर्ग[१]—पालि कलिंग देश की भाषा थी। कारण (१) लंका के पड़ोसी होने के कारण कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य शताब्दियों के अन्दर सम्पादित किया गया। (२) खंडगिरि के शिलालेख से पालि का अधिक साम्य है। ओल्डनबर्ग के मत को समझने के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि महेन्द्र द्वारा लंका में बुद्ध-धर्म के प्रचार की बात को ओल्डनबर्ग ने ऐतिहासिक तथ्य नही माना है। उनके मतानुसार कलिंग के निवासियों ने लंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार किया और इसमें कई शताब्दियाँ लगी।

(७) ई० मुलर[२]—कलिंग ही पालि का उदगम-स्थान है। कारण, यही से सब से पहले लोगों का लंका में जाकर बसना और धर्म प्रचार करना अधिक संगत है।

आगे के मतों का निर्देश करने के पूर्व उपर्युक्त मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। इन सब मतों में सब से मुख्य बात यह है कि ये सभी मत

१. विनय-पिटक (डा० ओल्डनबर्ग द्वारा रोमन अक्षरों में सम्पादित) जिल्द पहली, पृष्ठ १-५६ (भूमिका)

२. सिम्पलीफाइड ग्रामर ऑव दि पालि लैंग्वेज, पृष्ठ ३ (भूमिका)

पालि भाषा की उत्पत्ति के विषय में सिंहली परम्परा से असहमत हैं। पालि भाषा के मागधी आधार को वे किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं करते। केवल रायस डेविड्स के मत में उसके लिये कुछ अवकाश अवश्य है। भगवान् कोशल में उत्पन्न हुए, मगध में घूमे-फिरे, अत. उनके उपदेशों का माध्यम कोशल की भाषा भी हो सकती थी, मगध की भाषा भी और उनका सम्मिश्रण भी। किन्तु रायस डेविड्स का अपने मत को सिद्ध करने के लिये यह अनुमान करना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा छठी और सातवी शताब्दी ईसवी पूर्व की कोशल प्रदेश में बोले जाने वाली भाषा का ही विकसित रूप है, अथवा यह कि अशोककालीन मगध-शासन की राष्ट्र-भाषा कोशल प्रदेश की टकसाली भाषा ही थी, ठीक नहीं माना जा सकता। प्रतिवेशी कोशल राज्य के मगध में सम्मिलित हो जाने के बाद मगध-साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा तो यही मानना अधिक युक्तिसगत है कि मगध की भाषा को ही राष्ट्र-भाषा होने का गौरव मिला। हाँ, चारों ओर की जनपद-बोलियों का भी, जिनमें एक प्रधान कोशल प्रदेश की बोली भी थी, उसमें अपना उचित स्थान मिला। एक सार्वदेशिक, टकसाली, राष्ट्र-भाषा के निर्माण में प्रादेशिक बोलियों का इस प्रकार का सहयोग सर्वथा स्वाभाविक है। अत. कोशल-प्रदेश की बोली का भी अन्तर्भाव मगध की राष्ट्र-भाषा (मागधी भाषा) में हो गया था, ऐसा हम कह सकते हैं। वैसे यदि रायस डेविड्स के मत को उसके मौलिक रूप में देखा जाय तो उसका कोई आधार ही नहीं मिलता, क्योंकि जैसा डा० विन्टरनित्ज ने भी कहा है, छठी और सातवी शताब्दी ईसवी पूर्व की कोशल प्रदेश की बोली की आज हमारी जानकारी ही क्या है, जिसके आधार पर हम उसे पालि का मूल रूप मान सकें[1]। वेस्टरगार्ड, ई० कुह्न, फ्रेंक और स्टेन कोनो के ऊपर निर्दिष्ट मत भी, जो किसी न किसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश को पालि का जन्म-स्थान मानते हैं, एकांगदर्शी हैं। अधिक से अधिक वे पालि भाषा के मिश्रित रूप को, जो एक साहित्यिक एवं अन्तर्प्रान्तीय भाषा के लिये सर्वथा अनिवार्य है, रंजित करते हैं। इससे अधिक उनका और कुछ महत्व नहीं है। फ्रेंक ने विन्ध्य-

---

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट २); डा० कीथ ने भी रायस डेविड्स के मत का खंडन किया है। देखिये इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, सितम्बर १९२५ में प्रकाशित कीथ का 'पालि दि लैंग्वेज ऑव सदर्न बुद्धिस्ट्स' शीर्षक निबन्ध।

प्रदेश के मध्य और पश्चिमी भाग को पालि का उद्‌गम-स्थान बताने के अतिरिक्त एक और विचित्र बात कही है। उन्होंने सामान्यत. पालि समझे जाने वाली भाषा (अर्थात् त्रिपिटक और उसके उपजीवी साहित्य की भाषा) के लिये तो साहित्यिक पालि' शब्द का प्रयोग किया है और 'पालि' शब्द से उन्होंने बुद्धकालीन भारत मे बोले जाने वाली अन्य सब आर्य-भाषाओ को अभिप्रेत करना चाहा है। फ्रैंक का यह पारिभाषिक शब्द-निर्माण भ्रमात्मक ही सिद्ध हुआ है। जिन आर्य-भाषाओ को उन्होंने 'पालि' कहा है, उनके लिए भारतीयसाहित्य मे प्राकृत भाषाओ का नाम रूढ़ है और आज भी उनका यही नाम प्रचलित है। अत उसी का प्रयोग करना अधिक उचित जान पडता है। त्रिपिटक की भाषा के लिए केवल 'पालि नाम पर्याप्त है। उसके साथ 'साहित्यिक' लगाने से भ्रम पैदा होने की आशका हो जाती है। स्टैन कोनो का मत पैशाची प्राकृत को उज्जयिनी-प्रदेश की बोली बतलाता है और इस प्रकार भाषातत्वविदो के सामने एक नई समस्या खडी कर देता है। वास्तव मे उनका यह मत विद्वानो को कभी ग्राह्य नही हुआ है और पैशाची को केकय और पूर्वी गान्धार की बोली मानना ही सब प्रकार ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक तथ्यो से सगत है। ओल्डनबर्ग और ई० मुलर के मत प्रधानत कल्पनाप्रसूत है। ओल्डनबर्ग को अपने मत-स्थापन मे महेन्द्र के लङ्का मे धर्म-प्रचार सबधी कार्य को भी, जो अन्यथा सब प्रकार ऐतिहासिक तथ्यो से सिद्ध है,[१] अनैतिहासिक मानना पडा है। इसी से उनके मत की गभीरता का पता लग जाता है। खडगिरि के शिलालेख के साक्ष्य पर पालि का जन्म-स्थान कलिंग बतलाना उतना ही अपूर्ण सिद्धात है जितना गिरनार के शिलालेख के आधार पर उस उज्जयिनी-प्रदेश की बोली ठहराना। पालि के प्रातीय कारणो से उत्पन्न मिश्रित स्वरूप को दिखाने के अतिरिक्त इन मतो का अन्य कोई साक्ष्य या महत्व नहीं है।

जिन विद्वानो न पालि-भाषा के मागधी आधार को स्वीकार किया है, अथवा जिन्होने सिंहली परम्परा को कुछ विशिष्ट अर्थों मे समझने का प्रयत्न किया है, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विंडिश, विन्टरनित्ज, ग्रियर्सन और गायगर के

---

१. देखिये आगे दूसरे अध्याय में 'पालि साहित्य का उद्भव और विकास' सम्बन्धी विवेचन।

नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। भिक्षु सिद्धार्थ[१] और भिक्षु जगदीश काश्यप[२] जैसे भारतीय बौद्ध विद्वानो ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। जेम्स एल्विस और चाइल्डर्स की यह मान्यता है कि 'मागधी' ही पालि भाषा का मौलिक और सबसे अधिक उपयुक्त नाम है। जेम्स एल्विस के मतानुसार बुद्धकालीन भारत में १६ प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित थी। इनमे 'मागधी' बोली मे ,जो मगध में बोली जाती थी, भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे। विंडिश ने भी पालि के 'मागधी' आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। विंटरनित्ज का मत भी इसी के समान है। उनका कहना है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी,जिसका विकास अनेक प्रादेशिक बोलियो के समिश्रण से हुआ था, जिनमे 'प्राचीन मागधी' प्रधान थी।[3] ग्रियर्सन ने पालि के मागधी आधार को तो स्वीकार किया है, किन्तु पालि में तत्कालीन पश्चिमी बोलियो के प्रभाव को देखकर उन्हे यह मानना पडा है कि पालि का आधार विशुद्ध मागधी न होकर कोई पश्चिमी बोली है। इसी को सिद्ध करने के लिए उन्होने यह कल्पना कर डाली है कि पालि का विकास मागधी भाषा के उस रूप से हुआ जो तक्षशिला विश्वविद्यालय मे बोला जाता था और जिसमें ही त्रिपिटक का सस्करण वहाँ किया गया था[४]। किन्तु न तो मागधी भाषा के वहाँ शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रयुक्त होने की और न उसमें त्रिपिटक के वहाँ सकलित होने की कोई अकाट्य युक्ति ग्रियर्सन या अन्य किसी विद्वान् ने अभी तक दी है।[५] जर्मन विद्वान गायगर का मत उपर्युक्त सभी मतो से अधिक परिपूर्ण और ग्राह्य है। उनके अनुसार पालि मागधी भाषा का ही एक रूप है, जिसमे भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे। यह भाषा किसी जनपद-विशेष की बोली नही थी, बल्कि सभ्य-समाज मे बोले जाने वाली एक सामान्य भाषा थी, जिसका विकास बुद्ध-पूर्व युग से हो रहा था। इस प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय भाषा मे स्वभा-

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४१-५६
२. पालि महाव्याकरण की वस्तुकथा।
३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३
४. भांडारकर कमेमोरेशन वोल्यूम, पृष्ठ ११७-१२३ (ग्रियर्सन का 'वि होम ऑव लिटररी पालि' शीर्षक लेख)
५. यह आलोचना डा० कीथ की है। देखिये उनका 'वि होम ऑव पालि' शीर्षक निबन्ध, 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३९

वतः ही अनेक बोलियो के तत्व विद्यमान थे । एक मगध का निवासी इसे एक एक प्रकार से बोलता था, कोसल का दूसरी प्रकार से और अवन्ती का किसी तीसरे प्रकार से यद्यपि भगवान् बुद्ध मगध प्रदेश के नही थे, किन्तु उनका जीवन-कार्य अधिकांश वहीं सपादित किया गया था। अतः मगध की बोली की उनकी भाषा पर अमिट छाप पड़ी होगी। इसलिए उनकी भाषा को आसानी से 'मागधी' कहा जा सकता है, फिर चाहे उसमें मागवी बोली की कुछ विशेषताएँ भले ही उपलब्ध न हों। अत. गायगर के मतानुसार पालि विशुद्ध मागधी तो नहीं थी, किन्तु उस पर आश्रित एक लोक-भाषा थी, जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे[1] ।

वास्तव में पालि कहाँ तक या किन अर्थों में मागधी थी या नही, यह हमारे अध्ययन की सबसे बड़ी समस्या है । जिस मागधी का विवरण उत्तरकालीन प्राकृत-वैयाकरणों ने दिया है या जिसके स्वरूप का दर्शन कतिपय अभिलेखों या नाटक-ग्रन्थो मे होता है, उससे तो पालि निश्चयतः भिन्न है, ऐसा कहा जा सकता है। प्राकृत-व्याकरणो ,अभिलेखो और नाटक-ग्रन्थों की मागधी का विकास पालि के बाद हुआ है । इस प्रकार की मागधी भाषा के रूप की दो प्रधान विशेषताएँ हैं (१) प्रत्येक र् और स् का क्रमशः ल् और श् मे परिवर्तित हो जाना (२) पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग अकारान्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप एकारान्त होना। पालि में र् रहता है, उसका 'ल्' मे परिवर्तन केवल अनियमित रूप से कभी-कभी होता है, सर्वथा नियमानुसार नहीं। उदाहरणतः अशोक के पश्चिम के लेखो में राजा, पुरा, आरभित्वा जैसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु पूर्व के लेखों मे उनके क्रमशः लाजा, पुलुवं, आलभितु रूप हो जाते है। 'स्' का 'श्' में परिवर्तन तो पालि में होता ही नहीं। 'श्' पालि में है ही नहीं। केवल अशोक के उत्तर (मनसेहर) के शिलालेख मे इसका प्रयोग अवश्य दृष्टिगोचर होता है, जैसे प्रियद्रशिन, प्रियदर्शि, प्राणशतसहस्रानि, आदि । पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिंग अकारान्त शब्दों के रूप भी पालि में प्रथमा विभक्ति एकवचन मे क्रमशः ओकारान्त और अनुस्वारान्त होते हैं, एकारान्त नही । 'राहुलोवादः' की जगह 'लाघुलोवादे' ,'बुद्धः' की जगह 'बुधे' 'भृगः' की जगह 'मिगे' आदि प्रयोग अशोक के कुछ शिलालेखों में अवश्य पाये जाते हैं और सुत्त-पिटक के कुछ अंशों में

---

१. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ४-५ (भूमिका)

भी। किन्तु नियमतः ये प्रयोग नहीं पाये जाते। अतः जिस मागधी का निरूपण प्राकृत-वैयाकरण करते हैं, उसे पालि का आधार नहीं माना जा सकता। उसका विकास तो ,जैसा अभी कहा गया है, पालि के बाद हुआ है। पालि का आधार तो केवल वही मागधी या मगध की बोली हो सकती है जो मध्य-मडल अर्थात् पश्चिम में उत्तर-कुरु से पूर्व में पाटलिपुत्र तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक फैले हुए प्रदेश की सामान्य सभ्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और जिसका विकास अनेक कारणो से गौरव प्राप्त करने वाली मगध की भाषा से हुआ और अनेक कारणों से ही जिसमे नाना प्रदेशो की बोलियों का संमिश्रण हो गया, जिसका साक्ष आज हम उसके सुरक्षित रूप 'पालि' में पाते हैं।

जिस प्रकार प्राकृत वैयाकरणो द्वारा विवेचित मागधी को पालि भाषा का आधार नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार जैन सूत्रो की भाषा अर्द्ध-मागधी या 'आर्ष' को भी उसका आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका भी विकास पालि के बाद हुआ है। पश्चिम में शौरसनी और पूर्व में मागधी प्राकृत के बीच के क्षेत्र में जो भाषा बोली जाती थी, वह अपने मिश्रित स्वरूप के कारण 'अर्द्धमागधी' कहलाती है। ध्वनि-समूह, शब्द-साधन और वाक्य-विचार की दृष्टि से पालि और अर्द्धमागधी मे क्या समानताएँ या असमानताएँ है, इसका विवेचन हम आगे पालि और प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय करेंगे। अभी लूडर्स के उस मत का निर्देश करना है,जिसके अनुसार 'प्राचीन अर्द्धमागधी' पालि भाषा का आधार है। लूडर्स का मत है कि मौलिक रूप मे पालि त्रिपिटक प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा में था और बाद में उसका अनुवाद पालि भाषा मे, जो पच्छिमी बोली पर आश्रित थी किया गया। अतः उनके मतानुसार आज त्रिपिटक मे जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते है, वे प्राचीन अर्द्धमागधी के वे अवशिष्ट अंश मात्र हैं जो उसका पालि मे अनुवाद करते समय रह गये थे[१]। लूडर्स का यह तर्क बिलकुल अनुमान पर आश्रित है। जिस प्राचीन अर्द्धमागधी को लूडर्स ने त्रिपिटक का मौलिक आधार माना है,उसके रूप का निर्णय करने के लिए सिवाय उनकी कल्पना के और कोई आधार नहीं है। जैसा कीथ ने में कहा है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि लूडर्स द्वारा निर्मित या परिकल्पित प्राचीन अर्द्ध-मागधी का विकास

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ७३४; गायगर:पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज,पृष्ठ ५; लाहा:हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २०-२१ (भूमिका)

बाद में अर्द्ध-मागधी प्राकृत के रूप में ही हुआ है[1] । अतः लूडर्स ने तथाकथित 'प्राचीन अर्द्ध-मागधी' के रूप का निर्माण अशोक के शिलालेखों और बाद में अश्वघोष के नाटकों के अवशिष्ट अंशों से किया है। किन्तु यह अनुमानित निर्माण-कार्य प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकता। पालि भाषा में प्राप्त विभिन्नताओं की व्याख्या उसके प्रांतीय विकास और संमिश्रण, मौखिक परम्परा और एक भिन्न देश में त्रिपिटक के लिपिबद्ध किये जाने के परिणाम स्वरूप भी की जा सकती है[2] ।

लूडर्स के समान ही एक मत प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सिलवाँ लेवी का है। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि पालि-त्रिपिटक मौलिक बुद्ध-वचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनुवादित रूप है जिसमें ध्वनि परिवर्तन पालि भाषा की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में था। पालि के 'एकोदि' एवं 'सघादिसेस' जैसे शब्दों की उनके संस्कृत प्रतिरूप 'एकोति' 'संघातिशेष' जैसे शब्दों के साथ तुलना कर उन्होंने त्रिपिटक के अन्दर एक ऐसी बोली के अवशिष्ट चिन्ह खोजने का प्रयत्न किया है, जिसमें शब्द के मध्य स्थित संस्कृत अघोष (क्, त्, त्, प् आदि) स्पर्शों के स्थान पर घोष (ग्, ज्, द्, ब् आदि) स्पर्श होने का नियम था। पालि त्रिपिटक और अशोक के शिलालेखों के कुछ विशेष शब्दों में, जिनमें उपर्युक्त नियम लागू होता है, लेवी ने प्राचीन मौलिक बुद्ध-वचन (जिन्हें उन्होंने ऐसा समझा है) में प्रयुक्त शब्दों के रूपों को खोजने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः भाब्रू अभिलेख में 'राहुलोवाद' की जगह 'लाघुलोवादे' है, 'अधिकृत्य' की जगह 'अधिगिच्य' है। लेवी का कहना है कि क् (अघोष स्पर्श) के स्थान पर ग् (घोष स्पर्श) का होना पालि में तो बहुत अल्प ही होता है, इसी प्रकार 'अधिगिच्य' में 'च्य' भी पालि की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान पालि त्रिपिटक एक ऐसी भाषा से अनुवाद किया हुआ है, जिसमें अघोष स्पर्शों (क्, त्, प् आदि) का घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब् आदि) में परिवर्तित हो जाना अधिक सीमा तक पाया जाता था। नीचे के कुछ उदाहरण लेवी के तर्कों को स्पष्ट करने के लिए अलं होंगे—

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३४, पद-संकेत २
२. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५

सस्कृत	पालि
माकन्दिक	मागन्दिय
कचगल	कजगल
अचिरवती	अजिरवती
पाराचिक	पाराजिक
ऋषिवदन	इसिपतन

इन उद्धरणो के आधार पर लेवी ने अनुमान किया है कि पालि त्रिपिटक अपने मौलिक रूप म उस ऐसी भाषा मे था जिसमे शब्द के मध्य-स्थित अघोष स्पर्शों के घोष स्पर्शों मे परिवर्तित होने का नियम था। लेवी के मत को गायगर ने प्रामाणिक नही माना है। उन्होंने इसके तीन कारण दिये हैं (१) लेवी ने 'सघादिसेस' 'एकोदि' 'पाचित्तिय' (प्राक्चित्तिक) आदि शब्दो की जो निरुक्तियाँ दी है, वे सभी अनिश्चित हैं (२) अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों मे परिवर्तित होना केवल उपर्युक्त शब्दो मे ही नही पाया जाता, अन्य अनेक शब्दो म भी इस नियम का पालन देखा जाता है, उदाहरणत

सस्कृत	पालि
उताहो	उदाहु
ग्रथित	गधित
व्यथते	पवेधति

(३) लेवी द्वारा निर्दिष्ट नियम का ठीक विपरीत अर्थात् सस्कृत घोष स्पर्शों का अघोष स्पर्शों मे परिवर्तित हो जाना भी पालि मे दृष्टिगोचर होता है——

पालि	सस्कृत
अगरु	अकलु
परिघ	पलिघ
कुसीद	कुसीत
मृदग	मुतिग
शावक	चापक
प्रावरण	पापुरण

अत गायगर के मतानुसार लेवी द्वारा निर्दिष्ट ध्वनि-परिवर्तन सबधी उदा-

हरणों से हम उनके द्वारा निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँच सकते। लेवी का मत पालि भाषा की केवल एक विचित्रता को बतलाता है और वह विचित्रता है उसका विविधतामय रूप, जिसकी व्याख्या हम नाना बोलियों के संमिश्रण के आधार पर ही कर सकते हैं। अतः लेवी का मत भी अन्ततोगत्वा पालि के मिश्रित स्वरूप को ही प्रकट करता है।

ऊपर कुछ विद्वानों के मतों का उल्लेख और उनकी समीक्षा की जा चुकी है। अब बुद्ध-युग की परिस्थितियों और स्वयं त्रिपिटक के साक्ष्य पर पालि भाषा के मागधी आधार पर हम कुछ और विचार कर लें। यह निश्चित है कि भगवान् बुद्ध ने पैदल घूम घूम कर अपने उपदेश मध्य-मण्डल (मज्झिमेसु पदेसु) अर्थात् कोसी कुरुक्षेत्र से पाटलिपुत्र और विन्ध्य से हिमाचल के बीच के प्रदेश में दिये। यह भी निश्चित है कि उनके शिष्यों में नाना जाति, वर्ग और प्रदेशों के व्यक्ति सम्मिलित थे। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और उनके महापरिनिर्वाण के अनन्तर दो-तीन शताब्दियों में उनका संकलन किया गया। उनका लिपिबद्ध रूप तो प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में आकर हुआ, जब से वे उसी रूप में चले आ रहे हैं। इस इतने विकास की परम्परा में अनेक परिवर्द्धनों और परिवर्तनों की संभावना हो सकती है। भगवान् बुद्ध की 'चारों वर्णों की शुद्धि' और उसके विषय में उनकी कोई 'आचार्य-मुष्टि' (रहस्य-भावना) न होने के कारण हम यह तो स्वाभाविक ही मान सकते है कि नाना प्रदेशों से आये हुए भिक्षु अपनी-अपनी बोलियों में ही बुद्ध-वचनों को समझने का प्रयत्न करते होंगे। कम से कम अन्तर्प्रांतीय मागधी भाषा का व्यवहार करने पर भी उस पर अपनी बोलियों की कुछ छाप तो वे लगा ही देते होंगे। बाद में उन्हीं लोगों ने जब अपने सुने हुए के अनुसार बुद्ध-वचनों का संकलन किया तो उनमें उन विभिन्नताओं का भी चला आना सर्वथा संभव था। अतः बुद्ध-वचनों की भाषा मूल रूप से मागधी होने पर भी उसमें प्राप्त विविधरूपता की व्याख्या उपर्युक्त ढंग पर की जा सकती है। किन्तु गायगर ने मागधी को पालि का मूलाधार सिद्ध करने के लिए और यह दिखाने के लिए कि भाषा और विषय दोनों की ही दृष्टि से पालि-त्रिपिटक ही मूल बुद्ध-वचन है, एक ऐसे तर्क का उपयोग किया है जिसके बिना भी उनका काम चल सकता था। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में एक कथा है, जिसमें दो ब्राह्मण भिक्षु इस बात पर बड़े क्षुब्ध होते दिखाये गये है कि नाना जाति और गोत्रों

के मनुष्य 'अपनी अपनी भाषा में बुद्ध-वचनों को रख-रखकर उन्हे दूषित करते हैं" (सकाय निरुत्तिया बुद्ध-वचन दूसेन्ति) । वे जाकर भगवान् को इस बात की सूचना देते है और प्रार्थना करते है "भन्ते ! अच्छा हो हम बुद्ध-वचन को छन्दस् में कर दें" (हन्द मयं भन्ते बुद्धवचन छन्दसो आरोपेमाति) । भगवान् उन्हे कहते हैं कि ऐसा करना तो 'दुष्कृत' अपराध होगा । बाद मे विधानात्मक आदेश देते है "भिक्षुओ ! अपनी अपनी भाषा मे बुद्ध-वचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ" (अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं) । घटना का अर्थ स्पष्ट है । ब्राह्मण-भिक्षुओं को संस्कारवश अभी तक वेदों की प्राचीन भाषा (छन्दस्) में पवित्रता की गन्ध आती थी । अपनी वाणी (सका निरुत्ति) जिसमे सभी सामान्य भिक्षु-बुद्ध-वचनों को सीखते थे, उन्हे वैदिक भाषा की अपेक्षा अधम लगती थी । अतः उसमें बुद्ध वचनो को रखना उन्हे उनका अपमान लगता था । इसीलिए उन्होंने बुद्ध-वचनों को वेद की पवित्र भाषा या 'छन्दस्' मे रखने का प्रस्ताव किया था "हन्द मय भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति" । यहाँ 'छन्दसो' से क्या तात्पर्य है ? आचार्य बुद्धघोष कहते हैं "छन्दसो आरोपेमाति वेदं विय सक्कटभासाय वाचनामग्गं आरोपेम" अर्थात् 'छन्दस्' मे कर देने का तात्पर्य है वेद के समान सम्माननीय भाषा के माध्यम में कर देना । बुद्धघोष के 'सक्कट भासाय' पद के 'सक्कट' शब्द के संस्कृत और 'सत्कृत' दोनो ही अर्थ हो सकते है । डा० विमलाचरण लाहा ने उसका अर्थ केवल संस्कृत-भाषा लेकर बुद्धघोष की आलोचना कर डाली है[१] । इसे बुद्धघोष के प्रति अन्याय ही समझना चाहिए । आचार्य बुद्धघोष का तात्पर्य यहां वेद की आदरणीय भाषा से ही था । 'संस्कृत' शब्द पाणिनि के बाद का है और वह लौकिक संस्कृत का वाचक है । छन्दस् शब्द उस प्राचीन आर्य भाषा का द्योतक है जिसमें संहिताएँ लिखी गई हे । भगवान् बुद्ध को यही अर्थ अभिप्रेत हो सकता था । स्वयं त्रिपिटक मे 'मावित्थी छन्दसो मुखं'[२]जैसे प्रयोगों में छंदस्' शब्द का प्रयोग वेद के लिए ही हुआहै । अत. यहाँ भी बुद्ध का तात्पर्य वेद की भाषा से ही था, जिससे विपरीत बुद्धघोष का मत भी नहीं है । अतः ऊपर उद्धृत भगवान् बुद्ध की अनुज्ञा (अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं) का अर्थ (भिक्षुओ ! अनुज्ञा देता हूँ

---

१. पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १२(भूमिका)
२. विनय-पिटक-महावग्ग; सुत्त-निपात, गाथा ५६८ भी।

अपनी अपनी भाषा में बुद्ध-वचनसीखने की) आसानी से समझा जा सकता है। बुद्ध की उदार शिक्षा के साथ इस अर्थ का सम्बध भी मिल जाता है। कुछ शिक्षित ब्राह्मणो द्वारा ही समझी जाने वाली भाषा मे अपने उपदेशो को रखवा कर वे उन्हे सकुचित नही बनाना चाहते थे। इसलिये उनकी उपर्युक्त अनुज्ञा प्रसग को देखते हुए ठीक ही थी। किन्तु गायगर ने भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा का एक दूसरा ही अर्थ किया है। उन्होने कहा है कि भगवान की अनुज्ञा मे 'सकाय निरु-त्तिया' का अन्वय 'बुद्ध-वचन' के साथ है, 'भिक्खवे' के साथ नही। यदि 'भिक्खवे' के साथ 'सकाय निरुत्तिया' का अन्वय होता तो उसके साथ 'वो' (तुमको) शब्द भी अवश्य होना चाहिये था और तभी हम भिक्षुओ के सम्बन्ध म उनकी 'अपनी अपनी भाषा' जैसा अनुवाद कर सकते थे। किन्तु चूंकि 'वो' शब्द मूल पाठ में है नही, अत स्वाभाविक रूप से, व्याकरण के नियम के अनुसार 'सकाय निरुत्तिया' शब्द 'बद्ध-वचन' के साथ जायगा, और इस प्रकार भगवान् की अनुज्ञा का अर्थ होगा, "भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ बद्ध-वचन को उसकी (बुद्ध-वचन की) भाषा म सीखने की। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् बुद्ध ने बुद्ध-वचन को उसी की (बुद्ध-वचन की) भाषा अर्थात् मागधी भाषा मे ही सीखने की आज्ञा दी। आचार्य बुद्धघोष ने भी 'सकाय निरुत्तिया पद मे यही अर्थ लिया है। वे कहते हैं एत्थ सका निरुत्ति नाम सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो" अर्थात् यहाँ सका निरुत्ति (स्वकीय भाषा')मे तात्पर्य भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा-व्यवहार मे ही है। गायगर ने अपने अर्थ की पुष्टि करते हुए इस बात पर बहुत अधिक बल दिया है कि बुद्ध-वचनो को उनके मौलिक प्रामाणिक रूप म अक्षुण्ण रखने की उस समय भी जब इतनी अधिक तत्परता थी ता बाद म तो इसका और भी अधिक अनुसरण किया गया होगा। उन्होने यह भी कहा है कि न तो भिक्षुओ का ही और न बुद्ध का ही मन्तव्य भिन्न भिन्न व्यक्तियो को भिन्न भिन्न भाषाओं म उपदेश करने से हो सकता था। अत 'अपनी अपनी भाषा' अर्थ लेने का अनौचित्य दिखाने का उन्होने प्रयत्न किया है।[२] बुद्धघोष या गायगर के मत का ही अनुसरण करते हुए भिक्षु सिद्धार्थ ने कहा है कि जब भगवान् बुद्ध ने सस्कृत जैसी परिमार्जित और सम्मानित भाषा मे अपने उपदेशो के रखे

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ६-७
२. पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ७

जाने तक का विरोध किया तो फिर वे किसी साधारण बोल चाल की भाषा मे उन्हे रक्खे जाने का किस प्रकार आदेश दे सकते थे ? उस दशा मे तो उनके मौलिक अर्थों और प्रभाव मे ही काफी अन्तर हो जाता ।[१] "अत निःसन्देह भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश मगध-देश की टकसाली भाषा मे ही दिये और उसी मे उनके शिष्यों ने उन्हे सीखा और फिर उपदेश किया ।"[२] भिक्षु सिद्धार्थ के इस मन्तव्य से किसी को विरोध नही हो सकता । चूँकि भगवान् बुद्ध ने मध्य-मडल की सामान्य सभ्य-भाषा मे ही अपने उपदेश दिये और उसी के विभिन्न स्वरूपो मे उनके शिष्यो ने उन्हे सीखा, अत. आज हम कहना चाहे तो कह ही सकते हैं कि मागधी भाषा ही भगवान् बुद्ध के उपदेशो का माध्यम थी और उसी में उनके शिष्य उन्हे सीखते और उपदेश करते थे । इस दृष्टि से बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ के अर्थ ठीक हैं । किन्तु यदि उनके अर्थों से हम यह समझे कि स्वय भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यो को भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा से वही अर्थ अभिप्रेत था जो बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ ने उसे दिया है, तो यह बिलकुल गलत है । वास्तव में, हम बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा की व्याख्या करने मे बुद्धघोष या गायगर की अपेक्षा उस अनुज्ञा के ही पूर्वापर प्रसग और बुद्ध की भावना से भी, जैसी वह अन्यत्र प्रस्फुटित हुई है, अधिक सहायता लेने के पक्षपाती हैं । विन्टरनित्ज ने कुछ स्पष्टता-पूर्वक यह दिखाया है कि 'सकाय निरुत्तिया' का सम्बन्ध 'भिक्खवे' के साथ लगाने के लिये उसके साथ 'वो' शब्द का आना अनिवार्यत आवश्यक नही है जैसा कि गायगर ने आग्रह किया है । उसे प्रसग-वश भी समझा जा सकता है ।[३] डा० विमलाचरण लाहा ने पालि के मागधी आधार को स्वीकार नही किया है,अत उन्होने कुछ विस्तार से गायगर के मत का प्रतिवाद किया है ।[४] कीथ ने भी, जो

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६४८

२. "There can be no doubt as to the fact that the Buddha preached his doctrine in the standard vernacular of the Magadha country and his disciples studied and taught it in that very language." बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६४९

३. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०२ (परिशिष्ट दूसरा)

४. पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ११-१६ (भूमिका)

पालि को किसी पच्छिमी बोली पर आधारित मानते है, गायगर के परम्परावादी मत को स्वीकार नही किया है।[1] वास्तव में बात यह है कि व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होते हुए भी गायगर की बुद्ध-अनुज्ञा की उपर्युक्त व्याख्या उस प्रसग में ठीक नही बैठती, जिसमें वह आई है। अत पालि भाषा के स्वरुप के सम्बन्ध में उस मत को सिद्ध करने के लिये, जो दूसरे प्रमाणो के आधार पर उनके द्वारा ही सुनिश्चित कर दिया गया है, पर्याप्त नही ठहरती। सामान्यत गायगर का अर्थ इन कारणो से प्रमाणिक नही माना जा सकता। (१) प्रसग में वह ठीक नही बैठता। पहले भिक्षु लोग 'सकाय निरुत्तिया' (अपनी अपनी भाषा मे) बुद्ध-वचनो को दूषित करते दिखाये गये है। इस पर ब्राह्मण भिक्षुओ ने उन्हे 'छन्दस्' मे करने का प्रस्ताव रक्खा है। भगवान् ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए 'सकाय निरुत्तिया' वुद्ध वचनो को सीखने की अनुज्ञा दे दी है। स्पष्टत प्रसग के अनुसार यहाँ 'सकाय निरुत्तिया का वही अर्थ लेना ठीक है जो पहले लिया गया है, अर्थात् 'अपनी अपनी भाषा में'। (२) किसी विशेष भाषा मे बुद्ध वचनो को सीखना रुद्ध कर देना भगवान् तथागत की प्रवृत्ति के विपरीत है। इस प्रकार उनका 'धम्म' प्रकाशित नही होता जो सारी प्रजाओ के लिये खुलने पर ही प्रकाशित होता है[2] (३) भगवान बुद्ध का जोर शब्दो पर नही था, अर्थों पर था[3]। कोई भी भाषा किसी अन्य भाषा से उनकी दृष्टि मे उच्च अथवा हेय नही थी। न उन्हे सस्कृत से द्वष था न मागधी से मोह। वे केवल जीवित भाषा मे उपदेश देना चाहते थे जिससे लोग उन्हे आसानी से समझ सके। मागधी का ऐसा ही माध्यम उन्हे अनायास मिल गया जिसे उन्होने प्रयुक्त किया। (४) जनपद-निरुक्तियो अर्थात् भाषा के स्थानीय प्रयोगो मे तथागत को अभिनिवेश नही था। किसी एक भाषा-प्रयोग मे उनका आग्रह नही था। उन्होने स्वय कहा है कि एक ही वस्तु 'पात्र' के

---

१. इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १, १९२५, पृष्ठ ५०१, बुद्धिस्टिक स्टडीज् पृष्ठ ७३०

२. ऐसाही अंगुत्तर-निकाय के तिक निपात में कहा गया है। देखिये विन्टरनिज: इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३-६४; मिलिन्द-प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद) पृष्ठ २३१

३. किन्तिसुत्त (मज्झिम.३।१।३)

लिये किसी जनपद में 'पाति', किसी में 'पत्त' किसी मे 'वित्थ' किसी में 'सराव.' किसी में 'धारोप' किसी मे 'पोण' किसी में 'पिसील' शब्द का प्रयोग होता है, तो भिक्षुओं को किसी एक शब्द को ही लेकर यह समझ कर नही बैठ रहना चाहिये कि यही प्रयोग ठीक है और सब गलत। बल्कि उन्हें तो अपने भी जनपद के प्रयोग के प्रति ममता न रख कर जहां जैसा प्रयोग चलता हो, वहाँ उसी के अनुसार बरतना चाहिये[1]। अत. मगध-जनपद के प्रयोग के प्रति भी तथागत का अभिनिवेश या पक्षपात-व्यवहार कैसे हो सकता था? अत गायगर का अर्थ ग्रहण नही हो सकता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, गायगर की 'सकाय निरुत्तिया' की व्याख्या के साथ असहमत होते हुए भी पालि भाषा के मागधी आधार को हम अस्वीकार नही कर सकते। अब तक हमने इस विषय सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह हमें इसी निष्कर्ष की ओर पहुँचने के लिये बाध्य करता है कि पालि भाषा का विकास मध्य-मंडल मे बोले जाने वाली उस अन्तर्प्रान्तीय सभ्य भाषा से हुआ जिसमे भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जिसकी संज्ञा बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'मागधी' है। इसी 'मागधी' के विकसित, विकृत या अधिक ठीक कहें तो विभिन्न जनपदीय स्वरूप हमें अशोकके अभिलेखों की 'मागधी' में मिलते हैं। निश्चय ही इस अशोक-कालीन मगध-भाषा की उससे तीन सौ चार सौ वर्ष पूर्व बोले जाने वाली मगध-भाषा से, जो त्रिपिटक मे सुरक्षित है, विभिन्नताएं भी हैं। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही ओल्डनबर्ग आदि विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाल डाला था कि पालि मागधी नहीं है। पालि को मागधी न मानने से उनका तात्पर्य, जैसा डा० ई० जे० थॉमस ने दिखाया है, सिर्फ यही था कि पालि अशोक के अभिलेखो की भाषा नही है।[2] किन्तु यहाँ पर यह नही सोचा गया कि जो कुछ भी विभिन्नताएं त्रिपिटक की भाषा और अशोक के अभिलेखो की भाषा में है, वे सब एक अन्तर्प्रान्तीय राजभाषा के प्रान्तीय प्रयोगों के आधार पर समझी जा सकती है। अशोक का उद्देश्य अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न जनपदों की सामान्य जनता तक अपने सन्देश को पहुँचाना था। जनपद-निरुक्तियो का अभिनिवेश उसके हृदय मे

---

१. देखिये अरणविभंग सुत्त (मज्झिम.३।४।९)

२. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २३४ (डा० ई० जे० थामस का "बुद्धिस्ट एजूकेशन इन पालि एंड संस्कृत स्कूल्स" शीर्षक निबन्ध)

था नहीं। उसमें जैसा प्रयोग जिस जनपद मे चलता देखा, वैसा ही शिलालेखों में अंकित करवा दिया। इसी कारण उनमे उच्चारण आदि की अल्प विभिन्नताएँ मिलती है। एक ही लेख के पूर्व (जौगढ़) पश्चिम (गिरनार) और उत्तर (मनसे हर) इन तीन संस्करणों का मिलान करने से यह भेद स्पष्ट हो जाता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इन तीनों अभिलेखों को उद्धृत तो नहीं कर सकते,[1] किन्तु उनके आधार पर विभिन्न भाषा-स्वरूपों का अध्ययन करना आवश्यक है। उनके भाषा-स्वरूपों मे मुख्य विभिन्नताएँ ईस प्रकार हे। (१) पश्चिम (गिरनार) के शिलालेख मे 'र्' का 'ल्' मे परिवर्तन नही होता। उदाहरणत. 'राजा', 'राञ्ञा', 'पुरा', 'आरभित्वा' जैसे प्रयोग वहाँ दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर के शिलालेख (मनसेहर) में भी 'र्' का 'ल्' मे परिवर्तन नहीं होता, किन्तु वहाँ प्रादेशिक उच्चारण-भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। 'राजा', की जगह वहाँ 'रज', 'राञ्ञा' की जगह 'राजिने', 'पुरा' की जगह 'पुर' और 'आरभित्वा' की जगह 'आरभितु' मिलते है। पूर्व के शिलालेख (जौगढ) मे 'र्' का 'ल्' मे परिवर्तन हो जाता है। वहाँ 'राजा' की जगह 'लाजा' है, 'राञ्ञा' की जगह 'लाजिना' है, 'पुरा' की जगह 'पुलुव' है और 'आरभित्वा' की जगह 'आलभितु' है। (२) पश्चिम के लेख मे (सामान्यत: पालि के समान) केवल दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग है। तालव्य 'श्' और मूर्द्धन्य 'ष्' वहा नही मिलते। इनकी जगह भी दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग मिलता है। 'प्रियदसि' इसका उदाहरण है। पूर्व के लेख की भी यही प्रवृत्ति है। किन्तु उत्तर के लेख की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति 'श्' और 'ष्' दोनों को रखने की है। वहाँ 'प्रियदसि' (पश्चिम) या 'पियदसि' (पूर्व) की जगह 'प्रियद्रशि' है। इसी प्रकार 'प्रियदसिना' या 'पियदसिना' की जगह 'प्रियद्रशिन' है। 'प्राणसतसहस्रानि' (पश्चिम) या 'पानसतसहसानि' (पूर्व) की जगह 'प्राणशतसहस्रानि' हैं। 'आरभरे' (पश्चिम) या 'आलभियिसु' की जगह आश्चर्यजनक रूप से 'अरभिषंति' है! (३) पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्द के प्रथमा एक-वचन का रूप पश्चिम के अभिलेख में ओकारान्त है, जैसे 'एको मगो'। किन्तु पूर्व और उत्तर के अभिलेखों मे वह एकारान्त हो गया है, जैसे 'एक मिगे' (पूर्व), 'एके म्रिगे' (उत्तर)। (४) पूर्व के अभिलेख में व्यंजन रेफयुक्त होने पर रेफ की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन मे ही मिल गई

---

१. जिसके लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप:पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तेतीस-चौंतीस (वस्तुकथा)

है, जैसे प्रियदर्शी से 'पियदसि'; प्राणा· से 'पानानि'। किन्तु पश्चिम और उत्तर के अभिलेखो मे यह परिवर्तन नही हुआ है। वहाँ 'प्रियदसि', 'प्राणा' (पश्चिम) एवं 'प्रियदर्शि' 'प्रणनि' (उत्तर) शब्दो मे रेफध्वनि सुरक्षित है। (५) 'ऋ' के परिवर्तन में भी असमानता है। मृग से 'मगो' पश्चिम में है, 'मिगे' पूर्व मे है, 'म्रिगे' उत्तर मे है। (६) पश्चिम का शिलालेख संस्कृत के अधिकतम समीप है। मिलाइये, पुरा महानसम्हि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवस बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय (पश्चिम); पुलुवं महानससि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पानसतसहसानि आलभियिसु सुपठाये (पूर्व); पुर महनससि देवनं प्रियस प्रियदर्शिस राजिने अनुदिवसं बहुनि प्राणशत-सहस्रानि आरभिसु सुपथये (उत्तर)। इन विभिन्नताओ के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मौलिक न होकर एक ही सामान्य भाषा के प्रान्तीय या जनपदीय रूप है, जो उच्चारण-भेद से उत्पन्न हो गये है। मूल तो उन सब का एक ही है—मगध की राज-भाषा-मागधी,जिसमे ४०० वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जो आज तक अपने उसी प्रामाणिक किन्तु मिश्रित[1] रूप मे पालि त्रिपिटक मे सुरक्षित है।

पालि और वैदिक भाषा

ऊपर अशोक की धर्मलिपियो मे पाई जाने वाली पालि की विभिन्नताओ की ओर संकेत किया गया है। वास्तव में ये विभिन्नताएं पालि की जन्म-जात है। ये उसे वैदिक भाषा से उत्तराधिकार-स्वरूप मिली है। पालि का वैदिक भाषा से ऐतिहासिक दृष्टि से क्या सम्बन्ध है, इसका हम पहले विवेचन कर चुके है। यहाँ हम इन भाषाओ के स्वरूप की दृष्टि से ही विचार करेंगे। ऋग्वेद की रचना अनेक युगों में अनेक ऋषियो द्वारा की गई। अतः उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियो का संमिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों मे इसी भाषा के विकसित

---

१. अशोक के पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी अभिलेखों के ही भाषा-तत्त्व पालि में मिलते हैं। जिन्होंने पूर्वी तत्त्वों पर जोर दिया है उन्होंने पालि को मागधी या अर्द्ध-मागधी पर आधारित माना है, जिन्होंने पश्चिमी तत्त्वों पर जोर दिया है, उन्होंने उसमें शौरसेनी के तत्त्व ढूंढे हैं और जिन्होंने उत्तरी तत्त्वों को प्रधानता दी है, उन्होंने उसमें पैशाची तत्त्व ढूंढे है।

स्वरूप के दर्शन होते हैं। बाद में पाणिनि ने इसी भाषा की भिन्नरूपता को सुसम्बद्ध कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही 'संस्कृत' अर्थात् संस्कार की हुई भाषा कहलाई। ब्राह्मण-ग्रन्थो और यास्क या पाणिनि के काल के बीच में इस भाषा का व्यवस्थापन-कार्य हुआ। प्राचीन वेद की भाषा के साथ इसका विभेद दिखाने के लिये इसके लिये 'सस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब कि वेद की भाषा का उपयुक्त नाम 'छन्दस' है। वेद की भाषा जिस समय यास्क और पाणिनि के समय में और उसके कुछ पहले से सुसम्बद्ध होकर 'संस्कृत' के रूप में आर्यों के विज्ञान और धर्म की भाषा बन रही थी, उसी समय आर्यों की बोलचाल की भाषा भी विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मगध या कोशल के प्रान्तो में उसने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसी के दर्शन हमें आज 'पालि' के रूप मे होते हैं। मगध-साम्राज्य के विकास के साथ इसी बोली ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया। इस प्रकार हम देखते है कि एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्यकालीन आर्यभाषा-युग में, संस्कृत और पालि का विकास भिन्न भिन्न ढगो से हुआ। वैदिक भाषा के एक ही शब्दो के क्रमशः पालि और संस्कृत मे विकसित स्वरूपो को मिलान कर देखने से यह ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

वैदिक भाषा की सब से बड़ी विशेषता उसकी अनेकरूपता है। स्वभावतः इस अनेकरूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पालि को ही अधिक मिला है। इस तथ्य का विशेष विवरण हम आगे पालि के शब्द-शोधन और वाक्य-विचार का विवेचन करते समय करेंगे। यहाँ कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में 'देवेभिः' 'कर्णेभिः' जैसे रूप मिलते है। संस्कृत ने इन रूपो को छोड़ दिया है। किन्तु पालि मे ये 'देवेभि' 'देवेहि' 'कण्णेभि' 'कण्णेहि' आदि के रूप में सुरक्षित है। वैदिक भाषा मे 'विश्वन्' 'च्यवन्' जैसे नपुंसक लिंग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप 'विश्वा' 'च्यवना' जैसे आकारान्त होते हैं। पालि में यह प्रवृत्ति 'चित्ता' 'रूपा' जैसे प्रयोगो में दिखाई पड़ती है, किन्तु संस्कृत में नही पाई जाती। उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि मे 'मसे' (वयमेत्थ यमामसे) के रूप मे सुरक्षित है। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहुवचन मे वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह नही पाया जाता। किन्तु पालि में यह 'पच्चरे' 'भासरे' जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है।

पालि में भी 'कातवे' 'गन्तवे' जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में हम यह प्रवृत्ति देखते हैं। संस्कृत 'आम्र' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब्र' है। पालि में यह 'अम्ब' है। पालि ने 'ब्' को रख लिया है।[१] वैदिक अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय लग कर 'देवासः' जैसा रूप बनता था। पालि में भी यह 'देवासे' 'धम्मासे' 'बुद्धासे' जैसे रूपों में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है।

पालि और संस्कृत

पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दोनों ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएं हैं। दोनों ही समान स्रोत वैदिक भाषा से उद्भूत हुई हैं। किन्तु जैसा कबीर ने पन्द्रहवीं शताब्दी में लोकभाषा हिन्दी का संस्कृत से मिलान करते हुए संस्कृत को 'कूपजल' कह कर (हिन्दी) 'भाषा' को 'बहता नीर' कहा था, वही बात हम पालि के विषय में भी कह सकते हैं। पालि वह बहता हुआ नीर था जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप से मध्य-मंडल में प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा था। इसके विपरीत संस्कृत वह बद्ध महासरोवर था, जिसमें समस्त आर्य ज्ञान-विज्ञान अनुमापित कर दिया गया था। एक की गति अवरुद्ध थी, दूसरे में आवर्त-विवर्तों की लहरें सतत चलती रहीं। परिणामतः प्राकृतों की सीमा पार कर, अपभ्रंश के नाना विवर्त धारण कर, वह आज हमारी अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में समाविष्ट हो गई है। संस्कृत 'पुराण युवती' है। पुरानी होते हुए भी वह सदा अपने मौलिक अभिराम रूप को धारण करती है। उसके जरा-मरण नहीं। इसके विपरीत पालि के कुमारी, युवती, वृद्धा स्वरुप हमें दृष्टिगोचर होते हैं। अन्त में वह अपनी सन्तानों के रूप में अपने को खो भी चुकी है। पालि त्रिपिटक में उसके बाल्य और तारुण्य का सामान्यतः दिग्दर्शन होता है, अनुपालि-साहित्य में सामान्यतः उसके वृद्धत्व का। उसके ये विभिन्न भाव एक ही व्यक्तित्व के विकार हैं, जो उसने काल और स्थान के भेद से ग्रहण किये हैं। जिन भाषा-तत्व-विदों ने उसके इस रहस्य

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ६५५-५६ (भिक्षु सिद्धार्थ का पालिभाषा सम्बन्धी निबन्ध)

को नहीं समझा है, उन्होंने उसके आदि निवास-स्थान और स्वरूप आदि के विषय में अनेक एकांगदर्शी मत प्रकट किए हैं, यह हम पहले देख ही चुके हैं।

उद्‌गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत सहोदरा हैं। जैसे दो सगी बहनों में एक का रूप कुछ अधिक निखरा हो, दोनों के स्वर-तन्त्रियों और शब्दों के समान होते हुए भी एक कुछ अधिक परिष्कार के साथ बोले, यही हालत पालि और संस्कृत की है। ध्वनि-समूह में तो कुछ अल्प विभिन्नताएँ हैं भी, किन्तु रूप-विधान में तो उतनी भी नहीं है। दोनों के ध्वनि, रूप और अर्थ का विस्तृत तुलनात्मक में अध्ययन करते समय यह हम अभी देखेंगे। पहले विकास-क्रम को पूरा करते हुए पालि-भाषा का सम्बन्ध प्राकृत भाषाओं के साथ देखें।

पालि और प्राकृत भाषाएँ: विशेषत: अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची

प्राकृतों का विकास (१-५०० ई०) पालि के बाद का है। यह भी कहा जा सकता है कि पालि प्राकृत की प्रथम अवस्था का ही नाम है। हम पहले कह चुके कि अशोक के समय में पालि या तत्कालीन लोक-सामान्य भाषा के कम से कम तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। इन्हीं बोलियों का विकासवाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी और अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोलीके, शौरसेनी पश्चिमी बोली के और पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। पहले ये बोलियाँ मात्र थी, किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इसका स्वरूप अवरुद्ध होगया। भरत मुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है, (१) मागधी प्राकृत, (२) अवन्ती प्राकृत, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्द्धमागधी, (६) वाल्हीक और (७) दाक्षिणात्य[१]। बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र ने इनमें पैशाची और लाटी को और जोड़ दिया है। साहित्य की दृष्टि से प्राकृतों में चार मुख्य हैं, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को अधिक महत्व दिया है। महाराष्ट्री प्राकृत का विस्तृत विवेचन करने के बाद उन्होंने अन्य प्राकृतों की केवल कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कर 'शेष महाराष्ट्रीवत्' कहकर छोड़ दिया है।

---

१ मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्द्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्याश्च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥

२ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं विदुः। दण्डी

भाषा-तत्व की दृष्टि से पालि औरप्राकृतों में अनेक समानताएँ हैं। उपर्युक्त विकास-विवरण से स्पष्ट है कि मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी और पैशाची प्राकृत ही पालि के तुलनात्मक अध्ययन मे अधिक ध्यान देने योग्य है। पहले हम सामान्यतः पालि में पाये जाने वाले प्राकृत-तत्वों का निर्देष करेंगे और फिर मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची के साथ उसका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्राय एक सा ही है। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ और औ का प्रयोग पालि और प्राकृतो में समान रूप से ही नही पाया जाता। केवल अपभ्रंश में ऋ ध्वनि अवश्य मिलती है। पालि और प्राकृतों में ऋ ध्वनि अ, इ, उ, स्वरो में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनो मे ही मिलता है। विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनो मे ही नही मिलता। श्, ष् की जगह मागधी को छोड़ कर और सब प्राकृतो और पालि मे 'स्' ही हो जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ळ' पालि और प्राकृत दोनों मे ही पाई जाती है।

विशेष रूप से प्राकृत-तत्त्व पालि में व्यंजन-परिवर्तनो में ही पाये जाते हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार है (१) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्श की जगह य् या व् का आगमन (२) शब्द के अन्त.स्थित घोष महाप्राण की जगह ह् हो जाना (२) शब्द के अन्त स्थित अघोष स्पर्शों का घोष हो जाना। (४) महाप्राणत्व (ह-कार) का आकस्मिक आगमन या लोप (५) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय। ये परिवर्तन पालि मे अनियमतः कहीं-कहीं और प्रायः अन्य सब प्राकृतों मे नियमत. पाये जाते है। आगे पालि के ध्वनि-समूह के विवेचन मे इनका सोदाहरण विवरण दिया जायगा। वास्तव मे बात यह है कि जिन ध्वनि-परिवर्तनो का पालि मे सूत्र-पात ही हुआ है, उन्ही का विकास हमें प्राकृतो मे देखने को मिलता है। यही इन समानताओं का कारण है। इसका कुछ विस्तार से विवेचन हम आगे पालि के 'व्यजन-परिवर्तन' पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना आवश्यक है कि पालि के जिस रूप के साथ प्राकृत की समानता है अथवा उसके जिस रूप में प्राकृत-तत्त्व मिलते हैं, वह पालि का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप है। इसीलिये पालि-भाषा के विकास में भी हम तारतम्य देखते हैं, जिसका वर्णन हम अभी आगे करेंगे।

मागधी और पालि के सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके है। अर्द्ध-मागधी के सम्बन्ध में भी कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जिस रूप में अर्द्धमागधी के स्वरूप का साक्ष्य हमें जैन आगमों में मिलता है, उसकी ध्वनि और रूप की दृष्टि से पालि से समानताएँ तो हैं किन्तु अर्द्धमागधी को पालि का उद्‌गम या आधार स्वीकार नही किया जा सकता। प्रत्युत उसका विकास पालि के बहुत बाद हुआ है। पालि और अर्द्धमागधी की कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं--(१) संस्कृत 'अस्' और 'अर्' के स्थान में 'ए' हो जाना। पालि के पुरे (पुरः); सुवे (श्वः); भिक्खवे (भिक्षवः); पुरिसकारे (पुरुषकारः); दुक्खे (दुःखं) जैसे शब्दो मे यह अर्द्धमागधीपन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। (२) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर 'से' हो जाना। यह प्रवृत्ति 'सेय्यथा' (तद्यथा) जैसे पालि के प्रयोगो में रूढ़ हो गई है। (३) इसी प्रकार संस्कृत यद् के स्थान पर 'ये' हो जाना (४) र् का ल् हो जाना अर्द्धमागधी की एक बड़ी विशेषता है। पालि में भी यह कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है, नियमानुसार नही (५) स्वरों और अनुनासिक स्वरो के बाद आने पर 'एव' का अर्द्धमागधी में 'येव' हो जाता है। पालि में भी यह प्रवृत्ति कही कही दृष्टिगोचर होती है। (६) कही कहीं वर्ण-परिवर्तन का विधान भी पालि मे अर्द्ध-मागधी के समान ही है। उदाहरणतः

संस्कृत	पालि	अर्द्धमागधी
साक्ष (आँखो के सामने)	सक्खि (सक्खिं भी)	सक्खं
त्सरु (मूँठ, तलवार)	थरु	थरु (छरु भी)
वेणु (बाँस)	वेळु	वेळु
लागल (हल)	नगळ	नंगळ

लूडर्स ने, अर्द्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को पालि का आधार माना है, अतः उन्होंने उपर्युक्त समानताओं पर अधिक जोर दिया है। किन्तु इन समानताओं की एक मर्यादा है। केवल कुछ छुटपुटे उदाहरणो को छोड़ पालि में ये प्रवृत्तियाँ नियमित दृष्टिगोचर नही होती। उदाहरणतः, सं० अस् की जगह 'ए' हो जाना, 'र्' की जगह 'ल्' हो जाना आदि प्रवृत्तियां जो अर्द्धमागधी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं, पालि में कहीं कहीं ही पाई जाती हैं।

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अर्थात् व्रज-मंडल या मध्य-मंडल की भाषा थी। यह प्राकृत संस्कृत के अधिकतम समीप है। उत्तरकालीन पालि में भी यही प्रवृत्ति

दिखाई देती है। पालि भी मध्य-मंडल की ही लोक-भाषा रही थी। अतः उसका प्रभाव शौरसेनी पर आवश्यक रूप से पड़ा है। जिन विद्वानों ने पालि का आधार कोई पूर्वी बोली (मागधी या अर्द्ध-मागधी) न मान कर किसी पश्चिमी बोली को माना है, उन्होंने शौरसेनी प्राकृत के साथ उसकी सर्वाधिक समानताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है। कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं। (१) शौरसेनी के प्राचीन रूप में शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का लोप नहीं होता और अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन भी बहुत कम दिखाई पड़ता है; (२) शब्द के मध्यस्थित 'न्' में भी साधारणतः परिवर्तन नहीं होता, (३) शब्द के आदि में स्थित 'य्' की जगह 'ज्' नहीं होता, जैसा उत्तरकालीन प्राकृतों में हो जाता है; (४) 'दानि' और 'इदानि' शब्द दोनों में ही समान रूप से प्रयुक्त होते हैं; (५) इसी प्रकार 'पेक्ख' 'गम्मिस्सिति' 'सक्किति' जैसे रूपों में भी समानता है। इन समानताओं के विषय में हमें यही कहना है कि इनमें से बहुत सी केवल पालि और शौरसेनी में ही नहीं मिलती, बल्कि अन्य प्राकृतों में भी पाई जाती हैं।

इसी प्रकार पालि और पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध का सवाल है। इन दोनों भाषाओं की मुख्य समानताएँ इस प्रकार हैं—(१) घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब्,) के स्थान पर अघोष स्पर्श (क्, त्, प्) हो जाना; (२) शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित रहना; (३) 'भाग्यि' 'सिनान' 'कसट' जैसे शब्दों में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण (युक्त-विकर्ष) पाया जाना, (४) ञ्, ण्य्, और न्य् का 'ञ्ञ्' में परिवर्तन होना, (५) य् का ज् में परिवर्तन न हो कर सुरक्षित रहना, (६) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाना, (७) धातु-रूपों में समानताएँ; (८) र् का ल् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना। पालि की ये समानताएँ भी केवल पैशाची प्राकृत के साथ ही नहीं हैं। अन्य प्राकृतों में भी ये पाई जाती हैं। उदाहरणतः ञ्, ण्य् और न्य् की जगह 'ञ्ञ्' मागधी और अन्य अनेक प्राकृतों में भी पाया जाता है। इसी प्रकार य् का ज् में परिवर्तित न होकर 'य्' ही बने रहना मागधी तथा अन्य प्राकृतों में पाया जाता है। इसी प्रकार अकारान्त शब्दों का आकारान्त हो जाना केवल पैशाची प्राकृत में ही नहीं, किन्तु सभी पश्चिमी बोलियों में पाया जाता है और संस्कृत के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर उद्भूत है। इसी प्रकार पालि का धातु-रूप-विधान न केवल पैशाची से ही अपितु सामान्यतः सभी पश्चिमी बोलियों से समानता रखता है। यही हाल 'र्' के पालि में परिवर्तित न होने का है। पश्चिमी बोलियों में भी ऐसा ही पाया जाता है। पैशाची

प्राकृत के सब रूपों में 'ट्' सुरक्षित ही मिलता हो, ऐसी भी बात नहीं है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित बने रहना प्राचीनता का लक्षण अवश्य है, किन्तु पैशाची के साथ पालि के घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक नहीं। घोष स्पर्शों के स्थान पर अघोष स्पर्श हो जाना पालि में यत्र-तत्र ही अनियमित रूप से पाया जाता है और पैशाची में भी यह नियम अनिवार्य नहीं है। अतः पैशाची प्राकृत के साम्य के आधार पर हम पालि के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं कर सकते।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी एक प्राकृत या उसके प्राचीन स्वरूप से पालि को सम्बद्ध कर देना कितना एकांगी और भ्रामक सिद्धान्त है। वास्तव में तथ्य यही है कि पालि एक मिश्रित, साहित्यिक भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के सम्मिश्रण के चिन्ह मिलते हैं। उसके ध्वनि-समूह का विस्तृत विवरण, प्राकृतों के साथ उसके सम्बन्ध को, जिसे हमने अभी तक अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही निर्दिष्ट किया है, अधिक स्पष्टता से व्यक्त करेगा।

पालि के ध्वनि-समूह का परिचय

पालि के ध्वनि-समूह को समझने के लिये पहले वैदिक और संस्कृत भाषा के ध्वनि-समूह को समझ लेना आवश्यक है। वैदिक ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ थी, जिनमें १३ स्वर थे और ३९ व्यंजन। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वर—

(१) नौ मूल स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ,

(२) चार संयुक्त स्वर ए, ऐ ओ, औ

व्यंजन—

(१) सत्ताईस स्पर्श व्यंजन —

कंठ्य	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
तालव्य	च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्द्धन्य	—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह
दन्त्य	—त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य	—प्, फ्, ब्, भ्, म्

(२) चार अन्तस्थ —य्, र्, ल्, व्

(३) तीन ऊष्म — श् ष् स्

(५) अनुनासिक — (अनुस्वार)

(६) तीन अघोष ऊष्म

विसर्जनीय या विसर्ग :
जिह्वामूलीय[1]
उपध्मानीय[2]

वैदिक ध्वनि-समूह ही प्रायः संस्कृत में उपलब्ध होता है। कुछ विशेष परिवर्तन इस प्रकार हैं--(१) ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियो का प्रयोग संस्कृत में नही मिलता (२) कुछ स्वरो और व्यजनो के उच्चारणो में भी परिवर्तन हुआ है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान मे रख कर अब हम पालि के ध्वनि-समूह पर विचार करे। पालि का ध्वनि-समूह इस प्रकार है—

स्वर

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ह्रस्व ए, ए, ह्रस्व ओ, ओ

व्यंजन

कण्ठ्य — क् ख् ग् घ् ङ्
तालव्य — च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्द्धन्य — ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह
दन्त्य — त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य — प्, फ्, ब्, भ्, म्
अन्तःस्थ — य्, र्, ल्, व्
ऊष्म — स्
प्राणध्वनि — ह्

संस्कृत से मिलान करने पर उपर्युक्त पालि ध्वनि-समूह में ये विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है—(१) ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ स्वरों का प्रयोग पालि भाषा में नही मिलता (२) पालि में दो नये स्वर ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ मिलते है, (३) विसर्ग पालि में नही मिलता (४) श्, ष् पालि मे नही मिलते, (५) ळ्, ळ्ह् व्यजनो का प्रयोग पालि में संस्कृत से अधिक होता है। दो स्वरो के बीच में आने वाले ड् का

१. क् से पहले आने वाला विसर्ग। 'ततः किं' में विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

२. 'प्' से पहले आने वाला विसर्ग। 'पुनः पुनः' में प्रथम विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

स्थान यहाँ 'ळ्' ने ले लिया है, इसी प्रकार 'ह्' का स्थान 'ळ्ह्' ने। मिथ्या-सादृश्य के कारण 'ळ्' का प्रयोग 'ल्' के स्थान पर भी देखा जाता है। (६) स्वतंत्र स्थिति में 'ह्' प्राणध्वनि व्यंजन है, किन्तु य्, र्, ल्, व् या अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि वैय्याकरणो ने 'ओरस' या 'हृदय से उत्पन्न' कहा है। इस संक्षिप्त निर्देश के बाद अब उन ध्वनि-परिवर्तनों का, उल्लेख करना आवश्यक होगा, जो संस्कृत की तुलना में पालि में होते है। पहले हम स्वर-परिवर्तनो को लेंगे, बाद में व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों को। स्वर-परिवर्तनो मे भी क्रमशः ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, संयुक्त स्वर, विसर्ग आदि का विवेचन किया जायगा। इसी प्रकार व्यजन-सम्बन्धी परिवर्तनो मे असंयुक्त और सयुक्त व्यजनो की दृष्टि से शब्द मे उनकी स्थिति के अनुसार विवेचन करेंगे, यथा आदि-व्यजन, मध्य-व्यंजन, अन्त्य-व्यजन, आदि। इसके साथ ही स्वर और व्यजन-सम्बन्धी कुछ विशेष ध्वनि-परिवर्तनों का दिग्दर्शन करना भी आवश्यक होगा।

स्वर-परिवर्तन

ह्रस्व स्वर (अ इ, उ, ए, ओ)

१ साधारणतया संस्कृत ह्रस्व स्वर अ इ, उ, पालि (एवं प्राकृतो) में सुरक्षित रहते है।

उदाहरण

संस्कृत	पालि	
वधू	वधू	(प्राकृत वहू)
अग्नि	अग्गि	प्राकृत में पालि के समान ही रूप
अर्थ	अट्ठ	
प्रिय	पिय	
रूक्ष	रुक्खो	
मुखम्	मुख	(प्राकृत मुहं)

२ यदि संस्कृत में अ संयुक्त व्यंजन से पहले होता है, तो पालि में उसका कहीं कहीं ए (ह्रस्व ए) हो जाता है।

उदाहरण

संस्कृत	पालि
फल्गु (सारहीन)	फेग्गु

शय्या	सेय्या (प्राकृत सेज्जा)

३ इकारान्त और उकारान्त पालि शब्दो के रूपो म विभक्तयन्त इकार और उकार का दीर्घ होकर क्रमश ईकार और ऊकार हो जाता है, यथा ईहि ऊहि ईसु ऊसु। इस प्रकार अग्गि (अग्नि) और भिक्खु (भिक्षु) शब्दो के रूपो म क्रमश अग्गीहि भिक्खूहि (तृतीया बहुवचन) एव अग्गीसु भिक्खूसु (सप्तमी बहुवचन) रूप होते ह।

(४) यदि संस्कृत म इ और उ सयुक्त व्यजन से पहले होते ह तो पालि मे वे क्रमश ए और ओ (ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ) हो जाते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
विष्णु	वेण्हु (कही कही विण्हु भी)
निष्क	नेक्ख
उष्ट्र	ओटठ
उल्कामुख	ओक्कामुख
पुष्कर	पोक्खर

(५) संस्कृत म जहा सयुक्त व्यजन से पहले दीघ स्वर होते ह वहा पालि मे उनका रूप ह्रस्व हो जाता ह यह पालि भाषा का एक प्रसिद्ध नियम है जिसका विवेचन हम दीघ स्वरो क परिवतन का विवरण देते समय आग करगे। यहा यह कह देना आवश्यक है कि इस नियम के कारण सस्कृत क ए ऐ तथा ओ औ जब सयुक्त व्यजनो से पहले आते ह तो पालि म उनके रूप क्रमश ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ हो जाते हैं। उदाहरण—

श्लेष्मन्	सेम्ह
चैत्य	चेतिय
ओष्ठ	ओट्ठ
मौर्य	मोरिय

(६) जब उपर्युक्त स्वर सयुक्त व्यजनो से पहले न आकर अ-सयुक्त व्यजनो के भी पहले आते हैं तो भी उनका परिवर्तन उपर्युक्त ह्रस्व स्वरूपो म ही हो जाता है किन्तु उनके आगे आने वाला व्यजन सयुक्त हो जाता है। उदाहरण—

एव	एक्क
एवम्	एव्व

ऋ और लृ के पालि प्रतिरूप

(अ) ऋ का परिवर्तन पालि में त्रिविध होता है। कहीं अ, कहीं इ, कहीं उ। समीपी ध्वनियों पर यह अधिक निर्भर करता है कि कब क्या परिवर्तन हो। ओष्ठ्य अक्षरों के बाद अक्सर उ होता है। फिर भी प्रयोगों के अनुसार विविधता पाई जाती है, जिसे नियमो में नहीं बाँधा जा सकता। ऋ का परिवर्तन बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में भी यह पाया जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि संस्कृत 'अवट' शब्द पहले 'अवृत' था। 'विकट' और 'विकृत' शब्द दोनों साथ साथ ऋग्वेद में मिलते हैं। यास्क भी इस तथ्य मे अवगत हैं। उन्होंने 'कुटस्य' 'कृतस्य' जैसे समानार्थवाची शब्दो के उदाहरण दिये हैं। उत्तरकालीन युग में इस परिवर्तन की मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम में ऋ का परिवर्तित स्वरूप 'अ' हो जाता है और दूसरी में 'इ' या 'उ'। प्रथम प्रवृत्ति के परिचायक सामान्यत पालि, अशोक के गिरनार-शिलालेख, महाराष्ट्री प्राकृत एवं अर्द्धमागधी प्राकृत है। दूसरी प्रवृत्ति के परिचायक विशेषत अशोक के पूर्व और उत्तर-पश्चिम के शिलालेख एवं शौरसेनी प्राकृत है।

उदाहरण

(१) ऋ की जगह 'अ' हो जाना है—

संस्कृत	पालि
ऋक्ष	अच्छ
वृक	वक
हृदय	हदय
दृढ़	दल्ह (गिरनार शिलालेख)
मृग	मग (गिरनार शिलालेख)

(२) ऋ की जगह 'इ' हो जाती है—

संस्कृत	पालि
कृत	कित (शौरसेनी किड) (अशोक पालि)
मृत	मित (शौरसेनी मुद) (अशोक-पालि)
ऋक्ष	इक्क
ऋण	इण
वृश्चिक	विच्छिक

(३) ऋ की जगह 'उ' हो जाता है—

ऋजु	उजु या उज्जु
ऋषभ	उसभ
पृच्छति	पुच्छति

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऋ के पालि प्रतिरूपो मे अनक विभिन्नताएँ हैं। कही-कही एक ही शब्द के दो परिवर्तित स्वरूप दृष्टगोचर होते है। जैसे 'कृत' से 'कत' और 'कित', 'मृत' से 'मत' और 'मित', 'ऋक्ष' से 'अच्छ और 'इक्क'। कही कही इस प्रकार के समान प्रयोगो मे अर्थ की कुछ भिन्नता भी हो गई है, यथा 'वड्ढि' और 'वुढ्ढि' दोनो स० 'वृद्धि' के ही परिवर्तित स्वरूप हैं, किन्तु प्रथम का प्रयोग होता है उन्नति के अर्थ मे और दूसरे का उगने के अर्थ मे। इसी प्रकार 'मृग' के दो परिवर्तित रूप 'मग' और 'मिग' है। मग' का प्रयोग होता है सामान्य पशु मात्र के लिये, किन्तु 'मिग' का केवल हिरन के लिये। अन्य भी अनेक विचित्रताएँ है। 'ऋण ' का पालि मे 'इण' होता है, किन्तु 'स-ऋण' के लिये 'स + इण' न हो कर 'स + अण' अर्थात् 'साण' होता है। इसी प्रकार 'अनण होता है, 'अनिण' नही। सम्भवत यह परिवर्तन स्वर-अनुरूपता के कारण है। 'पितृ' और 'मातृ शब्दो के परिवर्तन एक जगह तो पितिपक्खतो माति-पक्खतो इस प्रकार होते है, किन्तु दूसरी जगह 'पितुघातक' 'मातुघातक इस प्रकार होते है। 'पृथिवी' शब्द के पालि प्रतिरूप तो और भी अधिक आश्चर्यमय हैं—पथवी, पठवी, पुथवी पुथुवी, पुठुवी। ये सब पालि के भिन्नतामयी लोक-भाषा होने के साक्षी है।

(४) कही कही ऋ व्यजन भी हो जाता है—

सस्कृत	पालि
बृहयति	ब्रूहेति
वृक्ष	रुक्ख
प्रावृत	पारुत
अपावृत	अपारुत

(आ) 'लृ' का 'उ' हो जाता है—

सस्कृत	पालि
क्लृप्त	कुत्त
क्लृप्ति	कुत्ति

दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ)

(१) पद के अन्त में या सयुक्त व्यंजन से पूर्व की स्थिति को छोडकर, सस्कृत दीर्घ स्वर पालि में प्राय सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण

संस्कृत	पालि
काल	काल
प्रहीण	पहीण
क्षीरं	खीरं
मूल	मूल या मूळ

(२) पद के अन्त में जहाँ सस्कृत मे दीर्घ स्वर होते है, पालि मे वे ह्रस्व कर दिये जाते है।

उदाहरण

देवानां	देवान
गणनाया	गणनायं
नदी	नदि

(३) सयुक्त व्यजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होने पर पालि मे उसका प्रतिरूप ह्रस्व हो जाता है और उसके बाद भी सयुक्त व्यंजन रहता है।

उदाहरण

जीर्ण	जिण्ण
मार्दवं	मद्दवं
तीर्थं	तित्थं

(४) संयुक्त व्यंजन से पूर्व सस्कृत मे दीर्घ स्वर रहने पर कभी-कभी पालि में उसका प्रतिरूप भी दीर्घ ही बना रहता है और इस दशा मे संयुक्त व्यंजन अ-संयुक्त हो जाता है। उदाहरण

लाक्षा	लाखा
दीर्घ	दीघ

ए और ओ रहने पर संयुक्त व्यंजन विकल्प से असंयुक्त होता है, अर्थात् कही-कही वह असयुक्त होता है और कहीं-कहीं नहीं भी।

उदाहरण

अपेक्षा	अपेखा, अपेक्खा भी
उपेक्षा	उपेखा, उपेक्खा भी
विमोक्ष	विमोख, विमोक्ख भी

उपर्युक्त (३) और (४) ध्वनि-परिवर्तनों के आधार पर प्रसिद्ध जर्मन भाषातत्त्वविद् डा० गायगर ने एक नियम खोज निकाला है। इस नियम का नाम 'ह्रस्व मात्रा-काल का नियम' (दि लॉ ऑव मोरा) है। इस नियम के अनुसार पालि में प्रत्येक शब्दांश के प्रारम्भ में या तो (१) ह्रस्व स्वर हो सकता है (एक ह्रस्व मात्रा-काल) या (२) दीर्घ स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल), या (३) उसके अन्त में ह्रस्व स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल)। इस प्रकार किसी भी शब्दांश में दो से अधिक ह्रस्व मात्रा काल नहीं हो सकते। दीर्घ सानुनासिक स्वर पालि में नहीं हो सकते। इस नियम के आधार पर ही उपर्युक्त (३) (४) ध्वनि-परिवर्तनों की सिद्धि डा० गायगर ने की है। इस नियम के अनुसार अन्य परिवर्तनों का भी उन्होंने उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

(१) जहाँ संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले ह्रस्व स्वर होता है, वहाँ पालि में साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो जाता है। उदाहरण

सर्षप (सरसों)	सस्सप के बजाय सासप
वल्क (छाल)	वक्क के बजाय वाक
निर्याति (बाहर चला जाता है)	नीयाति

(२) जहाँ साधारण व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होता है, वहाँ पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर होता है। उदाहरण

आवृहति	अब्बहति
नीड	निड्ड (नेड्ड भी)
उदूखल	उदुक्खल
कूवर	कुब्बर

(३) जहाँ उपर्युक्त नियम (१) के अनुसार संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले (ह्रस्व) स्वर होने पर पालि में उसका साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो

जाता है, वहाँ इस नियम के अनुसार कही कही उसके दीर्घ स्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्व स्वर भी हो जाता है। इस नियम का कारण यह है कि ह्रस्व सानुनासिक स्वर में भी दीर्घ स्वर के समान दो ह्रस्व मात्रा-काल होते है।

उदाहरण—

मत्कुण	माकुण के बजाय मकुण
शार्वरी	मावरी (सब्बरी) के बजाय सवरी
शुल्क	मूक (सुक्क) के बजाय मुक

(४) उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अनुनासिक ह्रस्व स्वर का परिवर्तन पालि मे दीर्घ स्वर भी हो जाता है।

सिंह	सीह
विंशति	वीसति वीस

(५) कभी-कभी संस्कृत म संयुक्त व्यंजन से पूर्व आने वाला दीर्घ स्वर पालि मे भी बना रहता है। एसा अधिकतर सन्धियो में होता है जैसे साज्ज = सा+अज्ज, यथाज्झासयेन = यथा+अज्झासयेन आदि।

(६) पालि म स्वर-भक्ति का प्रयाग प्रचुरता म मिलता है। इसका विवेचन हम आग करेंगे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जब स्वर-भक्ति के कारण संयुक्त व्यंजन असंयुक्त किये जाते है, तो संयुक्त व्यंजन से पहले आने वाला दीर्घ स्वर पालि मे ह्रस्व कर दिया जाता है। उदाहरण—

सूर्य	सुय्य के बजाय सुरिय
प्रकीर्य	पकिरिय
मौर्य	मोरिय
चैत्य	चेतिय

(७) विवृत् स्वर ई और ऊ पालि में क्रमश ए और ओ हो जाते है।

उदाहरण

ईदृश्	एदिस (एरिस)
ईदृक्ष	एदिसक
ईदृक्ष	एदिक्ख (एरिक्ख)

संयुक्त स्वर (ए, ऐ, ओ, औ) और उनके पालि प्रतिरूप

ए और ओ पालि मे ह्रस्व और दीर्घ दोनो ही हैं। ह्रस्व ए और ओ का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दीर्घ ए और ओ भी पालि मे पाये जाते है।

(१) पालि मे ए और ओ का आगमन सस्कृत सयुक्त स्वरो ऐ और औ से हुआ है।[1]

ऐरावण	एरावण
मैत्री	मेत्ता
वै	वे
औरस	ओरस
पौर	पोर

(२) कभी कभी ए, ओ, सस्कृत मे सयुक्त व्यजनो से पहले आने पर, पालि मे लघु होकर क्रमश इ और उ रह जाते हैं। उदाहरण

प्रतिवेश्यक	पटिविस्सक
प्रसेवक	पसिब्बक
ऐश्वर्य	इस्सरिय
सैन्धव	सिन्धव
श्रोष्यामि	सुस्स
औत्सुक्य	उस्सुक
क्षौद्र	खुद्द
रौद्र	लुद्द

विसर्ग

पालि मे आते-आते विसर्ग का लोप हो गया है। प्राकृतो मे भी वह नही मिलता। इसका परिवर्तन प्राय तीन प्रकार से हुआ है।

(१) शब्द के मध्यस्थित विसर्ग का समावेश उसके आगे आने वाले व्यजन मे हो गया, जैसे

---

१. सं० अय से पालि ए; अव से ओ; आव से ओ; अयि, आयि, आवि से ओ; इन परिवर्तनो के लिये देखिये आगे अक्षर-संकोच का विवरण।

दु:ख	दुक्ख
दु सह	दुस्सहो
नि.शोक	निस्सोको

(२) अकारान्त शब्दो के परे विसर्ग का ओ हो गया ।

देव	देवो
क	को

(३) इकारान्त तथा उकारान्त शब्दा के परे विसर्ग का लाप हो गय

अग्नि	अग्गि
धेनु	धेनु

स्वर-अनुरूपता अर्थात् एक स्वर का दूसरे समीपवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना

समीपवर्ती स्वरो का प्रभाव पालि म दूसरे स्वरा पर भी पडता है। इस प्रकार पालि म हम 'स्वर-अनुरूपता का प्रारम्भ देखते है। समीपवर्ती स्वरो के कारण स्वर-विपर्यय के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

(अ) पूर्ववर्ती स्वर का परवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना—

(१) सस्कृत मे 'इ' के बाद जहाँ 'उ'होता है, तो पालि मे इ' की जगह भी 'उ' हो जाता है—

इषु	उसु
इक्षु	उच्छु (अर्द्धमागधी मे इक्खु)
शिशु	सुसु

(२) अ के बाद जहाँ सस्कृत मे उ होता है, तो पालि मे अ की जगह भी उ हो जाता है।

समुद्ग	सुमुग्ग
असूया	उसूया (असुय्या भी)

(३) अ के बाद जहाँ सस्कृत मे इ होता है तो पालि मे अ की जगह भी इ हो जाता है।

तमिस्रा	तिमिस्सा
सरीसृप	सिरिसप

(आ) परवर्ती स्वर का पूर्ववर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना।

(१) उ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है।

कुरंग	कुरुंग
उदक	उळुक

(२) अ के बाद जहाँ संस्कृत में इ होता है, तो पालि में इ की जगह भी अ हो जाता है।

अलिंजर	अरंजर
काकिणिका	काकणिका
पुष्करिणी	पोक्खरणी

(३) अ के बाद जहाँ संस्कृत में उ होता है तो पालि में उ की जगह भी अ हो जाता है।

आयुष्मत	आयस्मन्त
शष्कुली	सक्खली (सक्खलिका)

(४) इ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाती है।

शृंगवर	सिंगिवर
निषण्ण	निसिन्न

समीपवर्ती व्यंजनों का स्वरों पर प्रभाव

(१) ओष्ठ्य व्यंजनों के समीप विशेषतः उ आता है।

समार्जनी	सम्मुज्जनी (कहीं कहीं सम्मज्जनी भी)
मतिमान	मुतीमा

(२) मूर्द्धन्य व्यंजनों के समीप विशेषतः इ आता है।

मज्जा	मिञ्जा
जुगुप्सते	जिगुच्छति

स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन

पालि में स्वराघात का क्या स्वरूप था इसका निर्णय अभी नहीं हो सका।

किन्तु यह निश्चित है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल के बाद ही स्वराघात के चिन्ह को लगाने का प्रयोग उठ गया था। जेकोबी और गायगर का मत है कि पालि में स्वराघात का वही रूप था, जो संस्कृत में। यह तथ्य नीचे लिखे परिवर्तनों से स्पष्ट होता है।

(१) तीन-चार अक्षरों के शब्द में जिसमें संस्कृत के साक्ष्य पर प्रथम अक्षर में स्वराघात होता था, स्वराघात वाले अक्षर के बाद के अक्षर में अर्थात् दूसरे अक्षर में पालि में स्वर-परिवर्तन पाया जाता है।

(अ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का इ हो जाता है—

चन्द्रमा	चन्दिमा
चरम	चरिम
परम	परिम
पुत्रमान्	पुत्तिमा
मध्यम	मज्झिम
अहकार	अहिकार

(आ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का उ भी हो जाता है—

नवति	नवुति
प्रावरण	पापुरण
सम्मति	सम्मुति

(इ) कभी-कभी स्वराघात वाले अक्षर के बाद इ का उ और उ का इ हो जाता है—

राजिल	राजुल
गैरिक	गेरुक
प्रसित	पसुत
मृदुता	मुदिता (मुदुता भी)

(२) स्वराघात वाले अक्षर के बाद आने पर अनुदात्त लघु स्वर कभी-कभी लुप्त भी कर दिये जाते हैं—

उदक	ओक
अगार	अग्ग

(३) स्वराघात के प्रभाव के कारण ही अनुदात्त अन्त्य अक्षर ह्रस्व कर दिये जाते हैं। इस प्रकार 'ओ' का 'उ' हो जाता है—

असौ	असु (प्रथम 'असो' हुआ, मागधी मे यही रूप)
उताहो	उदाहु
सद्य	सज्जु (प्रथम 'सज्जो' हुआ)

(४) कही-कही शब्द का दूसरा दीर्घ अक्षर ह्रस्व कर दिया जाता है। यह परिवर्तन पालि मे स्वराघात के दूसरे अक्षर से हटाकर प्रथम अक्षर पर कर देने से होता है।

अलीक	अलिक
गृहीत	गहित
पानीय	पानिय (अर्द्धमागधी पाणिय)

(८) कही-कही प्रथम अक्षर के स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह परिवर्तन भी उस अक्षर पर स्वराघात कर देन के कारण होता है।

अजिर	आजिर
अलिन्द	आलिन्द
अरोग	आरोग (अरोग भी)

सम्प्रसारण और अक्षर-संकोच

(अ) सम्प्रसारण—

(१) उदात्त 'य', का 'ई' हो जाता है—

स्त्यान	थीन
द्व्यह	द्वीह
त्र्यह	तीह
व्यतिवृत्त	वीतिवत्त

कही-कही 'य' सुरक्षित भी रहता है

व्यसन	ब्यसन
व्याध	ब्याध

(२) सम्प्रसारण के कारण ही कही-कही 'व' का ऊ हो जाता है।

श्वन्	सून

यदि 'व' सस्कृत में सयक्त व्यजनो से पहले है तो पालि मे उसका रूप ऊ न होकर पहले उ होता है और फिर ओ मे सम्प्रसारण—

स्वस्ति	सुवत्थि—सोत्थि
स्वप्न	सुपिन—सोप्प

असयुक्त व्यजनो से पहले ऊ की जगह ओ होता है—

श्वपाक	सोपाक (अर्द्धमागधी सोवाग)

(३) कुछ सम्प्रसारण विचित्र भी होते है, जैसे म० 'द्वेष' और 'दोष' दोनो के प्रतिरूप पालि मे 'दोस' मे मिल गये है।

(आ) अक्षर-सकोच

(१) अय और अव क्रमश. ए और ओ हो जाते हे। बीच मे स्वराघात के कारण क्रमश अयि, ए अवु, औ अस्वस्थाओ म होकर ये परिवर्तन होते है, ऐसा कहा जा सकता है।

जयति	जेति (जयति भी)
अध्ययन	अज्झेन
मोचयति	मोचेति
कथयति	कथेति
अवधि	ओधि
प्रवण	पोण
लवण	लोण

(२) अय और आय का आ हो जाता है

प्रतिसलयन	पटिसल्लान
स्वस्त्ययन	सोत्थान
कात्यायन	कच्चान (कच्चायन भी)
मौद्गल्यायन	मोग्गल्लान (मोग्गल्लायन भी

(३) आव का ओ हो जाता है।

अतिधावन	अतिधोन

(४) अवा का आ हो जाता है।

यवागू	यागु

(५) अयि और अवि ए हो जाते है—

आश्चर्य	अच्छयिर, अच्छरिय से होकर अच्छेर

आचार्य	आचरिय-आचेर
मात्सर्य	मच्छेर
स्थविर	थेर

(६) प्राकृतों के समान पालि में भी कही-कही उप और अप उपसर्ग क्रमशः उव और अव स्वरूपो मे होकर ऊ और ओ हो जाते है।

उपहदति	ऊहादेति
अपवरक	ओवरक
अपत्रप	ओत्तप्प

(७) कही-कही अनियमित अक्षर-संकोच भी दिखाई पड़ते हैं।

मयूर	मोर (मयूर

स्वरभक्ति के कारण स्वरागम

पालि मे स्वरागम अधिकतर शब्द के मध्य में होता है। स्त्री से इत्थी; स्मयते से उम्हयति, उम्हयते जैसे शब्द अपवाद हैं। शब्द के मध्य में स्थित केवल उन्ही सयुक्त व्यजनो के बीच मे स्वर का आगमन होता है, जिनमे य्, र्, ल्, व, में से कोई एक व्यजन हो या जो सानुनासिक हो। 'कष्ट' जैसे शब्द का 'कसट' रूप होना एक अपवाद है। यह पालि मे पाया जाने वाला पैशाची प्राकृत का प्रयोग है। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके है। पालि मे पाये जाने वाले कुछ स्वरागम इस प्रकार है—

(अ) इ का आगमन, जो पालि में अधिकता से होता है।

(१) संयुक्त व्यजन 'र्य्' मे

ईर्यते	इरियति
मर्यादा	मरियादा

(२) ऐसे संयुक्त-व्यजनो मे, जिनमे एक य् हो

कालुष्य	कालुसिय
ज्या	जिया
ह्यः	हिय्यो
	(अर्द्धमागधी हिज्जो)

(३) ऐसे सयुक्त-व्यजनों में, जिनमें एक ल् हो

प्लक्ष	पिलक्खु

ह्लाद	हिलाद

(४) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें एक र् हो

वज्र	वजिर

(५) सानुनासिक संयुक्त व्यंजनों में,

स्नेह	सिनेह
तृष्णा	तसिणा

निम्नलिखित अपवाद भी हैं,

कृष्ण	कण्ह
नग्न	नग्ग

(आ) अ का आगमन,

प्रायः ऐसे संयुक्त व्यंजनों के मध्य में होता है, जिनके पूर्व और पश्चात् अ स्वर हो

गर्हा	गरहा
गर्हति	गरहति

(इ) उ का आगमन

प्रायः म् और व् से पूर्व होता है

ऊष्मन्	उसुमा
सूक्ष्म	सुखुम
द्वे	दुवे

छन्द और समास के कारण स्वरों के मात्राकाल में परिवर्तन

(अ) छन्द की आवश्यकता के कारण

(१) कहीं-कहीं ह्रस्व स्वर का दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'नदति' की जगह गाथा में लय को ठीक करने के लिये 'सी हो व नदती वने' में कर दिया गया है। 'सतिमती' से 'सतीमती' 'तुरिय' से 'तूरियं' आदि परिवर्तन भी इसी प्रकार कर दिये जाते हैं।

(२) कहीं-कहीं दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे 'भुम्मानि वा यानि व अन्तलिक्खे'। यहाँ 'व' की जगह 'वा' होना चाहिये था। किन्तु छन्द की गति के लिये उसे ह्रस्व कर दिया गया है। इसी प्रकार 'पञ्चनीका' से 'पञ्चनिका' जैसे प्रयोग भी छन्द में कर दिये जाते हैं।

(३) सानुनासिक स्वरो को अननुनासिक कर दिया जाता है, जैसे 'दीघमद्धान सोचति' मे। यहाँ वैसे 'दीघमद्धान' होना चाहिये था। इसी प्रकार 'जीवन्तो' से 'जीवतो' जैसे प्रयोग भी दिखाई देते हे।

(४) सयुक्त व्यञ्जनो को सरल बना कर उनमे से केवल एक रख लिया जाता है, जैसे 'दुक्ख' से 'दुख'। यह भी ह्रस्व कर देने के समान ही है।

(आ) समास मे होने वाले स्वर-परिवर्तन

(१) समास के प्रथम पद के अन्त मे होने पर ह्रस्व स्वर बहुधा दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे सखिभाव से सखीभाव, अब्भमत्त से अब्भामत्त; रजपथ से रजापथ। उपसर्ग-युक्त शब्दो मे भी यह स्वरो को दीर्घ करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, जैसे म० प्रवचन से पालि पावचन (अर्द्धमागधी पावयन), प्रकट से पालि पाकट (अर्द्धमागधी पागड)

(२) जब समास के प्रथम पद मे आकारान्त, ईकारान्त या ऊकारान्त शब्द होते हे, तो इनको ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे दासिगण (दासी+गण), उपाहनदान (उपाहना+दान)।

कुछ विचित्र स्वर-परिवर्तन

(१) एक ही म० शब्द 'पुन' के पालि मे दो रूप-परिवर्तन हे। 'पुन' ओर 'पन'। किन्तु इन दोनो के अर्थ भिन्न भिन्न है। 'पुन' का अर्थ तो स० 'पुन' के समान ही है, किन्तु 'पन' का अर्थ है 'किन्तु' 'प्रत्युत'।

(२) कही-कही पालि के स्वर-परिवर्तन सस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन हे। इस प्रकार पालि का 'गरु' शब्द समानार्थवाची सस्कृत 'गुरु' शब्द से अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार सस्कृत 'अगरु' या 'अगुरु' की अपेक्षा समानार्थवाची पालि शब्द 'अगरु' 'अगलु' अधिक प्राचीन हे। कही-कही पालि शब्दो का मूल रूप सस्कृत मे न मिल कर प्राचीन वैदिक भाषा मे मिलता है। 'अम्ब' शब्द का उदाहरण हम पहले दे चुके है। 'सिम्बल' या 'सिम्बली' (कपास का पेड) शब्द भी ऐसा है। यह संस्कृत के 'शाल्मली' से नही लिया गया, किन्तु वैदिक भाषा के 'शिम्बल' (कपास का फूल) से उद्भूत है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों के मूल रूप भी संस्कृत में न मिल कर वैदिक भाषा मे मिलते हैं।[1]

---

१. अधिक उदाहरणों के लिये देखिये, पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ८०-८१

स्वर-सन्धि

स्वर-सन्धि के नियमों का विवेचन करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यह तो व्याकरण का विषय है। यहाँ हम केवल स्वर-परिवर्तन की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का ही उल्लेख करेंगे।

(१) एक पद के अन्तिम स्वर का दूसरे पद के प्रारम्भिक स्वर के साथ मिलना पालि में अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार 'से अज्ज यदा अय धम्मलिपी लिखिता ती एव प्राणा आरभिरे' (गिरनार शिलालेख) जैसे प्रयोग पालि में दिखाई पड़ते है। फिर भी जहाँ समान स्वर मिलते हैं तो सस्कृत के समान ही दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते है, जैसे बुद्ध + अनुस्सति = बुद्धानुस्सति, सम्मन्ति + इध = सम्मन्तीध; बहु + उपकारं = बहूपकार, दुग्गता + अहं = दुग्गताहं।

(२) अ अथवा आ से परे इ और उ आने पर क्रमशः ए और ओ होना भी पालि में संस्कृत के समान ही दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन अधिकांश पालि के प्राचीनतम रूप--गाथाओ की भाषा--में दृष्टिगोचर होता है। अव + इच्च = अवेच्च, उप + इतो = उपेतो; मुख + उदक = मुखोदक; मच्चुस्स + इव + उदके = मच्चुस्सेवोदके; च + इमे = चेमे।

(३) अ से परे असवर्ण स्वर रहने पर इ का य और उ अथवा ओ से परे असवर्ण स्वर रहने पर उ का व हो जाता है। वि + आकतो = व्याकतो, यो अय--य्वाय, सु + आगत = स्वागत

(४) असवर्ण स्वरो के मिलने पर कही-कही (१) पूर्व स्वर का लोप हो जाता है, (२) पर स्वर का लोप हो जाता है, (३) पर स्वर का दीर्घ हो जाता है, (४) पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाता है।

उदाहरण (१) यस्स + इन्द्रियाणि = यस्सिन्द्रियाणि; मे + अत्थि = मत्थि (२) चत्तारो + इमे = चत्तारो मे, ते + इमे = तेमे (३) सचे + अय सचाय, (४) देव + इति = देवाति, लोकस्स + इति = लोकस्साति।

(५) अनेक स्वर-सन्धियों मे व्यजनो का आगम होता है, जैसे न + इदं = नयिदं; लघु + एस्सति = लघुमेस्सति, यथा + एव = यथरिव, तथा + एव = तथरिव, गिरि + इव = गिरिमिव; सम्मा + अत्थो = सम्मदत्थो, आदि, आदि।

(६) कभी-कभी अनुस्वार से परे स्वर का लोप हो जाता है, जैसे इदं + अपि = इदंपि, दातु + अपि = दातुपि; अभिनंदु + इति = अभिनंदुति। इस

प्रकार की सन्धियों के आधार पर गायगर ने अनुमान किया है कि पालि मे स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होने वारेले 'व' (सं० 'इव' के लिये) 'पि' (सं० 'अपि' के लिये) 'ति' (सं० 'इति के लिये) 'दानि' (सं० 'इदानी' के लिये), पोसथ (उपोसथ, सं० 'उपवसथ' के लिये) आदि शब्द लुप्त सन्धियों के स्मारक स्वरूप है।

व्यंजन-परिवर्तन

व्यंजनों का परिवर्तन पालि में प्रधानतः शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार हुआ है। सामान्यतः संस्कृत आदि-व्यंजन पालि में सुरक्षित रहते हैं। मध्य-व्यंजनो का विकास मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषा-युग में तीन अवस्थाओं में हुआ है। पहली अवस्था में अघोष स्पर्श घोष हो जाते है। दूसरी अवस्था में घोष स्पर्श 'य' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। तृतीय अवस्था में य ध्वनि का भी लोप हो जाता है। पालि में प्रधानतः प्रथम दो अवस्थाएँ ही पाई जाती है। तीसरी अवस्था का विकास प्राकृत भाषाओं में हुआ है। अन्त्य व्यजन पालि और प्राकृतो मे समान रूप से ही लुप्त कर दिये जाते है। व्यंजन-परिवर्तनो का विस्तृत अध्ययन इस प्रकार है।

असंयुक्त व्यंजन

(अ) आदि व्यंजन

(१) सामान्यतः, शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत असंयुक्त व्यंजन (अल्पप्राण क्, त्, प्, ग्, द्, ब् आदि और महाप्राण ख्, थ्, फ्, घ्, ध्, भ्, आदि) पालि में सुरक्षित रहते है। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
करोति	करोति (प्राकृत करेदि)
गच्छति	गच्छति (प्राकृत गच्छेदि)
चौरः	चोरो
जनः	जनो
ताडयति	ताडेदि
पुत्रः	पुत्तो
दन्तः	दन्तो
बधिरः	बहिरो
खनति	खनति

घट:	घटो
फल	फलं

(२) पाँच सानुनासिक व्यजनों (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) में से संस्कृत मे भी केवल न् और म् ही शब्द के आदि में आते हैं, अन्य नही। यही नियम पालि मे भी है। अतः सस्कृत शब्द के आदि मे अवस्थित न् और म् पालि मे भी सुरक्षित रहते हैं। प्राकृतों में चल कर इनका परिवर्तन ण् में हो गया है। 'म्' तो वहाँ भी सुरक्षित रहा है।

नाशयति	नासेति (प्रा० णासेइ)
मखं	मुख
मन्त्रयति	मन्तेति (प्रा० मन्तेदि)

(३) शब्द के आदि मे अवस्थित अन्तस्थ य्, र्, ल्, व् भी सुरक्षित रहते है। र् के विषय मे यह विशेषता अवश्य ध्यान देने योग्य है कि र् काल् में परिवर्तन होना पालि मे एक बडी साधारण बात है। मागधी प्राकृत का तो यह एक नियम ही है और अन्य प्राकृतो मे भी यह नियम कहीं-कहीं पाया जाता है। य् के विषय में भी यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि पालि मे तो वह सुरक्षित रहता है (कही कहीं उसके साथ ही ल् मे परिवर्तित स्वरूप भी दिखाई पड़ता है) किन्तु प्राकृतों में चलकर बाद मे उसका ज् में परिवर्तन हो गया है। उदाहरण—

रूपानि	रूपानि, (लूपानि भी, विशेषतः अशोक के धौली और जौगढ़ के लेखो में)
रुज्यते	लुज्जति
राजा	राज (लाजा, विशेषतः अशोक के पूर्व के लेखों में)
रौद्र	लुद्द
यावत्	याव (प्राकृत जाव)
यष्टिका	यट्ठिका (लट्ठिका भी)
वात:	वातो

(४) संस्कृत ऊष्म श्, ष्, स् का अन्तर्भाव पालि में केवल 'स्' में हो गया है। अतः पालि में केवल दन्त्य स् है। पच्छिमी प्राकृतों की भी यही विशेषता है। इसके

विपरीत पूर्वी प्राकृतो में केवल एक तालव्य 'श्' रह गया है। अशोक के शिलालेखो में हम इस विकास-परम्परा के सभी रूप देखते है। इस प्रकार मगध के शिलालेखो मे केवल दन्त्य स् पाया जाता है। गिरनार के शिलालेखो में स् और श् दोनो ही पाये जाते है। उत्तर-पश्चिम के शिलालेखो मे तीनो ही श्, ष् और स् पाये जाते है। बोलियो के मिश्रण के कारण फिर भी इस सम्बन्ध मे कोई नियम नही बाँधा जा सकता। यह परिवर्तन आदि और मध्य दोनो ही स्थितियो मे दिखाई पडता है।

सार्थवाह	सत्थवाहो
श्रवणीय	सवनीय
देश	दसो
परशु	फरसु
पुरुष	पुरिस

(५) उपर्युक्त नियम (१) के अपवाद-स्वरूप निम्नलिखित तथ्य दृष्टिगोचर होते है, जो ध्यान देने योग्य है—

(अ) कही कही शब्द के आदि में पालि मे प्राणध्वनि (ह्) का आगमन होता है। इसे यो भी कहा जा सकता है कि शब्द के आदि मे अवस्थित सस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यजन (क्, त्, प् आदि) पालि मे उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यजन (ख थ् फ् आदि) हो जाते है। उदाहरण

कील	खील
कुब्ज	खुज्ज
क्रत्व	खत्तु
परशु	फरसु

(आ) कही कही, किन्तु अपेक्षाकृत कम सख्या मे, उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् सस्कृत अघोष महाप्राण व्यजनो के स्थान पर पालि मे उसी वर्ग के अघोष अल्पप्राण व्यजन भी दिखाई पडते है।

झल्लिका	जल्लिका
भगिनी	बहिनी (बहिणी भी)

(इ) वर्णो के उच्चारण-स्थान म परिवर्तन भी पालि मे बहुत पाया जाता है। आदि और मध्य दोनो ही स्थितियो मे यह होता है। शब्द के आदि में होने वाले कुछ परिवर्तनो के उदाहरण नीचे दिये जाते है।

(१) कहीं-कहीं कंठ्य स्पर्शों की जगह तालव्य स्पर्श हो जाते हैं

कुन्द	चुन्द

(२) कहीं-कहीं दन्त्य स्पर्शों की जगह मूर्द्धन्य स्पर्श हो जाते हैं

दहति	डहति
दाह	डाह
दसति	डसति

आ—मध्य-व्यंजन

पालि में मध्य-व्यंजन सम्बन्धी परिवर्तनों का विचार करते समय हम उन प्रवृत्तियों की सूचना पाते हैं, जिन्हें 'प्राकृतत्व' या 'प्राकृतपन' कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि जिन परिवर्तनों का पालि में सूत्रपात ही हुआ है उनका अन्तिम विकास प्राकृतों में चल कर हुआ है। इस विकास की तीन अवस्थाओं का निर्देश हम पहले कर चुके हैं। प्राकृतों के साथ मिलने वाली पालि की ये विशेषताएँ अनेक बोलियों के समिश्रण के आधार पर व्याख्यात की जा सकती हैं। ये समानताएँ विशेषत मध्य-व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में पालि में कहीं-कहीं दृष्टि-गोचर होती हैं, उदाहरणत —

(१) शब्द के मध्य में स्थित संस्कृत अघोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के घोष स्पर्श हो जाते हैं। इस प्रकार क्, च्, ट्, त्, प्, थ् आदि क्रमशः ग, ज्, ळ्, द्, ब्, ध् आदि हो जाते हैं। उदाहरण—

प्रतिकृत्य	पटिगच्च (पटिकच्च भी)
शाकल	सागल
माकन्दिक	मागन्दिय
लुच्	लुजा
कक्खट	कक्खळ (निर्दयी)
खेट	खेळ (गाँव)
स्फटिक	फळिक
उताहो	उदाहु
पृषत	पसद
अपांग	अवंग
कपि	कवि

कपित्थ	कविट्ठ
ग्रथित	गथित (गथित भी)

इस प्रकार के परिवर्तन अपभ्रंश और कई प्राकृतो मे भी पाये जाते है।

(२) उपर्युक्त परिवर्तन से एक अधिक विकसित अवस्था वह है जिसमे अघोष स्पर्शों का लोप हो जाता है और वे 'य्' या 'व्' ध्वनि मे परिवर्तित हो जाते है। इसके बाद ही वह अवस्था होती है जिसमे 'य्' या 'व्' व्यजन का भी बिलकुल लोप हो जाता है। सं० 'शत' शब्द के विकृत या विकसित रूपों मे हम इस विकास का अच्छा अध्ययन कर सकते है। पहले इसका पालि मे 'सत' होता है, फिर अघोष स्पर्श 'त्' का 'द्' होता है और इस प्रकार प्राकृत मे 'सद' रूप बनता है। इसका भी आगे विकसित रूप 'सय' बनता है और फिर अन्त मे 'सअ' और 'सौ'। अघोष स्पर्शों का लुप्त हो कर 'य्' या 'व्' मे परिवर्तित होना प्राकृतों के समान पालि में भी पाया जाता है। अत वह भी पालि का एक 'प्राकृतपन' है। उदाहरण—

शुक	सुव (सुक भी)
खादित	खायित
स्वादते	सायति (सादियति भी)
अपरगोदान	अपरगोयान
कुशीनगर	कुसिनअर-कुसिनार
कौशिक	कोसिय

(३) शब्द के मध्य मे स्थित घोष महाप्राण व्यंजनो (घ्, ध्, भ्, आदि) का 'ह्' में परिवर्तित हो जाना प्राकृतो की एक विशेषता है। यह प्रवृत्ति पालि मे भी यत्र-तत्र पाई जाती है।

लघु	लहु
रुधिर	रुहिर (रुधिर भी)
साधु	साहु (अधिकतर तो साधु ही)

इसके विपरीत कही-कही पालि वैदिक भाषा के घोष महाप्राण व्यंजनों को सुरक्षित रखती है जब कि संस्कृत में उनके स्थान में 'ह्' हो जाता है। इसका उदाहरण पालि 'इध' (यहाँ) शब्द है। अवेस्ता (जिसमें भी इसका रूप 'इध' होता है) के आधार पर हम जान सकते है कि इसका वैदिक स्वरूप 'इध' ही था। किन्तु संस्कृत मे यह 'इह' हो गया है।

(४) शब्द के आदि में अवस्थित व्यंजनों में प्राण-ध्वनि के आगमऔर लोप न का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनो मे भी यह परिवर्तन होता है, अर्थात् मध्य मे स्थित सस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि मे उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यजन हो जाते हैं--

शुनक (कुत्ता)	सुनख (प्रा० सुनह)
सुकुमार	सुखुमाल

इसी प्रकार कहीं-कहीं, किन्तु आदि स्थित व्यंजनों की तरह ही बहुत कम, प्राण-ध्वनि का लोप भी हो जाता है--

कफोणि	कपोणि

(५) कही कही नियम (१) के विपरीत सं० घोष स्पर्श पालि मे उसी वर्ग के अघोष स्पर्श हो जाते हैं। ये परिवर्तन बोलियो की विभिन्नताओं के कारण हुए हैं।

अगुरु	अकलु
छगल	छकल
परिघ	पलिख (पलिघ भी)
कुसीद	कुसीत
मृदग	मुतिङ्ग
उपधेय (तकिया)	उपथेय्य
पिधीयते (ढाँका जाता है)	पिथीयति
शावक (जानवर का वच्चा)	चापक
प्रावरण	पापुरण

(६) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन। यह परिवर्तन मध्य-स्थित व्यंजनों में आदि-स्थित व्यंजनों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है। इस सम्बन्ध में सब से अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन स० दन्त्य व्यंजनों का पालि में मूर्द्धन्यीकरण है। सं० दन्त्य व्यंजन त्, थ्, द्, ध्, न् पालि में क्रमशः ट्, ठ्, ड्, ल्ह्, ण् हो जाते है। यह नियम सामान्यतः आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों के लिये ठीक है।

पतंग	पटंग
हृत	हट

व्यापृत	व्यावट
प्रतिमा	पटिमा
प्रथम	पठम
पृथिवी	पठवी (पथवी भी)
दाह	डाह
द्वैध (सन्देह)	द्वेल्हक
शकुन	सकुण

(७) पालि में मध्य-स्थित व्यजनो के अन्य उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन इस प्रकार है—

(अ) कही-कही स० तालव्य स्पर्शों के स्थान पर पालि में दन्त्य स्पर्श होते है।

चिकित्सति	तिकिच्छति
जाज्वल्यते	दद्दल्लति

(आ) कही-कही मूर्द्धन्य के स्थान पर दन्त्य होते है—

डिंडिम	देण्डिम (दिण्डिम भी)

(इ) कही-कही द् के स्थान पर र् होता है—

एकादस	एकारस (एकादस भी)
ईदृश	एरिस (एदिस भी)
ईदृक्षा	एरिक्खा (एदिक्खा भी)

(ई) कही-कही न् के स्थान पर ल् या र् होता है—

एन (अपराध)	एल
नेरजना	नरजरा

(उ) कही-कही ण् के स्थान पर ल् होता है—

वेणु	वेळु
मृणाल	मुळाल

(ऊ) र् के स्थान पर ल् अधिकतर होता है। आदि-स्थित र् के ल् मे परिवर्तन के उदाहरण पहले दिये जा चुके है। मध्य-स्थित र के ल् मे परिवर्तन के कुछ उदाहरण ये हैं—

एरंड	एलंद
तरुण	तलुण (तरुण भी)

परिष्वजते	पलिस्सजति
परिखनति	पलिखनति

पालि में यह परिवर्तन यद्यपि अधिकतर पाया जाता है, किन्तु नियमतः यह मागधी प्राकृत की ही विशेषता है। कुछ अन्य प्राकृतो मे भी इसके स्फुट उदाहरण मिलते है।

(ए) कहीं-कही स० ल् के स्थान पर पालि में र् पाया जाता है।

अलिजर	अरंजर
आलम्बन	आरम्मण

इसके अपवाद-स्वरूप कही कही ल् के स्थान पर न् भी पाया जाता है—

देहली	देहनी

आदि में भी इसी प्रकार

लागल (हल)	नगल

(ऐ) स० य् के स्थान पर पालि व्—

आयुध	आवुध
आयुष्मान्	आवुसो
कषाय	कसाव

(ओ) स० व् के स्थान पर पालि य्—

दाव	दाय (दाव भी)

(औ) स० व् के स्थान पर पालि म् और स० म् के स्थान पर पालि व्—

द्रविड	दमिळ
मीमासते	वीमंसति

कुछ अनियमित प्रयोग भी मिलते है, जैसे—

पिपीलिका	किपिल्लका

(८) वर्ण-विपर्यय। शब्द के मध्य मे स्थित व्यंजनो में पारस्परिक एक दूसरे की जगह ग्रहण कर लेना भी प्रायः देखा जाता है। यह विपर्यय अधिकतर 'र्' व्यजन में होता है।

आरालिक	आलारिक
करेणु	कणेरु
ह्रद	रहद
प्रावरण	पारुपण (पापुरण भी)

किन्तु अन्य व्यजनों में भी,

मशक	मकस

संयुक्त-व्यंजन

(अ) आदि संयुक्त-व्यंजन

संस्कृत में भी शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग प्रायः सीमित होता है। प्राय. दो ही प्रकार के संयुक्त व्यंजन सस्कृत मे शब्द के आदि में पाये जाते हैं, (१) व्यंजन + अन्तःस्थ (य्, र्, ल्, व्); (२) व्यंजन + ऊष्म (श्, ष्, स्)। व्यंजन + अन्तःस्थ में अन्तःस्थ कभी पहले न आकर व्यंजन ही पहले आते है। इस प्रकार शब्द के आदि मे क्र्, त्य्, प्र्, ग्य् जैसे सयुक्त व्यंजन ही हो सकते है, ल्क्, र्च् जैसे नही। अन्तःस्थ + ऊष्म मे ऊष्म पहले भी आ सकते है, जैसे स्त्, श्च् आदि में और पीछे भी जैसे क्ष् (क् + श्) मे

(१) व्यंजन + अन्तःस्थ—इस अवस्था में व्यजन के बाद की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन का ही रूप धारण कर लेती है—

प्रशान्त	पसन्तो
प्रज्ञा	पञ्ञा
ग्राम	गाम

कही-कहीं स्वर-भक्ति के कारण बीच में स्वर आने के कारण संयुक्त व्यजन केवल असंयुक्त कर दिये जाते है—

क्लेश	किलेसो
क्लान्त	किलन्तो

कही-कही, जब व्यजन + ल् का संयोग होता है, तो य् का पूर्ववर्ती व्यंजन तालव्य हो जाता है—

त्यजति	चजति

(२) ऊष्म + व्यजन—इस अवस्था में ऊष्म का लोप हो जाता है और वह परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेता है तथा वह व्यंजन, यदि वह अल्प प्राण होता है, तो महाप्राण हो जाता है।

स्कम्भः	खम्भो
स्तूपः	थूपो

स्थापयति	ठापेति
स्थित:	ठितो

(३) शब्द के आदि मे क्ष् होने पर पालि में उसका क्ख् या च्छ् हो जाता है। मध्य-स्थिति मे भी यही परिवर्तन होता है। यहाँ दोनो के ही उदाहरण दे देने ठीक होंगे—

क्षुधा	खुधा
दक्षिणा	दक्खिणा
मक्षिका	मक्खिका
क्षारिका	छारिका
कक्ष	कच्छ
तक्षति	तच्छति
अक्षि	अक्खि (अच्छि भी)

कही कही 'क्ष्' का परिवर्तित रूप 'ग्घ' या 'ज्झ्' भी होता है। गायगर का मत है कि इस दशा मे सस्कृत अक्षर क्ष् एक विशेष भारत-यूरोपियन ध्वनि का विकसित रूप है—

प्रक्षरति	पग्घरति
क्षाम	झाम

(आ) मध्य-संयुक्त-व्यंजन

मध्य-सयुक्त-व्यजनो के परिवर्तन मे पालि मे 'व्यजन-अनुरूपता, व्यजन-विपर्यय, व्यजनो के उच्चारण-स्थान मे परिवर्तन, प्राणध्वनि का आगमन और लोप, आदि सभी प्रवृत्तियाँ पाई जाती है। विशेषत व्यजन -अनुरूपता और व्यजन-विपर्यय अधिक पाय जाते हैं। नीचे के विवरण से यह स्पष्ट होगा।

(१) व्यजन-अनुरूपता

(अ) पूर्ववर्ती व्यजन का लुप्त होकर परवर्ती व्यजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श + स्पर्श मे, यथा

उक्त	उत्त
सप्त	सत्त
शब्द	सद्द

उत्पद्यते	उप्पज्जति
मुद्ग (मूंग)	मुग्ग

(२) ऊष्म+स्पर्श में, यथा

आश्चर्य	अच्छेर
निष्क	निक्ख, नेक्ख

यहाँ पर साथ-साथ प्राणे-ध्वनि का आगमन भी हो गया है।

(३) अन्तःस्थ+स्पर्श, या ऊष्म, या अनुनासिक व्यंजन में, यथा

कर्क	कक्क
किल्बिष	किब्बिस
वल्क	वाक
कर्षक	कस्सक
कल्माष	कम्मास

(४) अनुनासिक+अनुनासिक में, यथा

निम्न	निन्न
उन्मूलयति	उम्मूलेति

(५) र्+ल्, या य्, या व् में, यथा

दुर्लभ	दुल्लभ
आर्य	अय्य (अरिय भी)
उदीर्यते	उदिय्यति
निर्याति	निय्याति
कुर्वन्ति	कुब्बन्ति

(आ) परवर्ती व्यजन का लुप्त होकर पूर्ववर्ती व्यजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श+अनुनासिक में, यथा

लग्न	लग्ग
अग्निः	अग्गि
उद्विग्न	उब्बिग्ग
स्वप्न	सोप्प

(२) स्पर्श+र् या ल् में, यथा

तक्र	तक्क
शुक्ल	सुक्क

(३) स्पर्श + अन्तःस्थ में, यथा

शक्य	सक्क
उच्यते	वुच्चति
प्रज्वलति	पज्जलति

(४) ऊष्म + अन्तःस्थ में, यथा

मिश्र	मिस्स
अवश्यम्	अवस्स
अश्व	अस्स
श्लेष्मन्	सेम्ह

(५) अनुनासिक + अन्तःस्थ में, यथा

किण्व	किण्ण
रम्य	रम्म
कल्य (सम्भव)	कल्ल
बिल्व	बिल्ल

(६) व्य्, व्र् जैसे संयुक्त व्यंजनों में, जो ब्ब् हो जाते हैं,

परिव्यय	परिब्बय
तीव्र	तिब्ब

(२) व्यंजन-विपर्यय

(१) ह् + अनुनासिक, या य्, या व्'—इस व्यंजन-संयोग में विपर्य होता है, अर्थात् 'ह्ण्' 'ह्न्', 'ह्म्', 'ह्य्', 'ह्व्', इन संयुक्त व्यंजनों के क्रमशः 'ण्ह्', 'न्ह्', 'म्ह्', 'य्ह', 'व्ह्' रूप हो जाते हैं--

पूर्वाह्ण	पुब्बण्ह
अपराह्ण	अपरण्ह
जिह्म	जिम्ह
सह्य	सय्ह
मह्यं	मय्हं

चिह्‌न	चिन्ह
जिह्‌वा	जिव्हा

मह्यं—मम्ह के सादृश्य के आधार पर तुभ्य का भी पालि प्रतिरूप तुम्ह हो गया है।

(२) ऊष्म + अनुनासिक—इस सयोग-दशा मे भी व्यजन-विपर्यय होता है। पहले ऊष्म का ह् मे परिवर्तन होता है और फिर दोनो का विपर्यय। इस प्रकार 'शन्', 'शम्', 'षण्', 'षम्', 'सन्' 'सम्' क्रमश. 'न्ह', 'म्ह्', 'ण्ह्' 'म्ह्', 'न्ह्' म्ह् हो जाते हैं—

प्रश्न	पम्ह (अर्द्धमागधी पण्ह)
अश्मना (पत्थर के द्वारा)	अम्हना
उष्णा (गर्मी)	उण्हा
कृष्ण	कण्ह
तृष्णा	तण्हा
ग्रीष्म	गिम्ह
सुस्नात	सुन्हात
विस्मय	विम्हय

(३) 'क्षण्', 'क्षम्', 'त्सन्'—इन सयुक्त व्यजनो के स्वरूप विपर्यय के कारण क्रमश· 'ण्ह्', 'म्ह्', 'न्ह्', हो जाते है। इस विकास का क्रम यह है कि पहले 'क्षण्', 'क्षम्', 'त्सन्', के क्रमश रूप 'षण्', 'षम् 'सन्' होते है और फिर इनका विपर्यय हो कर उपर्युक्त नियम (२) के अनुसार इनके क्रमश. 'ण्ह्', म्ह्'' 'न्ह्' रूप बनते है—

श्लक्ष्ण (सुन्दर, कोमल)	सण्ह
पक्ष्म (पलक)	पम्ह
ज्योत्स्ना	जुण्हा (पहले 'जुन्हा' रूप बना और फिर न का मूर्द्धन्य होकर 'जुण्हा हो गया)

(२) व्यजनो के उच्चारण-स्थान मे परिवर्तन—

(१) दन्त्य स्पर्श + य्—इस सयोग-दशा मे दन्त्य स्पर्शों का तालव्यीकरण हो जाता है—

सत्य	सच्च
छिद्यते	छिज्जति
जात्या	जच्चा

'ण्य्' सयुक्त व्यजनो मे भी

कर्मण्य	कम्मञ्ञ

(२) सस्कृत तालव्य सयुक्त व्यजनो के स्थान पर पालि मे कही कही कठ्य सयुक्त व्यंजन हो जाते है, कही कही मूर्द्धन्य संयुक्त व्यजन और कही कही दन्त्य सयुक्त व्यजन।

(अ) तालव्य के स्थान पर कठ्य

भैषज्य	भिसक्क (भेसज्ज भी)

(आ) तालव्य के स्थान पर मर्द्धन्य

आज्ञा	आणा

(इ) तालव्य के स्थान पर दन्त्य

उच्छिष्ठ	उत्तिट्ठ

(३) मध्यस्थित दन्त्य सयुक्त व्यजनो का मूर्द्धन्यीकरण। यह एक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन है। इस परिवर्तन के कारण 'र्त्' 'र्थ्' 'र्द्' 'र्ध्' क्रमश 'ट्ट' 'ट्ठ्', 'ड्ड', 'ड्ढ्' हो जाते है—

आर्त	अट्ट
कैवर्त	केवट्ट
वर्धते	वड्ढति
प्रस्थाय	पट्ठाय
कूटस्थ	कूटट्ठ

(४) प्राण-ध्वनि का आगमन और लोप—

आगमन, यथा

शृङ्गाटक (चौराहा)	सिंघाटक
पिप्पल	पिप्फल

लोप, यथा

लोध्र	लोद्द
मूर्च्छति	मुच्चति

अन्त्य-व्यंजन

संस्कृत के अन्त्य-व्यंजन पालि में लुप्त हो जाते हैं—

भगवान्	भगवा
सम्यक्	सम्मा
विद्युत्	विज्जु

पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार

पालि के ध्वनि-समूह की अपेक्षा उसका रूप-विधान संस्कृत के और भी अधिक समीप है। मिथ्या-सादृश्य के आधार पर संस्कृत रूपों का सरलीकरण पालि रूप-विधान की एक मुख्य विशेषता है। पहले कहा जा चुका है कि एक ही प्राचीन आर्य-भाषा से संस्कृत और पालि दोनों का विकास हुआ है। संस्कृत व्याकरण का जन्म वैदिक भाषा की विभिन्नताओं को एकरूपता देने के लिये हुआ। अत संस्कृत में ऐसे अनेक नियम व्याकरण के नियमानुसार वर्जित कर दिये गये, जो वैदिक भाषा में प्रचलित थे। पालि चूँकि लोक-भाषा थी, उसमें ये प्रयोग चले आय है। यह पालि के रूप-विचार की एक मुख्य विशेषता है। उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

पहले मिथ्या-सादृश्य के आधार पर रूपों के सरलीकरण को ल। पालि में संस्कृत की अपेक्षा वर्ण कम हैं, यह हम पहले निर्देश कर ही चुके हे। संस्कृत में तीन वचनों का प्रयोग होता है, एक-वचन, द्वि-वचन और बहुवचन। पालि में केवल दो वचन हैं। एक वचन और अनेक वचन। वहाँ द्विवचन नही है। उसका भी काम वहाँ अनेक-वचन से ही निकाल लिया जाता है। यद्यपि कहने को पालि में भी सात विभक्तियाँ हे, किन्तु उनके रूपो में बड़ी सरलता है। चतुर्थी और षष्ठी के रूपों में प्राय कोई भेद नही होता। तृतीया और पंचमी के अनेक-वचन के रूप भी प्रायः समान ही होते है। पालि में व्यंजनान्त पदों का प्रयोग भी नही होता। वहाँ सभी पद स्वरान्त हैं। संस्कृत के व्यंजनान्त पद भी पालि मे स्वरान्त हो जाते है। इसी प्रकार संज्ञा और सर्वनाम के रूपों में यही सरलीकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। क्रिया-विभाग के विषय में भी यही बात ठीक है। संस्कृत के समान यद्यपि पालि मे भी परस्मैपद (परस्सपद) और आत्मनेपद, (अत्तनो-पद) ये दो पद है, किन्तु व्यवहार मे आत्मनेपद का प्रयोग कदाचित् ही कभी होता है। यहाँ तक कि कर्मवाच्य आदि प्रयोगों मे भी जहाँ संस्कृत में आत्मनेपद आवश्यक

रूप से होना चाहिये, पालि में उसका प्रयोग प्रायः विकल्प से ही होता है। संस्कृत के दस गण पालि में केवल सात रह गये हैं। इसी प्रकार संस्कृत के दस लकारों के स्थान पर पालि में केवल आठ लकार हैं। लिट् लकार का प्रयोग पालि में नही के बराबर होता है। लङ् और लुङ् वहाँ भूतकाल द्योतित करने के लिये है, किन्तु इनमें भी प्रायः लुङ् का ही प्रयोग पालि में अधिकता से होता है। इस प्रकार संस्कृत की अपेक्षा सरलीकरण की प्रवृत्ति पालि में अधिकता से पाई जाती है।

वैदिक भाषा से प्राप्त रूपों की अनेकता पालि में सुरक्षित है, जब कि संस्कृत ने उसे व्यवस्थित कर उसमें एकरूपता ला दी है। वेद की भाषा में पुल्लिङ्ग अकारांत शब्दों के बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय भी लगता था। इस प्रकार 'देव' शब्द का प्रथमा बहुवचन का रूप वहाँ 'देवासः' मिलता है। संस्कृत ने इस रूप को ग्रहण नही किया है। किन्तु पालि में 'देवासे' 'धम्मासे' 'बुद्धासे' जैसे प्रयोगो में वह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'देव' शब्द का तृतीया बहुवचन का रूप वैदिक भाषा मे 'देवेभिः' है। पालि मे यह 'देवेभि' के रूप मे सुरक्षित है। संस्कृत ने इस रूप को भी ग्रहण नही किया है। वैदिक भाषा मे प्रायः चतुर्थी विभक्ति के लिये षष्ठी का प्रयोग और षष्ठी विभक्ति के लिये चतुर्थी का प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत ने इसे निश्चित नियम में बाँध कर रोक दिया है। किन्तु पालि में यह व्यत्यय 'ब्राह्मणस्स धन ददाति' ब्राह्मणस्स मिस्सो' जैसे प्रयोगो मे मिलता है। निश्चयत पालि में चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप ही प्राय. समान होते है। वैदिक भाषा मे 'गो' और 'पति' शब्दों के षष्ठी बहुवचन और तृतीया एक वचन के रूप क्रमश. 'गोनाम्' और 'पतिना' होते थे। पालि में ये क्रमशः 'गोनं' या 'गुन्नं' तथा 'पतिना' के रूप में सुरक्षित है। किन्तु संस्कृत ने इन्हें भी स्वीकार नही किया है। इसी प्रकार वैदिक भाषा में नपुंसक लिंग की जगह बहुधा पुल्लिंग का भी प्रयोग होता था। संस्कृत मे यह प्रवृत्ति नही पाई जाती। किन्तु पालि मे बहुधा ऐसा हो जाता है। उदाहरणतः 'फल' शब्द के प्रथमा के बहुवचन में 'फला' और 'फलानि' दोनों ही रूप होते है। यही प्रवृत्ति क्रिया-रूपों में भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा मे आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद उतना स्पष्ट नहीं था। वहाँ 'इच्छति' 'इच्छते' 'युध्यति' 'युध्यते' जैसे दोनों प्रयोग दृष्टिगोचर होते है। पालि मेंयह प्रवृत्ति समान रूप से ही दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत मे आत्मनपद और परस्मैपद का अधिक निश्चित विधान कर दिया गया है। 'श्रु' धातु का वैदिक भाषा मे अनुज्ञा-काल का मध्यम-पुरुष का एकवचन का रूप 'शृणुधी' और अनुज्ञा-काल

का मध्यम-पुरुष का बहुवचन का रूप 'शृणोति' होता था। पालि में ये क्रमशः 'सुणुहि' और 'सुणोथ' के रूपों मे सुरक्षित है। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें भी स्वीकार नहीं किया है। वैदिक भाषा में 'हन्' धातु का लुङ् लकार का उत्तम-पुरुष का एकवचन का रूप 'बधीं' होता था। संस्कृत ने इसे भी स्वीकार नहीं किया है। किन्तु पालि में यह 'बधि' के रूप में सुरक्षित है। कृदन्त के प्रयोग में भी सस्कृत और पालि में उपर्युक्त प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेद में निमित्तार्थक १४ प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा से, सेन, असे, असेन, कसे, कसेन, अध्यै, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन, शध्यै, शध्यैन, तवेन, तु। संस्कृत ने इनमें से केवल 'तु' प्रत्यय को ले लिया है। पालि ने उसके साथ साथ 'तवेन' प्रत्यय को भी ले लिया है। वैदिक 'दातवे' या 'दातवै' पालि के 'दातवे' में पूरी तरह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'कातवे' 'विप्पहातवे' 'निधातवे' जैसे प्रयोग भी पालि में दृष्टिगोचर होते हैं, जो संस्कृत में नहीं मिलते। 'ल्यप्' के स्थान पर वेद मे 'त्वा' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे 'परिधापयित्वा'। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यह रूप अशुद्ध है। वहाँ उपसर्ग-पूर्वक धातु मे अनिवार्यत: 'ल्यप्' होता है, किन्तु पालि मे वैदिक भाषा की तरह 'त्वा' देखा जाता है यथा अभिवदित्वा, निस्साय आदि। वेद की भाषा में पूर्वकालिक अर्थ में 'त्वाय' 'त्वीन' आदि प्रत्येक लगा कर 'गत्वाय' 'इष्ट्वीन' जैसे शब्द बनते थे। पालि में 'गत्वान' 'कातून' जैसे प्रयोगों में ये सुरक्षित हैं, किन्तु संस्कृत में नही मिलते। वेद की भाषा मे विभक्ति, वचन, वर्ण और काल के अनेक व्यत्यय पाये जाते हैं। पालि में भी ये सब पाये जाते है। 'एकस्मिं समयस्मिं' के लिये 'एकं समयं' (विभक्ति-व्यत्यय) 'सन्ति इमस्मिं काये केसा लोमा नखा' के लिये 'अस्ति इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा, (वचन-व्यत्यय); 'बुद्धेभि' के लिये 'बुद्धेहि', 'दुक्कटं' के लिये 'दुक्कतं' (वर्ण-व्यत्यय) 'अनेक जाति-संसारं सन्धाविस्सं' (भूतकाल के अर्थ मे भविष्यत् काल काल-व्यत्यय) जैसे व्यत्यय पालि में वैध है। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें ग्रहण नही किया है।[1] इस प्रकार संस्कृत भाषा की अपेक्षा पालि ही वैदिक भाषा की अधिक सच्ची उत्तराधिकारिणी ठहरती है।

---

१. विषय की अधिक सुगमता के लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत 'पालि-महाव्याकरण' पृष्ठ तेईस-उन्तीस (वस्तुकथा) पर दी हुई तालिकाएँ।

पालि-भाषा के विकास की अवस्थाएँ

ऊपर पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विधान का जो निर्देश किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान हैं। अनेक दुहरे रूपों का होना उसके इस तथ्य को प्रमाणित करता है। फिर भी पालि के विकास में चार ऐसी क्रमिक विकास वाली अवस्थाएँ उपलक्षित होती हैं, जिनकी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं और जिनके आधार पर हम पालि के पूर्वापर रूपों को समझ सकते हैं और उनकी संगति लगा सकते हैं। पालि-भाषा के विकास की ये चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं, (१) त्रिपिटक में आने वाली गाथाओं की भाषा। यह भाषा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक भाषा की सी ही अनेकरूपता इसमें मिलती है। प्राचीन आर्य भाषा अर्थात् वैदिक भाषा से कहीं कहीं तो इस भाषा की, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, केवल अल्प विभिन्नताएँ ही मिलती हैं और कहीं कहीं पालि का अपना विशेष रूप-विधान भी दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ 'पित' और 'रञ्ञा' जैसे शब्द प्राचीन आर्य भाषा से पालि में आ गये हैं, किन्तु इन्हीं से क्रमशः 'पितुस्स' और 'राजिनो' जैसे रूप पालि ने स्वयं बना लिये हैं। इस प्रकार यह भाषा बुद्ध-कालीन मध्य-देश की लोक-भाषा होने के साथ-साथ प्राचीन वैदिक स्मृतियों से भी अनुविद्ध है। सुत्त-निपात की भाषा इस प्रकार की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। (२) त्रिपिटक के गद्य-भाग की भाषा। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा इसमें एकरूपता अधिक है। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा प्राचीन रूपों की कमी और नये रूपों की अभिवृद्धि इसका एक प्रधान लक्षण है। 'जातक' की भाषा इसका उदाहरण है। (३) उत्तरकालीन पालि गद्य-साहित्य की भाषा। इस भाषा के रूप के दर्शन हमें मिलिन्द-प्रश्न और अर्थकथा-साहित्य में होते हैं। इस भाषा का आधार त्रिपिटक की गद्य-भाषा ही है। इसमें आलंकारिकता और कृत्रिमता की मात्रा कुछ अधिक पाई जाती है। विशेषतः मिलिन्द-प्रश्न और बुद्धघोष की अर्थकथाओं में हमें एक विकसित और उदात्त गद्य-शैली के दर्शन होते हैं। (४) उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा। यह भाषा बिलकुल पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गई है। लेखकों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार कहीं तो प्राचीन रूपों का ही अनुकरण किया है या कहीं कहीं अपेक्षाकृत नवीन स्वरूपों को स्वीकार किया है। इस भाषा में एक जीवित भाषा के लक्षण नहीं मिलते। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी

इस युग की साहित्य-रचना का एक विशेष लक्षण है। महावंस, दीपवंस, दाठा-वंस, तेलकटाहगाथा जैसे ग्रन्थों में इस भाषा के स्वरूप के दर्शन होते हैं।

पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन का महत्त्व

पालि के अध्ययन का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। आज अपनी अनेक प्रादेशिक बोलियों के, यहाँ तक कि कुछ अंशों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भी, ध्वनि-समूह आदि का पूरा ज्ञान हमें नहीं हो पाया। भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें अभी अनिश्चित ही पड़ी हुई हैं। इसका कारण यही है कि मध्यकालीन आर्य-भाषाओं का, जिनमें पालि प्रथम और मुख्य है, हमारा अभी अध्ययन ही अधूरा पड़ा है [१]। अपनी भाषा के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिये हमें पालि भाषा का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना ही होगा। फिर पालि भाषा ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही प्रभावित किया है। उसका प्रभाव सिंहल, ब्रह्म-देश और स्याम देश की भाषाओं के विकास पर भी पर्याप्त रूप में पड़ा है। भारतीय विद्यार्थी के लिये अध्ययन का इससे अधिक सुखकर और क्या विषय हो सकता है कि वह इस प्रभाव को खोजे, ढूंढ़े और इन देशों के साथ व्यापक भारतीय संस्कृति के समन्वित सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। यही बात पालि-साहित्य के विषय में भी है। उसने विश्व के एक बड़े भू-भाग को शान्ति प्रदान की है, क्योंकि वह प्रधानतः तथागत के सन्देश का वाहक है। उसका अध्य-यन कर हम उस विशाल जन-समुदाय से नाता जोड़ते हैं, जिसके साथ हमारे सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्बन्ध नवयुग में और भी अधिक दृढ़ होंगे। इस ऊपरी उद्देश्य को छोड़ दें तो भी विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य के अध्य-यन का प्रभूत महत्व है। उसकी उदात्त प्रतिपाद्य वस्तु और गम्भीर, मनोरम शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। शाक्यसिंह ने जिन गुफाओं में निनाद किया है, वे साधारण नहीं हैं। यदि मनुष्यता-धर्म में ही अन्त में संसार

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा १९४० में प्रकाशित अपने 'हिन्दी भाषा का इति-हास' में लिखते हैं "हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास प्रायः अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं तक ही जाता है......अपभ्रंश तथा प्राकृत के संयुक्त स्वरों का पूर्ण विवेचन सुलभ न होने के कारण हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास भी अभी ठीक नहीं दिया जा सकता।" पृष्ठ १४२

को मुक्ति मिलनी है, तो तथागत के सन्देश का व्यापक प्रचार होना ही चाहिय। इतिहास की दृष्टि से भी पालि-साहित्य का प्रभूत महत्व है। जो सांस्कृतिक निधि हमारी इस साहित्य में निहित है, उसका अभी महत्वाङ्कन ही नहीं किया गया। भारतीय इतिहास के काल-क्रम के निश्चय करने में भी सब से अधिक सहायता पालि साहित्य से ही मिली है। त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य में प्राचीन भारतीय इतिहास की जो अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, उसका अभी तक पूरा उपयोग नहीं किया गया है। उसके सम्यक् अध्ययन से हम बौद्धकालीन इतिहास और भौगोलिक तथ्यों का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी पालि का अधिक महत्व है। हमने अभी तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों से ही बौद्ध धर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त किया है, जो कुछ हालतों में एकांगदर्शी और अधिकांशतः उसके मौलिक स्वरूप से बहुत दूर है। वैदिक परम्परा के उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी को लक्ष्य कर प्रायः बौद्धदर्शन की समालोचना की है। इस प्रकार बुद्ध-धर्म के मौलिक स्वरूप से हम प्रायः अनभिज्ञ ही रहे हैं। यही हमारी उस विचार-प्रणाली के प्रति, जो वास्तव में अपनी प्रभाव-शीलता के लिये विश्व में अद्वितीय है, उदासीनता का कारण है। पालि-साहित्य के प्रकाश में हम देख सकेंगे कि भगवान् गोतम बुद्ध का वास्तविक व्यक्तित्व क्या था और उन्होंने जन-समाज को क्या सिखाया था। पालि-साहित्य का सब से बड़ा महत्व वास्तव में उसकी प्रेरणादायिका शक्ति ही है। यह प्रेरणा अनेक रूपों में आ सकती है। साधना के उत्साह के रूप में भी, ऐतिहासिक गवेषणा के रूप में भी और रचनात्मक साहित्य की सृष्टि के रूप में भी। साधना के अक्षर तो मौन हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के विषय में हम काफी कह ही चुके हैं। यहाँ अन्तिम प्रेरणा के विषय में यही कहना है कि पालि-साहित्य में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि वह अभी हिन्दी-साहित्य में अनेक विधायक लेखकों और विचारकों को प्रेरणा और आधार दे सकती है। अभी हमने 'बुद्धचरित' 'सिद्धार्थ', 'यशोधरा' और 'प्रसाद' के कतिपय नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में विशाल पालि-साहित्य से प्रेरणा ही क्या ग्रहण की है? निश्चय ही प्रत्येक दिशा में उपयोग के लिये यहाँ एक कभी समाप्त न होने वाली सामग्री भरी पड़ी है। यदि पालि की समुचित आराधना की जाय तो निश्चय ही वह बहुफलसाधिका हो सकती है।

दूसरा अध्याय

पालि साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-क्रम

पालि साहित्य का उद्भव और विकास

जिस तेजस्वी व्यक्तित्व से ससार ने सब से पहले मनुष्यता सीखी, जिसकी दीप्ति से भारत के निश्चयात्मक इतिहास पर सर्व प्रथम आलोक पडा, उसी से पालि साहित्य का भी उदय हुआ। तथागत की सम्यक् सम्बोधि ही पालि-साहित्य का आधार है। जिस दिन भगवान् ने बुद्धत्व प्राप्त किया और जिस दिन उन्होंने परिनिर्वाण में प्रवेश किया, उसके बीच उन्होंने जो कुछ, जहाँ कही, जिस किसी से कहा, उसी के सग्रह का प्रयत्न पालि-त्रिपिटक में किया गया है। त्रिपिटक का अर्थ है तीन पिटक या तीन पिटारियाँ। इन तीन पिटारियो मे बुद्ध-वचन सगृहीत किये गये है, जो कालानुक्रम से आज के युग को भी प्राप्त है। उपर्युक्त तीन पिटको या पिटारियो के नाम है, सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक। भगवान् बुद्ध ने जो कुछ अपने जीवन-काल में कहा या सोचा, वह सभी त्रिपिटक मे सगृहीत है, एसा दावा त्रिपिटक का नही है। कौन जानता है कि भगवान् के अन्तर्मन के कुछ उद्गार केवल उरुवेला की पहाडियो ने ही सुने, नेरजरा की शान्त धारा ने ही धारण किये ! फिर सहस्रो ने जो कुछ सुना, उन सब ने ही आ आकर त्रिपिटक में उसे सगृहीत करवा दिया हो, ऐसा भी नही माना जा सकता। अत ऐतिहासिक रूप से बुद्ध के मुख से निकले हुए अनेक ऐसे भी वचन हो सकते है, जो त्रिपिटक मे हमें नहीं मिलते और जिन्हे अन्यत्र हम कही पा भी नहीं सकते। इसी प्रकार त्रिपिटक मे जो कुछ सुरक्षित है, वह सभी बिना किसी अपवाद के बुद्ध-वचन है, ऐसा भी नही माना जा सकता। 'विभज्यवादी' (विभाग कर बतलाने वाला, बुद्ध) को समझने के लिये हमे सब प्रकार 'विभज्यवादी' ही होना पडेगा। हाँ, यह आश्वासन अवश्य प्राप्त है कि पालि त्रिपिटक मे विश्वस्ततम रूप से बुद्ध-वचन अपने मौलिक रूप में सुरक्षित है, जैसा कि नीचे के विवरण से स्पष्ट होगा।

भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे। यद्यपि लेखन-कला का आविष्कार भारत में बुद्ध-युग के बहुत पहले ही हो चुका था, फिर भी बुद्ध-उपदेश भगवान् बुद्ध के समय में ही लेखबद्ध कर लिये गये हों, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध के सभी शिष्य उन्हे स्मृति मे ही रखने का प्रयत्न करते थे। इस बात के अनेक प्रमाण स्वय त्रिपिटक में ही मिलते हैं। उदाहरणत, एक बार दूर से आये हुए सोण नामक भिक्षु को जब भगवान् पूछते हैं "कहो भिक्षु! तुम ने धर्म को कैसे समझा है?" तो इसके उत्तर में वह सोलह अष्टक वर्गों को पूरा पूरा स्वर के साथ पढ देता है। भगवान् अनुमोदन करते हुए कहते हैं "साधु भिक्षु! सोलह अष्टक वर्गों को तुम ने अच्छी प्रकार याद कर लिया है, अच्छी प्रकार धारण कर लिया है। तुम्हारे कहने का प्रकार बडा अच्छा है, खुला है निर्दोष है, अर्थ को साफ साफ दिखा देने वाला है"।[1] इसी प्रकार बुद्ध-वचनों को अधिक विस्तृत रूप से धारण करने वाले भी अनेक बहुश्रुत, स्मृतिमान् भिक्षु थे। उनमें से अनेक धर्म-धर, सुत्त-न्तिक (धर्म या सुत्त-पिटक को धारण करने वाले) थे, अनेक विनय-धर (विनय-पिटक या विनय सम्बन्धी उपदेशों को धारण करने वाले) थे, अनेक मात्रिका-धर (मात्रिकाओं—उपदेश-सम्बन्धी अनुक्रमणियो जिनसे बाद में अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ, को धारण करने वाले) थे।[2] इनके विषय मे त्रिपिटक मे अनेक बार प्रशसापूर्वक कहा गया है—बहुस्सुता आगतागामा धम्मधरा विनयधरा मातिकाधरा।[3] बाद के 'पचनेकायिक' 'भाणक' 'सुत्तन्तिक', 'पेटकी' जैसे शब्द भी इसी पूर्व परम्परा को प्रकट करते हैं। अगुत्तर-निकाय के 'एतदग्गवग्ग' में हम भगवान् बुद्ध के उन प्रमुख भिक्षु-भिक्षुणी एव उपासक उपासिकाओ की एक लम्बी सूची देखते हैं जिन्होने साधना की विशिष्ट शाखाओ में दक्षता प्राप्त करने के अतिरिक्त भगवान् के वचनो को स्मरण करने मे भी विशेषता प्राप्त कर ली

---

१. उदान, पृष्ठ ७९ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

३. बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ, धर्म, विनय और मात्रिकाओं को धारण करने वाले विद्वान् भिक्षु। विनय-पिटक के महावग्ग २; १०, और चुल्लवग्ग १; १२ में; दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण सुत्त (तृतीय भाणवार) में, अंगुत्तर-निकाय (विसुद्धिमग्ग ४।१९ में उद्धृत) में, तथा त्रिपिटक के अन्य अनेक स्थानो में।

थी [1]। इन्ही व्रती साधकों के प्रति हम आज बुद्ध-वचनो के दायाद्य के लिये ऋणीहैं।

शास्ता के समीप रहते भिक्षुओ को ज्ञान और दर्शन का बड़ा सहारा था। किन्तु उनके अनुपाधि-शेष-निर्वाण धातु मे प्रवेश कर जाने के बाद उन्हे चारो ओर अन्धकार ही दिखाई देने लगा। यह ठीक है कि बुद्ध के समान ही उन्हें धम्म का सहारा था। किन्तु साधारण जनता बहिर्मुखी थी। अन्तरात्मा की अपेक्षा वह बाहर ही अधिक देखती थी। फिर जिस 'धम्म' की शरण मे शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था, उसका भी अस्तित्व अन्तत. उनके वचनो पर निर्भर था। उसमे मात्र उन भिक्षुओं और अर्हतो का गुजारा हो सकता था, जिनको स्वय शास्ता से सुनने का अवसर मिला था। किन्तु बाद की जनताओं के लिये क्या होगा ? जो भिक्षु भगवान् बुद्ध के जीवन-काल मे अपना अधिकतर समय और ध्यान बुद्ध-वचनो के स्मरण और संग्रह करने के बजाय उनके व्यावहारिक अभ्यास मे ही लगाते थे, उन्हे भी अब यह चिन्ता होने लगी कि हमारे बाद इस थाती को कौन सँभालेगा, इस प्रकाश के दीपक को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कौन पहुँचायगा ? उनका इस प्रकार चिन्तित होना भावुकता पर भी आधारित नही था। स्वय भिक्षु-सघ मे इस प्रकार के लक्षण प्रकट हो रहे थे, जिनसे सयमी भिक्षुओ को दु ख होना स्वाभाविक था। अभी भगवान् के परिनिर्वाण को सात दिन भी नही हुए थे कि सुभद्र नामक वृद्ध भिक्षु [2] कहता हुआ सुना गया था, "बस आयुष्मानो ! मत शोक करो ! मत विलाप करो ! हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त हो गये ! वह हमें सदा ही यह कह कर कष्ट पीड़ित किया करता था 'यह तुम्हे विहित है, यह तुम्हे विहित नहीं है'। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे, जो नही चाहेंगे, सो नही करेंगे।" [3] सुभद्र जैसे अवीतराग अनेक भिक्षु भी उस समय सघ में हो सकते थे।

---

१. देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६९-७२

२. यह भिक्षु इसी नाम के उस भिक्षु से भिन्न था, जिसने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के समय प्रव्रज्या प्राप्त की थी और इस प्रकार जो उनका अन्तिम शिष्य था।

३. अलं आवुसो ! मा सोचित्थ ! मा परिदेवित्थ ! सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन ! उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम। महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ २।३); विनय-पिटक-चुल्लवग्ग, पंचसतिक खन्धक।

इस मैल को धो डालने के लिये और शास्ता की स्मृति के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये बुद्ध के प्रमुख शिष्यों ने उनके वचनों का संगायन करना आवश्यक समझा। सुभद्र जैसे भिक्षुओं के असंयम को देखकर आर्य महाकाश्यप की मानसिक व्यथा के दर्शन हम उनके इन शब्दों में करते हैं,"आयुष्मानो ! आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अ-विनय बढ़ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो! हम धम्म और विनय का संगायन करें[1] "। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक सभा की गई। यह सभा बुद्ध-परिनिर्वाण के चौथे मास में हुई। बुद्ध-परिनिर्वाण वैशाख-पूर्णिमा को हुआ था, अतः यह सभा सम्भवतः श्रावण मास में हुई[2]। आषाढ़ का मास तैयारी में लगा। इस सभा में ५०० भिक्षु सम्मिलित हुए, अतः बौद्ध अनुश्रुति में यह सभा 'पंचशतिका' नाम से भी विख्यात है। सभासदों में एक आनन्द भी थे। सभापतित्व का कार्य महाकाश्यप को सौंपा गया। सभा की कार्यवाही में, जैसा स्पष्ट है, बुद्ध-वचनों का संगायन और संग्रह ही मुख्य था। सभापति महाकाश्यप ने उपालि से विनय-सम्बन्धी और आनन्द से धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे और उनके उत्तरों का दूसरे भिक्षुओं ने संगायन किया। उदाहरणतः महाकाश्यप ने उपालि से पूछा--"आवुस उपालि ! प्रथम पाराजिक का उपदेश कहाँ दिया गया ?" "भन्ते ! वैशाली में" "किस व्यक्ति के प्रसंग में ?" "कलन्द के पुत्र सुदिन्न के प्रसंग में" "किस बात को लेकर ?" "मैथुन को लेकर"। इसी प्रकार आनन्द से बुद्ध-उपदेशों (सुत्तों) के विषय में प्रश्न पूछे गये, जिनके उन्होंने उत्तर दिये। इस प्रकार निश्चित धम्म और विनय का सारी सभा ने संगायन किया, महाकाश्यप के प्रस्ताव पर--धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम।

उपर्युक्त सभा का ऐतिहासिक आधार और महत्व क्या है, और उसमें जिस 'धम्म' और 'विनय' का स्वरूप निश्चित किया गया, उसका हमारे आज प्राप्त

---

१. पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति। हन्द मयं आवुसो धम्मं च विनयं च संगायाम। विनय-पिटक--चुल्लवग्ग।

२. देखिये महावंश (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) पृष्ठ ११ (परिचय)

सुत्त और विनय पिटक से क्या सम्बन्ध है, ये प्रश्न पालि साहित्य के विद्यार्थी के लिये बडे महत्व के है। राजगृह की इस प्रथम संगीति का वर्णन, जिसमे धम्म और विनय का सगायन किया गया, इन ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है (१) विनय-पिटक-चुल्लवग्ग (२) दीपवस (३) महावस (४) बुद्धघोषकृत समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अर्थकथा) की निदान-कथा (५) महाबोधिवस (६) महा-वस्तु (७) तिब्बती दुल्व। इन सभी ग्रन्थो मे छोटी-मोटी अनेक विभिन्नताएँ है। उदाहरणत सभा के बुलाने के उद्देश्यो मे ही कोई किसी बात पर जोर देता है और कोई किसी बात पर। 'चुल्लवग्ग मे सुभद्र वाले प्रकरण का ही प्रधानता देकर उसे सभा बुलाने का कारण दिखलाया गया है, जब कि 'दीपवस' मे इस प्रसग का कोई उल्लेख नही है। 'महावस' मे कुछ अन्य साधारण कारण भी दिये हुए है।[१] हम आसानी से देख सकते है कि ये ये कोई मौलिक विभिन्नताएँ नही हैं। इसी प्रकार सभा मे भाग लेने वाले सदस्यो की सख्या के विषय मे भी विभिन्न मत है। ऐसा होना भी बहुत सम्भव है। हम आसानी से इतना निश्चित तथ्य तो निकाल ही सकते हैं कि यह सख्या ५०० के लगभग थी। इसी प्रकार सम्मिलित सदस्यो मे धम्म और विनय के स्वरूप के निश्चित करने मे किसने कितना योग दिया, इसके विषय मे भी उपर्युक्त ग्रन्थो मे विभिन्न मत है। 'चुल्लवग्ग' के अनुसार तो सारा काम महाकाश्यप, आनन्द और उपालि ने ही किया। किन्तु 'दीपवस' के वर्णन के अनुसार अन्य भिक्षुओ ने भी काफी योग दिया। इन अन्य भिक्षुओ मे, अनिरुद्ध, वगीश, पूर्ण, कात्यायन, कोट्ठित आदि मुख्य थे। यहाँ भी कोई मौलिक भेद दिखाई नही पडता। प्रत्यक्षत महाकाश्यप, आनन्द और उपालि के ही प्रधान भाग लेने पर भी अन्य अनक भिक्षुओ का भी उनके काम मे पर्याप्त सहयोग हो सकता था। अत उपर्युक्त ग्रन्थो के विवरणो मे, जिनमे 'चुल्लवग्ग' का विवरण ही प्राचीन-

---

१. "उस महास्थविर (महा काश्यप) ने शास्ता (बुद्ध) के धर्म की चिरस्थिति की इच्छा से लोकनाथ, दशबल भगवान् के परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद, बूढ़े सुभद्र के दुर्भाषित वचन का, भगवान् द्वारा चीवरदान तथा अपनी समता देने का, और सद्धर्म की स्थापना के लिये किये गये भगवान् (मुनि) के अनुग्रह का स्मरण कर के, सम्बुद्ध से अनुमत संगीति करने के लिये, नवाङ्ग बुद्धोपदेश को धारण करने वाले, सर्वाङ्गयुक्त, आनन्द स्थविर के कारण पांच सौ से एक कम महाक्षीणास्रव भिक्षु चुने" महावंस, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

तम जान पड़ता है, कोई मौलिक विभिन्नताएँ नही है। बल्कि वे एक दूसरे के पूरक है। उनमे से अधिकाश 'चुल्लवग्ग' के वर्णन को ही विस्तृत रूप देते है। उपर्युक्त वर्णनो के आधार पर बौद्ध अनुश्रुति राजगृह की सभा के ऐतिहासिक तथ्य को मानती है। आधुनिक विद्यार्थी भी इसम सन्देह करने का कोई कारण नही देखता। ओल्डनबर्ग ने अवश्य इसमे सन्देह प्रकट किया था। उनका कहना था कि सुभद्र वाला प्रकरण, जिसे 'चुल्लवग्ग' मे राजगृह की सभा के बुलाने का कारण बतलाया गया है, 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' (दीघ २।३) मे भी उन्ही शब्दो मे रक्खा हुआ है, किन्तु वहाँ इस सभा का कोई उल्लेख नही है। इस मौन का कारण उन्होने यह माना है कि 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के सग्राहक या सम्पादक को इस सभा का कुछ पता नही था। यदि यह सभा हुई होती तो 'महा-परिनिब्बाण-सुत्त' के सग्राहक को भी इसका अवश्य पता होता और उस हालत म सुभद्र वाले प्रकरण के साथ साथ उसने इस सभा का भी अवश्य उल्लेख किया होता। चूंकि यह उल्लेख वहाँ नही है, इसलिये हम मान ही सकते है कि यह सभा हुई ही नही।[१] कितना भयावह और इतिहास की प्रणाली से असिद्ध है डा० ओल्डनबर्ग का यह तर्क! किन्तु यह भी बहुत दिनो तक विद्वानो को भ्रम मे डाले रहा। वास्तव में डा० ओल्डनबर्ग के तर्क का कोई आधार नही है। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' का विषय भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दृश्य का वर्णन करना है, सघ के इतिहास का निर्देश करना नही। सघ के इतिहास का सम्बन्ध 'विनय' से है। अत भगवान् के परिनिर्वाण के बाद भिक्षुओं की विह्वल दशा का वर्णन करते हुए 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के सगायक या सगायको ने सुभद्र जैसे असयमी भिक्षु के विपरीत व्यवहार का तो उल्लेख कर दिया है, किन्तु उससे आगे जाना वहाँ ठीक नही समझा गया। इसके विपरीत 'विनय-पिटक' में सघ-शासन की दृष्टि से इस तथ्य को लेकर सघ के इतिहास पर भी उसका प्रभाव दिखलाया गया है। यदि यह भी समाधान पर्याप्त न माना जाय, तो यह भी द्रष्टव्य है कि 'दीपवस' मे भी सुभद्र वाले प्रकरण का उल्लेख नही है, किन्तु वहाँ प्रथम सगीति का वर्णन उपलब्ध है। इसलिये 'दीपवस' के लेखक को जब हम सुभद्र के प्रकरण में मौन रखते हुए भी प्रथम संगीति के विषय में अभिज्ञात देखते

---

१. विनय टैक्सट्स्, जिल्द पहली, पृष्ठ २६ (भूमिका) (—सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं)

है, तो 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के विषय में ही हम ऐसा क्यों मानें कि उसका मौन इस संगीति के वास्तविक रूप से न होने का सूचक है ।[1] अतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के मौन से हम उस प्रकार का निषेधात्मक सिद्धान्त नहीं निकाल सकते, जैसा ओल्डनबर्ग ने निकाला है, जब कि अनेक ग्रन्थों की भारी परम्परा उसके विपक्ष में है। गायगर[2] और विन्टरनित्ज[3] जैसे विद्वानों ने भी इसी कारण राजगृह की सभा को ऐतिहासिक तथ्य माना है। विन्टरनित्ज ने कुछ यह अवश्य कहा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद इतने शीघ्र इस सभा का बुलाया जाना हम से कुछ अधिक विश्वास करने की अपेक्षा रखता है।[4] इसी प्रकार मिनयफ ने इस सभा की ऐतिहासिकता स्वीकार कर के भी यह स्वीकार करने में कुछ हिचकिचाहट की है कि बुद्ध-वचनों का संगायन भी इस सभा की कार्यवाही का एक अंग था।[5] हमारी समझ में ये दोनों ही शंकाएँ निर्मूल हैं। भारतीय साधना की आत्मा को यहाँ नहीं समझा गया। अनुकम्पक शास्ता के चले जाने पर उनके 'धम्मदायाद' भिक्षुओं के लिये इससे अधिक आवश्यक और अवश्यम्भावी कार्य क्या हो सकता था कि वे जल्दी से जल्दी एक जगह मिल कर भगवान् के वचनों की स्मृति करें। ब्राह्मण और क्षत्रिय गृहस्थों ने तो भगवान् के शरीर के प्रति अद्भुत आदर प्रदर्शित किये, चक्रवर्ती के समान उसका दाह-संस्कार किया और भगवान् की अस्थियों को बाँट कर उनकी पूजा की। भिक्षु क्या करते? उनके लिये तो पूजा का अन्य ही विधान शास्ता छोड़ गये थे। उनके लिये तो एक ही उपदेश था। तथागत के अन्तिम पुरुष मत बनो। 'बुद्ध' के बाद 'धम्म' की शरण लो।[6]

---

१. तिब्बती दुल्व की भी परिस्थिति 'दीपवंस' के समान ही है, अर्थात् वहाँ सुभद्र का प्रकरण नहीं है, किन्तु प्रथम संगीति का वर्णन है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज' पृष्ठ ४०-४१

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत ३

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४

४. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ८

५. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ४३

६. ये अक्षरशः उद्धरण नहीं हैं। इन भावनाओं के लिये देखिये धम्मदायाद-सुत्त (मज्झिम. १।१।३); गोपक-मोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम. ३।१।८)

ऐसी अवस्था में धम्म की अनुस्मृति करना उनका प्रथम और एक मात्र कर्तव्य था। यदि वे ऐसा न करते तो हम आज यही कहते कि भगवान का भिक्षु-संघ ही उस समय नहीं था। चूंकि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि भिक्षु-संघ उस समय था इसलिये उससे भी अधिक निश्चित रूप से हम यह जानना चाहिये कि उन्होंने एक जगह मिलकर बुद्ध और धम्म की अनुस्मृति भी अवश्य की होगी भगवान के वचनों का संगायन भी अवश्य किया होगा फिर चाहे वह किसी रूप में क्यों न हो। बुद्ध संघ की आत्मा और उसका सारा विधान इसी तथ्य की ओर निर्देश करता है जो इतिहास के साक्ष्य से कहीं अधिक दृढ़ है और इस विषय में तो इतिहास का साक्ष्य भी जैसा हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं बहुत अधिक पर्याप्त है।

राजगृह की सभा की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि धम्म और विनय के जिस रूप का बुद्ध के इन प्रथम शिष्यों ने संगायन और संकलन किया वह कहाँ तक हमारे वर्तमान रूप में प्राप्त सुत्त पिटक और विनय पिटक में मिलता है। इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त संयत वाणी में और संभल कर दिया जा सकता है यद्यपि आचार्य बुद्धघोष ने सुत्त पिटक और विनय पिटक के विभिन्न भागों के नाम ले ले कर यह दिखाया है कि उनका संगायन प्रथम संगीति में ही किया गया था। फिर भी आधुनिक विद्यार्थी तो उनके इस साक्ष्य को सावधानी से ही ग्रहण करेगा। प्रथम संगीति के वर्णन में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि वहाँ धम्म (सुत्त) और विनय के संगायन की ही बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की बात वहाँ नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिधम्म पिटक की रचना प्रथम संगीति से बाद के काल की है। किन्तु यह निष्कर्ष बौद्ध परम्परा को मान्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही अभिधम्म के भी संगायन का उल्लेख किया है।[1] यूआन्

मखादेव-सुत्त (मज्झिम २।४।३) एवं महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ २।३) आदि।

१ ततो अनन्तरं—धम्मसंगणि विभङ्गञ्च, कथावत्थुञ्च पुग्गलं, धातु यमक-पट्ठानं, अभिधम्मोति वुच्चतीति। एवं संवण्णित सुखुमञाण गोचरं, तन्ति संगायित्वा इदं अभिधम्मपिटकं नामाति वत्वा पञ्च अरहन्तसतानि सज्झायमकंसु। सुमंगलविलासिनी की निदान-कथा। मिलाइये समन्त-पासादिका की निदान-कथा भी।

चुआड को भी यही बात मान्य थी। बुद्धघोष या युआन् चुआङ के साथ इस हद तक सहमत न हो सकने पर भी इसमे कोई सन्देह नही कि बुद्ध-वचनो का जो स्वरूप राजगृह की सभा मे स्वीकार और सग्रह किया गया उसी पर वर्तमान पालि त्रिपिटक आधारित है। इस सभा के एक महत्वपूर्ण प्रसग का यहाँ उल्लेख कर देना और आवश्यक होगा। जिस समय यह सभा हो रही थी या सम्पन्न हो चुकी थी पुराण नामक एक भिक्षु वहा विचरता हुआ आ निकला। उससे जब सगायन मे भाग लेने के लिये कहा गया तो उसने कहा "आवुस स्थविरो ने धम्म और विनय का सुन्दर तौर से सगायन किया है। किन्तु जैसा मैने स्वय शास्ता के मुख से सुना है, मुख से ग्रहण किया है मै तो वैसा ही धारण करूगा"।[1] पुराण की इस उक्ति मे राजगृह के सभासदो के द्वारा सगायन किये हुए धम्म और विनय के प्रति अप्रामाणिकता का भाव नही है जैसा कुछ विद्वानो ने भ्रमवश सोचा है। सघ के लिये यह कोई खतरे की घटी भी नही थी जैसा एक विद्वान को भ्रम हुआ है।[2] पुराण तो एक साधक पुरुष था। एकान्त साधना का भाव उसमे अवश्य अधिक था जिसके कारण वह अपनी उस ध्यान भावना मे जो उसे शास्ता के प्रत्यक्ष सम्पर्क से मिली थी किसी प्रकार का विक्षेप नही आने देना चाहता था। दूसरो ने बुद्ध मुख से जो कुछ सुना है वह सब ठीक रहे सत्य रहे। किन्तु पुराण को तो अपना जीवन यापन उसी से करना जो उसकी आवश्यकता देखते हुए स्वय भगवान ने उसे दिया है। इस दृष्टि से न तो पुराण की उक्ति मे राजगृह की सभा मे सगायन किये हुए बुद्ध वचनो की अप्रामाणिकता की ओर सकेत है और न वह भिक्षु सघ के लिये कोई खतरे की घण्टी ही थी। इस प्रकार के स्वतन्त्र विचारो के प्रकाशन पर भिक्षु-सघ ने कभी प्रतिबन्ध नही लगाया। यह उसकी एक विशेषता है। अत हम कह सकते है कि धर्मवादी भिक्षुओ ने धर्म का वैसा ही सगायन किया जैसा उन्होने स्वय भगवान से सुना था और जो उन्होने सगायन किया उसके ही दर्शन हम पालि सुत्त और विनय पिटको मे मिलते है यद्यपि उसके साथ कुछ और भी मिल गया है।[3]

---

१ विनय पिटक चुल्लवग्ग देखिये बुद्धचर्या पृष्ठ ५५२ भी।

२ डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है This was a danger signal for the Church बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ ४४

३ बुद्धघोष को भी यह मत आंशिक रूप से मान्य था। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ २२१

भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद (वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति—चुल्लवग्ग) किन्तु यूआन् चुआङ् द्वारा निर्दिष्ट परम्परा के अनुसार ११० वर्ष बाद, वैशाली मे 'धम्म' और 'विनय' का, जैसा कि वह प्रथम सगीति मे संगृहीत किया गया था, पुन सगायन किया गया। यह बौद्ध भिक्षुओ की दूसरी सगीति थी, जिसमे ७०० भिक्षुओ ने भाग लिया। इसीलिये यह 'सप्तशतिका' भी कहलाती है। यह सभा वास्तव मे विनय-सम्बन्धी कुछ विवाद-ग्रस्त प्रश्नो का निर्णय करने के लिये बुलाई गई थी। वैशाली के भिक्षु दस बातो मे विनय-विपरीत आचरण करने लगे थे, जिनमे एक सोने-चादी का ग्रहण भी था। अनेक भिक्षुओ के मत मे उनका यह आचरण विनय-विपरीत और निषिद्ध था। इसी का निर्णय करने के लिये वैशाली मे यह सभा हुई, जो आठ मास तक चलती रही। पालि साहित्य के विकास की दृष्टि से भी इस सभा का बड़ा महत्व है। एक बात इस सभा से यह निश्चित हो जाती है कि इस समय तक भिक्षु-सघ के पास एक ऐसा सुनिश्चित सगृहीत साहित्य अवश्य था जिसके आधार पर भिक्षु विवाद-ग्रस्त प्रश्नो का निपटारा कर सकते थे, फिर चाहे वह साहित्य मौखिक परम्परा के रूप मे ही भले क्यो न हो।[1] वैशाली की सभा ने वैशालिक भिक्षुओ के दस बातो सम्बन्धी व्यवहार को विनय-विपरीत ठहराया। इससे एक महत्वपूर्ण समस्या पालि-साहित्य, विशेषत. विनय-पिटक, के सम्बन्ध मे उत्पन्न हो जाती है। आज जिस रूप मे विनय-

---

१. ऐसा ही आधार स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में भी विद्यमान था। "भिक्षुओ! यदि कोई भिक्षु ऐसा कहे 'मैंने इसे भगवान् के मुख से सुना है,' ग्रहण किया है, यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का शासन है, तो भिक्षुओ! उस दिन उस भिक्षु के भाषण का न अभिनन्दन करना, न निन्दा करना। बल्कि ..... सूत्र से तुलना करना, विनय में देखना। यदि वह सूत्र से तुलना करने पर, विनय में देखने पर, न सूत्र में उतरे, न विनय में दिखाई दे, तो विश्वास करना यह भगवान् का वचन नहीं है। किन्तु यदि वह सूत्र में भी उतरे, विनय में भी दिखाई दे, तो विश्वास करना अवश्य यह भगवान् का वचन है।" महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ. २।३) मिलाइये अंगुत्तर-निकाय, जिल्द ६, पृष्ठ ५१; जिल्द ४, पृष्ठ १८० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

पिटक पाया जाता है उसमें उन दस बातों में से, जिनके निर्णय के लिये वैशाली की सभा बुलाई गई थी, अधिकांश बातें स्पष्टतः बुद्ध-मन्तव्य के विपरीत ठहराई गई है[१]। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आज जिस रूप में विनय-पिटक हमें प्राप्त है वह वैशाली की सभा से पूर्व का नहीं हो सकता[२]। यदि ऐसा होता, तो स्थविरों को इतना वाद-विवाद करने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि वहाँ तो स्पष्टतः उन्हें निषिद्ध बतलाया ही गया है। अतः ऐसा माना गया है कि पहले विनय-पिटक का रूप कुछ और रहा होगा और बाद में वैशाली की सभा के बाद उसके निर्णयों को उसमें उचित स्थानों में समाविष्ट कर दिया होगा।[3] हम यह अस्वीकार नहीं करते कि वैशाली की सभा के परिणाम-स्वरूप विनय-पिटक के स्वरूप में कुछ संशोधन या परिवर्द्धन न किया गया हो, किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि तत्वतः वैशाली की सभा से पूर्व के विनय और आज वह जिस रूप में पाया जाता है, उसमें कोई भेद है। वास्तव में बात यह है कि वैशाली की सभा से पूर्व और उसके कुछ शताब्दियों बाद तक भी 'विनय', जैसे कि अन्य बुद्ध-वचन, मौखिक अवस्था में ही रहे। अतः यदि विनय-पिटक का स्वरूप वैशाली की सभा से पहले का भी यदि आज का सा ही होता, तो भी उन दस बातों पर विवाद चल सकता था, जिन पर वैशाली की सभा में वह चला और जिनमें से बहुतों के ऊपर विनय का आज स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध है। अतः यह मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि वर्तमान विनय-पिटक वैशाली की सभा से पहले का नहीं है। हाँ, वैशाली की सभा ने एक बात पहली बार स्पष्ट कर दी है। वह यह कि जिस भिक्षु-सभा ने वैशाली में मिल कर अपने मतानुसार प्रामाणिक बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार वैशाली के वृज्जियों के अनाचार की निन्दा की, उनका ही एक मात्र संग्रह बुद्ध-वचनों का नहीं है। जिन भिक्षुओं की इस सभा में पराजय हो गई, उन्होंने अपनी अलग एक भारी सभा (महा-संगीति) की, जिसमें उन्होंने अपने मतानुसार नये बुद्ध-वचनों की सृष्टि की। इनके विषय में 'दीपवंस' में कहा गया

---

१. कुछ उद्धरणों के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६२-६४

२. यह निष्कर्ष डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने निकाला है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज पृष्ठ ६२

३. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६३-६४; ओल्डनबर्ग को भी यही मत मान्य है, देखिये वहीं पृष्ठ ६४, पदसंकेत १

है "महासंगीति के भिक्षुओं ने बुद्ध-शासन को बिलकुल विपरीत कर डाला। मूल सघ में भेद उत्पन्न कर उन्होंने एक नया सघ खड़ा कर दिया। मौलिक 'धम्म' को नष्ट कर उन्होंने एक नया ही सुत्तों का संग्रह किया"[1] आदि। इन महासगीति-कारो ने जो कुछ भी संग्रह किया हो या उनका जो कुछ भी अश अवशेष रहा हो, हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि बुद्ध-वचनों के पालि-सस्करण के सामने उसकी कोई प्रमाणवत्ता नही है। वैशाली की सभा मे विनय-सम्बन्धी दस बातो के विषय मे निर्णय हो जाने के बाद ७०० भिक्षुओं ने महास्थविर रेवतके सभापतित्व मे, प्रथम सगीति के समान ही, 'धम्म' का संगायन और सकलन किया। 'अकरु धम्मसंगहं'। आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों, पाँच निकायों, नौ अगों और ८४००० धर्मस्कन्धो मे वर्गीकरण इसी समय किया गया। इस सगीति की ऐतिहासिकता विद्वानों को पहली की अपेक्षा अधिक मान्य है। इस सगीत का वर्णन भी प्रायः उन सब ग्रन्थों मे मिलता है जिनमे प्रथम सगीति का। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वैशाली की सगीति के बाद एक तीसरी सगीति सम्राट् अशोक के समय मे बुद्ध-परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र मे हुई। इस सगीति का वर्णन दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका (विनय-पिटक की बुद्धघोष-रचित अट्ठ-कथा) मे मिलता है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग मे इस सगीति का निर्देश नही किया गया है। तिब्बत और चीन के महायानी बौद्ध साहित्य मे भी इस सगीति का निर्देश नही मिलता और न युआन्-चुआङ्. ने ही इसके विषय मे कुछ लिखा है। अशोक के किसी शिलालेख मे भी इस सगीति का स्पष्टत. कोई उल्लेख नही

---

१. महासङ्गीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं। भिन्दित्वा मूलसंघं अञ्ञं अकंसु संघं॥ अञ्ञथा सङ्गहितं सुत्तं अञ्ञथा अकरिंसु ते। अत्थं धम्मं च भिन्दिंसु ये निकायेसु पंचसु॥ यहीं आगे कहा गया है कि महासंगीति के इन भिक्षुओं ने परिवार, अभिधम्म, पटिसम्भिदा, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को स्वीकार नहीं किया—परिवारं अत्थुद्धारं अभिधम्मप्पकरणं, पटिसम्भिदं च निद्देसं एकदेसं च जातकं, एत्तकं निस्सज्जेत्वान अञ्ञं अकरिंसु ते। ५।३२-३८ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)

मिलता।[1] अत कुछ विद्वानो ने इसकी ऐतिहासिकता में सन्देह किया है।[2] वास्तव मे बात यह है कि अशोक के समय तक बौद्ध सघ १८ सम्प्रदायो मे विभक्त होचुका था और जिस सम्प्रदाय का पक्ष ग्रहण कर यह सभा बुलाई गई थी अथवा जिस सम्प्रदाय को इस सभा के बाद बुद्ध-धर्म का वास्तविक प्रतिनिधि माना गया था वह विभज्यवादी या स्थविरवादी[3] सम्प्रदाय था। अत यह बहुत सम्भव है कि दूसरे सम्प्रदाय वालो ने इसे स्थविरवादी या विभज्यवादी भिक्षुओ की ही अपनी सभा मानकर इसका उल्लेख सामान्य बौद्ध सगीतियो के रूप मे न किया हो। अशोक के शिलालेखो का इस सम्बन्ध मे मौन रखने का यह कारण हो सकता है कि अशोक ने वास्तव में इस सभा मे कोई महत्वपूर्ण भाग नही लिया

---

१. नवें शिलालेख में कुछ 'कथावत्थु' के समान शैली अवश्य दृष्टिगोचर होती है। देखिये भांडारकर और मजूमदारः इन्सक्रिप्शन्स ऑव अशोक, पृष्ठ ३४-३६

२. जिनमें मुख्य मिनयफ, कीथ, मैक्स वेलेसर, बार्थ, फ्रैंक और लेवी हैं। डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स, श्रीमती रायसडेविड्स, विंटरनित्ज और गायगर इस सभा को ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक मानते हैं। देखिये विंटरनित्ज; हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ १६-९-७० पद संकेत ५, एवं गायगरः पालि लिटरेचर एड लेंग्वेज, पृष्ठ ९ पद संकेत ८ में निर्दिष्ट साहित्य।

३. स्थविरवाद का अर्थ है स्थविरो अर्थात् वृद्ध, ज्ञानी पुरुषो और तत्त्व-दर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिये 'स्थविर' शब्द का प्रयोग किया गया है। बुद्ध-मन्तव्य के विषय में उनका मत ही सर्वाधिक प्रामाणिक था। अतः स्थविरवाद का अर्थ 'प्रामाणिक मत' भी हो गया। स्थविरवादी भिक्षु 'विभज्यवाद' के अनुयायी थे। अतः 'विभज्यवाद' (पालि, विभज्जवाद) और स्थविरवाद (पालि, थेरवाद) दोनों एक ही वस्तु के द्योतक हैं। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विभाग कर, विश्लेषण कर, प्रत्येक वस्तु के अच्छे अंश को अच्छा और बुरे अंश को बुरा बतलाना। इसका उल्टा एकांशवाद (पालि, एकंसवाद) है, जो सोलहो आने किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह डालता है। भगवान् बुद्ध ने सुभ-सुत्त (मज्झिम. २।५।९) में अपने को उपर्युक्त अर्थ में

था। अथवा उसके सारे श्रेय को वह उस समय के सबसे अधिक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक मोग्गलिपुत्त तिस्स को देना चाहता था, जिन्होंने यह सभा बुलाई थी और जो ही इस सभा के सभापति थे। अनेक प्रान्तों के भिक्षुओं ने इस सभा में भाग लिया। इस सभा का मुख्य उद्देश्य यह था कि बौद्ध संघ में जो अनेक अ-बौद्ध लोग सम्राट् अशोक के बौद्ध संघ सम्बन्धी दानों से आकृष्ट होकर घुस गये थे उनका निष्कासन किया जाय और मूल बुद्ध-उपदेशों का प्रकाशन किया जाय। सभा की कार्यवाही में यही काम किया गया। साथ ही पाटलिपुत्र की इस सभा में अन्तिम रूप में बुद्ध-वचनों के स्वरूप का निश्चय किया गया और ९ महीनों के अन्दर भिक्षुओं ने तिस्स मोग्गलिपुत्त के सभापतित्व में बुद्ध-वचनों का संगायन और पारायण किया। इसी समय तिस्स मोग्गलिपुत्र ने मिथ्यावादी १८ बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म-पिटक' में स्थान मिला।[1] जैसा पहले कहा जा चुका है बुद्धघोष और युआन्-चुआङ के वर्णन के अनुसार अभिधम्म-पिटक का भी संगायन महाकाश्यप ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही किया था। किन्तु उसकी इतनी प्राचीनता अपने वर्तमान रूप में विद्वानों को मान्य नहीं है। क्रम से तब इस तीसरी संगीति के वर्णन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'कथा-

---

विभज्यवादी कहा है। स्थविरवादी भिक्षु भी यही दृष्टिकोण रखते थे। विभज्यवाद का एक सूक्ष्म और तात्विक अर्थ भी है, जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया था। इस अर्थ के अनुसार मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का स्कन्ध, आयतन और धातु आदि में विश्लेषण किया जाता है, किन्तु फिर भी उनमें 'अत्ता' (आत्मा) या स्थिर तत्त्व जैसा कोई पदार्थ नहीं मिलता। विभज्यवाद के इस सूक्ष्म अर्थ के विवेचन के लिये देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः अभिधम्म फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-२२; स्थविरवाद और विभज्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध के अधिक निरूपण के लिये देखिये गायगर; पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ९ पद-संकेत १, तथा विंटरनित्ज़ः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६, पद-संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य।

१. महावंश ५।२७८ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

वत्थु' की रचना महास्थविर तिस्स मोग्गलिपुत्त ने अशोक के समय में की। इतना भी निश्चित है कि सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक के स्वरूप का निश्चय अन्तिम रूप से इस संगीति के समय तक हो गया था। इस सभा के परिणाम-स्वरूप एक महत्वपूर्ण निश्चय विदेशों में बुद्ध-धर्म के प्रचार करने के लिये उपदेशकों को भेजने का भी किया गया। अशोक के तेरहवे और दूसरे शिलालेखों से यह स्पष्ट होता है कि उसने न केवल अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में ही बल्कि सीमान्त देशों में बसने वाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों में और केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में तथा सिंहल द्वीप में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ धर्मोप-देशकों को भेजा था। दीप-वंस,[1] महावंस[2] और समन्तपासादिका[3] में उन भिक्षुओं की नामावली सुरक्षित है, जिन्हें भिन्न भिन्न देशों में बुद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा गया था। किस-किस भिक्षु को किस-किस प्रदेश में भेजा गया, इसकी यह सूची इस प्रकार है—

१ स्थविर माध्यन्तिक (मज्झन्तिक) —काश्मीर और गान्धार प्रदेश को

२. स्थविर महादेव —महिष मंडल (महिसक मंडल) को (नर्वदा के दक्षिण का प्रदेश)

३ स्थविर रक्षित (रक्खित) —वनवासि-प्रदेश को (वर्तमान उत्तरी कनारा)

४ यूनानी भिक्षु धर्मरक्षित (योनक धम्मरक्खित) —अपरान्तक प्रदेश को (वर्तमान गुजरात)

५ स्थविर महाधर्मरक्षित (महाधम्मरक्खित) —महाराष्ट्र (महारट्ठ) को

६ स्थविर महारक्षित (महारक्खित) —यवन-देश (योनक लोक) को (बैक्ट्रिया)

७ स्थविर मध्यम (मज्झिम) —हिमालय-प्रदेश (हिमवन्त) को

---

१. परिच्छेद ८

२. ५।२८०; १२।१-८

३. पृष्ठ ६३-६४ (पालि टेक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

८ स्थविर शोण और उत्तर (दोनो भाई) —सुवर्ण भूमि (सुवण्ण भूमि) को (बरमा)

९ महेन्द्र (महिन्द, ऋष्ट्रिय), (इट्टिय) उत्रिय (उत्तिय) शम्बल (सम्बल)—ताम्रपर्णी (तम्बपण्णि) को और भद्रशाल (भद्दसाल) ये पाँच भिक्षु (लका)[1]

उपर्युक्त सूची ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक है। साँची-स्तूप में इन आचार्यों म स कुछ के नाम उत्कीर्ण है[2]। अजन्ता की चित्रकारी मे भी एक चित्र महेन्द्र और संघमित्रा (अशोक के प्रव्रजित पुत्र और पुत्री, जो अन्य भिक्षुओ के साथ लका ग धर्म प्रचारार्थ गये) की सिंहल-यात्रा को अमर बनाता है। फिर लका म आज तक महेन्द्र और संघमित्रा तथा उनके साथी अन्य भिक्षुओं की स्मृति के लिय जो जीवित श्रद्धा विद्यमान है, वह केवल कल्पना पर ही आश्रित नही हो सकती। अशोक का धर्म-प्रचार का कार्य यही तक सीमित नही था। उसने अपने धर्म-प्रचारक उस समय के प्रसिद्ध पाँच यवनानी राज्यों मे भी भेजे। इस प्रकार सिरिया और बैक्ट्रिया के राजा अन्तियोक्स (एटियोकस थियोस—ई० पू० २६१-२४६ ई० पू०) मिश्र के राजा तुरमय (टॉलेमी फिलाडेल्फस—ई० पू० २८५-२४७ ई० पू०) मसिडानिया के राजा अन्तकिन (ऐटिगोनस गोनटस—ई० पू० २७८-२३९ ई० पू०) सिरीनी के राजा मग (मगस—ई० पू० २८५-२५८ ई० पू०) और एपिरस के राजा अलिक सुन्दर (एलेक्जन्डर-ई० पू० २७२-२५८ ई० पू०) के देशो तक अशोक कालीन बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ बुद्ध का सन्देश लेकर गये।[3] इस सब विस्तृत धर्म-प्रचार के इतिहास मे से हमे यहाँ लका-सम्बन्धी प्रचार-कार्य स ही अधिक सम्बन्ध है। लका मे महेन्द्र और उनके अन्य साथी बुद्ध-धर्म को ले गये। वहाँ के राजा देवानपिय तिस्स ने भारतीय भिक्षुओं का बडा सत्कार किया और उनके सन्देश को स्वीकार किया। स्थविर महेन्द्र और उनके साथी लका मे

---

१. देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २०८ और ४६१; मिलाइये, अशोक की धर्मलिपियाँ, प्रथम भाग, पृष्ठ १६१-६२

२. स्थविर मज्झिम को वहाँ 'हिमवान् प्रदेश का उपदेशक' (हेमवताचरिय) कह कर स्मरण किया गया है।

३. शिलालेख २

उस त्रिपिटक को भी ले गये थे जिसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय पाटलिपुत्र की संगीति मे हो चुका था। लका में 'महा-विहार' की स्थापना हुई और त्रिपिटक के अध्ययन का क्रम चलता रहा। परन्तु यह अध्ययन-क्रम अभी कुछ और शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा (मुखपाठवसेन) मे ही चलता रहा। बाद मे लका के राजा वट्टगामणि अभय के समय मे प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व मे, जिस त्रिपिटक को महेन्द्र और अन्य भिक्षु अशोक और देवानपिय तिस्स के समय में वहाँ ले गये थे, लेखबद्ध कर दिया गया।[1] तब से वह उसी रूप मे चला आ रहा है। महेन्द्र के लका-गमन और वट्टगामणि के समय में त्रिपिटक के लेखबद्ध होने के समय के बीच मे तीन और धर्म-संगीतियाँ क्रमश देवानपिय तिस्स, दुट्ठगामणि और वट्टगामणि अभय नामक लंकाधिपो के समयों में हुई। अत पालि-साहित्य के विकास के इतिहास मे उनका भी अवश्य एक स्थान है, यद्यपि पहली तीन संगीतियो की अपेक्षा वह बहुत गौण है। यह निश्चित है कि इन तीन संगीतियों में महेन्द्र द्वारा प्रचारित त्रिपिटक के स्वरूप मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया और वट्टगामणि के समय मे जिस त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया वह वही था जिसे महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहाँ ले गये थे।

इस प्रकार बुद्ध के परिनिर्वाण-काल से लेकर प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक पालि-साहित्य के विकास को हमने देखा। इसमे आगे पालि-साहित्य के उस अश के विकास की कहानी है जो प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक अन्तिम रूप से सुनिश्चत और लिखित उपर्युक्त त्रिपिटक को आधार मान कर लिखा गया है। स्वभावत. यहाँ हम पालि-साहित्य के विस्तार और विभाजन के प्रश्न पर आते है।

पालि-साहित्य का विस्तार—दो मोटे मोटे भागों मे उसका वर्गीकरण—पालि या पिटक साहित्य एवं अनुपालि या अनुपिटक साहित्य

विषय की दृष्टि से पालि-साहित्य उतना विस्तृत और पूर्ण नहीं है, जितने सस्कृतादि अन्य साहित्य। अनेक प्रकार की ज्ञान-शाखाओ पर उसमे साहित्य

---

१. दीपवंस २०।२०-२१ (ओल्डनबर्ग का संस्करण) ; महावंस ३३। १००-१०१ (गायगर का संस्करण) (बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'महावंस' के संस्करण में ३३।२४७९-८०) देखिये महावंश, पृष्ठ १७८-७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

नहीं मिलता। ठीक तो यह है कि बौद्ध धर्म—स्थविरवादी बौद्ध धर्म—के अलावा उसमें ज्ञातव्य ही अल्प है। विभिन्न ज्ञान-शाखाओं की वह बहुमूल्य सम्पत्ति उसमें नहीं मिलती जो एक सर्वविध समृद्ध साहित्य से सम्बन्ध रखती है। फिर भी पालि-साहित्य के अन्य अनेक बड़े आकर्षण है। उसके साहित्य का विकास न केवल भारत में ही, अपितु लंका, बरमा और स्याम में भी हुआ है और स्वभावतः उसने इन सब देशों की भाषा और विचार-परम्परा को भी प्रभावित किया है। पालि साहित्य की रचना बुद्ध-काल से लेकर आज तक निरन्तर होती चली आ रही है। अतः उसके विकास का २५०० वर्ष का इतिहास है। कालानुक्रम और प्रवृत्तियाँ, दोनो की ही दृष्टि से पालि-साहित्य को दो मोटे-मोटे भागो मे विभक्त किया जा सकता है, (१) पालि या पिटक साहित्य, (२) अनुपालि या अनुपिटक साहित्य। पालि या पिटक साहित्य का विकास, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बुद्ध-निर्वाण काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० तक है। अनुपालि या अनुपिटक साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर वर्तमान काल तक चला आ रहा है।

पिटक-साहित्य के ग्रन्थों का संक्षिप्त विश्लेषण और काल-क्रम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पालि या पिटक साहित्य तीन भागो मे विभक्त है, सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। सुत्त-पिटक पाँच निकायो या शास्त्रो मे विभाजित है जिनके नाम है, दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, सयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय। विनय-पिटक अपने आप मे एक परिपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी विषय-वस्तु तीन भागों में विभक्त है, सुत्त-विभंग, खधक और परिवार। सुत्त-विभग के दो विभाग हैं, पाराजिक और पाचित्तिय। इसी प्रकार खंधक के भी दो भाग हैं, महावग्ग और चुल्लवग्ग। अभिधम्म- पिटक मे सात बडे बडे ग्रन्थ है, जिनके नाम हैं धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। सुत्त-पिटक के पाँच निकायो का कुछ अधिक विश्लेषण कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। दीघ-निकाय में कुल ३४ सुत्त है, जो तीन वर्गों में विभाजित हैं। पहले सीलक्खन्ध-वग्ग मे १३ सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग मे १० सुत्त है और तीसरे पाटिक-वग्ग में ११ सुत्त है। यह वर्गीकरण इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

दीघ-निकाय

(अ) सीलक्खन्ध-वग्ग

(आ) महावग्ग

(इ) पाटिक-वग्ग

२६. चक्कवत्ति सीहनाद-सुत्त
२७. अग्गञ्ञ-सुत्त
२८. सम्पसादनिय-सुत्त
२९. पासादिक-सुत्त
३०. लक्खण-सुत्त
३१. सिगालोवाद (या सिगालोवाद)-सुत्त
३२. आटानाटिय-सुत्त
३३. सगीति-सुत्त
३४. दसुत्तर-सुत्त

मज्झिम-निकाय मे १५२ सुत्त है, जो १५ वर्गों मे इस प्रकार विभाजित है—

मज्झिम निकाय

१. मूल-परियाय-वग्ग

१. मूलपरियाय-सुत्त
२. सब्बासव-सुत्त
३. धम्मदायाद-सुत्त
४. भयभेरव-सुत्त
५. अनगण-सुत्त
६. आकङ्खेय्य-सुत्त
७ वत्थूपम-सुत्त
८. सल्लेख-सुत्त
९. सम्मादिट्ठि-सुत्त
१०. सतिपट्ठान-सुत्त

२. सीहनाद-वग्ग

११. चूलसीहनाद-सुत्त
१२. महासीहनाद-सुत्त
१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त
१४. चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्त
१५. अनुमान-सुत्त
१६. चेतोखिल-सुत्त

११. देवदह-वग्ग

१२. अनुपद-वग्ग

१३. सुञ्ञता-वग्ग

१४. विभंग-वग्ग

१५. सळायतन-वग्ग

१४९. महासळायतनिक-सुत्त
१५०. नगरविन्देय्य-सुत्त
१५१. पिण्डपातपारिसुद्धि-सुत्त
१५२. इन्द्रियभावना-सुत्त

सयुत्त-निकाय में कुल ५६ संयुत्त है, जो ५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं।

संयुत्त-निकाय

(१) सगाथ-वग्ग, जिसमें ११ संयुक्त हैं।

१. देवता-संयुत्त
२. देवपुत्त-सयुत्त
३ कोसल-सयुत्त
४. मार-सयुत्त
५. भिक्खुणी-सयुत्त
६ ब्रह्म-सयुत्त
७. ब्राह्मण-सयुत्त
८ वगीस-सयुत्त
९. वन-सयुत्त
१०. यक्ख-सयुत्त
११. सक्क-सयुत्त

(२) निदान-वग्ग, जिसमें १० संयुक्त हैं।

१ निदान-संयुत्त
२. अभिसमय-सयुत्त
३. धातु-सयुत्त
४. अनमतग्ग-संयुत्त
५. कस्सप-संयुत्त
६. लाभ-सक्कार-सयुत्त
७ राहुल-संयुत्त
८. लक्खण-संयुत्त
९. ओपम्म-संयुत्त
१०. भिक्खु-संयुत्त

(३) खन्ध-वग्ग, जिसमें १३ संयुत्त हैं।

१. खन्ध-संयुत्त
२. राध-संयुत्त
३. दिट्ठि-संयुत्त
४. ओक्कन्तिक-संयुत्त
५. उप्पाद-संयुत्त
६. किलेस-संयुत्त
७. सारिपुत्त-संयुत्त
८. नाग-सयुत्त
९ सुपण्ण-सयुत्त
१०. गन्धब्बकाय-सयुत्त
११ वलाहक-सयुत्त
१२. वच्छगोत्त-सयुत्त
१३ झान-संयुत्त

(४) सलायतन-वग्ग, जिसमे १० संयुत्त है।

१ सळायतन-सयुत्त
२ वेदना-सयुत्त
३. मातुगाम-सयुत्त
४. जम्बुखादक-सयुत्त
५. सामण्डक-संयुत्त
६. मोग्गल्लान-सयुत्त
७. चित्त-सयुत्त
८. गामणि-सयुत्त
९. असखत-सयुत्त
१०. अब्याकत-सयुत्त

(५) महावग्ग, जिसमें १२ संयुत्त है।

१. मग्ग-सयुत्त
२. बोज्झंग-संयुत्त
३. सतिपट्ठान-सयुत्त

४. इन्द्रिय-संयुत्त
५. सम्मप्पधान-संयुत्त
६. बल-संयुत्त
७. इद्धिपाद-संयुत्त
८. अनुरुद्ध-संयुत्त
९. झान-संयुत्त
१०. आनापाण-संयुत्त
११. सोतापत्ति-संयुत्त
१२. सच्च-सयुत्त

अगुत्तर-निकाय का विभाजन बिलकुल संख्याबद्ध है। एक एक, दो-दो, तीन-तीन, इस प्रकार क्रमानुसार ग्यारह तक उतनी ही उतनी संख्या से सम्बन्ध रखने वाले बुद्ध-उपदेशो का संग्रह है। इस प्रकार यह महाग्रन्थ ११ निपातो (समूहो) में विभक्त है—

१ एक-निपात
२. दुक-निपात
३ तिक-निपात
४. चतुक्क-निपात
५. पचक-निपात
६ छक्क-निपात
७. सत्तक-निपात
८. अटठक-निपात
९ नवक-निपात
१०. दसक-निपात
११. एकादसक-निपात

खुद्दक-निकाय में स्वतन्त्र १५ ग्रन्थ है जो इस प्रकार है—

१. खुद्दक-पाठ
२. धम्मपद
३. उदान
४. इतिवुत्तक
५ सुत्तनिपात

६. विमान-वत्थु
७. पेत-वत्थु
८. थेर-गाथा
९. थेरी-गाथा
१०. जातक
११. निद्देस
१२. पटिसम्भिदामग्ग
१३. अपदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

पालि साहित्य अपने वर्गीकरण के लिये प्रसिद्ध है। बुद्ध-वचनो के त्रिपिटक और उसके उपर्युक्त उपविभागो के अतिरिक्त अन्य भी विभाजन किये गये है। इस प्रकार सम्पूर्ण बुद्ध-वचनो को पाँच निकायो मे बाँटा गया है। यहाँ चार निकाय तो सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायो के समान ही है, किन्तु पचम निकाय (खुद्दक-निकाय) मे स्वभावत ही उसके पन्द्रह ग्रन्थो के अलावा विनय-पिटक और अभिधम्म पिटक के सारे ग्रन्थ भी सम्मिलित कर लिये गये है।[1] कहने की आवश्यकता नही कि यह वर्गीकरण प्रथम के समान स्वाभाविक नही है। बुद्ध-वचनो का एक और वर्गीकरण नौ अंगो के रूप मे किया गया है,[2] जिनके नाम है, सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल। सुत्त (सूत्र) का अर्थ है सामान्यतः बुद्ध-उपदेश। दीघ-निकाय, सुत्त-निपात आदि मे गद्य मे रक्खे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेश 'सुत्त' है। गद्य-पद्य-मिश्रित अश गेय्य (गाने योग्य) कहलाते है। 'वेय्याकरण' (व्याकरण, विवरण, विवेचन) वह व्याख्यापरक साहित्य है जो अभिधम्म पिटक तथा अन्य ऐसे ही अशो मे सन्निहित

---

१. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक का विवेचन।
२. नौ अंगों एवं अधिकतर १२ धर्म-प्रवचनों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन महायान बौद्ध धर्म के संस्कृत-साहित्य में भी पाया जाता है, देखिये सद्धर्मपुंडरीक २।४८ (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द २१, पृष्ठ ४५); महाकरुणा पुंडरीक, पृष्ठ ३३ (भूमिका) (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द दस, भाग प्रथम में)

है। सिर्फ पद्य में रचित अंश 'गाथा' (पालि-श्लोक) कहलाते हैं। 'उदान' का अर्थ है बुद्ध-मुख से निकले हुए भावमय प्रीति-उद्‌गार। 'इतिवुत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा'। 'जातक' का अर्थ है। (बुद्ध के पूर्व) जन्म सम्बन्धी कथाएँ। 'अब्भुत धम्म' (अद्‌भुत धर्म) वे सुत्त हैं जो अद्‌भुत वस्तुओं या योग-सम्बन्धी विभूतियों का निरूपण करते हैं। 'वेदल्ल' का शाब्दिक अर्थ है वेद-निःश्रित या ज्ञान पर आधारित। 'वेदल्ल' वे उपदेश हैं जो प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखे गये हैं।[1] बुद्ध-वचनों का यह नौ प्रकार का विभाजन विषय-स्वरूप की दृष्टि से ही है, ग्रन्थों की दृष्टि से नहीं। अतः कहा जा सकता है कि यह केवल औपचारिक ही है और व्यावहारिक उपयोग में प्रायः नहीं आता। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण ८४००० धर्म स्कन्धों के रूप में है। किन्तु यह भी बौद्धों की विश्लेषण-प्रियता का ही एक उदाहरण है। प्रयोग में यह भी अक्सर नहीं आता। साधारणतः हम त्रिपिटक और उसके उप-विभागों के रूप में ही बुद्ध-वचनों का अध्ययन करते हैं।

यह कहना कुछ आश्चर्यजनक भले ही जान पड़े किन्तु ऐतिहासिक रूप से यह सत्य है कि बुद्ध-वचनों के उपर्युक्त चारों प्रकार के वर्गीकरणों का निश्चय त्रिपिटक के अन्तिम रूप से प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में वे लेखबद्ध होने से बहुत पहले ही हो चुका था। तीनों पिटकों का निर्देश स्वयं त्रिपिटक में ही मिलता है, यह हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कह आये हैं। अशोक के शिला-लेखों ने यह बात अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दी है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में भी पहले बुद्ध-वचनों का कुछ उसी प्रकार का वर्गीकरण प्रचलित था जैसा कि वह आज पालि त्रिपिटक में मिलता है। अशोक के शिलालेखों का पालि-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में क्या साक्ष्य है, इसका विस्तृत विवेचन तो हम दसवें अध्याय में पालि के अभिलेख-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अशोक के भाब्रू शिलालेख में राहुलोवाद (लाघुलो-वादे) सुत्त आदि शीर्षकों से यही निश्चित होता है कि तीसरी शताब्दी ई० पू०

---

१. यथा मज्झिम-निकाय के चूल-वेदल्ल-सुत्तन्त और महावेदल्ल-सुत्तन्त। इनमें परिप्रश्नात्मक शैली का व्यवहार किया गया है। सम्भवतः इसी-लिये 'वेदल्ल' शब्द का अर्थ इस प्रकार की शैली में लिखे गये उपदेश किया गया है।

में त्रिपिटक प्रायः अपने उसी वर्गीकरण और नामकरण के साथ विद्यमान था जैसा वह आज है। कम से कम त्रिपिटक के प्राचीनतम अंशों (सुत्त-पिटक और विनय-पिटक) के विषय में तो ऐसा कहा ही जा सकता है। अशोक के बाद साँची और भारहुत (तीसरी या दूसरी शताब्दी ई० पू०) के स्तूपों के लेखों का साक्ष्य भी यही है। इन लेखों में 'पंचनेकायिक' (पाँच निकायों का ज्ञाता) भाणक (पाठ करने वाला) सुत्तन्तिक (सुत्त-पिटक का ज्ञाता) पेटकी (पिटकों का ज्ञाता) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और जातक के कुछ दृश्य भी दिखाये गये हैं, जिनसे विद्वानों ने ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध-वचनो का तीन पिटको और पांच निकायों मे आज का सा विभाजन इन अभिलेखो के युग से पहले ही निश्चित हो चुका था।[1] भाणको और निकायो एव त्रिपिटक के उपर्युक्त विभाजन की जो परम्परा अशोक के काल से बहुत पहले से चली आ रही थी, उसके बाद भी अबाध गति से चलती रही। साँची के लेखों के अलावा मिलिन्द प्रश्न[2] (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) और बाद में बुद्धघोष की अर्थकथाओं[3], दीपवस,[4] महावंस[5] आदि में उसके पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। बुद्ध-वचनों का नौ अंगो मे विभाजन स्वयं त्रिपिटक को भी ज्ञात है[6] और बाद मे न केवल मिलिन्द प्रश्न,[7] अपितु बुद्धघोष

---

१. रायस डेविड्स: बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६७; बूहलर: एपीग्रेफिका इंडिका, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९३;

२. तेपिटकं बुद्धवचनं, पृष्ठ १९; तेपिटका भिक्खु पंचनेकायिका पि च, चतुनेकायिका चेव, पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

३. धम्मपदट्ठकथा जिल्द पहली, पृष्ठ १२९ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण) देखिये विन्टरनित्ज; इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७, पद-संकेत ३ भी।

४. ८।६; १२।८४; १३।७ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)

५. १२।२९; १४।५८; १४।६३; १५।४ (गायगर का संस्करण)

६. अलगद्दूपम सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।२) अंगुत्तर-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७; १०३; १०८ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)।

७. नवंगजिनसासनं, पृष्ठ २२; नवङ्गं बुद्ध-वचनं पृष्ठ १६३; । नवंगमनुमज्जन्तो, पृष्ठ ९३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

की अर्थकथाओ[1] गन्धवस,[2] दीपवस,[3] आदि मे भी उसका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार बुद्ध-वचनो का ८४००० धर्म-स्कन्धो मे विभाजन भी बहुत प्राचीन है। बुद्धघोष नें प्रथम सगीति में ही उनका सगायन होना दिखलाया है[4] और अशोक द्वारा उनके सम्मान मे ८४००० विहारो का बनवाया जाना (चतुरासीति विहारसहस्सानि कारापेमि) भी बौद्ध परम्परा में अति प्रसिद्ध है।[5] ये सभी तथ्य पालित्रिपिटक के वर्गीकरण के साथ साथ उसके काल-क्रम और प्रामाणिकता-पर भी काफी प्रकाश डालते है।

ऊपर पालि-साहित्य के उद्भव और विकास का वर्णन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार तीन बौद्ध सगीतियां भारत मे और बाद मे तीन सगीतियां लका म पालि त्रिपिटक के स्वरूप के सम्बन्ध मे हुई थी जिनमे बुद्ध-वचनो का सगायन किया गया था। डा० बिमलाचरण लाहा ने इन सगीतियों के अनुसार पालि त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थो के काल-क्रम का पाँच क्रमिक अवस्थाओ मे विभक्त करन का प्रयत्न किया है जो इस प्रकार है

प्रथम युग (४८३ ई० पू०--३८३ ई० पू०)
द्वितीय युग (३८३ ई० पू०—२६५ ई० पू०)
तृतीय युग (२६५ ई० पू०--२३० ई० पू०)

१. सुमगलविलासिनी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३, अट्ठसालिनी, पृष्ठ २६ (पालि टैक्सट सोसायटी के संस्करण)
२. पृष्ठ ५५, ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी १८८६ में प्रकाशित)
३. ४।१५ (ओल्डनबर्ग का सस्करण), देखिये महावश, पृष्ठ १२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
४. समन्तपासादिका, जिल्द पहली, पृष्ठ २९, देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २२२
५. "राजा (अशोक) न स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा, 'बुद्ध के दिय गय उपदेश कितने हं ? स्थविर ने उत्तर दिया, 'धर्म के चौरासी हजार स्कन्ध (विभाग) हैं'। यह सुनकर राजा ने कहा 'मं प्रत्येक के लिये विहार बनवाकर उन सब की पूजा करूँगा।' तदनन्तर राजा ने चौरासी हजार नगरों में...... विहार बनवाने आरम्भ किये।" महावश ५।७६-८० (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

चतुर्थ युग (२३० ई० पू०— ८० ई० पू०)
पंचम युग[1] (८० ई० पू०— २० ई० पू०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिपिटक के जो प्राचीन से प्राचीन अंश हैं उनके स्वरूप का निश्चय ४८३ ई० पू० अर्थात् शास्ता के परिनिर्वाण के समय ही हो गया था, और जो अर्वाचीन से अर्वाचीन भी है वे भी २० ई० पू० के बाद के नहीं हैं, क्योंकि उस समय वे लेखबद्ध ही हो चुके थे, जब से वे उसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। इस प्रकार समष्टि रूप से त्रिपिटक की रचना की उपरली और निचली कोटियों का पूर्ण अनुमापन हो जाने पर भी उसके अलग अलग ग्रन्थों के आपेक्षिक काल-पर्याय-क्रम का सवाल अभी रह ही जाता है। इसके लिये न केवल ऐतिहासिक विवेचन की ही किन्तु अलग अलग ग्रन्थों की विषय-वस्तु के विवेचन की भी बड़ी आवश्यकता है, जिसे हम इस स्थल पर नहीं कर सकते। अतः जब हम आगे के अध्यायों में त्रिपिटक के भिन्न भिन्न ग्रन्थों या अंशों का विवेचन करेंगे तो उस समय उनके काल-पर्याय-क्रम का विवेचन भी हमारे अध्ययन का एक विशेष अंग होगा। हाँ, इस सम्बन्ध में जो पूर्व अध्ययन हो चुका है उसके परिणामों का यहाँ रख देना आवश्यक होगा। सब से पहले डा० रायस डेविड्स ने त्रिपिटक के काल-पर्याय-क्रम का विवेचन किया था। उन्होंने अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप पालि त्रिपिटक का बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर अशोक के काल तक इन दस काल-पर्यायात्मक अवस्थाओं में विभाजन किया था[2]—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में ही त्रिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।
२—वे बुद्ध वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।
३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख।
४—दीघ, मज्झिम अंगुत्तर और संयुत्त निकाय।
५—सुत्त-निपात, थेर-गाथा, थेरी-गाथा उदान, खुद्दक-पाठ।
६—सुत्त-विभंग, खन्धक।
७—जातक, धम्मपद।

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १२-१३
२. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८८

८—निद्देस, इतिवुत्तक, पटिसम्भिदा।

९—पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस।

१०—अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ, जिनमे पुग्गलपञ्ञत्ति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम है।

इस क्रम का कुछ परिवर्तन डा० विमलाचरण लाहा ने किया है। उनके मतानुसार त्रिपिटक के ग्रन्थों का काल-क्रम की दृष्टि से यह तारतम्य ठहरता है—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में त्रिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

२—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थो मे ही मिलते हैं।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद।

४—दीघ-निकाय (प्रथम स्कन्ध), मज्झिम-निकाय, सयुत्त-निकाय, अगुत्तर-निकाय, पातिमोक्ख जिसमे १५२ नियम हैं।

५—दीघ-निकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध) थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातको का संग्रह, सुत्त-विभग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग

६—महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख (२२७ नियमों का पूर्ण होना), विमान-वत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु।

७—चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-निपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान।

८—बुद्धवस, चरियापिटक, अपदान।

९—परिवार-पाठ।

१०—खुद्दक-पाठ।[1]

त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थो या अंशों के काल-क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्ष अपर्याप्त ही नही स्वेच्छापूर्ण भी हैं। रायस डेविड्स और लाहा दोनो ही विद्वानो ने भाषा-सम्बन्धी विकास को आधार मान कर,जिसका साक्ष्य अभी स्वतः प्रमाण नही माना जा सकता, अपना काल-क्रम स्थापित किया है। वास्तव में त्रिपिटक के ग्रन्थों मे पूर्वापरता स्थापित करने के लिये हमें पहले निश्चित करना होगा कि उसके कौन से अग मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं और कौन से बाद के परिवर्तन या दोनों के मिश्रित स्वरूप। मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचनों में भी हमें बुद्ध के वर्षावासों

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२

के अनुसार उनके काल-क्रम का तारतम्य निश्चित करना पड़ेगा। यह कार्य उपर्युक्त दो विद्वानो ने नही किया है। केवल महापंडित राहुल साकृत्यायन ने 'बुद्ध-चर्या' मे इस ढंग पर बुद्ध के कतिपय उपदेशो का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया है। किन्तु 'बुद्धचर्या' मे सभी सुत्तो का उद्धरण शक्य न होने के कारण यह कार्य वहाँ अपर्याप्त रूप से ही हो सका है। पालि साहित्य के इतिहासकार के लिये बुद्ध-वचनो के काल-क्रम के निश्चय के लिये इससे अच्छा मार्ग-दर्शन नही मिल सकता। वास्तव मे सद्धर्म के प्रथम सग्रहकार काल-चिन्तक थे ही नही। वे तत्वत धर्मचिन्तक थे। इसलिये काल-गणना के अनुसार उन्होने सुत्तो का सग्रह नही किया है। आज हम बुद्ध के वर्षावासो के आधार पर ही यह कार्य कर सकते है। भाषा-साक्ष्य से भी कुछ सहायता ले सकते है किन्तु अत्यन्त सावधानीपूर्वक। त्रिपिटक के जो अश बुद्ध-वचन नही है उनके काल क्रम का निर्णय वाह्य साक्ष्य के आधार पर ही विशेषत किया जा सकता है। उनम वर्णित प्रसग उनके काल क्रम पर अच्छा प्रकाश डालते है। इन सब तथ्यो का विवेचन करते हुए हमन त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थो के काल-क्रम का निश्चय करन का प्रयत्न किया है जो आगे के अध्ययन से स्पष्ट होगा।

अनुपिटक-साहित्य का काल-विभाग

त्रिपिटक के काल-पर्याय क्रम की समस्या को मोटे रूप मे समझने के बाद हम अनुपिटक-साहित्य के भी काल-विभाग की रूपरेखा को समझ लेना आवश्यक है। वह उतनी दुरूह या विवादग्रस्त नही है। उसकी रेखाए बिल्कुल स्पष्ट है। जैसा पहले कहा जा चुका है अनुपिटक साहित्य की रचना त्रिपिटक के पूर्ण हो जाने के बाद से प्रारम्भ हो कर वर्तमान काल तक चली आ रही है। इस इतने सुदीर्घ विकास म भी उसम इतनी विभिन्नरूपता दिखाई नही पड़ती जितनी कि किसी भी साहित्य के सम्बन्ध मे हो सकती थी। इसका कारण यह है कि इस साहित्य का केन्द्रीय बिन्दु बौद्ध धर्म—स्थविरवाद बौद्ध धर्म—का अध्ययन और विवेचन ही रहा है। फिर भी कालानुक्रम और प्रवृत्तियो के विकास की दृष्टि मे इस सुदीर्घ काल के साहित्यिक इतिहास को तीन भागो म विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी तक अर्थात् बुद्धघोष के आविर्भाव-काल तक चलता है।

इस युग मे नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, सुत्तसगह और मिलिन्दपञ्ह की रचना

हुई, जिनमे मिलिन्दपञ्ह सब से अधिक प्रसिद्ध है। इतिहास का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दीपवस' भी इसी युग मे लिखा गया। चूँकि बुद्धघोष अनुपिटक-साहित्य मे सब से बडा नाम है और बुद्धघोष ने एक युग-विधायक साहित्य की रचना की, अत उनके काल के पहले इस दिशा में कितना काम हो चुका था इसे द्योतित करने के लिये इस युग के साहित्य को 'पूर्व-बुद्धघोष युगीन साहित्य नाम दिया जा सकता है। अनुपिटक साहित्य के इतिहास का दूसरा युग बुद्धघोष के आविर्भाव-काल से आरम्भ होता है। बुद्धघोष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग और उनकी अर्थकथाओ के अतिरिक्त बुद्धदत्त धम्मपाल आदि की अथकथाएँ भी इसी युग मे लिखी गई। पालि त्रिपिटक पर अर्थकथाओ की रचना इस युग की प्रधान विशषता है, जिसे प्रेरणा दन वाले आचार्य बुद्धघोष ही है। अत इस युग को बुद्धघोष-युग नाम दिया गया है। इस युग की रचना ५वी शताब्दी स बारहवी शताब्दी तक चलती है। विशाल अर्थकथा-साहित्य के अतिरिक्त लका का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ महावस भी इसी युग म रचा गया। व्याकरण के क्षत्र मे कच्चान का व्याकरण और दर्शन एव मनोविज्ञान के क्षत्र म अनिरुद्ध का प्रसिद्ध 'अभिधम्मत्थसगह भी इसी यग की रचनाएँ है। इस युग म जो अर्थ कथा-साहित्य लिखा गया उसी की टीकाएँ-अनुटीकाएँ बाद की शताब्दिया म लिखी जाती रही। यह बारहवी शताब्दी से लेकर अब तक का सुदीर्घ युग है। प्राय बुद्धघोष और उनके समकालीन आचार्यों के दिखाये हुए ढग पर ही और उनके ही ग्रन्था के उपजीवी स्वरूप साहित्य की रचना इस युग म होती रही है। अत इस युग को 'बुद्ध घोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओ का युग' नाम दिया गया है। बारहवी शताब्दी म राजा पराक्रमबाहु के समय मे लका मे आचार्य बुद्ध घोष आदि की अर्थकथाओ पर मगध-भाषा (पालि) मे टीकाएँ लिखन का आयोजन शुरू किया गया। प्रसिद्ध सिहली भिक्षु सारिपुत्त और उनकी शिष्य-मडली ने इस दिशा मे बारहवी और तेरहवी शताब्दी मे बडा काम किया। मूल 'महावस का 'चूलवस' के नाम से आगे परिवर्द्धन भी इसी युग की घटना है। १५वी शताब्दी से बरमा मे बौद्ध साहित्य के अध्ययन की बडी प्रगति हुई। बरमी भिक्षुओ के अध्ययन का प्रधान विषय 'अभिधम्म' रहा। इस दिशा मे उन्होने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दिये है, जिनमे 'अभिधम्मत्थ सगह' का एक लम्बा सहायक साहित्य है। व्याकरण-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भी इस युग मे लिखे गये। यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि ठीक वर्तमान समय तक लका, बरमा, स्याम और भारत मे अनुपिटक साहित्य की रचना होती

चली आ रही है। भारत में हम अभी हाल में परिनिवृत्त पूज्य आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी के नाम से सुपरिचित है। उन्होंने अनुपिटक साहित्य को दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं एक विसुद्धिमग्गदीपिका नामक विसुद्धि-मग्ग की टीका और दूसरा अभिधम्मत्थसंगह पर नवनीत टीका। इस वर्तमान काल में रचित साहित्य में भी यद्यपि बहुत सी बातों को आधुनिक ढंग से रखने का प्रयत्न किया गया है जो बहुत आवश्यक है फिर भी आलोक और प्रामाणिक आधार तो बुद्धघोष की रचनाओं से ही लिया गया है। अतः बारहवीं शताब्दी से लेकर इस इतने अभिनव साहित्य को भी बुद्धघोष युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग कहना अनुचित नहीं है।

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

पालि-त्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध वचन है ?

पालि त्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, इस प्रश्न का अंशत उत्तर पालि-भाषा के स्वरूप पर विचार करते समय (प्रथम अध्याय मे) दिया जा चुका है। यदि पालि मागधी भाषा का वही स्वरूप है जिसे मध्य-देश मे विचरण करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रयुक्त किया था, तो फिर इसमे कोई सन्देह ही नही रह जाता कि पालि-त्रिपिटक बुद्ध-वचनो का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप है। यदि आरम्भ से ही अनेक प्रान्तीय भाषाओ मे बुद्ध-वचन सीखे जाते रहे हो तो भी हमारे पालि-माध्यम को प्राचीनतम होना ही चाहिये। पालि-त्रिपिटक का किसी दूसरी उपभाषा से अनुवाद हुआ है, लेवी के इस मत का खडन पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार ल्यूडर्स के उस मत का भी निराकरण किया जा चुका है जिसके अनुसार प्राचीन अर्द्ध-मागधी से, जिसके स्वरूप की अवतारणा स्वय उनकी बुद्धि ने की है, पालि-त्रिपिटक का अनुवाद हुआ है। यह निर्विवाद है कि अशोक के समय अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व पालि-त्रिपिटक का भाषा और शैली की दृष्टि से वही स्वरूप था जो आज है। अशोक के शिलालेखो से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी भाषा, उनमे निर्दिष्ट कुछ 'धम्म-पलियायो' के नाम, सब इसी तथ्य की ओर सकेत करते है कि तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व भारतीय जनता बुद्ध-वचनो के नाम से इसी सग्रह को पहचानती थी और आदरपूर्वक श्रवण और मनन करती थी, जिसे हम आज पालि-त्रिपिटक के नाम से पुकारते है। छन्द की दृष्टि से भी पालि-त्रिपिटक की प्राचीनता असंदिग्ध है। ओल्डनबर्ग ने कहा है कि पालि-त्रिपिटक की गाथाओ मे प्रयुक्त छन्द वाल्मीकि-रामायण से अधिक प्राचीन होना चाहिये[1]।

---

१. गुरुपूजाकौमुदी, पृष्ठ ९०, मिलाइये रायस डेविड्स और कारपेंटर

अत भाषा और शैली के साक्ष्य के आधार पर पालि-त्रिपिटक बुद्ध-मुख से निःसृत वचनों का प्रामाणिकतम माध्यम ही हो सकता हैं।

विषय की दृष्टि मे भी कोई बात उपर्युक्त साक्ष्य के विपरीत जाने वाली दिखाई नही पड़ती। पालि-त्रिपिटक मे छठी और पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय जीवन की पूरी झलक मिलती है। गोतम बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व, उनका मानवीय स्वरूप, वहा स्पष्टतम शब्दा म अकित मिलता है। इस विषय मे उसकी उत्तरकालीन महायान-ग्रन्थों मे एक अद्भुत विशेषता है। उत्तरकालीन बौद्ध सस्कृत साहित्य मे बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप पर जोर दिया गया है, जो इतिहास की दृष्टि से बाद का निर्माण ही हो सकता हैं। पालि-त्रिपिटक म मध्य-देश की ही प्रधानता है और उसी मे चारिकाएँ करते हुए शास्ता को दिखाया गया है, जब कि महायानी ग्रन्थो मे इसके विपरीत उनका लका-गमन तक दिखा दिया गया है[1] जो लोकोत्तर तथ्यो पर आश्रित ही हो सकता है। इसके अलावा पालि-त्रिपिटक मे यथार्थवाद और विवेकवाद की प्रधानता है जब कि महायानी साहित्य मे अतिरजनाओ और कल्पनाओ मे भी बहुत काम लिया गया है। अत. अपेक्षाकृत महत्व की दृष्टि स पालि-त्रिपिटक को ही बुद्ध के जीवन और उपदशा को समझन का प्राचीनतम आर प्रामाणिकतम साधन मानना पडता है।

इतिहास की दृष्टि स पालि-त्रिपिटक को ही एक मात्र सच्चा बुद्ध-वचन मानने मे सब से बडी कठिनाई यह है कि बुद्ध-धर्म के विकास की प्रथम शताब्दी मे ही उसके अनेक विभाग हो गय थे। अशोक के काल तक ही कम से कम १८ सम्प्रदायो का उल्लेख है[2]। इन सभी सम्प्रदायो के अपने अपने साहित्य थे, जिन्हे वे प्रामाणिक बुद्ध-वचन मानते थे। पालि-त्रिपिटक इन्ही प्राचीन सम्प्रदायो मे से एक (स्थविरवाद--थेरवाद) की साहित्यिक निधि है। पालि-त्रिपिटक मे निहित बुद्ध-वचन ओर उनकी अट्ठकथाएँ–इतना ही स्थविरवाद बोद्ध धर्म का साहित्यिक

द्वारा सम्पादित दीघ-निकाय, जिल्द दूसरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ८ (पालि-टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित)

१. स्थविरवादी ग्रन्थ 'महावंस' में भी बुद्ध का तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो उतना ही अ-प्रामाणिक है।

२. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में 'कथावत्थु' का विवेचन।

आधार है—"तेपिटकसंगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवादंति"।[1] अन्य सम्प्रदाय वालों का बहुत-कुछ साहित्य लुप्त हो चुका है। मूल तो प्राय: किसी का भी मिलता ही नहीं। चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही आज हमें उनकी कुछ जानकारी होती है। जिन सम्प्रदायों के साहित्य का इस प्रकार कुछ परिचय मिलता है उनमें, सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी) मुख्य है। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय था जिसका आविर्भाव अशोक के समय से पहले ही हो चुका था। इस सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म तीनो पिटक मिलते हैं। किन्तु उनके चीनी अनुवाद ही आज उपलब्ध है, मूल रूप में वे सस्कृत मे थे, किन्तु आज उनका वह रूप उपलब्ध नहीं। पालि-त्रिपिटक से इन सर्वास्तिवादी ग्रन्थों की तुलना की गई है, जिसके परिणाम स्वरूप इन दोनों में विषय के सम्बन्ध में मूलभूत समानताएँ पाई गई है, केवल विषय-विन्यास मे कही कुछ थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता है। यह बात सुत्त और विनय पिटक के सम्बन्ध मे तो सर्वांश मे सत्य है, किन्तु अभिधम्म-पिटक के विषय में दोनों परम्पराओ में ग्रन्थ-संख्या समान (सात) होते हुए भी उनमें से प्रत्येक की विषय-वस्तु की दूसरे की विषय-वस्तु के साथ कोई विशेष समता नही है। इस प्रकार—

स्थविरवाद का सुत्त-पिटक	**सर्वास्तिवाद का सूत्र-पिटक**
दीघ-निकाय (३४ सूत्र)	दीर्घागम (३० सूत्र-प्रधानत. बुद्धयश तथा चू० फा० नैन द्वारा पाँचवी शताब्दी ई० मे अनुवादित)
मज्झिम-निकाय	मध्यमागम (गौतम संघदेव-द्वारा चौथी शताब्दी में अनुवादित)
संयुत्त-निकाय	संयुक्तकागम (पाँचवी शताब्दी में गुणभद्र द्वारा अनुवादित)
अंगुत्तर-निकाय	अंकोत्तरागम (चौथी शताब्दी मे धर्मनन्दि द्वारा अनुवादित)
खुद्दक-निकाय	क्षुद्रकागम

पालि-त्रिपिटक में भी यद्यपि कभी कभी दीघ-निकाय आदि के लिये दीघागम आदि शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु प्रधानतः 'निकाय' शब्द का ही प्रयोग

१. समन्तपासादिका की बाहिरकथा।

होता है। सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक में 'आगम' शब्द का ही प्रयोग होता है। इसी का चीनी भाषा में 'अगोन्' हो गया है। सर्वास्तिवाद में यद्यपि प्रधानता प्रथम चार निकायों की ही है, किन्तु वहाँ पाँचवाँ निकाय भी मिलता है। उसका नाम पालि खुद्दक-निकाय के अनुरूप ही 'क्षुद्रकागम' है। पालि खुद्दक-निकाय के कितने ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में मिलते हैं, यह निम्नांकित सूची से विदित होगा।

स्थविरवादी खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ	सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त ग्रन्थ
१. खुद्दक पाठ	
२. धम्मपद	धर्मपद
३. उदान	उदानं
४. इतिवुत्तक	
५. सुत्तनिपात	सूत्रनिपात
६. विमानवत्थु	विमानवस्तु
७. पेतवत्थु	
८. थेरगाथा	
९. थेरी गाथा	
१०. जातक	
११. निद्देस	
१२. पटिसम्भिदामग्ग	
१३. अपदान	
१४ बुद्धवंस	बुद्धवंशम्
१५. चरियापिटक	

दोनों परम्पराओं के विनय-पिटक का विभाजन इस प्रकार है--

	स्थविरवादी विनय-पिटक	सर्वास्तिवादी विनय-पिटक
विभग	१. पाराजिका	पाराजिका
	२. पाचित्तिय	प्रायश्चित्तिकं
खन्धक	३. महावग्ग	अवदानं
	४. चुल्लवग्ग	(जातक)

५. परिवार

पालि अभिधम्म-पिटक के ७ ग्रन्थो के साथ सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के सात ग्रन्थो की, जहाँ तक उनके नामो का सम्बन्ध है, पर्याप्त समानता है, किन्तु विषय समान नही है। यथा,

स्थविरवादी अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों के साथ उनके नामों की समानता
१ धम्मसगणि	धर्मस्कन्धपाद
२ विभग	विज्ञानकायपाद
३ पुग्गल पञ्ञत्ति	प्रज्ञप्तिपाद
४ धातुकथा	धातुकायपाद
५ पट्ठान	ज्ञानप्रस्थान
६ यमक	सगीतिपर्यायपाद
७ कथावत्थुपकरण	प्रकरणपाद

ऊपर स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायो के साहित्य की समानताओ का दिग्दर्शन मात्र किया गया है। पालि त्रिपिटक के प्रत्येक पिटक या उसके अशो का विवेचन करते समय आवश्यकतानुसार हम उनकी तुलना सर्वास्तिवादी पिटक के अशो के साथ करेगे। अभी जो कहा जा चुका है उससे इतना स्पष्ट है कि दोनो सम्प्रदायो के सुत्त और विनय-पिटक मे काफी समानता है और जो विभिन्नताऐं हैं वे प्राय उसी प्रकार की है जैसी वेद की विभिन्न शाखाओ के पाठो मे पाई जाती है। केवल अभिधम्म-पिटक की विषय-वस्तु मे अन्तर है। अत स्पष्ट है कि पालि-त्रिपिटक के कम से कम वे अश जो सर्वास्तिवादी त्रिपिटक से समानता रखते है, अर्थात् सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के अनेक महत्त्वपूर्ण अश, सर्वांश मे प्रामाणिक है और उनके बुद्ध-वचन होने मे कोई सन्देह नही हो सकता। इसी अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि पालि-अभिधम्म-पिटक की प्रमाण-वत्ता निश्चय ही सुत्त और विनय के बाद की रह जाती है, कम से कम उसके विषय मे सन्देह तो दृढ़मूल हो ही जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पाँचवे अध्याय मे अभिधम्म-पिटक की समीक्षा करते समय करेगे। सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी परम्पराओ में जिन बातो पर मत-भेद है अथवा उनके साहित्य मे जहाँ विभिन्नता है, वहाँ हमे यह सोचना पड़ेगा कि किस का साक्ष्य अधिक प्रभाव-

शाली और मानने योग्य है। हम पहले देख चुके हैं कि स्थविरवादी त्रिपिटक के स्वरूप का अन्तिम निश्चय और स्थिरीकरण अशोक के काल मे अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व हो चुका था और उसी समय से वह लका में उसी रूप में सुरक्षित रहा है। कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व (वट्टगामणि अभय का समय—मिलिन्दपञ्ह का समय भी) के बाद तो उसमे एक अक्षर का कही परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ ही नही है। इसके विपरीत सर्वास्तिवादी साहित्य की परिस्थिति बडी सकटग्रस्त और असमजसमय रही है। पहले तो अशोक न ही स्थविरवादियो के अतिरिक्त सारे बौद्ध सम्प्रदायो के अनुयायियो को मिथ्यावादी समझ कर प्रवज्या-हीन कर दिया।[1] 'फिर शुग राजाओ के काल मे उन पर जो आपत्तियाँ ढाई गईं, उनसे तो अपनी मूल परम्परा से उनका कदाचित् उच्छेद ही हो गया। सम्भवत यही कारण है कि उनके मूल विशाल साहित्य का, जो सस्कृत मे था आज कोई पता नही चलता और वह केवल चीनी अनुवादो म सुरक्षित है। आज पुरातत्व का कोई भी भारतीय विद्यार्थी धार्मिक कट्टरता के परिणामस्वरूप उत्पन्न इस ज्ञान-विलुप्ति के लिए लज्जित हुए बिना नही रह सकता। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की साहित्य-विलुप्ति के अन्य चाहे जो कारण दिये जा सक, वह भारतीय सस्कृति की उदारता और धर्म-सहिष्णता की एक कटु टिप्पणी भी अवश्य है। 'पुष्यमित्र[2] नाम तक के प्रति चीनी बौद्ध साहित्य म जो गहरी अवज्ञा का भाव विद्यमान है, वह इस साहित्य-विलुप्ति से असम्बन्धित नही हो सकता। यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि अपनी मूल परम्परा से विच्छिन्न होकर ही सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म चीन और

---

१. देखिये महावंश ५।२६८-२७०

२. प्रसिद्ध शुङ्ग वंशीय राजा, जिसने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये, जिनके कारण अनेक बौद्धो को देश छोड़ कर बाहर भाग जाना पड़ा। केवल आन्ध्र, सौराष्ट्र, पजाब, काश्मीर और काबुल में बौद्ध धर्म इस समय रह गया। चीनी बौद्ध साहित्य में बिना अभिशाप के 'पुष्यमित्र'का नाम नहीं लिया जाता। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ८२०

अन्य देशों में गया, अतः उसकी प्रामाणिकता स्थविरवाद के सामने कुछ नहीं हो सकती। सर्वास्तिवादी ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवाद भी ईसवी सन् के कई सौ वर्ष बाद हुए, अतः इस दृष्टि से भी उनमे परिवर्तन-परिवर्द्धन की काफी सभावना हो सकती है। फिर बौद्ध धर्म जहाँ जहाँ गया वह अपनी समन्वय-भावना को भी अपने साथ लेता गया और जिन जिन देशों में उसका प्रसार हुआ, उनके लोक-गत विश्वासो का भी उसके अन्दर समावेश होता गया। अतः इस प्रवृत्ति के कारण भी सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के साहित्य में विभिन्नताएँ आ सकती हैं, जिनके मौलिक या उत्तरकालीन परिवर्द्धित होने का निर्णय हम उनके मूल के अभाव में नही कर सकते। भाषा के साक्ष्य पर भी हम उसे पालि-माध्यम के साथ मिला कर किसी निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते। अतः दोनो के तुलनात्मक महत्व और प्रामाण्य का अकन अभी हम अनिश्चित रूप से ही कर सकते है। फिर भी जो कुछ तथ्य उपलब्ध है, उनसे यही विदित होता है कि सर्वास्तिवादी माध्यम की अपेक्षा स्थविरवादी माध्यम ने ही बुद्ध-वचनों की अधिक सच्ची और प्रामाणिक अनुरक्षा की है। सर्वास्तिवादियो के अतिरिक्त अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में, जिनकी उत्पत्ति अशोक के काल तक हो चुकी थी और जिनके साथ ही स्थविर-वादियो जीवित सम्बन्ध की कल्पना हम कर सकते है, हमें महत्त्वपूर्ण कुछ भी ज्ञात नही है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी भी परम्पराएँ थी अवश्य, किन्तु आज वे हमारे लिये प्राप्त नहीं है। द्वितीय संगीति के अवसर पर ही, जैसा हम पहले देख चुके हैं,[1] महासंगीतिक भिक्षुओं ने सुत्त और विनय के कुछ अंशो के अतिरिक्त सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही प्रमाणवत्ता स्वीकार नही की थी। उन्होने विनय-पिटक के परिवार और सुत्त-पिटक के पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और जातको के कुछ अंशो को भी प्रामाणिक नहीं माना था। अभिधम्म-पिटक के अस्वीकरण मे सर्वास्तिवादी और महासंगीतिक भिक्षु समान ही थे। अतः हमें उसके विषय मे गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ेगा कि उसे कहाँ तक बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक माना जाय। यही स्थिति जातक, निद्देस और पटि-सम्भिदामग्ग की भी है। इस सूची को और भी काफी बढ़ाया जा सकता है। उदा-हरणतः थेरगाथा और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में ऐसे आन्तरिक साक्ष्य हैं,[2] जिनके

---

१. दूसरे अध्याय में।

२. देखिये आगे इसी अध्याय में खुद्दक निकाय का विवेचन

आधार पर उन अंशों को बुद्ध-परिनिर्वाण से दो या तीन शताब्दी बाद की रचना ही माना जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि पालि-त्रिपिटक की प्रमाणवत्ता का एकांगीन उत्तर नहीं दिया जा सकता। उसके कतिपय अंश (जैसे महापरि-निब्बाण-सुत्त, धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त आदि, आदि) अत्यन्त प्राचीन है और उनमें बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन और उपदेशों की सजीव और सर्वांश में सच्ची प्रति-मूर्ति मिलती है, कुछ शास्ता के परिनिर्वाण के ठीक बाद के है (जैसे गोपक मोग्ग-ल्लान-सुत्त) और कुछ एक-दो शताब्दियों बाद की परम्पराओं को भी अंकि करते है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम है। सुत्त और विनय-पिटक का अधिकांश भाग तो बुद्ध और उनके शिष्यो के जीवन और उपदेशों तक ही सीमित है। जो अश बाद के भी है, वे भी अशोक के काल तक ही अपना अन्तिम स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। भाषा और शैली एव पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम पूर्व और परगामी तत्त्वो को अलग अलग कर सकते है। उदाहरणतः सुत्तों का पारस्परिक मिलान कर के हम जान सकते है कि किस मौलिक नमूने का आश्रय लेकर किस सुत्त को किस प्रकार परिवर्द्धित स्वरूप प्रदान किया गया है। यही हाल विनय के नियमो का है। उनमें परिवर्तन हुआ है। विनय के सभी नियम शास्ता के मुख से निकले हुए नहीं हो सकते। कुछ मौलिक आधारो को लेकर शेष की सृष्टि कर ली गई है और उनको प्रामाणिकता देने के लिये ही बुद्ध-वचन के रूप मे प्रख्यापित कर दिया गया जान पड़ता है। अन्यथा मानवीय विचार को इतनी अधिक स्वतन्त्रता देने वाले के द्वारा जीवन की छोटी से छोटी क्रियाओ में विधान प्रज्ञापन करना संगत नही बैठता। शिष्यों पर उनके प्रभाव को देखते हुए भी उनकी आवश्यकता प्रतीत नही होती। अत वे बुद्ध-धर्म के विकास से सम्बन्धित है, यह हम आसानी से जान सकते है। बौद्ध संगीतियो के इतिहास ने भी हमें यही बताया है कि उसके स्वरूप का निर्माण और निर्धारण द्वितीय संगीति के समय ही हुआ है जो बुद्ध-परिनिर्वाण से १०० वर्ष बाद हुई। अतः एक सीमित किन्तु निश्चित अर्थ में ही हम पालि-त्रिपिटक (विशेषतः सुत्त और विनय) को बुद्ध-वचन कह सकते है जिसे ढूंढने के लिये हमें काफी समालोचना-बुद्धि, और साथ ही श्रद्धा-बुद्धि की भी आवश्यकता है।

समालोचना-बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा-बुद्धि की आवश्यकता इसलिये है कि हम भारतीयो को पालि-साहित्य का परिचय पच्छिमी विद्वानों ने ही प्रारम्भिक रूप से कराया है और पच्छिमी विद्वानों को भारतीय ज्ञान और साहित्य को जानने

की इच्छा उस समय हुई जब वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में सन्देहवाद का बोलबाला था। इसमें सन्देह नहीं कि बिना सन्देह के ज्ञान नहीं हो सकता और प्रत्येक ज्ञान के पहले सन्देह होना आवश्यक है। किन्तु सन्देह ही ज्ञान का रूप धारण कर ले, यह ज्ञान का अपलाप है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इस स्थिति से शायद ही ऊपर उठ पाये हैं। उनकी प्रत्येक अभिज्ञा और जानकारी में सन्देह समाया हुआ है। पालि-स्वाध्याय के प्राथमिक युग में बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व तक के सम्बन्ध में उनमें से कई ने (उदाहरणतः फ्रैंक, सेनाँ, बार्थ आदि) सन्देह प्रकट किया। त्रिपिटक के वर्णनो मे थोड़े-बहुत विरोध पाये जाते हैं। इन विरोधों का संग्रह फ्रैंक के द्वारा किया गया है। पर उनमें से कई वास्तविक विरोध नही भी है। अस्तु, जो भी विरोध है उनका कारण क्या है ? जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बुद्ध-धर्म के प्राथमिक विकास में बुद्ध-वचनों की परम्परा बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद कई शताब्दियो तक मौखिक परम्परा मे चलती रही। अतः अनेक विरोध (बुद्ध-वचनों का संगायन करने वाले भिक्षुओं की) स्मृति-हानि के कारण ही है। उन पर अनावश्यक जोर देना बुद्ध-वचनों के संरक्षण-प्रकार से ही अपनी अनभिज्ञता दिखाना है। एक ही उपदेश को बुद्ध या उनके किसी शिष्य के मुख से दिया हुआ दिखलाने में या भिन्न भिन्न स्थानों मे दिया हुआ दिखलाने में कोई विरोध नही है । यह तो ऐतिहासिक रूप से सत्य भी हो सकता था। भगवान् अपनी चारिकाओ मे चतुरार्य सत्य जैसे प्रमुख उपदेशों की पुनरावृत्ति भिन्न भिन्न स्थानों में करते ही रहे होंगे और फिर उनके शिष्य भी इसी प्रकार करते हुए विचरते होंगे, यह समझना कठिन नहीं है । भिन्न भिन्न स्थानों के भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा ही बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन हुआ है, अतः इसमें अस्वाभाविक क्या है ? बल्कि यह तो उनके सत्य और ऐतिहासिक रूप से प्रमाण होने का एक प्रबल साक्ष्य है । कौन सा उपदेश किस स्थान पर दिया गया, किसके प्रति दिया गया, किस अवसर पर दिया गया, इतनी छानबीन के साथ बुद्ध-वचनो को उनके उसी रूप में संरक्षित रखना भिक्षुओं की महती ऐतिहासिक बुद्धि का साक्ष्य देता है । निश्चय ही इतने अधिक ब्यौरों के साथ बुद्ध-वचनों का संरक्षण करने में कुशल भिक्षुओं ने जो दक्षता दिखाई है, वह उनके समय को देखते हुए आश्चर्यजनक है। इसके लिये हमे उनका कृतज्ञ होना चाहिये । उनके द्वारा दी हुई सूचना पर सन्देह करना ही मात्र

ऐतिहासिक प्रणाली नहीं होगी। कम से कम यह मानना पड़ेगा कि वे धर्मवादी थे और भगवान् बुद्ध के वचनो की रक्षा ही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः उनके द्वारा संगृहीत वचनो मे मानवीय स्मरण-शक्ति की स्वाभाविक अल्पता के कारण कहीं अशुद्धि या अपूर्णता भले ही रह गई हो, किन्तु जो कुछ उन्होंने सुना था उसी का अत्यन्त सावधानी के साथ उन्होंने सगायन किया था, इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा। जो उन्होने संगायन किया था, उसी का सगृहीत रूप आज हमें पालि त्रिपिटक में मिलता है, यह भी नि सन्देह है ही। सर्वांश मे पालि-त्रिपिटक बुद्ध-वचन है, ऐसी मान्यता तो स्वयं पालि-त्रिपिटक की भी नहीं है। वहाँ स्पष्टतम रूप से दिखा दिया गया है कि कौन से वचन सम्यक् सम्बुद्ध के है, कौन से वचन उनके शिष्यों के हैं, अथवा कौन से वचन अन्य व्यक्तियो के भी है। अतः जब हम पालि-त्रिपिटक को बुद्ध-वचन कहते है तो उसका अर्थ यही होता है कि वहाँ बुद्ध-कालीन भारत के देश-काल की पृष्ठभूमि मे बुद्ध के जीवन और उपदेशो का सजीव और मौलिक चित्र मिलता है और जो बुद्ध-वचन वहाँ बुद्ध-मुख से नि सृत दिखाये गये है, वे प्राय वैसे ही है। अशोक उन्हे ऐसा ही मानता था और अशोक बुद्धिवादी व्यक्ति नही था, ऐसा हम नही कह सकते। जब बुद्ध-परिनिर्वाण की तीसरी शताब्दी मे उत्पन्न होकर अशोक को बुद्ध-वचनो के निश्चित स्वरूप के विषय मे पूर्ण सन्तोष हो गया था तो उसकी कई शताब्दियो बाद आने वाले हम, जब काल ने बहुत से पुरावृत्त को और भी ढँक लिया है, अशोक की सम्पत्ति के ही साझीदार क्यो न बन जायँ ? यहाँ कुछ भय नही है। अभी तक हमने संस्कृत के आधार पर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया है। उसके तात्त्विक दर्शन के विषय मे चाहे जो कुछ कहा जाय, बुद्ध के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रभावशाली सम्पर्क से तो हम अभी तक प्रायः वञ्चित ही रहे है। आज, हमने महिन्द (महेन्द्र) के द्वारा सिहल को जो दिया था, सिहल उसका प्रतिदान करने को प्रस्तुत है। उसने बडे प्रयत्न और गौरव से हमारे दान को सुरक्षित रक्खा है। आज उसकी थाती हमारे लिये खुली हुई है। यहाँ हम बुद्ध और उनके पाद-मूल मे बैठने वाले शिष्यो के साक्षात् दर्शन कर सकते है, उनके उपदेश सुन सकते है, जिस प्रकार के देश-काल में वे विचरते थे उसका दिग्दर्शन कर सकते है। बुद्ध-वचनो की स्मृतियो के साथ यद्यपि यहाँ बहुत-कुछ और भी अंकित है, और कहीं कहीं कुछ बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद का भी काफी है, किन्तु उन सब का उपयोग बुद्ध-वचनों के लिये ही है जो स्वयं वहाँ अपनी पूर्ण विभूति और मौलिक गौरव में उपस्थित हैं। पालि-त्रिपिटक के इस

गौरवमय अंश के कारण ही हम उसके सारे रूप को भी 'बुद्ध-वचन' कहते है, जो यद्यपि अक्षरशः सत्य नही, किन्तु सत्य की महिमा और अनुभूति से व्याप्त अवश्य है।

सुत्त-पिटक का विषय, शैली और महत्त्व

पालि-त्रिपिटक का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग सुत्त-पिटक ही है। बुद्ध के धम्म का याथातथ्य रूप मे परिचय कराना ही सुत्त-पिटक का एक मात्र विषय है। हम जानते है कि बुद्ध के परिनिर्वाण तक धम्म और विनय अथवा अधिक ठीक कहे तो सामासिक 'धम्म-विनय' की ही प्रधानता थी। उसी की शरण मे शास्ता ने भिक्षुओ को छोडा था।[1] बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद उनके शिष्यो ने बुद्ध-वचनो के नाम से जिसका संगायन किया वह धम्म और विनय ही थे। "धम्म च विनय च संगायेय्याम"। अत पालि-त्रिपिटक मे अधिक महत्त्वपूर्ण तो धम्म और विनय ही है। इनमे भी संघ-अनुशासन की दृष्टि से विनय मुख्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास की दृष्टि से सुत्त-पिटक का ही महत्त्व अधिक मानना पडेगा। पालि-साहित्य के कुछ विवेचको ने विनय-पिटक को ही अपने अध्ययन के लिये पहले चुना है।[2] यह भिक्षु-संघ की परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। किन्तु हम यहाँ सुत्त-पिटक के विवेचन को पहले ले रहे है। इसका कारण उसका साहित्यिक, ऐतिहासिक और अन्य सभी दृष्टियो से प्रभूत महत्त्व ही है। जिन पाश्चात्य विद्वानो ने पालि-त्रिपिटक की प्रामाणिकता मे सन्देह किया है उनमे मिनयेफ, बार्थ, स्मिथ और कीथ के नाम अधिक प्रसिद्ध है।[3] इनमे भी मिनयेफ सब से अधिक उग्र है। उन्होने दीघ और मज्झिम जैसे

---

१. "आनन्द! मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये है, प्रज्ञप्त किये है, वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे" महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ-२।३)

२. गायगर, विंटरनित्ज़, और लाहा ने विनय-पिटक को ही पहले लिया है। पूज्य भदन्त आनन्द जी के आदेशानुसार मैंने यहाँ सुत्त-पिटक को पहले लिया है, जो साहित्यिक दृष्टि से अधिक समुचित भी है।

३. इनके ग्रन्थ-संकेतों के लिये देखिये विंटरनित्ज़: हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १, पद-संकेत १; गायगर: पालि लिटरेचर एण्ड लेंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत २

निकायों को भी एक-एक रचयिता की रचना बता कर उनके बुद्ध- वचनत्व और बौद्ध संगीतियों की सारी परम्परा को एक साथ ही फूंक मार कर उड़ाने की कोशिश की थी। किन्तु इतने सन्देहवाद तक यूरोपीय विद्वान् भी जाने को तैयार नहीं थे। अतः उनमें से बहुत ने मिनयेफकी गलत धारणा का कड़ा प्रतिवाद किया, जिसके फलस्वरूप स्वयं मिनयेफ को भी अन्त में अपना मत कुछ हद तक बदलना पड़ा। हमें इन यूरोपीय विद्वानों के मतों या उनके प्रतिवादों के संग्रह करने का यहाँ प्रलोभन नहीं है। हमे केवल यह देखना है कि अन्ततः किन कारणो के आधार पर इन्होंने पालि-त्रिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया था और वे कारण किस हद तक उस परिणाम पर पहुँचने में सही या गलत हैं। ये कारण अपने संगृहीत रूप मे इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं (१) अशोक के काल के बाद भी त्रिपिटक में संशोधन और परिवर्तन होते रहे (२) अतः पालि-त्रिपिटक में प्राचीन और अर्वाचीन काल की परम्पराएँ मिल गई हैं (३) पालि-त्रिपिटक के वर्णनों मे अनेक विरोध है, जैसे संयुत्त-निकाय के चुन्द-सुत्त में भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र का परिनिर्वाण होना दिखलाया गया है, किन्तु दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त मे भगवान् के महापरिनिर्वाण के ठीक पहले वे उनके विषय मे उद्गार करते दिखाये गये हैं। यदि पहला वर्णन ठीक है तो दूसरे अवसर पर सारिपुत्र जीवित नहीं हो सकते थे। अतः दोनों वर्णनों में स्पष्ट विरोध है। (४) एक जगह जो उपदेश बुद्ध-मुख से दिलवाया गया है, वही उपदेश दूसरी जगह उनके किसी शिष्य के मुख से दिलवा दिया गया है। अथवा एक जगह जिस उपदेश को किसी एक ग्राम, नगर या आवास मे दिया गया दिखाया गया है, दूसरी जगह उसी उपदेश को किसी दूसरे ग्राम, नगर या आवास मे दिया हुआ दिखा दिया गया है। इस प्रकार त्रिपिटक के वर्णनों मे सामंजस्य का अभाव दिखाया गया है। जहाँ तक प्रथम आपत्ति का प्रश्न है वह सर्वथा निराधार है। मुख्य रूप से त्रिपिटक के स्वरूप मे अशोक के काल के बाद कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हुआ है, इस पर हम भाषा और इतिहास आदि के साक्ष्य से इतना जोर दे चुके हैं कि इस सम्बन्ध मे अधिक निरूपण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। महेन्द्र और उनके साथी भिक्षु जिस रूप मे त्रिपिटक को लंका मे ले गये उसको उसी रूप में सरक्षित रखना वहाँ के भिक्षु-संघ ने सदा अपना कर्तव्य और गौरव माना है। लका के देश -काल का थोडा सा भी प्रभाव त्रिपिटक पर उपलक्षित नहीं है, यह एक विस्मयकारी वस्तु है। यदि थोड़े-

बहुत परिवर्तन कहीं हुए भी हो तो वे इतने महत्वपूर्ण कभी नहीं कहे जा सकते कि उसके प्राचीन रूप को ही ढँकले। पालि-त्रिपिटक मे अशोक से पहले की परम्पराओं का तारतम्य तो हो सकता है, किन्तु उसके बाद की परम्पराओं का भी उसके अन्दर समावेश हो, यह तो पहले आक्षेप का निराकरण हो जाने के बाद ही नही माना जा सकता। तृतीय संगीति के समय ही हमें पालि-त्रिपिटक के स्वरूप को अन्तिम रूप से निश्चित और पूर्ण समझ लेना चाहिये, इसमें कुछ भी सन्देह नही। अस्तु, सुत्त-पिटक मे भगवान् के उपदेश निहित हैं। 'सुत्त-पिटक' शब्द का क्या अर्थ है, यह भी हमे यहाँ समझ लेना चाहिये। सुत्त का अर्थ है सूत या धागा और पिटक का अर्थ है पिटारी[1] या परम्परा[2]। चूँकि पिटारी का प्रयोग लिखित ग्रन्थो को रखने के लिये ही हो सकता है और बुद्ध-वचन ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले लिखे नही गये थे, अत इस समय से पहले उनके लिये 'पिटारी' शब्द का प्रयोग उपयुक्त नही हो सकता था।[3] मौलिक रूप मे इस अर्थ मे बुद्ध-वचनो के विशिष्ट ग्रन्थो के लिये 'पिटक' शब्द का प्रयोग नही हो सकता था। पूर्वकाल मे लाक्षणिक अर्थ मे 'पिटक' शब्द का प्रयोग परम्परा के लिये होता था। जैसे पिटारी मे रखकर कोई वस्तु एक हाथ से दूसरे हाथ मे पहुँचाई जाती है, उसी प्रकार पहले धार्मिक सम्प्रदाय अपने विचार और सिद्धान्तो को एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँचाया करते थे। मज्झिम-निकाय के चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम-२।५।५) में वैदिक परम्परा के लिये इसी अर्थ में 'पिटक-सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'पिटक' शब्द का अर्थ महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने बेद की 'परम्परा' या 'वचन-समूह' किया है। अत 'सुत्त-पिटक' शब्द का अर्थ, इस लाक्षणिक प्रयोग के अनुसार होगा, धागे रूपी (बुद्ध-वचनो की) परम्परा। जिस प्रकार सूत के गोले को फेंक देने पर वह खुलता हुआ चला जाता है,उसी प्रकार बुद्ध-वचन सुत्त-पिटक मे-प्रकाशित होते है।

---

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ८४६
२. श्रीमती रायस डेविड्स: शाक्य और बुद्धिस्ट औरीजिन्स, परिशिष्ट १, पृष्ठ ४३१; प्रो० टी० डबल्यू रायस डेविड्स: सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृष्ठ २८ का पद-संकेत; जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०८, पृष्ठ ११४
३. मिलाइये कीथ: बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ २४, पद-संकेत २

अत उसकी 'सुत्त-पिटक' सज्ञा सार्थक ही है। पालि 'सुत्त' का संस्कृत अनुरूप 'सूत्र' है। वैदिक साहित्य की परम्परा में 'सूत्र' शब्द से तात्पर्य ऐसे स्वल्पाक्षर कथन से होता है जिसमे से सूत के धागे की तरह महान् अर्थ की परम्परा निकलती चली जाय। इस प्रकार के सूत्र-साहित्य का उद्भावन वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम युग की घटना है, जब कि बढ़ते हुए विशाल वैदिक वाङ्मय को संक्षिप्त रूपदेने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामत प्रत्येक ज्ञान-शाखापर सूत्र-साहित्य की रचना हुई। श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र, व्याकरण-सूत्र, नाट्य-सूत्र, अलङ्कार-सूत्र, न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, साख्य-सूत्र, योग-सूत्र, मीमासा-सूत्र, ब्रह्म-सूत्र आदि इस विशाल सूत्र-साहित्य के कुछ उदाहरण है। सस्कृत का सूत्र-साहित्य विश्व-साहित्य के इतिहास मे निश्चय ही एक विस्मयकारी वस्तु है। शब्द-सक्षेप किस हद तक जा सकता है, यह उसमे देखा जा सकता है। सस्कृत-भाषा की अपूर्व शक्ति वहाँ दृष्टिगोचर होती है। 'सूत्र' की परिभाषा सस्कृत-साहित्य मे इस प्रकार की गई है "सूत्रज्ञ पुरुष, उस स्वल्पाक्षर कथन को, जो असदिग्ध, महत्वपूर्ण अर्थ का प्रख्यापक, विश्वजनीन उपयोग वाला और विस्तार और व्याकरण की अशुद्धि से रहित हो सूत्र कहते है।"[1] पालि के 'सुत्त' इस अर्थ मे सूत्र कभी नही कहे जा सकते। वे विस्तार मे काफी लम्बे है। कुछ तो छोटी छोटी पुस्तको के समान ही है। उनके पुनरावृत्तिमय विस्तारो को देखकर कौन उन्हे 'सूत्र' कहेगा? पालि के सूत्रो मे भी अधिक लम्बे महायानी सस्कृत साहित्य के सूत्र है। वहाँ जिन्हे 'सूत्र' कहा गया है वे तो अनावश्यक विस्तार-पूर्ण सहस्त्रो पृष्ठों के विशालकाय ग्रन्थ है। अत बौद्ध और वैदिक परम्परा के इस 'सूत्र' सम्बन्धी अर्थ-विभेद को हमे समझ लेना चाहिये।

सुत्त-पिटक का विषय, जैसा अभी कहा गया, भगवान् बुद्ध के उपदेश ही है। साथ ही भगवान् के कुछ प्रधान शिष्यो के उपदेश भी सुत्त-पिटक मे सन्निहित है, जिनके आधार भी स्वय बुद्ध-वचन ही है। अक्सर ऐसा होता था कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट किसी विषय को लेकर भिक्षुओ मे सलाप हो उठता था। बाद मे वे अपने सलाप की सूचना भगवान् को देते थे। यदि उनको कोई तथ्य स्पष्ट नही

---

१. स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्र सूत्रविदो विदुः॥ शब्दकल्पद्रुम

होता था तो भगवान् उसे स्पष्ट करते थे। कभी कभी उनमें से किसी महाप्राज्ञ भिक्षु के कथन का अनुमोदन कर भगवान् उसे साधुवाद देते थे। विरोधी सम्प्रदाय वालों के साथ भी भिक्षुओं के इस प्रकार के संलाप अक्सर चला करते थे। उनकी भी सूचना अक्सर भिक्षु भगवान् को देते थे। भगवान् या तो उनका अनुमोदन करते थे या उन्हें समझाते थे। कभी-कभी (भगवान् के जीवन के अन्तिम काल में) ऐसा होता था कि लम्बे समय तक उपदेश देते देते भगवान् की पीठ पीड़ित हो उठती थी (कठिन तपस्या के कारण भगवान् को वृद्धावस्था में वातरोग हो गया था)। उस समय उपदेश के बीच में ही भगवान् सारिपुत्र, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे किसी शिष्य को उपदेश को पूरा कर देने का आदेश देते थे। बाद में वे इस प्रकार दिये हुए उपदेश का अनुमोदन भी कर देते थे। स्वतन्त्र रूप से भी अनेक भिक्षुओं ने एक दूसरे के प्रति या गृहस्थ शिष्यो के प्रति अनेक उपदेश दिये हैं। इस प्रकार बुद्ध-उपदेशों के साथ साथ उनके शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक मे सम्मिलित हैं। भगवान् ने अपने मुख से जो जो उपदेश दिये, अपने जीवन और अनुभवो के विषय में उन्होंने जो जो कहा, जिन जिन व्यक्तियों से उनका या उनके शिष्यो का सम्पर्क या सलाप हुआ, जिन जिन प्रदेशो मे उन्होने भ्रमण किया, सक्षेप मे बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक के अपने ४५ वर्षों मे भगवान् की जो-जो भी जीवन-चर्या रही, उसी का यथावत् चित्र हमें सुत्त-पिटक मे मिलता है।

बुद्ध और उनके शिष्यों के उपदेशों के अतिरिक्त हमें आकस्मिक रूप से छठी और पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व के भारत के सामाजिक जीवन का पूरा परिचय भी सुत्त-पिटक में मिलता है। बुद्ध के समकालीन श्रमणो, ब्राह्मणों और परिव्राजको के जीवन और सिद्धान्तो के विवरण, गोतम बुद्ध के विषय मे उनके मत और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, साधारण जनता मे प्रचलित उद्योग और व्यवसाय, मनोरञ्जन के साधन, कला और विज्ञान, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और राजन्य-गण, ब्राह्मणों के धार्मिक सिद्धान्त, जाति-वाद, वर्णवाद, यज्ञवाद, भौगोलिक परिस्थितियाँ यथा ग्राम, निगम, नगर, जनपद आदि के विवरण और उनके जीवन की साधारण अवस्था, नदी, पर्वत आदि के विवरण, साहित्य और ज्ञान की अवस्था, कृषि और वाणिज्य, सामाजिक रीतियाँ, जीवन का नैतिक स्तर, स्त्रियो, दास-दासियों और भृत्यों की अवस्था, आदि के विवरण सुत्त-पिटक में भरे पड़े हैं, जो बुद्ध और उनके शिष्यो के जीवन और उपदेशों के साथ-साथ तत्कालीन

भारतीय सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति आदि का भी अच्छा दिग्दर्शन करते है।

सुत्तों के आकार के सम्बन्ध में प्रायः कोई नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें कई बहुत छोटे भी हैं और कई बहुत बड़े भी। इसी प्रकार गद्यमय या पद्य-मय होने का भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कुछ बिलकुल गद्य मे हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित भी, कुछ थोड़े से बिलकुल पद्य मे भी हैं, बीच बीच मे कहीं कहीं गद्य के छिटके के साथ[1]। प्रत्येक सुत्त अपने आप मे पूर्ण है और वह बुद्ध-उपदेश या बुद्ध-जीवन सम्बन्धी किसी घटना का पूरा परिचय देता है। प्रायः प्रत्येक सुत्त के प्रारम्भ मे उसकी एक ऐतिहासिक भूमिका रहती है। यह भूमिका हमे बतला देती है कि जिस उपदेश का विवरण दिया जा रहा है, वह भगवान् ने कहाँ दिया। उदाहरणत. 'एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन मे विहार करते थे' 'एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे' जैसे वाक्य प्रायः प्रत्येक सुत्त के आदि मे आते हैं। सुत्तो की अनेक छोटी-मोटी। विशेषताएँ और भी देखी जा सकती है। उदाहरणत. भगवान् के उपदेश के बाद प्रायः (सदा नही) उपदेश सुनने वालो का इस प्रकार का कृतज्ञतापूर्ण उद्गार देखा जाता है "आश्चर्य है गोतम ! अद्भुत है गोतम ! जैसे औधे को सीधा कर दे, ढँके को उघाड़ दे, भूले को रास्ता बतला दे, अन्धकार मे तेल का प्रदीप रख दे, जिससे कि आँख वाले रूप को देखे, ऐसे ही आप गोतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया। यह मै भगवान् गोतम की शरण जाता हूँ,धर्म की शरण जाताहूँ, संघ की भी शरण जाता हूँ। आप गोतम आज से मुझे अजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करे" कही कही सुत्तो के अन्त मे भिक्षुओं की कृतज्ञता केवल इन शब्दो से भी व्यक्त कर दी जाती है "भगवान् ने यह कहा। सन्तुष्ट हो भिक्षुओं ने भगवान् के उस कथन का अनुमोदन किया।" मिलने-जुलने, विदा लेने, कृतज्ञता प्रकाशित करने, कुशल-मगल पूछने आदि साधारण अवसरो पर जिस प्रकार का शिष्टाचार उस समय प्रचलित था, उसका वर्णन प्राय. समान शब्दो में सुत्त-पिटक मे अनेक स्थलो पर किया गया है। ऐसे स्थल बार बार आने के कारण स्वय कंठस्थ हो जाते है। जब कोई भिक्षु भगवान् के दर्शनार्थ दूर से आता था,तो भगवान् उससे अक्सर पूछा करते थे 'कहो भिक्षु ! कुशल से तो हो ? रास्ते में कोई बड़ी हैरानी-परेशानी

---

१. जैसे दीघ-निकाय के महासमय-सुत्त,लक्खण-सुत्त, आटानाटिय-सुत्त आदि

तो नही हुई ? भिक्षा के लिये कष्ट तो नही उठाना पडा' ? आदि। भगवान् को जब कोई व्यक्ति निमत्रण देने आता है तो प्राय' यही वाक्य रहता है "भन्ते ! भिक्षु-सघ सहित आप कल के लिये मेरा भोजन स्वीकार करे । उसके बाद भगवान् ने मौन से स्वीकार किया। भगवान् के भिक्षाचर्या के लिये जाने का प्राय इन शब्दो में वर्णन रहता है "तब भगवान् पूर्वाह्ण समय चीवर पहन, भिक्षा-पात्र ले, जहाँ * था, वहाँ गये। जाकर भिक्षु-सघ सहित बिछे आसन पर बैठे। , ने अपने हाथ से बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-सघ को उत्तम खाद्य-भोज्य से सन्तर्पित किया। खाकर पात्र से हाथ हटा लेने पर एक नीचा आसन ले एक ओर बैठ गया। भगवान् ने उपदेश से समुत्तेजित, सम्प्रहर्षित किया। धर्म-उपदेश कर भगवान् आसन से उठकर चल दिये।" जब कोई महाप्रभावशाली व्यक्ति भगवान् के दर्शनार्थ जाता है तो ' जितनी यान की भूमि थी, उतनी यान से जा कर, यान से उतर, पैदल ही जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठ को भगवान् ने धर्म-सम्बन्धी कथा से समुत्तेजित किया आदि। इस प्रकार बुद्धकालीन भारतीय समाज का पूरा चित्र हमे सुत्त पिटक म मिलता है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश करने का क्या ढग था, यह भी सुत्तो से स्पष्ट दिखाई पडता है। पहले भगवान् दान, शील, सदाचार-प्रशसा, दुराचार-निन्दा आदि सम्बन्धी साधारण प्रवचन देते थे। फिर 'बुद्धो की उठाने वाली आदेशना' (बुद्धान सामुक्कसिका धम्मदेसना) आरम्भ होती थी, जिसमे चार आर्य सत्यो आदि का गभीर धर्मोपदेश होता था। दीघ-निकाय के अम्बट्ठ सुत्त, कूटदन्त-सुत्त आदि मे इसी तरह उपदेश का विधान किया गया है। भगवान् एक मनोवैज्ञानिक की तरह उपदेश करते थे। पहले वे देख लेते थे कि जो व्यक्ति उनके पास दर्शनार्थ आया है वह किसान है, या सिपाही है या राजा है या परिव्राजक है। फिर उससे परिचित जीवन से ही उपमाएँ आदि लेकर वे उसे धर्म का स्वरूप समझाते थे। परिव्राजको या अन्य मतावलम्बी साधुओ के साथ वार्तालाप करते समय वे उनके मान्य सिद्धान्तो से ही प्रारम्भ करते थे और उत्तरोत्तर विचार पर उसे अग्रसर करते हुए अपने मन्तव्य तक लाते थे। दीघ-निकाय के सामञ्ञफल-सुत्त, सोणदड-सुत्त, पोट्ठ-पाद-सुत्त और तेविज्ज-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के वेखणस-सुत्त, सुभ-सुत्त, चंकि-सुत्त आदि इसके अच्छे उदाहरण है। भगवान् बुद्ध के उपदेश करने के ढग या उनकी आदेशना-विधि का बडा अच्छा विश्लेषण 'पेटकोपदेस' नामक ग्रन्थ में

किया गया है, जो त्रिपिटक के संकलन के बाद किन्तु बुद्धघोष के काल से पहले, लिखा गया था। छठे अध्याय में हम उसका विवरण देते समय इस विषय का भी कुछ दिग्दर्शन करेंगे।

सुत्तों की शैली की ये विशेषताएँ और द्रष्टव्य है (१) पुनरुक्तियों की अतिशयता (२) संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग (३) उपमाओं के प्रयोग की बहुलता (४) संवादों का प्रयोग (५) इतिहास और आख्यानों का उपदेशों के बीच में समावेश और (६) सुत्तों में नाटकीय क्रियात्मकता की अभिव्याप्ति। चूँकि सुत्तों का संकलन विभिन्न स्रोतो से, विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा और विभिन्न कालों में हुआ, अत: उनमे पुनरुक्तियों का होना अवश्यम्भावी है। भिक्षुओं के निरन्तर अभ्यास के लिये स्वय भगवान् का भी एक ही उपदेश को बार बार देना, कहीं संक्षिप्त रूप से, कहीं विस्तृत रूप से, उसे दुहराना, आसानी से समझा जा सकता है। फिर अध्ययन-अध्यापन की मौखिक परम्परा के कारण इस पुनरुक्तिमय वर्णन-प्रणाली को और भी अधिक प्रश्रय मिला है। अत: सुत्तो में पुनरुक्तियो का होना एक तथ्य है और वह उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता का ही सूचक है, अप्रामाणिकता या अर्वाचीनता का नही । सुत्तो में इतनी पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी है कि उनका सामान्य दिग्दर्शन भी सम्भव नही है। सुत्तो का 'पेय्यालं' अति प्रसिद्ध है।[1] वाक्यांशो के वाक्याशो की पुनरावृत्ति केवल एक-दो शब्दों के हेर-फेर के साथ अनेक सुत्तो में पाई जाती है। सोण-दंड-सुत्त का अन्तिम भाग हूबहू कूटदन्त-सुत्त में रक्खा हुआ है। चार ध्यानो का वर्णन बिलकुल समान शब्दों में अनेक सुत्तों मे रक्खा हुआ है, यथा सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ-१।२) अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ-१।३) सोणदंड-सुत्त (दीघ-१।४) कूटदन्त सुत्त (दीघ-१।५) महालि-

---

१. चूँकि पालि-त्रिपिटक में, विशेषतः सुत्त-पिटक में, पुनरुक्तियाँ अधिक हैं, अतः जहाँ कहीं एक पूरे वाक्य या वाक्यांश की पुनरावृत्ति हुई, तो उसे पूरा न लिख कर केवल एक-दो आरम्भ के शब्द लिख दिये जाते हैं और फिर उसके बाद लिख दिया जाता है 'पेय्यालं' जिसका अर्थ यह है कि इतने संकेत से ही पूर्वगत वाक्य को समझा जा सकता है। 'पेय्यालं' शब्द का अर्थ ही है 'पातुंअलं' अर्थात् इतने से वाक्य समझ लिया/जा सकता है और यह पाठ को बचाये रखने के लिये पर्याप्त है। देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैंतालीस (वस्तुकथा)

सुत्त (दीघ-१।५) पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ-१।९) केवट्ट-सुत्त (दीघ-१।११) सुभ-सुत्त (दीघ-१।१२) चक्कवत्ति सीहनाद-सुत्त (दीघ-३।३), संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ-३।१०), भयभेरव-सुत्त (मज्झिम-१।१।४) द्वेधावितक्क-सुत्त (मज्झिम-१।२।९) महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम-१।४।९) चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम-१।३।७) देवदहसुत्त (मज्झिम-३।१।१) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर) झान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) आदि, आदि। चार आर्य सत्य, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग आदि के विषय में भी इसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। संयुत्त-निकाय के सळायतन-संयुत्त में चक्षुरादि इन्द्रियो, उनके विषयों और विज्ञानों आदि को लेकर विस्तृत पुनरुक्तियाँ की गई हैं। अतः पुनरुक्तियों की अतिशयता सुत्तों की शैली की एक प्रधान विशेषता है और जिस कारण वह उत्पन्न हुई है उसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग भी बुद्ध-वचनों के मौखिक रूप से प्राप्त होने की परम्परा पर आधारित है। केवल स्मृति की सहायता के लिये ही भगवान् बुद्ध भी इसका प्रयोग करते थे। पूरा का पूरा अंगुत्तर-निकाय इसी संख्यात्मक प्रणाली पर संकलित किया गया है। अन्य निकायो मे भी चार आर्य सत्य, पाँच नीवरण, ३२ महापुरुष-लक्षण, ६२ मिथ्या-दृष्टियों आदि के संख्यात्मक निरूपण भरे पड़े हैं। सांख्य दर्शन और जैन-दर्शन तथा महाभारत आदि में भी संख्यात्मक वर्गीकरणों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।[1] पालि सुत्तो मे इसका प्रयोग बहुलता से किया गया है, किन्तु वह अस्वाभाविक नहीं होने पाया है। पालि सुत्तो की उपमाएँ बड़ी मर्मस्पर्शी हुई है। जीवन के अनेक क्षेत्रो से ये उपमाएँ ली गई है और उनकी स्वाभाविकता और सरलता बड़ी आकर्षक है। दीघ और मज्झिम निकायों के हिन्दी-अनुवाद में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन निकायो में आई हुई उपमाओं की सूची दी है। उनसे सुत्त-पिटक मे आई हुई उपमाओ का कुछ अनुमान हो सकता है। जहाँ भी सुत्तों में कोई जटिल प्रश्न आया हम यह वचन देखते हैं 'ओपम्मं ते करिस्सामि, उपमाय हि इधेकच्चे पुरिसा भासितस्स अत्थं आजानन्ति' अर्थात् 'मे तुम्हें एक उपमा कहूँगा। उपमा से भी कुछ एक मनुष्य कहे हुए का अर्थ समझजाते है। उपमाओ की प्रणाली का अनुपिटक साहित्य पर भी इतना प्रभाव पड़ा है कि हम 'मिलिन्दपञ्ह'

---

१. देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६५, पद संकेत १

और 'विसुद्धिमग्ग' जैसे ग्रन्थो तथा बुद्धघोष आदि की अट्ठकथाओ मे भी उनका बहुल प्रयोग देखते है। निश्चय ही पालि साहित्य अपनी उपमाओ के लिये विशेष गौरव कर सकता है। विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से ही भगवान् स्वय उपमाएँ दिया करते थे। दीघ-निकाय के पोट्ठपाद-सुत्त मे जनपद-कल्याणी की सुन्दर उपमा उन्होंने दी है[1]। इसी प्रकार स्वानुभव-शून्य पडितो की पक्ति-बद्ध अन्धो से उपमा[2], अतिप्रश्न करने वाले की उस बाण-विद्ध व्यक्ति से उपमा जो बाण को निकलवाने का प्रयत्न न कर बाण मारने वाले के विषय मे असगत प्रश्न कर रहा है,[3] विषय भोगो के दुष्परिणामो को दिखाने वाली उपमाएँ,[4] विमुक्ति-सुख को दिखाने वाली उपमाएँ,[5] आदिअनेक प्रकार की उपमाएँ भगवान् बुद्ध के मुख से निकली है, जो काव्य की वस्तु नही किन्तु उनके अन्तस्तल से निकली हुई अनुभव सिद्ध वाणियाँ है। सवादो के रूप में सुत्तो के उदाहरण के लिय दीघ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, सोणदण्ड-सुत्त, पोटठपाद-सुत्त तेविज्ज सुत्त आदि विशेष द्रष्टव्य है। अन्य निकायो मे भी सवाद भरे पडे है। पौराणिक आख्यान भी सुत्तो मे कही कही समाविष्ट है, जैसे महाविजित का आख्यान दीघ-निकाय के कटदत्त-सुत्त मे, आदि, आदि। उपनिषदो और महाभारत मे भी ऐसे अख्यान पाये जाते है। सयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-सयुत्त मे भिक्षुणियो के आख्यान बडे ही मार्मिक है। सुत्तो की एक बडी विशेषता उनकी नाटकीय द्रुतगति एव क्रिया-शीलता भी है। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त और सयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-सयुत्त विशेष रूप से द्रष्टव्य है। परिप्रश्नात्मक शैली का जैसा पूर्ण परिपाक सुत्तो म हुआ है, वैसा भारतीय साहित्य मे अन्य कही पाना असम्भव है। बाद मे उनका विकसित रूप ही 'मिलिन्द-पञ्ह' मे प्रस्फुटित हुआ है, जिसके सवादो को देख कर ही कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने उसके ऊपर ग्रीक प्रभाव की

---

१ देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।

२. अन्धवेणु परम्परा (अन्धो की लकडी का ताँता) चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम. २।५।५)।

३. चूल मालुंक्य-सुत्त (मज्झिम. २।२।३)।

४. पोतलिय-सुत्त (मज्झिम. २।१।४)।

५. सामञ्ञफल सुत्त (दीघ १।२) में

६ देखिये विंटरनित्ज हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३४

कल्पना कर ली है, जिसका निराकरण हम छठे अध्याय में उस सम्बन्धी विवरण पर आते समय करेंगे। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों में संवादात्मक शैली का जो परिष्कृत रूप दिखाई पड़ता है,[1] उसी के आधार पर बाद में 'मिलिन्द-पञ्ह' में इस कला में पूर्णता प्राप्त की गई है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सुत्त-पिटक बुद्ध-वचनों का सब से अधिक महत्वपूर्ण भाग है। न केवल बुद्ध-उपदेशों को जानने के लिये ही बल्कि छठी और पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारत के सब प्रकार के ऐतिहासिक, सामाजिक और भौगोलिक ज्ञान का वह एक अपूर्व भांडार है। इतिहास और साहित्य के विद्यार्थी के लिये भी वह उतना ही महत्वपूर्ण है जितना बौद्ध धर्म और दर्शन के विद्यार्थी के लिये। गम्भीर विचारों की दृष्टि से उसका स्थान केवल उपनिषदों के साथ है। उपनिषदो से भी उसकी एक बडी विशेषता यह है कि उपनिषदो में जब कि विशुद्ध, निर्वैयक्तिक ज्ञान है, सुत्त-पिटक में उसके साथ साथ जीवन भी है। उपनिषदों में बुद्ध के समान ज्ञानी की जीवन-चर्या कहाँ है? सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-वचनों की गम्भीरता की तुलना रायस डेविड्सने अफलातूँ के संवादों से की है[2]। अफलातूँ के ज्ञान-गौरव की रक्षा करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि तथागत की साधना-मयी वाणी का तो शतांश गौरव भी उसके अन्दर नहीं है। बुद्ध-वचन अपनी गम्भीरता मे सर्वथा निरुपमेय है। जब सम्यक् सम्बुद्ध जैसा वरदान ही प्रकृति ने मानव को नही दिया, तो उनके जैसे वचन भी कहाँ से हों? अत धर्म, दर्शन, साहित्य, जीवन, इतिहास, प्राचीन भूगोल आदि सभी दृष्टियों से सुत्त-पिटक का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुत्त-पिटक, जैसा पहले भी दिखाया जा चुका है, पाँच भागों मे विभक्त है (१) दीघ-निकाय (२) मज्झिम-निकाय (३) संयुत्त-निकाय (४) अंगुत्तर-निकाय और (५) खुद्दक-निकाय। इनमें प्रथम चार निकाय संग्रह-शैली की दृष्टि से समान हैं। पाँचवाँ निकाय छोटे छोटे (जिनमें कुछ बड़े भी हैं) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह है। विषय तो सब का बुद्ध-वचनो का प्रकाशन ही है। केवल सुत्तों के आकारों या विषय के विन्यास में कहीं कुछ अन्तर है। प्रत्येक निकाय की विषय-वस्तु का अब हम संक्षिप्त परिचय देंगे और साथ ही उनके साहित्यक

१. इसके दर्शन के लिये देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।
२. दि डायलॉग्स ऑव दि बुद्ध, जिल्द पहली, पृष्ठ २०६

और ऐतिहासिक महत्व का भी अनुमापन करना हमारे अध्ययन का एक अग होगा।

अ—दीघ-निकाय[1]

दीघ-निकाय दीर्घ आकार के सुत्तो का सग्रह है। आकार की दृष्टि से जो सुत्त या बुद्ध-उपदेश बडे है, वे इस निकाय मे सगृहीत है। दीघ-निकाय तीन भागो मे विभक्त है (१) सीलक्खन्ध (२) महावग्ग (३) पाथेय या पाटिक-वग्ग। इनमे कुल मिलाकर ३४ सुत्त है, जिनमे सीलक्खन्ध में १-१२, महावग्ग मे १४-२३ और पाथेय या पाटिकवग्ग मे २४-३४ सुत्त है। जिस क्रम से इन सुत्तो का विन्यास किया गया है, वह काल-क्रम के अनुसार पूर्वापरता का सूचक नही है। कुछ घटनाएँ या उपदेश जो कालक्रमानुसार बाद के है पहले रख दिये गये है और इसी प्रकार जिन्हे पहले होना चाहिये वे बाद मे रक्खे हुए है। इसका कारण यही है कि काल-क्रम के अनुसार सुत्तो को यहाँ विन्यस्त न कर आकार आदि की दृष्टि से किया गया है। पिटक और अनुपिटक (विशेषत अट्ठकथा) साहित्य के साक्ष्य से महापडित राहुल साकृत्यायन ने दीघ-निकाय के कुछ सुत्तो के कालानुक्रम का निश्चय कर उन्हे उस ढग से अपने महत्वपूण ग्रन्थ 'बुद्धचर्या' म अनूदित किया है। यह एक स्तुत्य कार्य है। पश्चिमी विद्वान् अट्ठकथाओ के साक्ष्य पर इतना अधिक विश्वास न कर केवल शैली और भाषा आदि के साक्ष्य से ही दीघ-निकाय या पूरे सुत्त-पिटक के विभिन्न अशो की पूर्वापरता निश्चित करना चाहते है, जो अन्त मे केवल उनकी कल्पना का विलास मात्र रह जाता है। फ्रेंक नामक विद्वान् ने तो इसी आधार पर अपने विचित्र मत भी पूरे त्रिपिटक और दीघ-निकाय के सम्बन्ध मे प्रकाशित कर दिये है। उन्होने दीघ-निकाय के विषय मे कहा है कि यह किसी एक लेखक या साहित्यकार का काम है। चूँकि ओल्डनबर्ग,[2] रायस डेविडस,[3] विटरनित्ज[4], गायगर[5] आदि विद्वानो द्वारा

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७

२. ३. ४. ५ देखिये विशेषतः विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४४-४५; गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७, पद-संकेत ४; रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग के ग्रन्थों के संकेत भी यहाँ दोनो जगह दिये हुए हैं।

उनके मत का पर्याप्त निराकरण कर दिया गया है, अत उनके अ-महत्वपूर्ण कल्पना-विलास को, जिसे उन्होंने दीघनिकाय की प्रामाणिकता के विरुद्ध रक्खा था, यहाँ उद्धृत और फिर से निराकृत कर, उसे अनावश्यक महत्व देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। दीघ-निकाय के सुत्त कलात्मक एकात्मकता के अनुसार विन्यस्त होने पर भी बुद्ध-वचनो के रूप मे प्रामाणिक हैं। यदि उन सब का आधारभूत विचार एक ही है, तो इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि वे किसी एक ही लेखक की कृतियाँ है। बुद्ध के उपदेशों के रूप में भी उनमें एकात्मता तो होनी ही चाहिये। पालि दीघ-निकाय के ३४ सुत्तो मे से २७ चीनी दीर्घागम में मिलते है। शेष सात मे से ३ मध्यमागम में मिलते है और ४ का पता नही लगा है[१]। विषय का विन्यास यहाँ भिन्न होते हुए भी विषय-वस्तु तो प्राय समान ही है। दूसरी शताब्दी से लेकर चौथी-पाँचवी शताब्दी तक इन सब सुत्तो का अनुवाद चीनी भाषा मे हो गया था। चूंकि इसके पूर्व प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व के 'मिलिन्दपञ्ह' में भी इनमे से अनेक का नामत उल्लेख है, अत इनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नही किया जा सकता। बाहरी आकार की दृष्टि से दीघ निकाय के सब सुत्तो में समानता नही है। सीलक्खन्ध के सब सुत्त प्राय गद्य मे है, केवल कुछ पक्तियाँ मात्र गाथाओ के रूप में है। महावग्ग और पाथेय या पाटिक-वग्ग में अधिकाश सुत्त गद्य-पद्य-मिश्रित है। पाथय या पाटिक-वग्ग के महासमय-सुत्त और आटानाटिय सुत्त तो बिलकुल पद्य म ही है। सील-क्खन्ध के सूत्रो की यह प्रधान विशेषता है कि वे शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी बुद्ध-उपदेशो का विवरण देते है और उनमे बुद्धकालीन भारतीय समाज का भी पर्याप्त शील-निरूपण मिलता है, उसके सामाजिक और धार्मिक जीवन का पूराचित्र, आदि। यही उसके 'सीलक्खन्ध' नामकरण का भी कारण है। 'महावग्ग' के प्रत्येक सुत्त के नाम का आरम्भ 'महा' शब्द से होता है। विंटरनित्ज ने इस 'महा' शब्द में क्षेपको का रहस्य निहित माना है। उनका कहना है कि पहले इस वर्ग के उपदेश सक्षिप्त आकार के रहे होगे और बाद मे उन्हे बढ़ाकर 'महा' कर दिया गया है[२]। चूंकि स्वय भगवान् बुद्ध भी एक ही विषय पर

---

१. पूरे विवरण के लिये देखिये दीघ-निकाय (महापंडित राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद) का आमुख

२. विशेषतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' में इस प्रकार के उत्तरकालीन परिवर्द्धनों

अवसर और पात्रो के अनुसार सक्षिप्त और दीर्घ उपदेश दे सकते थे और संकलन के समय भिन्न भिन्न व्यक्तियो और स्रोतों से आने के कारण उन्हें वैसा ही संकलित कर दिया गया है, अत. एक ही विषय-सम्बन्धी दो अल्प और बड़े आकार वाले सुत्तों को देखकर बडे आकार वाले सुत्तों को बाद के परिवर्द्धन ही नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त तथ्य के प्रकाश मे हम 'महावग्ग' के सब सुत्तों को मौलिक बुद्ध-वचन ही मानने के पक्षपाती हैं। 'पाथेय' या 'पाटिक वग्ग' का यह नामकरण इसलिये है कि इस वर्ग के सुत्तों के आदि में 'पाटिक-सुत्त' नामक सुत्त है। दीघ-निकाय[1] का अधिक साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिये पहले हम उसके सुत्तों की विषय-वस्तु का अलग-अलग सक्षिप्त निदर्शन करेंगे।

सीलक्खन्ध-वग्ग

ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ १।१)

ब्रह्मजाल-सुत्त दीघ-निकाय का प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र है। प्राग्बुद्धकालीन भारतीय धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का एक अच्छा चित्र यहाँ मिलता है। विशेषत उस धार्मिक विचिकित्सा का, जो उस समय भारतीय वायुमंडल में सर्वत्र फैली हुई थी, और उसके सम्पूर्ण अतिवादो का, एक अच्छा विश्लेषण यहाँ मिलता है। ब्रह्मजाल-सुत्त का अर्थ है श्रेष्ठ (ब्रह्म) जाल रूपी बुद्ध-उपदेश। बुद्ध-उपदेश को यहाँ श्रेष्ठ जाल कहा गया है। किसे पकडने के लिये? फिसलकर निकल जाने वाली मछलियों रूपी मिथ्या दृष्टियो को पकडने के लिये। इस सुत्त के उपदेश के अन्तमे आनन्द ने, जो पीछे से भगवान् को पखा झल रहे थे, पूछा "भन्ते! इस उपदेश को क्या कह कर पुकारा जाय?" "आनन्द! तुम इस धर्म-उपदेश को 'अर्थ-जाल' भी कह सकते हो, धर्म-जाल भी, ब्रह्म-जाल भी,

---

का विवेचन डा० विटरनित्ज ने किया है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३८-४२

[1] दीघ-निकाय के १-२३ सुत्त दो भागों में देव-नागरी लिपि में बम्बई विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित कर दिये गये हैं। प्रथम भाग, सुत्त १-१३; द्वितीय भाग सुत्त १४-२३; दीघ-निकाय का महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप कृत हिन्दी अनुवाद (महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७) तो प्रसिद्ध ही है।

दृष्टि-जाल भी, लोकोत्तर संग्राम-विजय भी।"[१] मिथ्या-दृष्टियों को पकड़ने के लिये भगवान् ने ब्रह्मजाल-सुत्त का उपदेश दिया।

जिन मिथ्या दृष्टियों का विवरण ब्रह्म जाल सुत्त में दिया गया है, उनकी संख्या ६२ है। इनमें १८ मिथ्या धारणाएँ जीवन और जगत् के आदि सम्बन्धी है और ४४ अन्त सम्बन्धी। इनमें पहली १८ मिथ्या धारणाओं को पाँच भागों में बाँटा गया है यथा (१) शाश्वतवाद (२) नित्यता-अनित्यतावाद (३) सान्त-अनन्तवाद (४) अमराविक्षेपवाद और (५) अकारणवाद। इनमें से प्रथम चार की सिद्धि में प्रत्येक में चार चार हेतु दिये गये हैं और अन्तिम सिद्धान्त (अकारणवाद) की सिद्धि में दो। इस प्रकार १८ हेतुओं से नानाश्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक प्राग्बुद्धकालीन भारत में आत्मा और लोक के आदि सम्बन्धी, (पूर्वान्त कल्पित) उपर्युक्त पाँच मतो का प्रख्यापन किया करते थे। इन्हीं को यहाँ मिथ्या दृष्टियाँ कहा गया है। आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी (अपरान्त-कल्पिक) ४४ मिथ्या-धारणाएँ थीं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक १६ हेतुओ के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद भी आत्मा संज्ञी (होश वाला) रहता है, कुछ ८ हेतुओ के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद आत्मा असंज्ञी हो जाता है' (अर्थात् वह होश वाला नही रहता) कुछ ७ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'आत्मा का पूर्ण उच्छेद ही हो जाता है'। ये उच्छेदवादी थे। कुछ ५ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष है। इस प्रकार इन परस्पर विरोधी ४४ हेतुओं से आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी सिद्धान्त कल्पित किये जाते थे। यही ४४ अपरान्तकल्पिक मिथ्या दृष्टियाँ थी। इस प्रकार कुल मिलकर ६२ परस्पर-विरोधिनी, मानसिक आयासों से पूर्ण, मिथ्या-दृष्टियाँ भारतीय वायुमंडल में भगवान् बुद्ध के उदय से पूर्व प्रचलित थीं, जिनका निदर्शन इस सुत्त में किया गया है।

ब्रह्मजाल सुत्त की मुख्य विषय-वस्तु उपर्युक्त ६२ मिथ्यादृष्टियों का विवरण ही है, किन्तु उसमें प्रसंगवश और भी बहुत सी बातें आ गई है। प्रारम्भ ही में हम

---

१. **"को नामो अयं भन्ते धम्म परियायायोति" "तस्मातिह त्वं आनन्द इमं धम्म-परियायं अत्थजालं ति पि नं धारेहि, धम्मजालं ति पि नं धारेहि, ब्रह्मजालं ति पि नं धारेहि, दिट्ठि जालं ति पि नं धारेहि, अनुत्तरो संगाम-विजयो ति पि नं धारेहि।"**

भगवान् को भिक्षुओं के सहित राजगृह और नालन्दा के बीच के रास्ते पर जाते हुए देखते हैं। वे भिक्षुओं को निन्दा और स्तुति में समान रहने का उपदेश करते हैं। उसके बाद मूल (आरम्भिक) मज्झिम (मध्यम) और महा के रूप में शील की तीन भूमियों का विवरण है। यही प्रसंगवश उन अनेक प्रकार के उद्योगों, शिल्पों, व्यवसायों तथा मनुष्यों के रहन-सहन सम्बन्धी ढंगों का विवरण मिलता है जिनसे विरत रहने का भिक्षुओ को उपदेश दिया गया है। उस समय के समाज के जीवन की दशा का इससे बड़ा अच्छा पता लगता है। उस समय के मनोरंजन के साधनों को लीजिये तो नृत्य, गीत, बाजे, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घड़े पर तबला बजाना, गीत-मंडली, लोहे की गोली का खेल, बाँस का खेल, हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरो का युद्ध . . . . .लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, सैन्य-प्रदर्शन आदि के विवरण मिलते हे। मनुष्यो के आमोद-प्रमोद के साधनो को देखें तो दीर्घ आसन, पलंग, बड़े बड़े रोये वाले आसन चित्रित आसन . . . . . .फूलदार बिछावन सिंह, व्याघ्र आदि के चित्र वाले आसन, झालरदार आसन आदि के विवरण, दर्पण, अजन, माला, लेप, मुख-चूर्ण (पाउडर), मुख-लेपन , हाथ के आभूषण, छडी, तलवार, छाता, सुन्दर जूता, टोपी, मणि, चँवर आदि के विवरण पाते हैं। अनेक प्रकार के कथाएँ जैसे राजकथा, चोरकथा, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट और भूत-प्रेत आदि की कथाएँ, अनेक प्रकार के फलित ज्योतिष् के विधान, अनेक प्रकार के मिथ्या सामाजिक विश्वास और माध्यम-जीवन-निर्वाह के ढग भी विवृत किये गये हैं। यज्ञयागादि की परम्परा कितनी विकृत हो चली थी, इसका एक सकेत अनेक प्रकार के होमों की इस सूची में ही देखिये 'अग्नि-हवन, दर्वी होम, तुष-होम, कण-होम तडुल होम, घृत-होम, तैल-होम, मुख मे घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर होम' आदि। अनेक प्रकार की विद्याओ यथा वास्तु विद्या, क्षेत्र विद्या, मणि-लक्षण, वस्त्र-लक्षण आदि के विवरण यहाँ दिये गये हैं। सारांश यह कि प्राग्बुद्ध-कालीन भारत का सारा सामाजिक और धार्मिक जीवन यहाँ चित्रित हो उठा है। दार्शनिक दृष्टि से इस सुत्त का यह महत्व है कि वह भगवान् बुद्ध के शासन के उस स्वरूप की ओर इगित करता है जो मध्यमा-प्रतिपदा पर आधारित है और जिसमें जीवन के सत्य का साक्षात्कार (सच्छिकिरिया) ही मुख्य है, शाश्वतवाद या अशाश्वत-वाद आदि के पचडो मे पडना नही। अतः प्राग्बुद्धकालीन भारतीय विचार की विचिकित्साओ और उनकी पृष्ठभूमि में बुद्ध-शासन का सन्देश तथा प्रसंगवश

तत्कालीन भारतीय समाज के उद्योग-व्यवसायो आदि के चित्रण की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ. १।२)

सामञ्ञफल-सुत्त (श्रामण्य फल सम्बन्धी बुद्ध-उपदेश) मे हम पितृ-वध के पश्चात्ताप से सतप्त मगध-राज अजातशत्रु को चित्त-शान्ति प्राप्त करने के हेतु भगवान् के पास आता देखते हैं। पहले वह अन्य आचार्यों के पास भी जा चुका है, किन्तु शान्ति नही मिली। इसी कारण यहाँ प्रसगवश बुद्धकालीन उन छह प्रसिद्ध आचार्यो के मतो का भी निदर्शन कर दिया गया है, जिनका जानना बौद्ध धर्म के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इन छह आचार्यों के नाम थे पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि, प्रक्रुध कात्यायन, निगण्ठ ज्ञातृपुत्र और सजय बेलट्ठि पुत्त। मक्खलि गोसाल का मत अक्रियावाद था। उनके मत मे पाप-पुण्य कुछ नही था। 'छुरे के समान तेज चक्र से कोई इस पृथिवी के प्राणियो के मास का एक खलियान, मास का एक पुज बना दे, तो भी इसके कारण उसे पाप नही लगेगा'। दान, दम, सयम, तप में कोई पुण्य नही ह, हिंसा, चोरी आदि मे कोई पाप नही है, यही इनका मत था। मक्खलि गोसाल पूरे दैववादी थे। वे कहते थे। 'सत्वो के क्लेश का कोई हेतु नही है। बिना हेतु के ही सत्व क्लेश पाते है। सत्वों की शुद्धि का भी कोई हेतु नही है। बिना हेतु के ही सत्व शुद्ध होते हैं। पुरुष कुछ नही कर सकता है। बल नही है, वीर्य नही है, पुरुष का कोई पराक्रम नही है। सभी प्राणी अपने वश मे नही हैं। निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और सयोग के फेर से इधर-उधर उत्पन्न हो दु ख भोगते है।" अजित केश कम्बलि का मत था जडवाद या उच्छेदवाद। वह कहता था 'न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप या अच्छा बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है" आदि, आदि। प्रक्रुध कात्यायन का मत था अकृततावाद। वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दु ख और जीवन, इन सब को अकृत, अनिर्मित, कूटस्थ, और अचल मानता था। 'यहाँ न हन्ता है, न घातयिता, न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला"। निगण्ठ-नाटपुत्र (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र, भगवान् महावीर, जैन-तीर्थङ्कर) के मत मे चार प्रकार के सयमो का विवरण दिया गया है "निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र किस प्रकार के सयमो से संयत रहते है? (१) निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र जल का वारण करते है (जिसमे जल के

जीव न मारे जायँ) (२) सभी पापो का वारण करते है (३) सभी पापो के वारण करने से पाप-रहित होते है (४) सभी पापो के वारण करने मे लगे रहते है।" सजय वेलट्ठिपुत्र का मत अनिश्चिततावाद था। उनका कहना था "मै यह भी नही कहता, मै वह भी नही कहता, मै दूसरी तरह से भी नही कहता। मै यह भी नही कहता 'यह है'। मै यह भी नही कहता 'यह नही है' मै ऐसा भी नही कहता, मै वैसा भी नही कहता"। बुद्धकालीन धार्मिक वातावरण को जानने के लिये इन छह आचार्यो के मतो को जानना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् ने अजातशत्रु को श्रमणता (श्रामण्य) या प्रव्रज्या का फल नैतिक मूल्यो के द्वारा बतलाया है। ससार के मूल्यो मे उसे नही तौला जा सकता। पहले यहाँ भी शील का प्रारम्भिक, मध्यम और महा इन तीन भूमियो मे विवरण है, फिर इन्द्रिय-सयम, स्मृति-सम्प्रजन्य, सन्तोष आदि के अभ्यास का विवरण है। अन्त मे पश्चात्ताप मे अभिभत राजा कहता है "भन्ते! मेने धार्मिक धर्मराज पिता की हत्या की! भन्ते! भविष्य मे सँभल कर रहने के लिये मुझ अपराधी पापी को आप क्षमा करे'। जिन दृष्टियो से ब्रह्मजाल सुत्त का महत्व है उन्ही 'दृष्टियो' से यह सुत्त भी महत्वपूर्ण है। वास्तव मे कुछ हद तक यह उसका पूरक ही है।

अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ १।३)

पौष्करसाति नामक ब्राह्मण के अम्बष्ट (अम्बट्ठ) नामक शिष्य के साथ भगवान बुद्ध का सवाद है। अम्बष्ट अपने उच्च वर्ण के घमड के कारण भगवान् के पास जाकर अशिष्टतापूर्वक बाते करता है। शाक्यो पर अनुचित आक्षेप भी करता है। जब भगवान् उसके अशिष्ट व्यवहार का उसे स्मरण दिलाते है तो वह कहता है हे गोतम! जो मुडक श्रमण इभ्य (नीच) काले, ब्रह्मा के पैर की सन्तान है उनके साथ ऐसे ही कथा सलाप किया जाता है जैसा मेरा आप गोतम के साथ।" भगवान् उसे मिथ्या जातिवाद के अभिमान को छोड देने को कहते है। 'अम्बष्ट! जहाँ आवाह-विवाह होता है वही यह कहा जाता है 'तू मेरे योग्य है' 'तू मेरे योग्य नही है'। वही यह जातिवाद गोत्रवाद मानवाद भी चलता है 'तू मेरे योग्य है' 'तू मेरे योग्य नही है'। **अम्बष्ट! जो कोई जातिवाद में फँसे है, गोत्रवाद में फँसे है, अभिमानवाद में फँसे है, आवाह-विवाह में फँसे है, वे अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा से दूर है। अम्बष्ट! जातिवाद के बंधन, गोत्रवाद-बन्धन, मानवाद-बन्धन और आवाह-विवाह-बन्धन**

छोड़कर ही, अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा का साक्षात्कार किया जाता है।" इस प्रकार इस सुत्त को जातिवाद के विरुद्ध भगवान् का सिंहनाद ही समझना चाहिये। इस सुत्त का एक ऐतिहासिक महत्व यह है कि यहाँ कृष्ण को एक प्राचीन ऋषि के रूप मे स्मरण किया गया है "वह कृष्ण महान् ऋषि थे। उन्होने दक्षिण देश मे जाकर ब्रह्ममन्त्र पढ़कर, राजा इक्ष्वाकु के पास जा उसकी क्षुद्ररूपी कन्या को माँगा। तब राजा इक्ष्वाकु ने 'अरे यह मेरी दासी का पुत्र होकर मेरी कन्या को माँगता है, कुपित हो असन्तुष्ट हो, बाण चढाया।" इक्ष्वाकु ने ऋषि को कन्या प्रदान की। . वह कृष्ण महान् ऋषि थे।" शाक्यो की उत्पत्ति के विषय मे भी यहाँ वर्णन किया गया है।

सोणदण्ड-सुत्त. (दीघ १।४)

सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का सवाद। विषय वही पूर्ववत् जातिवाद का खडन। ब्राह्मण बनाने वाले धर्मों अर्थात् सदाचार और ज्ञान का आचरण करने वाला व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है, न कि केवल ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न। इस सुत्त में अङ्ग की राजधानी चम्पा (वर्त्तमान चम्पा नगर और चम्पापुर, भागलपुर के समीप) का उल्लेख है। राजा बिम्बसार द्वारा प्रदत्त चम्पा नगर की आय का उपभोग सोणदण्ड ब्राह्मण करता था।

कूटदन्त-सुत्त (दीघ. १।५)

कूटदन्त नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का सवाद। बडी सामग्रियो वाले एव हिंसामय यज्ञ के स्थान पर यहाँ ज्ञान-यज्ञ का आदर्श रक्खा गया है। कूटदन्त ब्राह्मण एक महायज्ञ करना चाहता था। उसने भगवान से जाकर पूछा, "भन्ते! मै महायज्ञ करना चाहता हूँ। मैंने सुना है आप सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-सम्पदा को जानते है। कृपाकर आप मुझे उसे बतावें।" भगवान् ने पूर्वकाल मे महाविजित के आख्यान को कह कर उसे यह तत्त्व बताया है। वास्तव मे महाविजित का यह आख्यान एक प्रकार का जातक-कथानक ही है। महाविजित नामक राजा ने भी प्राचीन युग मे एक यज्ञ किया था। "ब्राह्मण! उस यज्ञ में गाएँ नही मारी गईं, बकरे-भेडें नही मारी गईं, मुर्गे-सूअर नही मारे गये। न यज्ञ-स्तम्भ के लिये वृक्ष काटे गये, न भ्वर-हिंसा के लिये कुश काटे गये। जो भी उसके दास और नौकर थे, उन्होंने भी दण्ड के भय से रहित होकर, जिन्होने चाहा किया, जिन्होंने

नही चाहा, नही किया। अश्रु मुख, रोते हुए उन्हें सेवा नही करनी पड़ी। जिसे चाहा उसे किया, जिसे नही चाहा उसे नही किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और खांड से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ"। इस प्रकार द्रव्य-यज्ञ में भी भगवान् सेवकों से बेगार न लेने के विशेषत: पक्षपाती हैं। किन्तु जिस यज्ञ का उन्होंने विधान किया है वह तो इससे भी बहुत बढकर है। वह यज्ञ है दान-यज्ञ, त्रिशरण-यज्ञ, शिक्षापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि-यज्ञ, प्रज्ञा-यज्ञ। तथागत इसी यज्ञ के पक्षपाती हैं।

महालि सुत्त (दीघ. १।६)

सुनक्षत्र नामक लिच्छवि-पुत्र भगवान् के शिष्यत्व को छोडकर चला गया है। उसे आशा थी कि भगवान् के पास रहने मे दिव्य शब्द सुनूंगा, योग की विभूतियों को प्राप्त करूंगा, आदि। जब ऐसा न हुआ तो उसने उन्हे छोड़ दिया। इसी के बारे में प्रश्न करने के लिये महालि नामक एक अन्य लिच्छवि सरदार भगवान् के पास आया है "भन्ते! क्या सुनक्षत्र लिच्छवि-पुत्र ने विद्यमान ही दिव्य-शब्द नही सुने या अविद्यमान।" भगवान् उसे समझाते है कि ब्रह्मचर्य का उद्देश्य दिव्य शब्द सुनना या योगकी विभूतियोको प्राप्त करना नही है, बल्कि उसका एक मात्र उद्देश्य तो सदाचार के जीवन के अभ्यास के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करना है। निर्वाण के साक्षात्कार के लिये ही ब्रह्मचर्य का ग्रहण कियाँ जाता है और उसी के द्वारा दुःख का अन्त होता है। "यही है महालि! अधिक उत्तम धर्म जिसके साक्षात्कार करने के लिये भिक्षु मेरे पास आकर ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।" आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास एवं सदाचार, समाधि और प्रज्ञा के जीवन से ही निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है, यह भी अन्त मे अन्य सुत्तो की तरह उपदिष्ट किया गया है।

जालिय-सुत्त (दीघ. १।७)

जालिय नामक परिव्राजक से भगवान् का सवाद। यह परिव्राजक भगवान् के पास आकर उनसे पूछता है "आवुस[1]। गौतम! जीव और शरीर अलग-अलग वस्तु हैं या एक ही?" भगवान् उसे समझाते है कि जीव और शरीर का भेद-अभेद कथन ही व्यर्थ है। जीवन का तत्त्व साक्षात्कार में है। अतः शील, समाधि और प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

१. जैसे कि मानो गौतम उससे छोटे हों! संभवतः परिव्राजक की आयु भगवान् से अधिक थी और इस सुत्त का सम्बन्ध भगवान् की तरुण अवस्था से है।

कस्सप सीहनाद-सुत्त (दीघ. १।८)

काश्यप (कस्सप) नामक अचेल (नग्न) साधु के साथ भगवान् का सवाद। अचेल काश्यप ने कही से सुन लिया है कि भगवान् बुद्ध सब प्रकार की तपस्याओं की निन्दा करते हैं। वह अपनी शका लेकर भगवान् के पास आता है। भगवान् उसे कहते है कि सब प्रकार की तपस्याओं का निन्दा करने वाला उन्हें कहना तो उनकी असत्य से निन्दा करना है। "काश्यप! मैं सब तपश्चरणों की निन्दा कैसे करूँगा?" सच्ची धर्मचर्या में भगवान् का अन्य साधु-सम्प्रदायों से कोई वैमत्य नही है। किन्तु सभी आचार-विचार छोड़ देना या अन्य सैकड़ों प्रकार के कायिक क्लेश देना जिनका विस्तृत विवरण इस सुत्त में है और जो उस समय की भारतीय साधना का अच्छा परिचय देते है, उनसे भगवान् की सहमति नही है। "काश्यप। जो आचार-विचार को छोड़ देता है, वह शील-सम्पत्ति, समाधि-सम्पत्ति और प्रज्ञा-सम्पत्ति की भावना नही कर सकता और न उनका साक्षात्कार ही कर पाता है। अत. वह श्रामण्य और ब्राह्मण्य से बिलकुल दूर है। काश्यप! जब भिक्षु वैर और द्रोह से रहित होकर मैत्री-भावना करता है और चित्त-मलो के क्षय होने से निर्मल चित्त की मुक्ति और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म मे स्वय जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर विहरता है, तो वही यथार्थत. श्रमण कहलाता है और वही ब्राह्मण भी"। वास्तव मे उसी की तपस्या भी सच्ची है। शील, समाधि और प्रज्ञा का तथा अतिवाद पर आश्रित कायक्लेशमयी तपस्याओं को छोडकर मध्यम-मार्ग रूपी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास का भी उपदेश यहाँ दिया गया है।

पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ. १।९)

पोट्ठपाद नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद। आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नों को उठाना ब्रह्मचर्य के लिये सहायक नहीं, यही यहाँ पोट्ठपाद परिव्राजक को भगवान् ने बताया है और शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना करने का उपदेश दिया है। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, आदि प्रश्नों को भगवान् ने क्यो अव्याकृत अर्थात् अनिर्वचनीय या अकथनीय कह कर छोड़ दिया है, इसका भी समाधान करते हुए भगवान् ने कहा है "पोट्ठपाद! न ये अर्थ-युक्त, न धर्म-युक्त, न ब्रह्मचर्य के उपयुक्त, न निर्वेद के लिये, न विराग के लिये, न निरोध के लिये, न शान्ति के लिये, न ज्ञान

के लिये न सबोधि के लिय न निर्वाण के लिय ह इसलिय मने इन्हें अव्याकृत कहा ह।

सुभ-सुत्त (दीघ १।१०)

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद यह प्रवचन उनके उपस्थाक शिष्य आनन्द के द्वारा दिया गया। शभ नामक माणवक को एक प्रश्न का उत्तर देते हुए आनन्द बताते ह कि भगवान बुद्ध शील समाधि और प्रज्ञा इन तीन धर्म-स्कन्धो के बड प्रशसक थ और इन्हे ही वे जनता को सिखाते थ। आनन्द द्वारा इन तीनो धर्मों का बुद्ध मन्तव्य के अनसार यहाँ विवरण दिया गया ह।

केवट्ट सुत्त (दीघ १।११)

केवट्ट नामक गहपति पुत्र के साथ भगवान का सवाद। ऋद्धियो का दिखाना भगवान न निषिद्ध कर दिया ह। उनके मतानसार सब से बडा चमत्कार तो उपदेश का ही चमत्कार ह आदेशना प्रातिहाय या अनशासनी प्रातिहाय (अनशासन रूपी चमत्कार) ही ह। देवताओ और ब्रह्मा को भी यहाँ उस तत्व के विषय म जहाँ पथ्वी जल तेज और वाय का निरोध हो जाता ह अनभिज्ञ बताया गया ह जब कि बद्ध उससे अभिज्ञ ह।

लोहिच्च सुत्त (दीघ १।१२)

लोहिच्च (लौहित्य) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान का सवाद। झठ और सच्चे शास्ताओ क विषय म भगवान न लोहिच्च को उपदेश दिया ह।

तेविज्ज सुत्त (दीघ १।१३)

वाशिष्ट और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मणो के साथ भगवान् का सवाद। अपरोक्ष अनुभति और सत्य साक्षात्कार के बिना तीनो वेदो का ज्ञान व्यथ ह यह इस सत्त की मूल भावना ह। इस सुत्त म एतरेय ब्राह्मण तत्तिरीय ब्राह्मण छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण इन ग्रन्थो या परम्पराओ का उल्लेख हुआ ह जो सम्भवत उस नाम की उपनिषदो की ओर सकेत करते ह। अट्टक वामक वामदेव विश्वामित्र यमदग्नि अगिरा भरद्वाज वशिष्ट कश्यप और भृगु इन दस ऋषियो को यहाँ मन्त्रो का कर्ता या वेदो का रचयिता बताया गया ह[१]। तीनो

---

१ य किन किन मन्त्रों के द्रष्टा या रचयिता ह इसके लिये देखिय राहुल सांकृत्यायन दशन दिग्दर्शन पृष्ठ ५२७-५२८

वेदो के ज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग का उपदेश करते हैं, किन्तु ब्रह्मा को अपने अनुभव से, अपने साक्षात्कार से, जानते कोई नहीं। भगवान् बुद्ध एक मधुर व्यग्यमयी उपमा करते है "वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मण जिसे न जानते हैं, जिसे न देखते हैं, उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते हैं। जैसे कि वाशिष्ट पुरुष ऐसा कहे—इस जनपद की जो सुन्दरतम स्त्री (जनपद कल्याणी) है मै उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ। उससे यदि लोग पूछे 'हे पुरुष ! जिस जनपद कल्याणी को तू चाहता है तू क्या जानता है कि वह क्षत्राणी है या ब्राह्मणी है या वैश्य स्त्री है, या शूद्र स्त्री है ?' ऐसा पूछने पर वह नहीं' कहे। तब उससे पूछे हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणी को तू चाहता है वह किस नाम वाली, किस गोत्र वाली लम्बी, छोटी या मझोली है ? काली श्यामा, किस ग्राम या नगर मे रहती है ? वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मणो ने ब्रह्मा को अपनी आँखो से नही देखा उसकी सलोकता के लिये मार्ग उपदेश करते है !" उपास्य और उपासक के गुणो के भेद की ओर भी भगवान् ने सकेत किया है। उपास्य (ब्रह्मा) अ-परिग्रही उपासक (ब्राह्मण) परिग्रही, उपास्य अवैर-चित्त, उपासक वैरबद्ध उपास्य वशवर्ती, उपासक अवशवर्ती। "वाशिष्ट ! सपरिग्रह त्रैविद्य ब्राह्मण काया छोड मरने के बाद परिग्रह-रहित ब्रह्मा के साथ सलोकता को प्राप्त कर सकेंगे यह सम्भव नही।" मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के द्वारा साधक तथागत-प्रवेदित मार्ग का साक्षात्कार कर ब्रह्म-विहार मे स्थित हो जाय तो फिर 'वह अपरिग्रह भिक्षु काया छोड मरने के बाद अपरिग्रह ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होगा, इसमे सन्देह नही।" आचरण की सभ्यता को यहाँ भगवान् ने सदा के लिये स्मरणीय शब्दो मे रख दिया है।

महावग्ग

महापदान-सुत्त (दीघ. २।१)

भगवान् के पूर्ववर्ती छह बुद्धो, यथा विपस्सी (विपश्यी) सिखी (शिखी) वेस्सभू (विश्वभू) भद्रकल्प, ककुसन्ध (क्रकुच्छन्द) और कोणा-गमन की जीवनियो का वर्णन। गोतम बुद्ध की जीवनी के आधार पर ही ये गढ़ लिये गये है, जिनमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ नही।

महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२)

प्रतीत्यसमुत्पाद का इस सुत्त में विस्तृततम विवरण है। सुत्त के प्रारम्भ में आनन्द यह कहते दिखाई पडते हैं "आश्चर्य है भन्ते ! अद्भुत है भन्ते ! कितना गम्भीर है और गम्भीर सा दीखता भी है यह प्रतीत्यसमुत्पाद, किन्तु मुझे यह साफ साफ दिखाई पडता है"। भगवान् उन्हें समझाते हैं "ऐसा मत कहो आनन्द ! यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दिखाई भी देता है। आनन्द ! इस धर्म के जानने से ही यह प्रजा उलझे सूत सी, गाँठे पडी रस्सी सी, मूज वल्वज सी, अपाय, दुर्गति और पतन को प्राप्त होती है और ससार से पार नही हो सकती।" इसके बाद प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृत विवरण है उसके विभिन्न १२ अगो की व्याख्या के साथ।

महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २।३)

महापरिनिब्बाण-सुत्त दीघ-निकाय का सम्भवत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सुत्त है। यहाँ हम भगवान् के अन्तिम जीवन का बडा मार्मिक और सच्चा चित्र पाते हैं। इस सुत्त मे प्रधानत इतनी घटनाओ की सूचना हम पाते हैं (१) वज्जियो के विरुद्ध अजातशत्रु के अभियान का इरादा (२) बुद्ध की अन्तिम यात्रा (३) अम्बपाली गणिका का भोजन (४) भगवान् की कडी बीमारी (५) चुन्द का दिया अन्तिम भोजन (६) जीवन का अन्तिम समय (७) स्त्रियो के प्रति भिक्षुओ क कर्तव्य (८) चक्रवर्ती की दाह-क्रिया (९) सुभद्र की प्रव्रज्या (१०) अन्तिम उपदेश (११) भगवान् का परिनिर्वाण (१२) दाह-क्रिया (१३) स्तूप-निर्माण। इन सब घटनाओ का सक्षिप्त निदर्शन भी यहा नही किया जा सकता। केवल एक-दो प्रसग लेख बद्ध किये जा सकते हैं। परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द ने भगवान् से पूछा "भन्ते ! तथागत के शरीर को हम कैसे करेगे ?" भगवान् ने उत्तर दिया "आनन्द ! तथागत की शरीर-पूजा से तुम बेपर्वाह रहो। तुम तो आनन्द सच्चे पदार्थ के लिये ही प्रयत्न करना, सच्चे पदार्थ के लिये ही उद्योग करना। सच्चे अर्थ के लिये ही अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसयमी हो विहरना।" आनन्द ने पूछा "भन्ते ! स्त्रियो के साथ हम कैसा बर्ताव करेगे ?" "अ-दर्शन, आनन्द !" वास्तव मे बुद्ध के अन्तिम जीवन से परिचित होने के लिये और उनके सेवक शिष्य आनन्द के साथ उनकी इस समय की चारिकाओ के लिये इस सुत्त का पढना अत्यन्त आवश्यक है। महा-परिनिर्वाण प्राप्त करने से पूर्व भगवान् ने भिक्षुओ को

आश्वसित किया "आनन्द ! शायद तुम को ऐसा हो—हमारे शास्ता चले गये, अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द ! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय तुम्हे उपदेश किये है, वे ही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" अनुकम्पक शास्ता ने अन्तिम बार भिक्षुओं को सम्बोधित किया "हन्त ! भिक्षुओ, अब तुम्हे कहता हूँ—सभी संस्कार (कृत वस्तुएँ) व्ययधर्मा (नाशवान्) हैं, अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) सम्पादन करो"—यही तथागत का अन्तिम वचन था। राजगृह से लेकर कुसिनारा तक की बुद्ध-यात्रा का वर्णन, जहाँ-जहाँ भगवान् रुके उनके पूर्ण विवरण के साथ, हमें यहाँ मिलता है। इस प्रकार अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका, वैशाली, भडगाम, हत्थिगाम, और पावा आदि स्थानों का वर्णन आया है। वैशाली गणतंत्र के सात गुणों की प्रशंसा भी भगवान् ने इस सुत्त में की है।

महासुदस्सन-सुत्त (दीघ २।४)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महासुदर्शन नामक चक्रवर्ती राजा थे। उसी समय की उनकी जीवनी का विस्तृत विवरण है। 'महासुदस्सन जातक' के कथानक से यहाँ समानता और असमानता दोनों ही हैं।

जनवसभ-सुत्त (दीघ. २।५)

बिम्बिसार मरने के बाद जनवसभ नामक यक्ष के रूप में स्वर्ग-लोक में उत्पन्न हुआ। उसने इस सुत्त में अपने गुरु से बुद्ध-धर्म की प्रशंसा की है। देवेन्द्र शक्र और सनत्कुमार ब्रह्मा भी इस सुत्त में बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करते दिखाये गये हैं। इस सुत्त में काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल चेति(चेदि) कुरु, पचाल, मच्छ (मत्स्य) और शूरसेन जनपदों का उल्लेख है।

महागोविन्दसुत्त (दीघ. २।६)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म में महागोविन्द नामक ब्राह्मण थे। उसी का यहाँ प्रधानत वर्णन है। अत इस अंश को एक जातक ही समझना चाहिये। वैसे इस सुत्त में भी पूर्व सुत्त (जनवसभ सुत्त)की तरह देवराज इन्द्र और सनत्कुमार ब्रह्मा द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करवाई गई है। बुद्धकालीन भारत के राजनैतिक भूगोल का वर्णन इस सुत्त की एक प्रधान विशेषता है। यहाँ काशी-कोशल और अग-मगध आदि राज्यों का विवरण दिया गया है। अश्मक राज्य के पोतन नामक नगर का भी निर्देश है।

महासमय-सुत्त (दीघ. २।७)

इस सुत्त में बुद्ध के दर्शनार्थ देवताओं का आगमन दिखाया गया है।

सक्कपञ्ह-सुत्त(दीघ. २।९)

शक्र (इन्द्र) द्वारा छह प्रश्नो का पूछा जाना। उसके द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशसा।

महासतिपट्ठान सुत्त (दीघ. २।९)

इस सुत्त मे चार स्मृति-प्रस्थानो यथा कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना का विशद विवरण किया गया है। ये चार स्मृति-प्रस्थान 'सत्वो की विशुद्धि के लिये, शोक के निवारण के लिये, दु ख और दौर्मनस्य का अतिक्रमण करने के लिये, सत्य की प्राप्ति के लिये और निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात्कार के लिये एकायन (सर्वोत्तम, अकेले) मार्ग है' ऐसा भगवान् ने यहाँ कहा है।

पायासि राजञ्ञ-सुत्त (दीघ. २।१०)

पायासि राजन्य के साथ भगवान् बुद्ध के शिष्य कुमार काश्यप के सवाद का वर्णन है। पायासि राजन्य परलोक मे विश्वास नही करता । वह यह मानता है कि मरने के साथ जीवन उच्छिन्न हो जाता है। उसका तर्क स्पष्ट है। (१) मरे हुओ को किसी ने लौट कर आते नही देखा। (२) धर्मात्मा आस्तिको को भी मरने की इच्छा नही होती। (३) जीव के निकल जाने पर मृत शरीर का न तो **वजन** ही कम होता है और न जीव को कही से निकलते जाते देखा जाता। भौतिकवादी पायासि का कुमार काश्यप ने समाधान करने का प्रयत्न किया है। पायासि के मतानुसार "यह भी नही है, परलोक भी नही है। जीव मरने के बाद फिर नही पैदा होते और अच्छे बुरे कर्मो का कोई फल भी नही होता।" इस मत के अनुसार ब्रह्मचर्य का अभ्यास ही व्यर्थ है। बुद्ध का मन्तव्य अनात्मवाद होते हुए भी पायासि के भौतिकवाद से तो फिर भी ठीक विपरीत है।

पाथिक वग्ग

पाथिक-सुत्त (दीघ. ३।१)

सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र के बौद्ध धर्म-त्याग की बात फिर इस सुत्त में आई है। वह इसलिये रुष्ट होकर भिक्षु-सघ को छोड कर चला गया था कि भगवान् ने उसे

ऋद्धिबल नही दिखाया। "सुनक्खत्त ! क्या मैंने तुझसे कभी कहा था— सुनक्खत्त ! आ मेरे धर्म को स्वीकार कर। मैं तुझे अलौकिक ऋद्धि-बल दिखाऊँगा ?" "नही भन्ते !" "मूर्ख ! यह तेरा ही अपराध है"। ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का भी इस सुत्त में खडन किया गया है।

उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त (दीघ. ३।२)

उदुम्बरिक नामक परिव्राजक-आराम में भगवान् ने यह सिंहनाद किया, अत इसका यह नाम है। यह सिंहनाद भगवान् ने न्यग्रोध नामक परिव्राजक के प्रति किया। यहाँ भगवान् ने झूठी और सच्ची तपस्याओ विषयक उपदेश दिया है और बुद्ध-धर्म की साधना से इसी जन्म में शान्ति की प्राप्ति को दिखाया है।

चक्कवत्तिसीहनाद सुत्त (दीघ. ३।३)

स्वावलम्बन व्रत-पालन एव चार स्मृति-प्रस्थानो के अभ्यास का उपदेश। भिक्षुओ के कर्त्तव्यो सम्बन्धी उपदेश भी।

अग्गञ्ञ-सुत्त (दीघ. ३।४)

इस सुत्त में वर्ण-व्यवस्था का खडन किया गया है। जन्म की अपेक्षा यहाँ कर्म को ही प्रधान माना गया है।

सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५)

परम ज्ञान मे बुद्ध के समान आज तक कोई नही हुआ। बुद्ध अत्यन्त विनम्र और निरहकार हे। बुद्ध के उपदेशो की विशेषताओ का विवरण भी।

पासादिक-सुत्त (दीघ. ३।६)

निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (तीर्थङ्कर भगवान् महावीर) के पावा में कैवल्य-प्राप्ति की इस सुत्त मे सूचना है। बुद्ध के उपदिष्ट धर्म, अव्याकृत और व्याकृत बाते, पूर्वान्त और अपरान्त दर्शन, चार स्मृति-प्रस्थान आदि विषय जो पूर्व के सुत्तो मे आ चुके है, यहाँ फिर विवृत किये गये है। साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि बुद्ध-धर्म चित्त की शुद्धि के लिये है और यही उसका प्रमुख उद्देश्य और उपयोग है।

लक्खण-सुत्त (दीघ. ३।७)

इस सुत्त में ३२ महापुरुष-लक्षणो का विवरण है। साथ ही किस किस कर्म-विपाक से किस किस शुभ लक्षण की प्राप्ति होती है, यह भी दिखाया गया है। इस प्रकार नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है।

सिगालोवाद-सुत्त (दीघ. ३।८)

सिगाल (शृगाल) नामक गृहपति-पुत्र (वैश्य-पुत्र) को भगवान् द्वारा पूरे गृहस्थ-धर्म का उपदेश। चार पाप के स्थान, छह सम्पत्ति-नाश के कारण, मित्र और अमित्र की पहचान तथा छह दिशाओ की पूजा करने का बौद्ध विधान, आदि बातो का विवरण है। आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि गृहस्थ सम्बन्धी कर्तव्यो में कोई ऐसा नही है जो यहाँ छोड दिया गया हो। यह सुत्त बौद्ध धर्म मे गृहस्थ धर्म के स्वरूप और महत्व को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अशोक ने इस सुत्त की भावना को अपने अभिलेखो में बार बार ग्रहण किया है।

आटानाटिय-सुत्त (दीघ. ३।९)

बौद्ध रक्षा-मन्त्र। सात बुद्धो को नमस्कार आदि और इस प्रकार भूत-यक्षो से रक्षा करने का उपाय। यह सुत्त बुद्ध की शिक्षाओ से मल नही खाता। यह बाद का परिवर्द्धन ही जान पडता है, जैसा अन्य अनेक विद्वानो का भी विचार है।

संगीति परियाय-सुत्त (दीघ. ३।१०)

एक सख्या से लेकर दस सख्या तक के वर्गीकरणो मे बुद्ध-मन्तव्यो की सूची।

दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११)

एक से लेकर दस सख्या तक के धर्मों मे कौन कौन से उपकारक, भावनीय परिज्ञेय (त्याज्य) प्रहातव्य, हानभागीय (पतनकारक), विशेष भागीय, दुष्प्रति-वेध्य, उत्पादनीय, अभिज्ञेय, या साक्षात्करणीय ह, इसका विवरण।

आ—मज्झिम-निकाय[1]

मज्झिम-निकाय मे मध्यम आकार के सुत्तो का सग्रह है। इसीलिये इसका यह नाम पडा है। सुत्त-पिटक मे इस निकाय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। महापडित राहुल साकृत्यायन ने इस निकाय को 'बुद्धवचनामृत' कहा है जो इसमें निहित बुद्ध-वचनो की सर्वविध महत्ता को देखते हुए बिलकुल ठीक ही है। फ्रैंक जैसे सन्देहवादी विद्वान् को भी मज्झिम-निकाय की मौलिक सुगन्ध के सामने

१. केवल मज्झिम-पण्णासक अर्थात् सुत्त ५१-१०० देवनागरी लिपि में दो भागों में बम्बई विश्व विद्यालय द्वारा प्रकाशित, भाग प्रथम सुत्त ५१—७०; भाग द्वितीय सुत्त ७१-१०० (डा० भागवत द्वारा सपादित) हिन्दी में महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसे अनुवादित किया है। यह अनुवाद महा-बोधि सभा, सारनाथ, द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित किया गया है।

नत-मस्तक होना पड़ा है और उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि मज्झिम-निकाय में हम निश्चय ही धर्म-स्वामी के कुछ महत्त्वपूर्ण उद्गार पाते है। जर्मन विद्वान् डा० डालके ने मुख्यत इसी एक ग्रन्थ के आधार पर अपने गम्भीर बौद्ध धर्म सम्बन्धी निबन्धो की रचना की है। मज्झिम-निकाय का वर्गीकरण १५ वर्गों में है, जिनमें कुल मिला कर १५२ सुत्त हैं। हम इस वर्गीकरण की रूपरेखा पहले दिखा चुके है। अत यहाँ अति संक्षिप्त रूप में केवल मज्झिम-निकाय के सुत्तो के विषय की ओर इंगित मात्र करेंगे।

(१) मूल परियाय वग्ग

१ मूल परियाय-सुत्त—सारे धर्मों का मूल नामक उपदेश—न मै, न मेरा, न मेरा आत्मा—अनात्मवाद-अनासक्तिवाद।

२ सब्बासब सुत्त—'भिक्षुओ ! सारे चित्त-मलो के संवर (रोक) नामक उपदेश को मै तुम्हे देता हूँ ध्यान से सुनो।

३ धम्म दायाद-सुत्त— 'भिक्षुओ ! तुम मेरे धर्म के वारिस बनो, बनावि भोगो (आमिष) के दायाद नही। भिक्षुओ ! तुम पर मेरी अनुकम्पा है।"

४ भय-भरव-सुत्त—वन-खड और सूनी कुटियो में रहने वाले अशुद्ध कायिक कर्म संयुक्त भिक्षुओ को कभी-कभी भय हो उठता है। इसे कैसे दूर किया जाय इसका जानुस्सोणि नामक ब्राह्मण को भगवान् का उपदेश है, स्वकीय एव अनुभव के आधार पर। "ब्राह्मण ! शायद तेरे मन मे ऐसा हो—आज भी श्रमण गोतम अ-वीतराग अ-वीत द्वेष, अ-वीत मोह है, इसीलिये अरण्य वन-खड तथा सूनी कुटिया का सेवन करता है' ! ब्राह्मण ! मै दो बातो के लिये आज भी अरण्य सेवन करता हूँ (१) इसी शरीर में अपने सुख-विहार के विचार से (२) आगे आने वाली जनता पर अनुकम्पा करने के लिये ताकि मेरा अनुगमन कर वह भी सुफल की भागी हो।"

५ अनगण-सुत्त—राग द्वेष और मोह से रहित (अनगण) और उनसे युक्त व्यक्तियो के चार प्रकार—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और अन्य भिक्षुओ के धार्मिक संलाप।

६ आकखेय्य-सुत्त—"भिक्षुओ ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष रूपी संयम से संयमित होकर विहरो ध्यान और विपश्यना से युक्त हो सूने घरो की शरण लो।"

७. वत्थ सुत्त—मैले वस्त्र पर रंग नहीं चढता। किन्तु साफ वस्त्र पर चढ़ जाता है। चित्त के निर्मल होने पर सुगति भी अनिवार्य है। वह नदियों के स्नानादि से प्राप्त नही होती। 'ब्राह्मण! तू यदि झूठ नहीं बोलता, प्राणियों को नहीं मारता, बिना दिया लेता नही, तो गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिये गया है।"
८. सल्लेख-सुत्त—तप-विहार का उपदेश।
९. सम्मादिट्ठि-सुत्त—सम्यक् दृष्टि पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।
१०. सति पट्ठान-सुत्त—चार स्मृति-प्रस्थानो का उपदेश। यही विषय दीघ-निकाय के महासतिपट्ठान-सुत्त का भी है। केवल कुछ अंश वहाँ अधिक है।

(२) सीहनाद वग्ग

११. चूल सीहनाद-सुत्त—चार बातो मे बौद्ध भिक्षुओ की अन्य धर्मावलम्बियों से विशेषता।
१२. महासीहनाद-सुत्त—सुनक्खत्त लिच्छविपुत्त यह कह कर भिक्षु-सघ को छोडकर चला गया है "श्रमण गोतम के पास आर्य ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठता नही है, उत्तर-मनुष्य धर्म नही है। वह केवल अपने ही चिन्तन से सोचे, अपनी प्रतिभा से जाने, तर्क से प्राप्त, धर्म का उपदेश करते है।" इसी प्रसंग को लेकर भगवान् बुद्ध और धर्मसेनापति सारिपुत्र में सलाप। तथागत के दस बल तथा चार वैशारद्यो का वर्णन। इसी प्रसग में भगवान् ने अपनी पूर्व तपस्याओ का वर्णन भी किया है "सारिपुत्र! यह मेरा रुक्षा-चार था। पपडी पड़े अनेक वर्ष के मैल को शरीर मे संचित किये रहता था. . .भीषण वन-खड मे प्रवेश कर विहरता था—मुर्दे की हड्डियों का सिरहाना बना श्मशान में शयन करता था—सारिपुत्र! जब मै पेट के चमड़े को पकडता तो पीठ के काँटे को ही पकड लेता था, पीठ के काँटे को पकडते समय पेट के चमडे को ही पकड लेता था—इस दुष्कर तपस्या से भी मै उत्तर मनुष्य-धर्म नही पा सका . . आज सारिपुत्र! मेरी आयु अस्सी को पहुँच गई है . . . .सारिपुत्र! अशन, पान, शयन को छोड, मल-मूत्र-त्याग के समय को छोड, तथागत की धर्म-देशना सदा अखंड ही चलती रहेगी।" बुद्ध-जीवनी की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

१३ महादुक्खक्खन्ध-सुत्त—दुःख, उसका हेतु और निरोध।

१४ चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही विषय।

१५ अनुमान-सुत्त—महामौद्गल्यायन का प्रवचन। सावधानी पूर्वक आत्म-प्रत्यवेक्षण करते हुए सदाचारी जीवन बिताने का उपदेश।

१६ चेतोखिल-सुत्त—चित्त के पाँच काँटों का भगवान् के द्वारा वर्णन।

१७ वनपत्थ-सुत्त—वनप्रस्थ में विहरने का उपदेश।

१८ मधुपिंडिक-सुत्त—भगवान् के द्वारा धर्म की रूपरेखा का वर्णन। कच्चान (कात्यायन) द्वारा उसकी विस्तार से व्याख्या।

१९ द्वेधावितक्क-सुत्त—भगवान् द्वारा अपने पूर्व अनुभवो का वर्णन। चित्तमलो का शमन, ध्यान, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन।

२० वितक्क सण्ठान-सुत्त—वितर्कों को वश में करने का उपाय।

(३) ओपम्म वग्ग

२१ ककचूपम-सुत्त—आरे से चीरे जाने पर भी जो चित्त को बिना दूषित किये शान्त न रह सके वह बुद्ध का शिष्य नहीं है।

२२ अलगद्दूपम-सुत्त—धर्म के विषय मे मिथ्या धारणायें रखना सर्प को पूँछ से पकडना है।

२३ वम्मिक-सुत्त—नर-देह की असारता एव निर्वाण-प्राप्ति की बाधाएँ।

२४ रथविनीत -सुत्त—ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और विशुद्धियाँ।

२५ निवाप-सुत्त—मार से कैसे बचें ?

२६ अरियपरियेसन-सुत्त—बुद्ध के द्वारा अपने महाभिनिष्क्रमण एव (पासरासि-सुत्त)—अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन। धर्म-चक्र-प्रवर्तन का भी वर्णन।

२७ चूलहत्थिपदोपम-सुत्त—सत्य-प्राप्त मुनि के आश्चर्य।

२८ महाहत्थिपदोपम-सुत्त—उपादान-स्कन्धो से विमुक्ति, प्रतीत्यसमुत्पाद। सभी कुशल धर्म चार आर्य सत्यों में निहित हे।

२९ महासारोपम-सुत्त—देवदत्त के सघ को छोड़ जाने के बाद भगवान् का भिक्षु जीवन के उद्देश्यो पर उपदेश

३० चूलसारोपम-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही। इस सुत्त में छह नैथिको या तत्कालीन आचार्यो का वर्णन भी है।

(४) महायमक वग्ग

३१ चूल गोसिंग-सुत्त—अनिरुद्ध, किंबिल और नन्दिय की प्रव्रज्या एवं सिद्धि-प्राप्ति।

३२ महागोसिंग-सुत्त—गोसिंग शालवन किस प्रकार के भिक्षु से सुशोभित होगा ?

३३ महागोपालक-सुत्त—भिक्षु के लिये आवश्यक ग्यारह बाते।

३४ चूल गोपालक-सुत्त—अच्छे और बुरे शास्ताओ के अनुयायियो की दशा।

३५ चूल सच्चक-सुत्त—सच्चक नामक आजीवक को पञ्चस्कन्ध और अनात्मवाद का उपदेश।

३६ महासच्चक-सुत्त—भगवान् बुद्ध का अभिसम्बोधि और समाधि पर प्रवचन। काया की साधना के ऊपर मन की साधना की स्थापना।

३७ चूलतण्हासखय सुत्त—तृष्णा का क्षय कैसे हो ?

३८ महातण्हा सखय-सुत्त—अनात्मवाद या तृष्णा-क्षय के रूप में उपदेश। धर्म में भी अनासक्ति आवश्यक।

३९ महा-अस्सपुर सुत्त— } भिक्षुओ के कर्तव्यो का वर्णन।

४० चूल अस्सपुर-सुत्त— }

(५) चूल यमक वग्ग

४१ सालेय्यक-सुत्त—कुछ प्राणी क्यो सुगति और कुछ क्यो दुर्गति प्राप्त करते हैं ?

४२ वेरजक-सुत्त—उपर्युक्त के समान विषय।

४३ महावेदल्ल-सुत्त—वेदना, सज्ञा, शील, समाधि, प्रज्ञा, आयु, उष्मा और विज्ञान पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।

४४ चूलवेदल्ल-सुत्त—आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, सज्ञावेदयित-निरोध, स्पर्श, वेदना तथा अनुशयो पर भिक्षुणी धम्मदिन्ना का प्रवचन।

४५ चूल धम्मसमादान-सुत्त—धर्मानुयायियो के चार प्रकार।

४६ महाधम्मसमादान-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।

४७ वीमसक-सुत्त—ठीक विमर्श कैसे हो ?

४८. कोसम्बिय-सुत्त—कौशाम्बी के भिक्षुओं को मेलजोल के लिये उपयोगी छह बातों का उपदेश।

४९. ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त—ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता मानना ठीक नहीं।

५०. मार-तज्जनिय-सुत्त—महामौद्गल्यायन का मार को तर्जन।

(६) गहपति वग्ग

५१. कन्दरक-सुत्त—आत्म-निर्यातन के विरुद्ध प्रवचन।

५२. अट्ठक नागर-सुत्त—ग्यारह अमृत द्वार (ध्यान)। आनन्द निर्वाण-मार्ग पर स्थित।

५३. सेक्ख-सुत्त—शैक्ष्य जनों के कर्त्तव्यों पर आनन्द का प्रवचन।

५४. पोतलिय-सुत्त—आर्य-मार्ग क्या है?

५५. जीवक-सुत्त—मांस-भक्षण पर बुद्ध-मत।

५६. उपालि-सुत्त—दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ के साथ भगवान् का संवाद।

५७ कुक्कुरवतिक-सुत्त—निरर्थक व्रत। कर्म पर भी प्रवचन।

५८. अभयराजकुमार-सुत्त—उपकारी अप्रिय सत्य को भी बोलना कर्त्तव्य है। यदि वह उपकारी हो है। राजगृह के वेणुवन में इस सुत्त का उपदेश भगवान् ने अभयराजकुमार को दिया।

५९. बहुवेदनिय-सुत्त—वेदनाओं का वर्गीकरण।

६०. अपण्णक-सुत्त—द्विविधा-रहित (अपर्णक) धर्म का उपदेश।

(७) भिक्खु-वग्ग

६१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त—"राहुल! तुझे सीखना चाहिये कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म का परिशोधन करूँगा।" अम्बलट्ठिका (वेणुवन के किनारे वासस्थान) में राहुल के प्रति भगवान् का उपदेश!

६२ महाराहुलोवाद-सुत्त—राहुल को प्रधानतः आनापानसति (प्राणायाम) के अभ्यास का उपदेश। "राहुल! पृथ्वी-समान ध्यान की भावना कर। .....जैसे राहुल! पृथ्वी में शुचि वस्तु भी फेंकते हैं, अशुचि वस्तु भी फेंकते हैं ....उससे पृथ्वी दुःखी नहीं होती, ग्लानि नहीं करती, घृणा नहीं करती। इसी प्रकार राहुल! पृथ्वी समान भावना करते तेरे चित्त को अच्छे लगने वाले स्पर्श न चिपटेंगे।. ....राहुल! मैत्री-भावना

का अभ्यास कर। जो द्वेष है, उससे छूट जायेगा। राहुल ! करुणा-भावना का अभ्यास कर। जो तेरी पर-पीडा-करण इच्छा है, वह हट जायगी। राहुल ! उपेक्षा-भावना का अभ्यास कर ! जो तेरी प्रतिहिंसा है, वह हट जायगी। राहुल अशुभ-भावना का अभ्यास कर। जो तेरा राग है, वह चला जायगा' आदि।

६३ चूल-मालुक्य-सुत्त—लोक शाश्वत है या अशाश्वत, आदि दस प्रश्न चूल-मालुक्य पुत्र न भगवान् से किये। भगवान् ने उन्हें अव्याकत (अव्याकृत-अकथनीय) करार दे दिया, क्योकि इनका उत्तर या कथन सार्थक नही, ब्रह्मचर्य-उपयोगी नही और न वह वैराग्य, निरोध, शान्ति, उत्तम, परम, ज्ञान एव निर्वाण के लिये ही आवश्यक है।

६४ महा-मालुक्य-सुत्त—पाँच सयोजनो (सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शील-व्रत परामर्श, काम-राग व्यापाद) के प्रहाण का मार्ग।

६५ भद्दालि-सुत्त—भद्दालि नामक भिक्षु को आचार-मार्ग का उपदेश।

६६ लकुटिकोपम-सुत्त—स्थविर उदायी को भगवान का धर्मोपदेश। "उदायी ! कोई कोई मूर्ख पुरुष मेरे 'यह छोडो' कहने पर ऐसा कहते है "क्या इस छोटी बात के लिये, तुच्छ बात के लिये, यह श्रमण जिद कर रहा है" और वह उसे नही छोडते। किन्तु जो भिक्षु सीखने वाले होते है, उन्हे यह होता है 'यह बलवान् बन्धन है, दृढ बन्धन है, स्थिर बन्धन है, स्थूल कलिगर (पशुओ के गले मे बाँधने का काष्ठ) है। जैसे उदायी ! पोय-लता के बन्धन से बँधी लकुटिका (गौरैय्या) पक्षी वही वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा करती है। उदायी ! जो आदमी यह कहे 'चूंकि यह लकुटिका पक्षी पोय-लता के बन्धन से बँधा है, वह वही वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा कर रहा है, किन्तु उसका वह निर्बल बन्धन है, सडा बन्धन है, कमजोर बन्धन है'। क्या उदायी। ऐसा कहते वह ठीक कह रहा है ?" "नही भन्ते ! वह लकुटिका पक्षी जिस पोयलता के बन्धन से बँधा है, वह उसके लिये बलवान् बन्धन है, स्थूल कलिगर (पशु के गले मे बाँधने का काष्ठ) है" आदि।

६७ चातुम-सुत्त—चातुमा के भिक्षुओ को आचार-तत्त्व का उपदेश।

६८ नलक-पान-सुत्त—नलक-पान के पलास-वन मे भगवान् का भिक्षु अनि-रुद्ध से धर्म-सलाप।

६९ गुलिस्सानि-सुत्त—गुलिस्सानि नामक आरण्यक भिक्षु को लक्ष्य कर धर्म-सेनापति सारिपुत्र का भिक्षुओं को उपदेश।

७० कीटागिरि-सुत्त—भिक्षु-नियमो सम्बन्धी उपदेश, विशेषत एक समय भोजन करने के प्रसग को लेकर।

(८) परिब्बाजक—वग्ग

७१ तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त—भगवान् बुद्ध त्रैविद्य है।

७२ अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त—अग्गिवच्छगोत्त नामक परिव्राजक को भगवान् की शिष्यत्व-प्राप्ति।

७३ महावच्छगोत्त-सुत्त—उपासको और भिक्षुओ के कर्तव्य।

७४ दीघनख-सुत्त—दीघनख परिव्राजक से भगवान् का सलाप।

७५ मागन्दिय-सुत्त—मागन्दिय नामक परिव्राजक को कामनाओ के त्याग का उपदेश।

७६ सन्दक-सुत्त—सन्दक नामक परिव्राजक को आनन्द का उपदेश।

७७ महासकुलुदायि-सुत्त—महासकुलुदायि परिव्राजक को उपदेश।

७८ समणमडिका-सुत्त—शुद्ध आचरण पर भगवान् बुद्ध का उपदेश।

७९ चूलसकुलुदायि-सुत्त—निगण्ठ नाथपुत्त और उनका चातुर्याम सवर।

८० वेखनस-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही विषय-वस्तु।

(९) राजवग्ग

८१ घाटिकार-सुत्त—भगवान् बुद्ध के एक पूर्वजन्म का विवरण।

८२ रट्ठपाल-सुत्त—राष्ट्र-पाल की प्रव्रज्या का विवरण। कुरुदेश की राजधानी थुल्लकोट्ठित का उल्लेख है। राष्ट्रपाल यही के निवासी थे।

८३ मखादेव-सुत्त—बुद्ध के एक पूर्व जन्म की कथा।

८४ माधुरिय-सुत्त—चारो वर्णों की समता का उपदेश आयुष्मान् कात्यायन द्वारा। बुद्ध-निर्वाण के बाद आयुष्मान् कात्यायन का मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र से मथुरा के गुन्दावन में सवाद।

८५ बोधिराजकुमार-सुत्त—भगवान् बुद्ध की जीवनी, स्वय उनके शब्दो मे, गृहत्याग से बुद्धत्व-प्राप्ति तक।

८६ अगुलिमाल-सुत्त—डाकू अगुलिमाल का जीवन-परिवर्तन।

८७ पियजातिक-सुत्त—सम्पूर्ण दुःख प्रेम से उत्पन्न होने वाले है।

८८. बाहितिक-सुत्त—शुभ और अशुभ आचरण । बुद्ध अशुभ आचरण नही कर सकते । आनन्द का प्रसेनजित् को उपदेश ।
८९. धम्मचेतिय-सुत्त—भोगो के दुष्परिणाम एव बुद्ध की प्रज्ञा का दर्शन।
९०. कण्णकत्थल-सुत्त—क्या बुद्ध सर्वज्ञ हे ?

(१०) ब्राह्मण—वग्ग

९१. ब्रह्मायु-सुत्त—३२ महापुरुष-लक्षण । तथागत के ईर्यापथ का विवरण । ब्राह्मण, वेदगू आदि शब्दों की बुद्धमतानुसार व्याख्या ।
९२. सेल-सुत्त—सेल ब्राह्मण की प्रव्रज्या ।
९३. अस्सलायन-सुत्त—जातिवाद का खडन । श्रावस्ती-निवासी आश्वलायन ब्राह्मण का यहाँ वर्णन है, जिसे विद्वानो ने प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन से मिलाया है ।
९४. घोटमुख-सुत्त—आत्म-पीडा की निन्दा ।
९५ चंकि सुत्त—बुद्ध के गुणों का वर्णन । सत्य की रक्षा और प्राप्ति के उपाय
९६. फासुकारि-सुत्त—जातिवाद की निन्दा ।
९७. धानजानि-सुत्त—गृहस्थ-बन्धन अशुभ कर्म करने का बहाना नही ।
९८. वासेट्ठ-सुत्त—वास्तविक ब्राह्मण कौन ?
९९. सुभ-सुत्त—गृहस्थ और सन्यास की तुलना ।
१००. संगारव-सुत्त—बुद्ध-जीवनी का विवरण । बुद्ध द्वारा देवताओ के अस्तित्व की स्वीकृति ।

(११) देवदह वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त—निगंठों के मत का विवरण ।
१०२. पञ्चत्तय-सुत्त—आत्मवाद आदि नाना मतवादो का खंडन ।
१०३. किन्ति-सुत्त—भिक्षुओं को एकता का उपदेश ।
१०४. सामगाम-सुत्त—बुद्ध के मूल उपदेश । संघ में शान्ति सम्बन्धी उपदेश । इस सुत्त में जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति की सूचना है ।
१०५. सुनक्खत-सुत्त—ध्यान और चित्त-सयम पर प्रवचन ।
१०६. आनंजसप्पाय-सुत्त—भोगो की निस्सारता ।
१०७. गणकमोग्गल्लान-सुत्त—आचरण की शिक्षा का क्रमिक विकास ।

१०८ गोपकमोग्गल्लान-सुत्त—बुद्ध के बाद धर्म ही भिक्षुओं का एक मात्र प्रतिशरण। गोपक ब्राह्मण के साथ आनन्द का सलाप। इस सुत्त से हमें यह सूचना मिलती है कि राजा प्रद्योत के भय से मगधराज अजातशत्रु नगर सुरक्षित करवा रहा था।

१०९ महापुण्णम-सुत्त—पञ्चस्कन्ध एव अनात्मवाद सम्बन्धी उपदेश।

११० चूलपुण्णम-सुत्त—अच्छे और बुरे मनुष्य।

(१२) अनुपद-वग्ग

१११ अनुपद-सुत्त—भगवान् बुद्ध द्वारा सारिपुत्र के शील, समाधि और प्रज्ञा आदि की प्रशसा।

११२ छब्बिसोधन-सुत्त—अर्हत् की पहचान क्या है ?

११३ सप्पुरिस-सुत्त—सत्पुरुष और असत्पुरुष की पहचान।

११४ सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त—क्या सेवनीय और क्या असेवनीय है ?

११५ बहुधातुक-सुत्त—धातुओ का निरुपण ।

११६ इसिगिलि-सुत्त—प्रत्येक-बुद्ध-सम्बन्धी उपदेश ।

११७ महाचत्तारीसक-सुत्त—सम्यक् समाधि सम्बन्धी प्रवचन।

११८ आनापानसति-सुत्त—प्राणायाम और ध्यान सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन।

११९ कायगतासति-सुत्त—काय कायानुपश्यना क्या है ?

१२० सखारुप्पत्ति-सुत्त—सस्कारो की उत्पत्ति कैसे ?

(१३) सुञ्ञता-वग्ग

१२१ चूल-सुञ्ञता-सुत्त—चित्त की शून्यता का योग।

१२२ महासुञ्ञता-सुत्त—उपर्युक्त का विस्तृत विवरण।

१२३ अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त—आश्चर्य-पुरुष भगवान् बुद्ध का जन्म कहाँ व कैसे?

१२४ वक्कुल-सुत्त—स्थविर वक्कुल की जीवन-चर्या।

१२५ दन्तभूमि-सुत्त—सयम का उपदेश।

१२६ भूमिज-सुत्त—कौन सा ब्रह्मचर्य सफल है ?

१२७ अनुरुद्ध-सुत्त—भिक्षु अनिरुद्ध द्वारा अ-प्रमाणा चेतो-विमुक्ति पर उपदेश।

१२८ उपक्किलेस-सुत्त—कलह रोकने के उपाय। योग-साधन।

१२९ बाल पडित सुत्त—जीवन के बाद फल ?

१३० देवदत्त-सुत्त—यम का भय ?

(१४) विभंग-वग्ग

१३१. भद्देकरत्त-सुत्त—भूत और भविष्यत् की चिन्ता छोड़ वर्तमान में कर्म करना ही सर्वोत्तम मंगल है।
१३२. आनन्द भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३३. महाकच्चान भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त का ही अधिक विस्तृत वर्णन।
१३४. लोमसकगिय-भद्देकरत्त-सुत्त। उपर्युक्त के समान ही
१३५. चूल कम्मविभंग-सुत्त—ससार में असमानता क्यों? कर्म-फल।
१३६ महाकम्मविभंग-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
१३७ सळायतन-सुत्त—छह आयतनों एवं चार स्मृति-प्रस्थानों का वर्णन।
१३८ उद्देस विभंग-सुत्त—इन्द्रिय संयम, ध्यान और अपरिग्रह का उपदेश।
१३९ अरण-विभग -सुत्त—शान्ति का रहस्य?
१४०. धातु विभग-सुत्त—छह धातुओं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चित्त) का निरूपण
१४१. सच्चविभग-सुत्त—चार आर्य सत्यो का विवरण।
१४२ दक्षिणा-विभग-सुत्त—सघ को दिया हुआ दान व्यक्ति को दिये हुए दान से बढ़कर है।

(१५) सळायतन-वग्ग

१४३ अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त—अनाथपिडिक की बीमारी और मृत्यु का वर्णन। अन्तिम समय में धर्मसेनापति सारिपुत्र का उसको उपदेश।
१४४ छन्नोवाद-सुत्त—छन्न की आत्महत्या।
१४५. पुण्णोवाद-सुत्त—स्थविर पूर्ण की सहिष्णुता।
१४६ नन्दकोवाद-सुत्त—अनात्मवाद एव सात बोध्यङ्गों का वर्णन।
१४७ चूलराहुलोवाद-सुत्त—अनात्मवाद-सम्बन्धी उपदेश।
१४८ छछक्क-सुत्त—अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन।
१४९ महासळायतनिक-सुत्त—तृष्णा और दुःख का निरूपण।
१५०. नगर बिन्देय्य-सुत्त—आदरणीय श्रमण-ब्राह्मण कौन है?
१५१. पिंडपात-पारिसुद्धि-सुत्त—भिक्षा की शुद्धि कैसे? स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना का उपदेश।
१५२. इन्द्रिय-भावना-सुत्त—इन्द्रिय-संयम कैसे हो?

दीघ-निकाय के समान मज्झिम-निकाय में भी छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज की सामान्य अवस्था का अच्छा पता चलता है। उसके अनेक वर्णनों में तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्यों की महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। मज्झिम-निकाय में वर्णित भगवान् के उपदेश जिन जिन प्रदेशों, नगरों, निगमों (कस्बों) ग्रामों या वन-प्रदेशों में हुए उनकी एक सूची बनाई जाय तो उस समय की भौगोलिक परिस्थितियों को समझने में हमारी बड़ी सहायक होगी। अंग, वंग, योनकम्बोज, मग्ग, काशी, कुरु, कोशल जैसे प्रदेश, वैशाली, चम्पा, पाटलिपुत्र, कपिलवस्तु, राजगृह, नालन्दा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी जैसे नगर, शाक्यों के मेदलुम्प, कोलियों के हलिद्दवसन, कुरुओं के थुल्लकोट्ठित आदि कस्बे तथा दण्डकारण्य, कलिङ्गारण्य जैसे वन-प्रदेश, जो बुद्ध-चरणों की रज से अंकित हुए थे, हमारे लिये एक गौरवमयी स्मृति का सन्देश देते हैं। कोसल-प्रदेश के दो मुख्य नगरों श्रावस्ती और साकेत के बीच डाक (रथ विनीत) का सम्बन्ध था, यह हम रथ विनीत-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।४) से जानते हैं। बुद्धकालीन भारत का पूरा धार्मिक वातावरण मज्झिम-निकाय में उपस्थित है। ब्राह्मणों के जीवन, कर्मकाड और सिद्धान्त, उनके मन्त्रकर्ता ऋषि, वाद-परम्परा और पौरोहित्य, सभी का मूर्तिमान् चित्र हमे यहाँ मिलता है। इस दृष्टि से पूरा ब्राह्मण-वर्ग अर्थात् ९१वें सुत्त से लेकर १०० वे सुत्त तक का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मायु, सैल, आश्वलायन, घोटमुख, चंकि, एसुकारी, धानंजानि, वासेट्ठ, भारद्वाज, सुभ, सगारव, मागन्दिय आदि तत्कालीन ब्राह्मण-दार्शनिको का पूरा व्यक्तित्व, उनके मत और बुद्ध-धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का पूरा चित्र हमें इन सुत्तों में मिल जाता है । इसी प्रकार तत्कालीन परिव्राजकों का चित्र हमें अग्गिवच्छगोत्त सुत्त जैसे सुत्तों में मिल जाता है। दीघनख, सन्दक, सकुलादायि, वेखनस आदि परिव्राजको के साथ भगवान् के संवाद जो मज्झिम-निकाय में दिये हुए है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन छह प्रसिद्ध आचार्यों (पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि आदि) तथा अन्य सम्प्रदायों के मतों को जानने की दृष्टि से अपण्णक-सुत्त, तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्त, तथा महा-वच्छगोत्त-सुत्त आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । कन्दरक-सुत्त, उपालि-सुत्त तथा अभयराजकुमार सुत्त में निर्ग्रन्थ ज्ञात्रपुत्र (भगवान् महावीर) के मत के सम्बन्ध में भी कुछ सूचना मिलती है। तत्कालीन साधकों में जो नाना प्रकार की

पीडाजनक तपश्चर्यायें प्रचलित थी और जिनका अभ्यास गोतम ने भी अपने ज्ञान की खोज मे किया था, महासीहनाद-सुत्त, कुक्कुरवतिक-सुत्त बोधि-राजकुमार-सुत्त और कन्दरक-सुत्त मे वर्णित हैं। पासरासि-सुत्त, बोधि-राजकुमार सुत्त और महासच्चक-सुत्त मे भगवान् बुद्ध की आत्मकथा है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मायु-सुत्त मे उनके ईर्यापथ का वर्णन है जो उनकी दैनिक चर्या तथा साधारण शारीरिक चाल-ढाल को समझने के लिये बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार महाराहुलोवाद-सुत्त, महावच्छगोत्त-सुत्त तथा महासकुलुदायि-सुत्त मे सघ के नियम और जीवन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। कन्दरक-सुत्त और धानजानि-सुत्त भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। पियजातिक-सुत्त धम्म-चेतिय-सुत्त तथा कण्णत्थलक-सुत्त मे तत्कालीन राजाओ का कुछ विवरण हैं। मागन्दिय सुत्त मे तत्कालीन आयुर्वेद की अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। यहाँ ऊर्ध्व विरेचन अधो विरेचन आदि का वर्णन है। वाहीतिय-सुत्त मे महीन कपडे के बनने का वर्णन है और उपालि-सुत्त मे रगन की कला का निर्देश आया है। साराश यह कि मज्झिम निकाय मे तत्कालीन समाज, धर्म, कला-कौशल आदि का एक अच्छा चित्र हमे मिलता है।

इ—संयुत्त-निकाय[1]

सयत्त-निकाय (सयुक्त-निकाय) छोटे-बडे सभी प्रकार के सुत्तो का सग्रह है। इसीलिये इसका यह नाम पडा है।[2] विशेषत सयुत्त-निकाय मे छोटे आकार के सुत्त ही अधिक है। सयुत्त निकाय के सुत्तो की कुल सख्या २८८९ है। प्राय प्रत्येक सुत्त सक्षिप्त गद्यात्मक बुद्ध-प्रवचन के रूप मे ही है। बुद्धकालीन

---

१. लियोन फियर द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन-लिपि में सम्पादित एवं पालि-टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८४-९८, द्वारा प्रकाशित। अमरसिंह का सिंहली संस्करण बलोतारा, १८९८, प्रसिद्ध है। इस निकाय का हिन्दी-अनुवाद भिक्षु जगदीश काश्यप ने किया है, किन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।

२. 'दीघ,' 'मज्झिम' और 'खुद्दक' शब्दों की पृष्ठभूमि में तो 'संयुत्त' (संयुक्त, मिश्रित) शब्द का यही अर्थ हो सकता है। बौद्ध परम्परा को भी प्रधानतः यही अर्थ मान्य है। गायगर ने अवश्य 'सयुत्त' शब्द की सार्थकता को उस निकाय में विषय वार सुत्तों के संयुक्त या वर्गीकृत करने के कारण माना है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ १८

भारतीय ग्रामीण जीवन का इस निकाय मे बडा सुन्दर चित्र मिलता है। साथ मे काव्यात्मक अश भी है और लोक-आख्यान भी कही कही समाविष्ट है। यक्ष, यक्षिणी, देवता और गन्धर्वों का इस निकाय में कुछ अधिक निर्देश मिलता है। किन्तु इससे पृष्ठ भूमि की स्वाभाविकता मे कोई अन्तर नही आने पाया। भगवान् बुद्ध के स्वभाव और जीवन की विशेषताए, उनकी गम्भीरता, प्राणि-मात्र के प्रति उनकी करुणा, इसी कारण मनुष्य-समाज के अज्ञानो पर उनके मृदुल व्यङ्ग्य, उनकी विनम्रता, मानवीयता, सभी इस निकाय मे उसी प्रकार प्रस्फुटित होती हैं जैसे पूर्व के दो निकायो मे। शैली की दृष्टि से भी इस निकाय की दीघ और मज्झिम की अपेक्षा कोई विशेषता नही। पुनरुक्तियाँ वही दोनो निकायो की सी हैं। 'सडायतन वग्ग' इसका एक अच्छा उदाहरण है। यद्यपि सयुत्त-निकाय का अधिकाश भाग गद्य मे है, किन्तु प्रथम वर्ग 'सगाथ वग्ग' (गाथा-युक्त वर्ग) मे बडी सुन्दर, भावात्मक गाथाएँ भी मिलती हैं। मार-सयुत्त और भिक्खुनी-सयुत्त, आख्यानात्मक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। गद्य और पद्य दोनो मे ही यह आख्यान-साहित्य सयुत्त-निकाय मे मिलता है। 'भिक्खुनी-सयुत्त' जैसे आख्यानो मे नाटकीय तत्त्व भी अपनी विशेषता लिये हुए है, जो इन रचनाओ को एक विशेष गति और क्रियाशीलता प्रदान करता है।

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, सयुत्त-निकाय पाँच वर्गों मे विभक्त है, जिनमे क्रमश ११, १०, १३, १० और १२ अर्थात् कुल मिला कर ५६ सयुत्त हैं। यह विभाजन पूर्णतया विषय की दृष्टि से नही है। जैसा विटरनित्ज़ ने कहा है, सयुत्त-निकाय के वर्गीकरण मे तीन सिद्धान्तो का अनुवर्तन किया गया मालूम होता है (१) बुद्ध-धर्म के किसी मुख्य पहलू का विवेचन करने वाले सुत्तो को एक सयुक्त मे वर्गीकृत कर दिया गया है, जैसे बोज्झङ्ग-सयुत्त आदि। (२) मनुष्य, देवता या यक्ष आदि के निर्देश के आधार पर उनका अलग अलग वर्गो मेविभाजन कर दिया गया है, जैसे देवता-सयुत्त आदि (३) वक्ता या उपदेष्टा के रूप मे जो प्रधान व्यक्ति अनेक सुत्तो मे दृष्टिगोचर होता है, उस सम्बधी उपदेशों को एक सयुत्त में सम्मिलित कर दिया गया है, जैसे सारिपुत्त-सयुत्त आदि।[1] वर्ग वार इन सुत्तो की विषय-वस्तु का यहाँ कुछ सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा।

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५६; मिलाइये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १८

१ – सगाथ-वग्ग

१ देवता-सयुत्त—देवताओ ने भगवान् से कुछ प्रश्न पूछे है, जिनका उन्होने उत्तर दिया है। काम-वासना, पुनर्जन्म, मिथ्या मतवाद और अविद्याश्रित इच्छाओ का किस प्रकार भगवान् ने दमन किया है, यह यहाँ बताया गया है। पाप और आसक्ति मुक्ति पाने का मार्ग भी भगवान् ने यहाँ बताया है।

२ देवदत्त-सयुत्त—देव-पुत्रो के कुछ प्रश्नो का उत्तर भगवान् ने दिया है। उन्होने कहा है कि सुख-प्राप्ति का एक मात्र उपाय क्रोध-त्याग और सत्सगति ही है।

३ कोसल-सयुत्त—यह सम्पूर्ण सयुत्त कोशलराज प्रसेनजित् (पसेनदि) के विषय मे है। प्रसेनजित् पहले बावरि नामक ब्राह्मण का शिष्य था। बाद में वह बुद्ध-धर्म मे गृहस्थ-शिष्य (उपासक) के रूप मे प्रविष्ट हो गया। मगधराज अजातशत्रु (अजातसत्तु) और प्रसेनजित के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख इस सयुत्त मे मिलता है। यह युद्ध काशी-प्रदेश के ऊपर हुआ। प्राथमिक विजय अजातशत्रु की हुई किन्तु बाद मे वह पराजित किया गया और प्रसेनजित् उसे बन्दी बनाकर कोशल ले गया। वहाँ उसने अपनी पुत्री वज्रा (वजिरा) का उसके साथ पाणि-ग्रहण कर काशी-प्रदेश उसे भेट-स्वरूप प्रदान किया।

४ मार-सयुत्त—बुद्ध और उनके शिष्यो की मार-विजय का वर्णन है। बुद्धत्त्व-प्राप्ति के बाद भी मार ने बुद्ध को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित करने के लिये प्रभूत प्रयत्न किया। ढेले बरसाये, पत्थर फेके, अनेक प्रकार के भय दिखलाये यहाँ तक कि 'पचशाल' नामक गाँव के गृहस्थो को कहा कि इस महाश्रमण को भोजन मत दो। एक दिन भगवान् को भिक्षा भी नही मिली। धुला-धुलाया रीता पात्र लेकर लौट आये। किन्तु मार के ये सब प्रयत्न विफल हुए और वह बुद्ध और उनके शिष्यो को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित नही कर सका।

५ भिक्खुनी-सयुत्त—दस भिक्षुणियो के सुन्दर काव्य-मय आख्यान है। किस प्रकार गोतमी, उत्पलवर्णा (उप्पलवण्णा) वज्रा (वजिरा) आदि भिक्षुणियाँ बुद्ध-मार्ग का अनुगमन करती हुई मार पर विजय प्राप्त करती है, इसी का सुन्दर काव्य-मय वर्णन है।

६ ब्रह्मा-सयुत्त—बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नही हुई। तृष्णा-विनाश का यह स्वाभाविक परिणाम था। विमुक्ति-सुख का

अनुभव करते हुए सप्ताहों तक समाधि में बैठे रहे। ब्रह्मा को चिन्ता हुई, इस प्रकार तो लोक नष्ट हो जायगा। जाकर भगवान् से प्रार्थना की—भन्ते ! लोक के हित के लिये धर्मोपदेश करें। भगवान् ने कहा कि जनता काम-वासनाओ मे लिप्त है। वह उनके गम्भीर उपदेश को नही समझेगी। ब्रह्मा ने भगवान् से अनुनय की कि संसार में कुछ अल्प-मल प्राणी भी है और उनको भगवान् के उपदेश से अवश्य लाभ होगा। तथागत ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके बाद भगवान् ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के लिये वाराणसी की ओर प्रस्थान किया।

७. ब्राह्मण-सयुत्त—एक भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण की प्रव्रज्या का वर्णन है। अपनी पत्नी के मुख से बुद्ध-प्रशंसा सुन कर वह भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिये गया। वहाँ उनके उपदेश से प्रभावित होकर उसने त्रिशरण (बुद्ध, धम्म और सघ की शरण) ली और प्रव्रजित हो गया।

८. वगीस-संयुत्त—वगीश नामक भिक्षु की काम-वासना पर विजय-प्राप्ति का वर्णन है। एक बार विहार में आई हुई कुछ सुन्दर, आभूषित स्त्रियो को देख कर उनके मन मे काम उत्पन्न हो गया। काम-दुष्परिणाम का पर्यवेक्षण कर किस प्रकार इस भिक्षु ने काम-वासना से विमुक्ति पाई, इसका सुन्दर भावनामय वर्णन है।

९. वन-सयुत्त—किस प्रकार वन-देवता भी पथ-भ्रष्ट भिक्षुओं को सम्यक् मार्ग पर लगा देते है, इसका कुछ भिक्षुओ के उदाहरणों के साथ वर्णन है।

१०. यक्ख-संयुत्त—इन्द्रकूट और गृध्रकूट पर्वतो पर विचरते हुए भगवान् से कुछ यक्षो ने प्रश्न पूछे है, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। अनेक प्रश्नों में एक यह भी है "भन्ते ! बताइये कहाँ से काम-वासना, द्वेष, असन्तोष, भय आदि उत्पन्न होते है ?" भगवान् कहते हैं "हे यक्ष ! कहता हूँ। ध्यान से सुन। जो आत्मा और उसकी उत्पत्ति को जानते है वे इस दुस्तर भव-बाढ़ को तर जाते है, वे फिर इस संसार में जन्म प्राप्त नही करते।" इसी प्रकार वैर से कौन मुक्त है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं "जिसका चित्त दिन-रात वैर-साधन में लगा है, वह वैर से मुक्त नहीं होता। किन्तु जो सब प्राणियों के प्रति अहिंसा और मैत्री-भावना का आचरण करता है, वह वैर से विमुक्त हो जाता है। इसी संयुत्त में एक यक्षिणी को अपने प्रिय पुत्र को यह कह कर चुप करते हुए हम देखते हैं "चुप हो जा प्रियंकर ! प्रिय वत्स चुप हो जा ! देख यह

भिक्षु कुछ कह रहा है। मुझे इसके वचन सुन लेने दे। यह मेरे लिये हितकर होगा।" इसी प्रकार एक और यक्षिणी कहती है "चुप हो जा उत्तरा ! पुनर्वसु ! शोर बन्द कर दे ! देख, मुझे इन शास्ता के वचन सुन लेने दे।" यक्ष और यक्षिणियो के रूप मे यहाँ उस प्रभाव को ही अकित किया गया है जो न केवल बुद्ध बल्कि तत्कालीन भिक्षु-भिक्षुणियो के भी पवित्र जीवन ने साधारण जनता के हृदय पर डाला था। साधारण गृहिणियाँ भी उनके वचन को सुनने के लिये कितना उत्सुक रहती थी और उसे अपने लिये कितना कल्याणकारी मानती थी, यह इस सुत्त मे द्रष्टव्य है। इसी सयुत्त के अन्त मे एक यक्ष आकर भगवान् से कहता है "भिक्षु ! मै तुम्हे एक प्रश्न पूछता हूँ। तू इसका उत्तर दे। यदि न दे सका तो मै या तो तेरी खोपडी को फोड दूगा या तुझे पकड कर गगा मे फेंक दूगा।" भगवान् कहते है "मेरी खोपडी को फोडने वाला या मुझे पकड कर गगा मे फेंकने वाला इस ससार मे कोई नही है। हाँ, तू इच्छानुसार प्रश्न पूछ सकता है।" यक्ष भगवान् के उत्तरो मे सन्तुष्ट हो जाता है और अन्त मे बुद्ध, धम्म और सघ की शरण मे जाता है। इतना ही नही वह कृतज्ञतापूर्वक कहता है "अब मै गाँव से गाँव, कस्बे (निगम) से कस्बे, और नगर से नगर जाकर बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का जनताओ के कल्याण के लिये प्रचार करूँगा।" यक्ष और बुद्ध के उपर्युक्त सवाद की तुलना विटरनित्ज ने महाभारत के यक्ष और युधिष्ठिर के सवाद से की है।[१] किन्तु दोनो मे बहुत अन्तर है। महाभारत मे आरम्भ से लेकर अन्त तक युधिष्ठिर यक्ष की कृपा के भिक्षुक है और अपने उत्तरो द्वारा उसे प्रसन्न कर के ही वे अपनी विमुक्ति प्राप्त करते है। इसके विपरीत यहाँ यक्ष पहले ही बुद्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने मे असफल हो जाता है। बुद्ध गौरव मे पराजित होकर ही वह प्रश्न पूछता है और अन्त मे तो वह उनका अजलिबद्ध शिष्य ही हो जाता है।

११. सक्क-सयुत्त—देवराज शक्र की बुद्ध द्वारा प्रशसा है। ऋग्वेद का वज्र धारी इन्द्र बौद्ध प्रभाव मे आकर क्षमाशील बन गया है। वह वैसा असयमी भी नही रहा। भगवान् ने इस प्रशसा मे इन्द्र की क्षमाशीलता और उसकी सयम-परायणता का ही विशेष वर्णन किया है। अपने इन्ही गुणो के कारण

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५८।

उसने ३३ देवताओं के ऊपर आधिपत्य प्राप्त किया है। इसी प्रसंग में देवासुर-संग्राम का भी इस सयुत्त मे वर्णन आया है।

२—निदान-वग्ग

१. निदान-संयुत्त—प्रतीत्य समुत्पाद का विशद वर्णन है। किस प्रकार अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से सळायतन, सळायतन से स्पर्श और इस प्रकार क्रमश: वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दु:ख आदि की उत्पत्ति होती है और किस प्रकार इनका क्रमश निरोध होता है, इसी का उपदेश यहाँ भगवान् ने भिक्षुओं को दिया है। विषय-निरूपण प्राय: महानिदान-सुत्त (दीघ-२।२) के समान ही है।

२. अभिसमय-सयुत्त—अणुमात्र भी चित्त-मलिनता रहते निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नही। अत भिक्षु को उत्तरोत्तर अनवरत अध्यवसाय करते हुए अ-प्रहीण चित्त-मलों को नष्ट करना चाहिये और सदाचरण की वृद्धि करनी चाहिये।

३ धातु-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन, आदि इन्द्रियों, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म उनके विषयो एव चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान एवं मनोविज्ञान उनके विज्ञानो, इम प्रकार इन अठारह धातुओ का यहाँ विवरण दिया गया है।

४. अनमतग्ग-संयुत्त—"भिक्षुओ! इस ससार का आदि पूर्णत: अज्ञात (अनमतग्ग) है। तृष्णा और अविद्या से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियो के आरम्भ का पता नही चलता।" यही इस संयुत्त की मूल भावना है।

५. कस्सप-सयुत्त—भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप की सन्तोष-वृत्ति की प्रशंसा की है। महाकाश्यप यथा-प्राप्त भोजन, यथा-प्राप्त वस्त्र, यथा-प्राप्त शयनासन (निवास-स्थान) और यथा-प्राप्त पथ्य-औषध आदि की सामग्री से सन्तुष्ट हो जाने वाले हैं। भगवान् ने दूसरे भिक्षुओं को भी ऐसा ही होने का उपदेश दिया है।

६. लाभ-सक्कार-संयुत्त—लाभ और सत्कार से विरत रहने का भिक्षुओं को भगवान् के द्वारा उपदेश दिया गया है। उन्होंने कहा है कि लाभ और

सत्कार को चाहने वाले भिक्षु का पतन हो जाता है और उसकी वही गति होती है जो अंकुश को निगलने वाली मछली की।

७ राहुल संयुत्त—राहुल को संयम का उपदेश। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध, सभी अनित्य और दुःख-रूप है। उनमे 'मै' या 'मेरा' की भावना करने से दुःख ही हो सकता है। उनमे से किसी के विषय में 'यह मै हूँ' 'यह मेरा आत्मा है' ऐसी भावना करना उपयुक्त नही।

८, लक्खण-संयुत्त—एक दिन धर्मसेनापति सारिपुत्र और एक अन्य भिक्षु जिसका नाम लक्खण (लक्षण) था साथ साथ भिक्षा-चर्या को जा रहे थे। अचानक सारिपुत्र को हँसी आ गई। भिक्षा से लौट आने के बाद लक्षण ने उनकी इस हँसी का कारण पूछा। धर्म सेनापति ने भगवान् बुद्ध और अन्य भिक्षुओ की उपस्थिति मे उसका कारण बताया।

९ ओपम्म-सयुत्त—भगवान् ने भिक्षुओ को सचेत और जागरूक रहने का उपदेश दिया है। यहाँ उन्होंने उपमा (ओपम्म) की है। जिस प्रकार यदि लिच्छवि गणतन्त्र के लोग सतत जागरूक और सचेत नही रहेंगे तो अजातशत्रु (मगधराज) उन्हे दबा लेगा, पराजित कर देगा. इसी प्रकार यदि भिक्षु अपने आचरण मे थोडा भी प्रमाद करेंगे, तो उन्हे मार अपने फन्दे मे दबा लेगा।

१०. भिक्खु-सयुत्त—महामोग्गल्लान (महामौद्गल्यायन) का भिक्षुओ को 'आर्य-मौन' पर उपदेश। उन्होने बताया है कि 'आर्य-मौन' का वास्तविक आचरण द्वितीय ध्यान की अवस्था मे होता है। भगवान् बुद्ध नन्द और तिष्य (तिस्स) नामक भिक्षुओं को भिक्षु-नियमो का पूरा पालन करने को कहते है।

३—खन्धवग्ग

१. खन्ध-सयुत्त—पञ्चस्कन्धों का वर्णन है। रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, परिवर्तन-शील और दुःख-रूप है। इनमें 'यह मै हूँ' 'यह मेरा है' या 'यह मेरा आत्मा है' इस प्रकार की भावना साधक को नही करनी चाहिये। बल्कि इनके उदय (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये और इनमे मन को आसक्त नही करना चाहिये। पञ्चस्कन्धों की अनित्यता और दुःखमयता का चिन्तन करने पर काम-वासना रह ही नही सकती, और पुनर्जन्म, अविद्या, आत्माभिनिवेश, सभी नष्ट हो जाते है।

२. राध-संयुत्त—स्थविर राध ने भगवान् से मार, तृष्णा, अनित्यता आदि पर प्रश्न पूछे है। भगवान् के उत्तर बड़े मार्मिक हैं।

३. दिट्ठि-संयुत्त—मिथ्या मतवादों की उत्पत्ति का कारण भगवान् ने बताया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में 'मैं' या 'मेरा' की भावना करना, इस प्रकार के चिन्तनो में लगे रहना जैसे कि क्या यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, क्या जीव और शरीर दो अलग अलग हैं या एक है, आदि, इस प्रकार के विचारों की आसक्ति ही मिथ्या मतवादो का कारण है।

४. ओक्कन्तिक-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, शरीर और मन, ये सभी अनित्य, परिवर्तशील और दुःख रूप हैं, इनमें 'आत्मा' (अत्ता) की उपलब्धि नही होती, इस प्रकार जिसकी स्मृति सदा उपस्थित रहती है वही धर्म-मार्ग में विचरण करने वाला भिक्षु है।

५. उप्पाद-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन का उत्पन्न होना ही जन्म, जरा, मरण, दुःख और शोक का उत्पन्न होना है—बुद्ध-उपदेश।

६. किलेस-सयुत्त—क्लेश या चित्त-मलो का विवरण है। चक्षु और दृश्य पदार्थ में, श्रोत्र और शब्द में, घ्राण और गन्ध में, जिह्वा और रस में, काय और स्पृष्टव्य में, मन और धर्मों (पदार्थों) में इच्छा और आसक्ति का होना ही चित्त का मल है।

७. सारिपुत्त-संयुत्त—आनन्द ने धर्मसेनापति सारिपुत्त से पूछा है कि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को किस प्रकार शमित किया है ? धर्मसेनापति ने उत्तर-स्वरूप कहा है "एकान्त-वास (प्रविवेक) से उत्पन्न, सुख और सौमनस्य से युक्त, प्रथम ध्यान में स्थित रह कर, विषयो से दूर रह कर, 'यह मै हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचारों को त्याग कर मैंने अपनी इन्द्रियों को शमित किया है।"

८. नाग-संयुत्त—नागों की चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, जैसे कि अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, माता-पिता से उत्पत्ति।

९. सुपण्ण-संयुत्त—सुपर्ण नामक पक्षियों की भी चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, बिना माता-पिता के उत्पत्ति।

१०. गन्धब्ब-काय-संयुत्त—गन्धर्व जाति के देवताओं का वर्णन है।

११ वलाह-सयुत्त—'वलाहक कायिक' अर्थात् बादल रूपी काया वाले देवताओं का वर्णन है।

१२ वच्छगोत्त-सयुत्त—वच्छगोत्त नामक परिव्राजक की मिथ्या-धारणाओ का भगवान् के द्वारा निवारण। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, जीव और शरीर एक ही हैं या अलग अलग है, आदि मिथ्या धारणाओ का कारण भगवान् ने पच स्कन्धो (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान) के वास्तविक स्वरूप (अनित्य दुख अनात्म) का अज्ञान ही बताया है। वच्छगोत्त परिव्राजक का भगवान से सवाद मज्झिम-निकाय के तेविज्ज वच्छगोत्त-सुत्त' (२।३।१) म भी हुआ है।

१३ झान (या समाधि) सयुत्त—ध्यान या समाधि का विवरण है। भगवान ने कहा है कि जो पुरुष ध्यान और उसकी प्राप्ति की रक्षा करने मे कुशल है, वही सर्वोत्तम ध्यानी है।

४—सळायतन-वग्ग

१ सळायतन सयुत्त—चक्षु और रूप श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, काया और स्पर्श, मन और धर्म सभी अनित्य, दुख और अनात्म है। इन सब मे 'मै' और 'मेरा' की भावना करना उपयुक्त नही। इनसे जब आसक्ति को मनुष्य नष्ट कर देता है तो वह बन्धन से छूट जाता है। उच्चतम सयम भी यही है।

२ वेदना-सयुत्त—सुखा दुखा और न-सुखा-न-दुखा, ये तीन वेदनाएँ है। इनमे सुख की वेदना को दुख के रूप मे देखना चाहिये दुख की वेदना को शूल के रूप मे देखना चाहिये और न-सुख-न-दुख की वेदना को अनित्य के रूप मे देखना चाहिये। वेदनाओ को छोड देने वाला अनासक्त भिक्षु ही 'सम्यक् दृष्टि' सम्पन्न कहलाता है।

३ मातुगाम-सयुत्त—स्त्रियो-सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन है। भगवान् ने स्त्रियो को पुरुषो की अपेक्षा अधिक दुखभागिनी माना है। अत ब्रह्मचर्य-जीवन की उनके लिये उतनी ही अधिक आवश्यकता भी। स्त्रियो को पाँच विशेष कष्ट हैं—बाल्य काल मे माता-पिता का घर छोडना पडता है, उसे छोड कर दूसरे (पति) के घर जाना पडता है, गर्भ धारण करना पडता है, प्रसव करना पडता है, पुरुष की सेवा करनी पडती है। ससार मे रूप, धन, चरित्र और परिश्रमी स्वभाव

वाली एव सन्तान प्रसविनी स्त्री का आदर होता है। यदि स्त्री पतिव्रता, विनीत, लज्जाशील और ज्ञानवती हो तो वह मरने के बाद सदगति प्राप्त करती है। दुराचारिणी, मूर्खा और निर्लज्जा होने पर वह मरने के बाद दुर्गतियो मे पडती है।

४ जम्बुखादक-सयुत्त—जम्बुखादक नामक परिव्राजक के प्रति धर्म-सेनापति सारिपुत्र का बुद्ध-धर्म पर उपदेश है। निर्वाण और अर्हत्त्व का अर्थ सारिपुत्र ने राग, द्वेष और मोह से विमुक्ति कहा है। इसे प्राप्त करने का उपाय आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ही है। जिसने राग-द्वेष को छोड दिया वही मनुष्य सुखी है। आस्रवो (चित्त-मलो) से विमुक्ति पाने का आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग से अतिरिक्त और कोई उपाय नही है।

५ सामडक-सयुत्त—सामडक नामक परिव्राजक के प्रति सारिपुत्र का निव्वाण' (निर्वाण) पर उपदेश है। विषय वस्तु उपर्युक्त सयुत्त के समान ही है।

६ मोग्गल्लान-सयुत्त—महामोग्गल्लान (महामौदगल्यायन) द्वारा भिक्षुओ को चार ध्यानो का उपदेश है। दीघ और मज्झिम निकायो के इस सम्बन्धी वर्णन से यहाँ कोई विशेषता नही है। बिलकुल उन्ही शब्दो मे यहाँ भी चार ध्यानो का विवरण दिया गया है। अरूपावचर भूमि के आकाशानन्त्यायतन विज्ञानानन्त्यायतन आकिचन्यायतन और नैवसज्ञानासज्ञायतन नामक ध्यान-अवस्थाओ का भी यहा वर्णन किया गया है।

७ चित्त सयुत्त—चक्षु श्रोत्र, घ्राण, काय और मन रूपी इन्द्रियाँ बन्धन की कारण नही है। रूप शब्द गन्ध स्पर्श और मानसिक धर्म भी बन्धन के कारण नही है। बन्धन की कारण तो वह वासना है तृष्णा है जो चक्षु और रूप के सयोग से उत्पन्न होती है श्रोत्र और शब्द के सयोग से पैदा होती है, घ्राण और गन्ध के सयोग से पैदा होती है, काय और स्पर्श के सयोग से पैदा होती है, मन और धर्मों के सयोग से पैदा होती है। अत इस वासना या तृष्णा का निरोध ही बन्धन-विमुक्ति का कारण है।

८ गामणि-सयुत्त—भोगवाद और तपश्चरण की अतियो को छोडकर मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश गामणि को दिया गया है। क्रोध को छोडकर क्षमाशील होने का भी यहाँ उपदेश दिया गया है।

९ असखत-सयुत्त—निर्वाण असस्कृत अर्थात् अकृत है। राग द्वेष और मोह का सम्पूर्ण निरोध ही 'निर्वाण' कहा जाता है, कायिक-मानसिक जागरूकता

(स्मृति-सम्प्रजन्य) चित्त-शान्ति (शमथ), आन्तरिक ज्ञान-दर्शन (विपश्यना) चार स्मृति-प्रस्थान और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, यही उसकी प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन है।

१०. अव्याकत-सयुत्त--कोशलराज प्रसेनजित् ने क्षेमा (खेमा) नाम की भिक्षुणी से पूछा है "क्या मृत्यु के बाद तथागत रहते है या नही रहते ? या रहते भी है और नही भी रहते ?"। क्षेमा ने इसके उत्तर स्वरूप केवल यह कहा है कि तथागत ने इसे अ-व्याकृत कर दिया है अर्थात् उन्होने इसे ब्रह्मचर्य के लिये आवश्यक न समझकर अकथनीय कर दिया है । साथ मे वह यह भी कहती है कि तथागत का ज्ञान गम्भीर समुद्र के समान है, जिसकी थाह नही ली जा सकती। जब अनिरुद्ध, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे बुद्ध के अन्य शिष्यो से यह प्रश्न पूछा जाता है तो वे भी उसका उसी प्रकार उत्तर देने है जैसे क्षेमा भिक्षुणी ने दिया है। दीघ और मज्झिम निकायो के 'दस अव्याकृत' (अकथनीय) धर्मों के समान यहाँ भी बुद्ध-मन्तव्य विमल जल के समान स्वच्छ दिखलाई पडता है। पासादिक-सुत्त (दीघ ३।६) और चूल मालुक्य-सुत्त (मज्झिम. २।२।३) के समान ही इस सयुत्त की विषय-वस्तु है।

५—महावग्ग

१ मग्ग-सयुत्त--आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) का पूरे विवरण के साथ वर्णन किया गया है।

२ बोज्झंग-सयुत्त--परम ज्ञान (बोधि) के सात अङ्गो यथा स्मृति, धर्म-गवेषणा (धम्मविचय) वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि (चित्त-प्रसाद) समाधि और उपेक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

३ सतिपट्ठान-सयुत्त--काया मे कायानुपश्यी होना, वेदनाओ मे वेदमानुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों (पदार्थों) मे धर्मानुपश्यी होना, इन चार स्मति-प्रस्थानो (सतिपट्ठान) का यहाँ दीघ[1] और मज्झिम[2] निकायो के समान शब्दों मे विस्तृत वर्णन किया गया है।

---

१. देखिये महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ. २।९)
२. सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०)

४. इन्द्रिय-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच इन्द्रियों अथवा ज्ञान-शक्तियों का वर्णन है।

५. सम्मप्पधान-संयुत्त—जो चित्त-मल अभी उत्पन्न नहीं हुए है, उनकी उत्पत्ति को रोकना, जो चित्त-मल उत्पन्न हो चुके हैं उनको नष्ट करना, जो शुभ कर्म अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न करना, जो उत्पन्न हो चुके हैं उनको बढाना, इन चार सम्यक्-प्रधानों या शुभ प्रयत्नों का यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है।

६. बल-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पाँच वलो का वर्णन है।

७ इद्धिपाद-संयुत्त—इच्छा-शक्ति (छन्द), वीर्य, चित्त और मीमांसा (वीमंसा) इन चार ऋद्धिपादों या योग-सम्बन्धी विभूतियो का वर्णन है।

८. अनुरुद्ध-संयुत्त—शरीर, वेदना, मन और मानसिक धर्म, इन सब पर अद्भुत संयम प्राप्त कर किस प्रकार स्थविर अनिरुद्ध ने योग की विभूतियो को प्राप्त किया है, इसका वर्णन है।

९. झान-संयुत्त—ध्यान की चार अवस्थाओं का वर्णन है। वर्णन की भाषा बिलकुल वही है जो प्रथम दो निकायो में। किस प्रकार शील और सदाचार मे प्रतिष्ठित होकर, एकान्त-वास का सेवन कर, साधक क्रमशः ध्यान की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं को प्राप्त करता है, इसका त्रिपिटक में प्राय. समान शब्दों में अनेक बार वर्णन किया गया है।[1] संक्षेप में हम यही कह सकते है कि प्रथम ध्यान की अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता रहते हैं। द्वितीय ध्यान की अवस्था में वितर्क और विचार का प्रहाण हो जाता है और केवल समाधि से उत्पन्न प्रीति और सुख रहते है। तृतीय ध्यान की अवस्था में प्रीति और सुख से भी उपेक्षा हो जाती है और साधक उपेक्षा और स्मृति के साथ ध्यान करने लगता है। चतुर्थ ध्यान में चूंकि सुख-दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य पहले से ही अस्त हुए रहते हैं, अत. साधक न दुःख और न सुख वाले तथा स्मृति और उपेक्षा से शुद्ध, इस ध्यान को प्राप्त करता है।

---

१. मिलाइये आनापान-सति सुत्त (मज्झिम. (३।२।८)

१०. आनापान-संयुत्त---भगवान् ने प्राणायाम या श्वास-प्रश्वास को नियमित करने का उपदेश दिया है और उसे मार्ग-प्राप्ति का सहायक माना है।[२]

सोतापत्ति-सयुत्त---स्रोतापत्ति अवस्था अर्थात् धर्म रूपी नदी की धारा में पडना, इसका वर्णन किया गया है। बुद्ध-धर्म और संघ में जिसकी श्रद्धा और निष्ठा है वह सासारिक लाभो की चिन्ता नही करता। वह इच्छा और द्वेष को छोड़कर फिर इस लोक मे नही आता।

सच्च-सयुत्त--चार आर्य सत्यो का वर्णन है। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्, इन चार आर्य सत्यो का उपदेश बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा है। प्राय समान शब्दो मे इन सम्बन्धी उपदेश का वर्णन त्रिपिटक मे अनेक बार आया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण मे यद्यपि वर्गों और सयुक्तों के क्रम से उनकी विषय-वस्तु का सक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया गया है, किन्तु उनके असंख्य सुत्तो की वह सामग्री अभी बाकी ही बच रहती है जो उन्होंने बुद्ध, उनके जीवन, उनके उपदेश, इसी प्रकार बुद्ध-शिष्यो के जीवन और उपदेश, तत्कालीन धर्मोप-देष्टाओ और धार्मिक विचारो के साथ बुद्ध और उनके धम्म का सम्बन्ध, तत्का-लीन ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थिति, एव इसी प्रकार के अन्य महत्त्व-पूर्ण विषयो के सम्बन्ध मे दी है। इन सम्बन्धी स्मृतियो का कुछ सक्षिप्त दिग्दर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा। सयुत्त-निकाय के 'धम्म चक्क पवत्तन-सुत्त' मे (जो विनय-पिटक---महावग्ग के इस सम्बन्धी वर्णन की पुनरुक्ति ही है) हम वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) मे पञ्चवर्गीय भिक्षुओ को उपदेश करते देखते है। काम-वासनाओ मे काम-लिप्त होना और काय-क्लेश मे लगना, इन दो अतियो के त्याग एव आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग

---

२. मिलाइये विशेषतः भयभेरव-सुत्त (मज्झिम. १।१।४); द्वेधा वितक्क सुत्त (मज्झिम. १।२।९) महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम. १।४।९); चूलहत्थिप-दोपम सुत्त (मज्झिम. १।३।७; सामञ्ञफल सुत्त (दीघ. १।२); अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ. १।३); सोणदंड सुत्त (दीघ. १।४); कूटदन्त सुत्त (दीघ. १।५); महालिसुत्त (दीघ. १।५) पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ. १।९) केवट्ट-सुत्त (दीघ. १।११) सुभ-सुत्त (दीघ. १।१०,; चक्कवत्तिसीहनाद सुत्त (दीघ. ३।३); संगीतिपरियायसुत्त (दीघ. ३।१०) आदि, आदि।

रूपी मध्यम-मार्ग के आचरण तथा चार आर्य सत्यो का उपदेश देते यहाँ हम प्रथम बार भगवान् को देखते हैं। सळायतन-सयुत्त में (यहाँ भी विनय-पिटक-महावग्ग के समान ही) हम तथागत को भिक्षुओं को इस प्रकार सम्बोधित करते हुए देखते हैं "भिक्षुओ! जितने भी मानुष और दिव्य पाश हैं, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष पाशो से मुक्त होओ! भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनो के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवताओ और मनुष्यो के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ! भिक्षुओ! आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी, अन्त में कल्याणकारी धर्म का उसके पूरे शब्दो और अर्थों के साथ उपदेश करते हुए सम्पूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। ससार में अल्प दोष वाले प्राणी भी है। धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि होगी। सुनने से वे धर्म के जानने वाले होगे। भिक्षुओ! मैं भी जहाँ उरुवेला और सेनावी गाँव हैं, वहाँ धर्म-देशना के लिये जाऊँगा।" सतिपट्ठान-संयुत्त के जरा-सुत्त में भगवान् की वृद्धावस्था का सजीव चित्र है। भगवान् अपराह्ण मे ध्यान से उठ कर धूप मे बैठे हैं। आनन्द भगवान् को देखकर कहते है "आश्चर्य भन्ते! अद्भुत भन्ते! भगवान् के चमडे का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात (उज्ज्वल) नही है। अग भी शिथिल हो गये है। पूरी काया मे झुरियाँ पडी हुई हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियो मे भी विपरिणाम दिखाई पडता है।" "आनन्द! यह ऐसा ही होता है! यौवन मे जरा-धर्म है, आरोग्य मे व्याधि-धर्म है। जीवन मे मरण-धर्म है।" हम भगवान् और उनके उपस्थाक शिष्य के विमल मनुष्य-रूप को यहाँ देखते है। इसी निकाय के सकलिक-सुत्त मे हम सूचना पाते है कि भगवान् का पैर पत्थर के टुकडे से विक्षत हो गया है और वे स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ उसको सहन कर रहे है। इसी प्रकार सक्क-सयुत्त में अनाथपिंडिक की दीक्षा एव जेतवन-दान का वर्णन है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग मे भी यही वर्णन आया है। सयुत्त-निकाय के भिक्खु-सयुत्त मे हम सूचना पाते है कि कौशाम्बिक भिक्षुओ के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् पात्र-चीवर ले बिना किसी भिक्षु को कहे अकेले ही पारिलेय्यक (पालिलेय्यक भी) नामक स्थान मे एकान्त-वास के लिये चले गये हैं। संयुत्त-निकाय के 'उदायि-सुत्त' में हम भगवान् और स्थविर उदायी का

संवाद देखते है जो शास्ता और शिष्य के सम्बन्ध के अलावा बुद्ध-धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। "भन्ते ! पहले गृहस्थ रहते मुझे धर्म से बहुत लाभ न मिला था। किन्तु भन्ते ! आज मैंने धर्म को जान लिया। मुझे वह मार्ग मिल गया !" "साधु उदायी ! तुझे वह मार्ग मिल गया। जैसे जैसे तू इसकी भावना करेगा, वृद्धि करेगा, यह तुझे वैसे ही भाव को ले जायगा जिससे कि तू जानेगा "आवागमन क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो चुका, करना था सो कर लिया, अब कुछ करने को बाकी नही है।" भगवान् का अपने शिष्य भिक्षुओ के साथ कैसा अनुकम्पायमय सम्बन्ध था, इसका एक और उदाहरण इसी निकाय में देखिये। मग्ग-सयुत्त के चुन्द-सुत्त में हम चुन्द समणुद्देस को भगवान् के पास धर्मसेनापति के परिनिर्वाण का सन्देश लाते देखते है। इसे सुनते ही आनन्द की क्या हालत होती है, यह उन्ही के शब्दों में सुन लीजिए "आयुष्मान् सारिपुत्र परिनिर्वृत्त हो गये, यह सुन कर मेरा शरीर ढीला पड गया है, मुझे दिशाएँ नही सूझती, बात भी नही सूझ पड़ती।!" भगवान् सचेत करते है "क्यो आनन्द! क्या मैंने पहले ही नही कह दिया है कि सभी प्रियो से जुदाई होती है। इसलिये आनन्द! आत्म-दीप, आत्म-शरण, अ-परालम्बी होकर विहरो ! धम्मदीप, धम्म-शरण, अपरालम्बी होकर विहरो।" इसी सयुत्त के उक्काचेल-सुत्त मे सारिपुत्र के परिनिर्वाण के थोडे दिन बाद ही भगवान् को अपने द्वितीय प्रधान शिष्य महामौद्गल्यायन के भी परिनिर्वाण की सूचना मिलती है। सभी शिष्य अपने शास्ता के सहित स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ इस दुःख को सहते है। एक दिन भगवान् गगा की रेती मे उक्काचेल नामक स्थान पर विहरे रहे है। भिक्षु-परिषद को विज्ञापित करने के लिये बैठते है किन्तु सर्व प्रथम ध्यान आता है अपने सद्य परिनिवृत्त शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का। बुद्ध का मानवीय रूप फूट पड़ता है "भिक्षुओ ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बिना मुझे यह परिषद् शून्य सी जान पडती है। जिस दिशा मे सारिपुत्र-मौद्गल्यायन विहरते थे, वह दिशा किसी और की न चाहने वाली होती थी" इतना ही कह पाते हैं कि भगवान् का मानवीय रूप उनके बुद्ध-रूप मे परिवर्तित हो जाता है और "भिक्षुओ ! आश्चर्य है तथागत को ! अद्भुत है तथागत को ! इस प्रकार के शिष्यों की जोड़ी के परिनिर्वृत्त हो जाने पर भी तथागत को शोक-परिदेव नही है।... भिक्षुओ ! जैसे महान् वृक्ष के खड़े रहते भी उसकी सारवाली

शाखाएँ टूट जावें, उसी प्रकार भिक्षुओ ! तथागत को भिक्षु-संघ के रहते भी सार वाले सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन का परि-निर्वाण है । सो वह भिक्षुओ ! कहाँ से मिले। जो कुछ उत्पन्न होने वाला है, सब नष्ट होने वाला है। इसलिये भिक्षुओ ! आत्मदीप, आत्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो, धर्म-दीप, धर्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो ।" शास्ता का मानवीय रूप और साथ साथ उनका बुद्धत्व यहाँ स्पष्टतम रूप मे दिखाई पड़ता है। बुद्ध-धर्म की साधना इसी जन्म की साक्षात् अनुभूति के लिये है, यह तथ्य इस निकाय के सवहुल-सुत्त से भली प्रकार हृदङ्गम किया जा सकता है। एक ब्राह्मण आकर भिक्षुओं से कहता है "आप लोग वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की ओर दौड रहे हैं। इस से तो यही अच्छा हो कि आप मानुष कामों का भोग करें।" भिक्षु उत्तर देते है "ब्राह्मण ! हम वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की चीज के पीछे नही दौड रहे। बल्कि कालान्तर की चीज को छोड़कर ब्राह्मण ! हम वर्तमान के पीछे दौड रहे हैं । ब्राह्मण ! भगवान् ने कामों को बहुत दुःख वाले, बहुल प्रयास वाले, बहुत दुष्परिणाम वाले, कालिक (कालान्तर) कहा है। किन्तु यह धर्म तो सांदृष्टिक के (वर्तमान मे फल देने वाला) अ-कालिक, यही साक्षात्कार किया जाने वाला, तह तक पहुँचाने वाला और प्रत्येक शरीर में अनुभव करने योग्य है।" अत्त-दीप सुत्त में हम आत्म-निर्भर होने का उपदेश पाते है, जिसकी पुनरावृत्ति भगवान् ने अनेक स्थलों पर की है और जो उनके धर्म के स्वरूप को समझने के लिये अति आवश्यक है। भगवान् सब को प्रव्रज्या का ही उपदेश नही देते थे। बल्कि गृहस्थाश्रम मे रह कर भी वे प्रमाद-रहित जीवन की सम्भावना मानते थे । ऐसा ही उन्होंने राजो (मकान बनाने वाले मजदूरों) से इसी निकाय के थपति-सुत्त में कहा भी है "स्थपतियो ! गृहवास बाधापूर्ण है, मल का आगमन-मार्ग है । प्रव्रज्या खुली जगह है। किन्तु स्थपतियो ! तुम्हारे लिये अप्रमाद से रहना ही उप-युक्त है।" ऐसा मालूम पडता है भगवान् के इस अप्रमाद-उपदेश को स्मरण कर के ही अशोक अपनी प्रजाओं को इतनी पुनरावृत्ति के साथ अ-प्रमाद, का जीवन बिताने को कहता है।[१] सुयुत्त-निकाय में बुद्धकालीन भारत मे प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों और उनके प्रधान आचार्यों एवं बुद्ध और

१. देखिये आगे दसवें अध्याय में अशोक के अभिलेखों का विवरण ।

उनके धर्म के साथ उनके सम्बन्धो पर भी प्रकाश डालने वाले काफी वर्णन हैं। इस प्रकार संयुत्त निकाय के खन्ध संयुत्त में हम उस काल के छः प्रसिद्ध आचार्यों यथा पूर्ण काश्यप मक्खली (मस्करी) गोशाल संजय वेलिट्ठिपुत्त प्रक्रुध-कात्यायन[1] आदि का वर्णन पाते हैं। इसी प्रकार मोग्गल्लान-संयुत्त के असि-बन्धकपुत्त-सुत्त और निगण्ठ-सुत्त में हम बुद्ध धर्म और तत्कालीन जैन धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है। तत्कालीन याज्ञिक ब्राह्मणो के यज्ञवाद और बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में क्या ऐतिहासिक सम्बन्ध है और किस प्रकार एक के सामने दूसरे को झुकना पड़ा यह देखने के लिये संयुत्त निकाय का सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कोशल देश में सुन्दरिका नदी पर भारद्वाज नामक ब्राह्मण हवन कर रहा है। भगवान भी उधर चारिका करते हुए निकल पड़ते हैं। वह उन्हे देख कर यज्ञ से बचा हुआ अन्न देना चाहता है किन्तु पहले पूछता है आप कौन जाति हैं? भगवान का ज्ञान उभाड़ पाता है जाति मत पूछ। आचरण पूछ। काठ से आग पैदा होती है। नीच कुल का भी पुरुष धृतिमान ज्ञानी पाप रहित मुनि हो सकता है। जो सत्य का आचरण करने वाला जितेन्द्रिय और ज्ञान के अन्त को पहुंचा हुआ है और जिसने ब्रह्मचर्य वास समाप्त कर लिया है वह यज्ञ में उपनीत ही है और वह काल से दक्षिणा देने योग्य है। जो उसे देता है वह दक्षिणाग्नि में ही हवन करता है। भारद्वाज को ऐसे उदा-रातिशय वचन सुन कर श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह कहता है निश्चय ही यह मेरा यज्ञ सफल है जो ऐसे ज्ञान को प्राप्त (वेदग्) पुरुष का मैंने दर्शन किया। तुम्हारे जैसे को न देखने से ही दूसरे जन हव्य शेष खाते हैं। हे गौतम! आप भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं। भारद्वाज ब्राह्मण की यह बुद्ध प्रशंसा दिखलाती है कि यज्ञवादी होते हुए भी ब्राह्मण ज्ञान और सदाचरण की प्रतिष्ठा को समझते थे और उसे देखकर उसके सामने नतमस्तक होना भी जानते थे। भारद्वाज ब्राह्मण का बुद्ध को ब्राह्मण तक मानने को उद्यत हो जाना और उनकी प्रशंसा करना उसकी उदारता का सूचक है। कुछ भी हो यज्ञ का ही सर्वस्व मानने वाले

---

१ सुत्त-पिटक के प्रकुध कात्यायन को डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने उप-निषद् के कबन्धी कात्यायन से मिलाया है। देखिये उनका पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियेन्ट इन्डिया, पृष्ठ २१ (तृतीय संस्करण, १९३२)

ब्राह्मणो को भी बुद्ध के ज्ञान-यज्ञ का लोहा अवश्य मानना पडा। भारद्वाज को उद्बोधित करते हुए भगवान् उसे कहते है "ब्राह्मण ! लकडी जला कर शुद्धि मत मानो। यह तो बाहरी चीज है। पडित लोग उसमे शुद्धि नही बतलाते जो बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण ! मै दारु-दाह छोड भीतर की ज्योति जलाता हूँ। नित्य आग वाला, नित्य एकान्त-चित्त वाला हो, मै ब्रह्मचर्य-पालन करता हूँ। ब्राह्मण ! यह तेरा अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुवा है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण ! शील तीर्थ वाला, सन्तजनो से प्रशसित, निर्मल धर्म रूपी सरोवर है। इसी मे वेद को जानने वाले (वेदगू) पुरुष नहाकर बिना भीगे गात्र के पार उतरते है। ब्रह्म-प्राप्ति, सत्य धर्म सयम और ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। तू ऐसे हवन किये हुओ का नमस्कार कर। म उनका पुरुषो को सयमी बनाने के लिये सारथी-स्वरूप कहता हूँ।' इस प्रकार इस निकाय म हमे बुद्ध-जीवन, बुद्ध और उनके शिष्य, एव बुद्ध-धर्म और तत्कालीन अन्य धार्मिक साधनाओ के साथ उसके सम्बन्ध आदि के विषय मे प्रभत जानकारी मिलती है।

ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियो का भी इस निकाय मे प्रथम दो निकायो की तरह काफी परिचय मिलता है। जहाँ तक राजनैतिक इतिहास का सम्बन्ध है, इस निकाय मे कोशलराज प्रसेनजित् का वर्णन आया है और मगध-राज अजातशत्रु के साथ उसके युद्ध, अजातशत्रु की पराजय और बाद मे प्रसेनजित् की पुत्री वज्रा (वजिरा) का उससे विवाह और भेंट-स्वरूप काशी-प्रदेश की प्राप्ति इन घटनाओ का विवरण पहले किया ही जा चुका है। कौशाम्बी-नरेश उदयन (उदेन) का भी यही वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, कोलिय आदि क्षत्रिय राजाओ के जहाँ-तहाँ वर्णन भरे पडे है। भौगोलिक दृष्टि से राजगृह मे वेलुवन, सुसुमार गिरि मे भेसकलावन, वैशाली मे महावन आदि वनो, नेरजरा, गगा, यमुना आदि नदियो, मगध मे गिरिव्रज और अवन्ती मे कुररघर आदि पर्वतों, न्यग्रोधाराम (कपिलवस्तु) कुक्कुटाराम (पाटलिपुत्र) आदि आरामो (भिक्षु-निवासो), नालक (मगध) शाल (कोसल) वेलुवार (कोसल) आदि ग्रामो, मगध, वज्जि, कोसल आदि प्रदेशो, और देवदह, कपिलवस्तु, साकेत आदि नगरो तथा अनेक कस्बो (निगमो) के वर्णन भरे पडे है, जो तत्कालीन भारतीय प्रदेशो और

उनके निवासियों के जीवन सम्बन्धी काफी महत्त्वपूर्ण ज्ञान को हमें प्रदान करते हैं।

ई—अंगुत्तर-निकाय[1]

अगुत्तर-निकाय सुत्त-पिटक का चौथा बड़ा भाग है। बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप का ज्ञान हमें प्रथम तीन निकायों में मिलता है, वही अगुत्तर-निकाय का भी विषय है। केवल अगुत्तर-निकाय की शैली में कुछ भिन्नता है। सख्याबद्ध शैली इस निकाय की सब से बड़ी विशेषता है। जैसा पहले दिखाया जा चुका है सम्पूर्ण निकाय ग्यारह निपातो मे विभक्त है, यथा एक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात, चतुक्क-निपात, पञ्चक-निपात, छक्क-निपात, सत्तक-निपात, अट्ठक-निपात नवक-निपात, दसक-निपात तथा एका-दसक-निपात। प्रत्येक निपात वर्गों में विभक्त है। ग्यारह निपातो की वर्ग-सख्या क्रमश इस प्रकार है (१) २१ वर्ग (२) १६ वर्ग (३) १६ वर्ग (४) २६ वर्ग (५) २६ वग (६) १२ वग (७) ९ वर्ग (८) ९ वर्ग (९) ९ वर्ग (१०) २२ वर्ग (११) ३ वग। इस प्रकार ग्यारह निपात कुल १६९ वर्गों मे विभक्त है। प्रत्येक वग मे अनेक सुत्त है जिनकी कम से कम सख्या ७ और अधिक से अधिक २६२ है। कुल मिलाकर अगुत्तर-निकाय मे २३०८ सुत्त है। आकार मे प्राय सयुत्त-निकाय के सुत्तो के समान ही छोटे है और उन्ही के समान उनका विषय भी कोई बुद्ध-प्रवचन या किसी के साथ हुआ बुद्ध-सवाद है। अगुत्तर-निकाय के प्रत्येक निपात मे ऐसी सख्याओ से सम्बद्ध उप-देशो का सग्रह किया गया है जिनकी समता उक्त निपात की सख्या से है। इस प्रकार एकक-निपात में केवल उन उपदेशो का सग्रह है जिनका सम्बन्ध सख्या एक से है। इसी प्रकार दुक-निपात मे केवल उन उपदेशो का सग्रह है जिनका सम्बन्ध सख्या दो से है। इस प्रकार उत्तरोत्तर बढती हुई यह सख्या

---

१. मॉरिस तथा हार्डी द्वारा पाँच जिल्दो में रोमन लिपि में सम्पादित, पालि-टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८८५-१९००। छठी जिल्द में मेबिल हन्ट ने अनुक्रमणियाँ दी है। सिहली लिपि में देवमित्त का संस्करण, कोलम्बो १८९३, प्रसिद्ध है। बरमी और अन्य सिहली संस्करण भी उप-लब्ध है। हिन्दी में अभी कोई सस्करण या अनुवाद नही निकला।

एकादसक-निपात तक पहुँच जाती है, जिसमें भगवान् बुद्धदेव के उन उपदेशों का सग्रह है जिनके विषय का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार सख्या ग्यारह से है। यही कारण इस निकाय के अगुत्तर-निकाय (अकोत्तर-निकाय) नाम-करण का भी है। 'मिलिन्दपञ्ह' मे इसी निकाय का नाम 'एकुत्तर-निकाय' (एकोत्तर-निकाय) भी कहा गया है।[१] उसका भी यही अर्थ है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के सस्कृत-त्रिपिटक मे भी यह निकाय 'एकोत्तरागम' के नाम से ही प्रसिद्ध था, यह उसके चीनी अनुवाद से विदित होता है। अगुत्तर-निकाय की सख्या-बद्ध शैली उस के लिये कोई नही है। थोड़ी बहुत यह प्रत्येक निकाय मे पाई जाती है। अत उसके आधार पर इस सग्रह को प्रथम तीन निकायो की अपेक्षा काल-क्रम मे बाद का ठहराना ठीक नही माना जा सकता। वास्तव मे तो प्रत्येक निकाय में ही, बल्कि कही कही प्रत्येक सुत्त में ही, पूर्व और उत्तर-कालीन परम्पराओ के साक्ष्य साथ साथ दिखाई पडते है। यही बात अगुत्तर-निकाय मे भी है। अत गणनात्मक शैली की बहुलता होने के कारण ही अगुत्तर-निकाय को बाद का सग्रह नही माना जा सकता। जैसा अभी कहा गया, गण-नात्मक प्रणाली थोडी-बहुत मात्रा मे प्रत्येक निकाय मे पाई जाती है। दीघ-निकाय के सगीति-परियाय-सुत्त और दसुत्तर-सुत्त एव खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ (कुमारपञ्ह) थेरगाथा, थेरीगाथा, इतिवुत्तक आदि मे वस्तु-विन्यास सख्यात्मक वर्गीकरण को के शैली आधार पर ही किया गया है। बाद मे चल कर अभिधम्म-पिटक मे तो यह प्रणाली पूरे सात महाग्रथो का ही आधार बन जाती है। चूँकि अगुत्तर-निकाय की अभिधम्म-पिटक से इस विषय मे सब से अधिक समानता है, बल्कि उसके ग्यारह निपातो से अभिधम्म-पिटक के एक ग्रन्थ (पुग्गल पञ्ञत्ति) की तो सारी विषय-वस्तु ही निकाली जा सकती है, अगुत्तर-निकाय के इस प्रकार वर्गीकृत बुद्ध-वचनो को उत्तरकालीन संग्रह नही माना जा सकता। जैसा हम पहले भी दिखा चुके है, बुद्ध-वचनो का सरक्षण, उस युग मे, सुनने वालो की स्मृति मे ही किया जाने के कारण, उसकी सहा-यतार्थ सख्यात्मक सविधान की आवश्यकता पडती थी। इसलिये कभी कभी स्वय शास्ता भी अपने उपदेशो मे इस प्रकार के तत्त्व का सम्मिश्रण कर देते थे।

---

१. पृष्ठ ३५४ (बम्बई विश्वविद्यालय का देव-नागरी संस्करण)

यह हम अंगुत्तर-निकाय के एकक-निपात के 'कजंगला-सुत्त' में अच्छी प्रकार देख सकते हैं। कुछ उपासक कजंगला नामक भिक्षुणी के पास जाकर पूछते हैं "अय्या! भगवान् ने यह कहा है 'महा प्रश्नों में एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर; दो प्रश्न, दो उद्देश दो उत्तर . . .दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर!' भगवान् के इस संक्षिप्त कथन का उत्तर किस प्रकार समझना चाहिये?" कजंगला भिक्षुणी ने कहा "एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर! यह जो भगवान् ने कहा, वह इस कारण कहा। आवुसो! एक वस्तु में भिक्षु भली प्रकार निर्वेद को प्राप्त हो, भली प्रकार विराग को प्राप्त हो, भली प्रकार विरक्त हो, अच्छी प्रकार अन्तर्दर्शी हो, इसी जन्म मे दुःख का अन्त करने वाला हो। किस एक धर्म में? 'सभी सत्त्व आहार पर निर्भर हैं'। आवुसो! भगवान् ने जो यह कहा 'एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर! वह इसी कारण कहा!" इसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रम से बढ़ती हुई कजंगला भिक्षुणी दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर (व्याकरण) तक की व्याख्या करती है। गणनात्मक विधान होते हुए भी स्वयं उपदेश की गम्भीरता मे कोई अन्तर यहाँ नही आता। यही बात विस्तार से हम अंगुत्तर-निकाय में भी देखते है। चार आर्य सत्य, आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग, सात बोध्यङ्ग, चार सम्यक् प्रधान, पांच इन्द्रिय आदि सभी मौलिक बुद्ध-उपदेश इसी संख्यात्मक तत्त्व की सूचना देते है। अंगुत्तर-निकाय मे केवल इसे उनके वर्ग-बद्ध स्वरूप में प्रस्तुत करने का आधार मान लिया गया है। अतः निश्चित है कि इसके अनेक सुत्त या अंश जो पिछले निकायो मे अनेक प्रसंगो मे आ चुके है, यहाँ संख्यात्मक प्रणाली को पूर्णता देने के लिये फिर रख दिये गये हैं।[१] उदाहरणतः चार आर्य सत्यों और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश विनय-पिटक के महावग्ग तथा संयुत्त-निकाय के 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' मे स्वभावतः वाराणसी मे दिये हुए उपदेश के रूप में अंकित है, किन्तु अंगुत्तर-निकाय में चार आर्य सत्यो सम्बन्धी उपदेश चतुक्क-निपात और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश अट्ठक-निपात में संगृहीत हैं। अतः यह बहुत सम्भव है कि कुछ स्थलो मे अंगुत्तर-निकाय के सुत्त दीघ और मज्झिम निकायो के परिवर्तित, विभक्त अथवा संक्षिप्त स्वरूप ही हों। किन्तु अधिकतर स्थलो मे वे मौलिक ही हैं और

---

१. इनकी सूची के लिये देखिये पालि टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ८ (भूमिका)

उनकी उपयुक्तता उनके सख्यात्मक स्वरूप म वहाँ असदिग्ध भी है। अगुत्तर-निकाय जैसा हम अभी देखगे बुद्ध और उनके धम्म और विनय के सम्बन्ध म कुछ ऐसी भी सूचना देता है जो प्राचीन भी है और साथ ही साथ अन्य निकायो म भी नही मिलती । पुनरुक्तियाँ और सख्यात्मक विवरण विशेषत पाश्चात्य विद्वानो को बड अरुचिकर प्रतीत हुए ह अत उन्होने अगुत्तर-निकाय के वास्तविक मल्याकन करन म बडी कृपणता दिखाई है । साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टियो से अगुत्तर-निकाय का स्थान दीघ मज्झिम और सयुत्त निकायो के साथ ही है और उसम भी केवल कुछ कृत्रिम वर्गीकरण म बुद्ध के जीवन और उपदेशो की वही साक्षात सम्पर्क से प्राप्त स्मृतियाँ उपलब्ध होती है जैसी प्रथम तीन निकायो म । यह हम उसकी विषयवस्तु के विवरण स अभी देखग।

अगुत्तर निकाय की विषय वस्तु का चाहे जितना विस्तृत विवरण दिया जाय वह उसकी वास्तविक विभूति को नही दिखा सकता। इसका कारण यह है कि केवल सख्यात्मक सूचियो का सकलन ही अगुत्तर-निकाय नही है। अगुत्तर-निकाय का केवल सगीति परियाय-सुत्त (दीघ ३।१०) या दसुत्तर-सुत्त (दीघ ३।११) का ही विस्तृत रूप समझ लेना एक भारी भ्रम होगा। इसमे सन्देह नही कि अगुत्तर-निकाय के एक स लेकर ग्यारह निपातो की विषय-वस्तु का स्वरूप वहाँ किसी न किसी प्रकार उनके अनुरूप सख्या से सम्बन्धित है जैसे कि

१ एकक-निपात—एक धर्म क्या है? इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर के अनेक रूप।

२ दुक-निपात—दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, दो प्रकार के बल, दो प्रकार की परिषदे, दो प्रकार की इच्छाएँ आदि, आदि।

३ तिक-निपात—तीन प्रकार के दुष्कृत्य (कायिक, वाचिक, मानसिक) तीन प्रकार की वेदनाएँ (सुखा दुखा न-सुखा-न-दुखा), आदि, आदि।

४ चतुक्क-निपात—चार आर्यसत्य चार ज्ञान, चार श्रामण्य-फल, चार समाधि, चार योग, चार आहार, आदि, आदि।

५ पञ्चक-निपात—पाँच अङ्गो वाली समाधि, पाँच उपादान-स्कन्ध, पाँच इन्द्रिय पाँच निस्सरणीय धातु, पाँच धर्मस्कन्ध पाँच विमुक्ति-आयतन आदि आदि।

६ छक्क-निपात—छ अनुस्मृति-स्थान, छ आध्यात्मिक आयतन, छ अभिज्ञेयँ आदि, आदि।

७ सत्तक-निपात—सात सम्बोध्यङ्ग, सात अनुशय, सात सध्दर्म, सात सज्ञाएँ, सात सत्पुरुष-धर्म आदि, आदि।

८ अट्ठक-निपात—आर्य अष्टाङ्गिक-मार्ग आठ आरब्ध वस्तु, आठ अभिभू-आयतन, आठ विमोक्ष, आदि, आदि।

९ नवक-निपात—नव तृष्णामूलक, नव सत्वावास, आदि, आदि।

१० दसक-निपात—दस तथागत-बल, दस आर्य-वास आदि, आदि।

११ एकादसक-निपात—निर्वाण-प्राप्ति के ग्यारह उपाय, आदि, आदि।

किन्तु इस उपर्युक्त सूची मात्र से अगुत्तर-निकाय के विषय या उसके महत्त्व को नही समझा जा सकता। उसके लिये हमें उद्धरणो से उसके विषय की मूल बुद्ध-वचनो के रूप मे प्रामाणिकता और बुद्ध-कालीन इतिहास के लिये उसके महत्त्व को हृदयङ्गम करना होगा। पहले एकक-निपात को ही लीजिये। धम्म-विनय की दृष्टि से ही अगुत्तर-निकाय के प्रथम निपात में उद्धृत इस बुद्ध-वचन को देखिये "नाह भिक्खवे! अञ्ञं एक धम्मपि समनुपस्सामि यो एव महतो अनत्थाय सवत्तति, यदिद भिक्खवे पापमित्तता। पापमित्तता भिक्खवे महतो अनत्थाय सवत्तति।" इसका अर्थ है "भिक्षुओ! मै किसी भी दूसरी चीज को नही देखता जो इतनी अधिक अनर्थकर हो, जितनी पाप-मित्रता। भिक्षुओ! पाप-मित्रता बहुत अनर्थकारी है।" जो दीघ, मज्झिम और सयुत्त निकायो मे निहित बुद्ध-वचनो की आत्मा और बाह्याभिव्यक्ति मे परिचित है वे यहा उनकी अपेक्षा कुछ विभिन्नता नही देख सकते। अत केवल इसीलिये कि सगीतिकारो ने कुछ बुद्ध-वचनो को संख्याबद्ध वर्गीकरण में बाँधकर रख दिया है, उनकी मौलिकता या महत्ता मे कोई अन्तर नही आता। अगुत्तर-निकाय की सब सामग्री अन्य निकायो से भी ली हुई नही है, बल्कि उसमें बहुत सी ऐसी भी सचना है जो अन्यत्र कही नही मिलती। इसका भी एक उदाहरण एकक-निपात के ही 'एतदग्गवग्ग' के उस महत्त्वपूर्ण विवरण में पाते हैं, जिसमें बताया गया है कि भगवान् बुद्ध के किस-किस भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, या उपासिका, ने साधना के किस-किस विभाग मे दक्षता या विशेषता प्राप्त की थी। महापडित राहुल साकृत्यायन द्वारा अनुवादित इस अश को,

उसके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण यहाँ पूर्णत उद्धृत करना ही उपयुक्त होगा, 'ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान श्रावस्ती म अनाथपिडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। भगवान् ने भिक्षुओ को सम्बोधित किया (१) भिक्षुओ ! मेरे रक्तज्ञ (अनुरक्त) भिक्ष श्रावको में यह आज्ञा-कौण्डिन्य अग्र (श्रेष्ठ) है। (२) महाप्रज्ञों मे यह सारिपुत्र अग्र है (३) ऋद्धि-मानो मे यह महामौद्गल्यायन अग्र है (४) धुतवादियो (अवधत-व्रतो का का अभ्यास करने वालो) मे यह महाकाश्यप अग्र है (५) दिव्यचक्षुको में यह अनिरुद्ध अग्र है। (६) उच्च-कुलीनो मे यह भद्दिय कालिगोधा-पुत्र अग्र है। (७) मजु स्वर मे धर्म उपदेश करने वालों में यह लकुटिक भद्दिय अग्र है। (८) सिहनाद करने वालो में यह पिंडोल भारद्वाज अग्र है (९) धर्म-उपदेश करन वालो मे यह पूर्ण मैत्रायणी पुत्र अग्र है (१०) सक्षिप्त धर्मोपदेश को विस्तृत रूप मे समझान वालो म यह महाकात्यायन अग्र है। (११) मनो-मय काय निर्माण करन वालो म यह चुल्ल पथक अग्र है। (१२) सज्ञा विवर्त-चतुरो म यह महापथक अग्र है। (१३) अरण्य विहारियो मे यह सुभूति अग्र है दान-पात्रो में भी यह सभूति अग्र है। (१४) आरण्यको में यह रेवत खदिर वनिय अग्र है। (१५) ध्यानियो म यह कखा रेवत अग्र है। (१६) आरब्ध वीर्यों में यह सोण कोडिवीस (शोणकोटिविश) अग्र है। (१७) सवक्ताओ मे यह सोण कुटिकण्ण अग्र है। (१८) लाभ पाने वालो में यह सीवली अग्र है। (१९) श्रद्धावानो में यह वक्कली अग्र है। (२०) शिक्षा कामो (भिक्ष नियम के पाबन्दो में) यह राहुल अग्र है। (२१) श्रद्धा से प्रव्रजितो में यह राष्ट्रपाल अग्र है। (२२) प्रथम शलाका ग्रहण करने वालो में यह कुडधान अग्र है। (२३) प्रतिभा वालो में यह वंगीश अग्र है। (२४) समन्त प्रासादिको (सब ओर से सुन्दरो) में यह उपसेन वगन्तपुत्त अग्र है। (२५) शयनासन-प्रज्ञापको (गृह-प्रबन्धको) में यह दब्ब मल्लपुत्त अग्र है। (२६) देवताओ के प्रियो मे यह पिलिन्द वात्स्य-पुत्र अग्र है। (२७) क्षिप्राभिज्ञों (प्रखर बुद्धियो) में यह बाहिय दारुचीरिय अग्र है। (२८) चित्र कथिको (विचित्र वक्ताओ) मे यह कुमार काश्यप अग्र है। (२९) प्रति-सबित-प्राप्तो में यह महाकोट्ठित (महाकोष्ठित) अग्र है। (३०) बहुश्रुतों में गतिमानो मे स्थितिमानो म यह आनन्द अग्र है। (३१) महापरिषद वालो म यह उरुवेल-काश्यप अग्र है। (३२) कुल प्रसादको (कुलो को प्रसन्न

करने वालो) मे यह काल-उदायी अग्र है। (३३) अल्पाबाधो (निरोगो) में यह बक्कुल अग्र है। (३४) पूर्व-जन्म स्मरण करने वालो मे यह शोभित अग्र है। (३५) विनय-धरो मे यह उपालि अग्र है। (३६) भिक्षुणियों के उपदेशकों मे यह नन्दक अग्र है। (३७) जितेन्द्रियो मे यह नन्द अग्र है। (३८) भिक्षुओ के उपदेशको मे यह महाकप्पिन अग्र है। (३९) तेज-धातु-कुशलो में यह स्वागत अग्र है। (४०) प्रतिभाशालियो मे यह राध अग्र है (४१) रुक्ष चीवरधारियो मे यह मोघराज अग्र है। (४२) भिक्षुओ ! मेरी रक्तज्ञ भिक्षुणी-श्राविकाओ मे महाप्रजापति गोतमी अग्र है। (४३) महाप्राज्ञाओ मे खेमा अग्र है (४४) ऋद्धिमतियो मे उत्पलवर्णा अग्र है। (४५) विनय धारण करने वालियो मे पटाचारा अग्र है। (४६) धर्मकथिकाओ मे धम्मदिन्ना अग्र है। (४७) ध्यानिया म नन्दा अग्र है। (४८) आरब्धवीर्याओ मे सोणा अग्र है। (४९) क्षिप्राभिज्ञाओ मे भद्रा कुडल केशा अग्र है (५०) पूर्व जन्म की अनुस्मृति करने वालिया म भद्रा कापिलायिनी अग्र है। (५१) महा-अभिज्ञा-प्राप्तो मे भद्रा कात्यायनी। (५२) रुक्ष चीवरधारिणियो मे कृशा गौतमी (५३) श्रद्धा-युक्त भिक्षुणियों म श्रृगाल-माता। (५५-५६) भिक्षुओ ! मेरे उपासक श्रावको म प्रथम शरण आने वाला म तपस्सु और भल्लुक वणिक अग्र है। (५७) दायको मे अनाथ-पिण्डिक सुदत्त गृहपति अग्र है। (५८) धर्मकथिका (धर्मोपदेष्टाओ) मे मच्छिकापण्डवासी चित्र गृहपति अग्र है। (५९) चार सग्रह-वस्तुओ मे परिषद् का मिलाकर रखने वालो में हस्तक आल-वक अग्र है। (६०) उत्तम दायका म महानाम शाक्य अग्र है। (६१) प्रिय-दायकों मे वैशाली का निवासी उग्र गृहपति अग्र है। (६२) सघ-सेवको मे उद्गत (उग्गत) गृहपति अग्र है। (६३) अत्यन्त प्रसन्नो मे शूर अम्बष्ट अग्र है। (६४) व्यक्तिगत प्रसन्नों मे जीवक कौमार भृत्य अग्र है। (६५) विश्वासको मे नकुल-पिता गृहपति अग्र है। (६६) भिक्षुओ ! मेरी उपासिका श्राविकाओ मे प्रथम शरण आने वालियो मे सेनानी दुहिता सुजाता अग्र है। (६७) दायिकाओ मे विशाखा मृगारमाता अग्र है। (६८) बहुश्रुताओ मे खुज्जुत्तरा (कुब्जा उत्तरा) अग्र है। (६९) मैत्री विहार प्राप्त करने वालियो मे सामावती (श्यामावती) अग्र है। (७०) ध्यानियो मे उत्तरा नन्द-माता अग्र है। (७१) प्रणीत दायिकाओ मे सुप्रवासा कोलिय-दुहिता अग्र है। (७२) रोगी की सेवा करने वालियो में सुप्रिया उपासिका अग्र है। (७३)

अतीव प्रसन्नो मे कात्यायनी अग्र है। (७४) विश्वासिकाओं में नकुल माता गृहपत्नी अग्र है। (७५) अनुश्रव प्रसन्नों में कुरर घर में ब्याही काली उपासिका अग्र है।[1] भगवान बुद्ध-देव के प्रधान शिष्य शिष्याओं का यह विवरण जिसमें उनके भिक्षु भिक्षुणी उपासक और उपासिका सभी कोटि के पुरुष और स्त्री साधक-साधिकाओं के नाम हैं बुद्ध-धर्म और संघ के इतिहास की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है इसके कहने की आवश्यकता नहीं। धर्म साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रकार की प्रभूत सामग्री अंगुत्तर निकाय में भरी पड़ी है। दुक निपात के इस सुन्दर भावपूर्ण बुद्ध वचन को लीजिये द्वे मे भिक्खवे असनिया फलन्तिया न सन्तसन्ति। कतमे द्वे? भिक्खु च खीणासवो सीहो च मिगराजा। इमे खो भिक्खवे द्वे असनिया फलन्तिया न सन्तसन्तीति अर्थात् भिक्षुओ बिजली कड़कने पर दो ही प्राणी नहीं चौंक पड़ते हैं। कौन से दो? क्षीणास्रव भिक्षु और मृगराज सिंह। भिक्षुओ! यही दो बिजली कड़कने पर चौंक नहीं पड़ते।[2] इस प्रकार के अर्थ गर्भित उपदेश जिनकी मौलिकता और स्वाभाविकता में उनका संख्याबद्ध विन्यास कोई क्षति नहीं पहुंचाता अंगुत्तर निकाय में भरे पड़े हैं। तिक निपात के भरण्डसुत्त में हम भगवान् को बुद्धत्व प्राप्ति के बाद अपने पन्द्रहवें वर्षावास में कपिलवस्तु में विचरते देखते हैं। महानाम शाक्य उनका सत्कार करता है। भगवान नगर से बाहर भरण्ड-कालाम नामक अपने पूर्व सब्रह्मचारी के आश्रम में एक रात भर रहते हैं। रात के बीतने पर महानाम शाक्य फिर उनकी सेवा में उपस्थित होता है। भगवान उसे उपदेश देते हैं महानाम लोक में तीन प्रकार के शास्ता विद्यमान हैं। कौन से तीन? (१) यहाँ एक शास्ता महानाम कामों के त्याग का उपदेश करते हैं किन्तु रूपों और वेदनाओं के त्याग को प्रज्ञापित नहीं करते (२) कामों और रूपों के त्याग का उपदेश

---

१ बुद्ध चर्या, पृष्ठ ४६७-४७२ (कुछ अल्प शाब्दिक परिवर्तनों के साथ)

२ क्षीणास्रव भिक्षु नहीं चौंक पड़ता है क्योंकि उसका अहंभाव बिलकुल निरुद्ध हुआ रहता है। मृगराज सिंह नहीं चौंक पड़ता है क्योंकि उसका 'अहंभाव' अत्यन्त प्रबल होता है चौंकने के बदले वह और गरज उठता है कि कौन दूसरा उसकी बराबरी करने आ रहा है। भिक्षु जगदीश काश्यप पालि महाव्याकरण पृष्ठ चवालीस (वस्तुकथा) में।

करते है किन्तु वेदनाओ के त्याग को प्रज्ञापित नही करते (३) कामो के त्याग को भी, रूपो के त्याग को भी और वेदनाओ के त्याग को भी प्रज्ञापित करते है। महानाम ! लोक मे यही तीन प्रकार के शास्ता है।" अगुत्तर-निकाय के चतुष्क-निपात के केस-पुत्तिय-सुत्त मे हम बुद्धके बुद्धिवादी दृष्टिकोण को स्पष्टत देखते है। कोसल-प्रदेश मे चारिका करते करते भगवान् केसपुत्त नामक निगम (कस्बे) में, जो कालाम नामक क्षत्रियो का निवास-स्थान था, पहुँचते है। कालाम क्षत्रिय भगवान् को हाथ जोड-जोड कर एक ओर चुपचाप बैठ जाते हैं। वे भगवान् से विनम्रता के साथ पूछते है "भन्ते ! कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त मे आते है। वे अपने ही मत की प्रशसा करते हैं दूसरे के मत की निन्दा करते है उसे छुडवाते है। भन्ते ! दूसरे भी कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं और वे भी वैसा ही करते है। तब भन्ते ! हमको सशय अवश्य होता है कौन इन आप श्रमण-ब्राह्मणो म सच कहता है कौन झूठ ?" कालामो का प्रश्न ऐसा है जो दुनिया के धार्मिक इतिहास मे हर युग मे और हर व्यक्ति के हृदय मे आता है। अत कालामो के प्रश्न का महत्त्व सब काल के मनुष्य के लिये समान रूप से है। भगवान ने जो उत्तर दिया है वह उससे भी अधिक विश्व-जनीन महत्ता लिये हुए है। भगवान् कहते है "कालामो ! तुम्हारा सशय ठीक है। सशय-योग्य स्थान मे ही तुम्हे सशय उत्पन्न हुआ है। आओ कालामो ! मत तुम अनुश्रव से विश्वास करो मत परम्परा से विश्वास करो। 'यह ऐसा ही है' इस मे भी तुम मत विश्वास करो। कालामो ! मान्य शास्त्र की अनुकूलता (पिटक-सम्प्रदाय) मे भी तुम विश्वास मत करो। मत तर्क से, मत न्याय-हेतु से, मत वक्ता के आकार के विचार से, मत अपने चिर-धारित विचार के होने से, मत वक्ता के भव्य रूप होने से, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' इस भावना से, कालामो ! मत इन सब कारणो से तुम विश्वास करो ! बल्कि कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म अकुशल है, ये धर्म सदोष है, ये धर्म विज्ञ-निन्दित है ये ग्रहण करने पर अहित, दुःख के लिये होगे, तो कालामो ! तुम उन्हे छोड देना। इसी प्रकार कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म कुशल है, ये धर्म निर्दोष है ये धर्म विज्ञ-प्रशसित है, ये ग्रहण कर लेने पर सुख और कल्याण के लिये होगे, तो कालामो ! तुम उन्हें प्राप्त कर विहरो।" इस प्रकार पात्रता की उपयुक्त भूमि तैयार कर बाद में तथागत कालामो को विज्ञापित करते है "तो क्या मानते हो कालामो ! पुरुष के भीतर

उत्पन्न हुआ लोभ (राग) हित के लिये होता है या अहित के लिये ?" "अहित के लिये, भन्ते !" "पुरुष के भीतर उत्पन्न हुआ द्वेष हित के लिये या अहित के लिये ?" "अहित के लिये भन्ते ।" 'मोह?' "अहित के लिये, भन्ते !" "तो क्या मानते हो कालामो ! ये धर्म (राग द्वेष मोह) सदोष हैं या निर्दोष ?" "सदोष भन्ते !" "प्राप्त करने पर अहित के लिये दुःख के लिये हैं या नहीं?" ग्रहण करने पर भन्ते ! अहित के लिये हैं ऐसा हमें लगता है।' बुद्ध की उठाने वाली आदेशना होती है 'तो कालामो ! तुम इन्हें छोड़ दो।" इसी प्रकार अलोभ अद्वेष अमोह को हित सुख का कारण समझा कर भगवान् कालामो को उन्हें ग्रहण करने की प्रेरणा करते हैं। किसी भी विश्वास को मानने या न मानने की अपेक्षा के बिना ही स्वयं सदाचार का जीवन सम्पूर्ण आश्वासनों से किस प्रकार आश्वस्त है इसे समझाते हुए भगवान कहते हैं 'कालामो ! जो आर्य साधक (श्रावक) अ-वैर-चित्त अ-व्यापन्न चित्त अ-सक्लिष्ट-चित्त (विशुद्धि-चित्त) है उसको इसी जन्म में चार आश्वासन (आश्वासन) मिले रहते हैं (१) यदि परलोक है यदि सुकृत दुष्कृत कर्मों का फल है तो निश्चय ही मैं काया छोड़, मरने के बाद सुगति स्वर्ग-लोक में उत्पन्न होऊँगा यह उसे प्रथम आश्वास प्राप्त रहता है। (२) यदि परलोक नहीं है यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल नहीं है तो इसी जन्म में इसी समय अ-वैर चित्त अ-व्यापन्न-चित्त अ-सक्लिष्ट-चित्त अपने को रखता हूँ यह उसको द्वितीय आश्वास प्राप्त रहता है। (३) यदि काम करते पाप किया जाये तो भी मैं किसी का बुरा नहीं चाहता बिना किये फिर पाप-कर्म मुझे क्यों दुःख पहुँचायेगा। यह उसे तीसरा आश्वास प्राप्त रहता है। (४) याद करते हुए पाप न किया जाय, तो इस समय मैं दोनों से ही मुक्त अपने को देखता हूँ। यह उसे चौथा आश्वास प्राप्त हुआ रहता है।" यह उपदेश न केवल बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद और विचार-स्वातन्त्र्य का बल्कि भगवान् की उपदेश-प्रणाली का भी अच्छा सूचक है। अगुत्तर-निकाय की एक बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ भिक्षु-धर्म (भिक्खु-विनय) के साथ-साथ गृहस्थ-धर्म (गिहि-विनय) का भी उपदेश दिया गया है। चतुक्क-निपात के वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त में भगवान् मथुरा और वेरंजा के बीच के रास्ते में गृहस्थों को विज्ञापित करते हुए दिखाई देते हैं, "गृहपतियो ! चार प्रकार के सवास होते हैं। कौन से चार ? (१) शव शव के साथ सवास करता है (२) शव देवी के साथ सवास करता है (३) देव शव के साथ सवास करता है (४)

देव देवी के साथ सवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव शव के साथ सवास करता है ? यहाँ गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर दुराचारी, झूठा, नशाबाज, दुःशील, पाप-धर्म, कंजूसी की गन्दगी से लिप्त चित्तवाला, श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, इस प्रकार गृह में वास करता हो और उसकी भार्या भी उसी के समान हिंसक, चोर, दुराचारिणी श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाली हो। उस समय गृहपतियो ! शव शव के साथ सवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव देवी के साथ सवास करता है ? गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, किन्तु उसकी भार्या अ-हिंसा-रत, चोरी रहित, सदाचारिणी, सच्ची, नशा-विरत, सुशीला, कल्याण-धर्म-युक्त, मल-मात्सर्य-रहित श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन न कहने वाली हो तो गृहपतियो ! शव देवी के साथ सवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव शव के साथ सवास करता है ? गृहपतियो ! पति हो अहिंसा-रत, चोरी-रहित सदाचारी उसकी भार्या हो हिंसा-रत चोर, दुराचारिणी गृहपतियो ! देव शव के साथ सवास करता है। कैसे गृहपतियो ! देव देवी के साथ सवास करता है ? गृहपतियो ! पति अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारी उसकी भार्या भी अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी गृहपतियो ! देव देवी के साथ सवास करता है।" इसी प्रकार एकादस-निपात के महानाम-सुत्त में हम भगवान् को महानाम शाक्य के प्रति, जो गृहस्थ था, बुद्ध, धर्म, संघ आदि की अनुस्मृति करने का उपदेश देते हुए देखते हैं "महानाम !" तुम चलते भी भावना करो, खड़े भी, लेटे भी, कर्मान्तिक (खेती आदि) का अधिष्ठान (प्रबंध) करते भी, पुत्रों से घिरी शय्या पर भी।" बुद्ध ने गृहस्थ, भिक्षु, सब के लिये अ-प्रमाद या सतत पुरुषार्थ पर कितना अधिक जोर दिया, यह हमने दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों के विवरण में देखा है। अंगुत्तर-निकाय के छक्कक-निपात के पठमनीय-सुत्त में भी हम भगवान को भिक्षुओं के प्रति यही उपदेश करते देखते हैं। श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन-आराम में कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु सूर्योदय तक खर्राटे ले सो रहे हैं। भगवान भिक्षुओं को विज्ञापित करते हैं, "भिक्षुओ ! सूर्योदय तक खर्राटे मार कर सोते हो। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा या सुना है मूर्धाभिषिक्त (अभिषेक-प्राप्त) क्षत्रिय राजा को इच्छानुसार शयन-सुख स्पर्श-सुख आलस्य-सुख के साथ विहार करते और जीवन-पर्यन्त राज्य करते या

देश का भला होते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा है या सना है, शयन-सुख, स्पर्श-सुख आलस्य-सुख से युक्त, इन्द्रियो के द्वारो को सुरक्षित न रखने वाले भोजन की मात्रा को न जानने वाले, जागरण मे अ-तत्पर कुशल धर्मो की विपश्यना (साक्षात्कार) न करने वाले, रात के पहले और पिछले पहर मे जगकर बोधि-पक्षीय धर्मों की भावना न करने वाले, किसी भी श्रमण या ब्राह्मण को चित्त-मलो के क्षय से प्राप्त निर्मल चित्त की विमुक्ति या प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म मे स्वय साक्षात्कार कर, स्वय जान कर, स्वय प्राप्त कर विहरते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो भिक्षुओ ! तुम्हे ऐसा सीखना चाहिये—इन्द्रिय-द्वार को सुरक्षित रखूँगा। भोजन की मात्रा को जानने वाला होऊँगा। जागने वाला कुशल कर्मो की विपश्यना करने वाला, रात के पहले और पिछले पहरा मे बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने वाला, इस प्रकार मे भावना म लग्न रह कर विहरूँगा। भिक्षुओ ! तुम्हे ऐसा सीखना चाहिये।" अगुत्तर-निकाय के अट्ठक-निपात के पजावती-पबज्जा-सुत्त मे महाप्रजापती गोतमी की प्रव्रज्या का बिलकुल उन्ही शब्दो मे वर्णन है, जैसा विनय-पिटक के चुल्लवग्ग मे। कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम मे भगवान् के बिहार करते समय महाप्रजापती गोतमी भगवान् के पास आकर उनसे प्रार्थना करती है, "भन्ते ! अच्छा हो, यदि मातृग्राम (मातृ-समूह—स्त्रिया) भी तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय मे प्रव्रज्या पावे।" भगवान् ने उत्तर दिया, "गोतमी ! मत तुझे यह रुचे कि स्त्रियाँ तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय म प्रवज्या पावे।" महाप्रजापती दुखी, दुर्मना, अश्रुमुखी होकर चली गई। बाद मे वह वैशाली मे भगवान् के पास पहुँची। वहाँ आनन्द ने स्त्री-जाति की ओर बोलते हुए भगवान् से निवेदन किया, "भन्ते ! महाप्रजापती गोतमी फूले पैरो, धूल भरे शरीर से, दुखी, दुर्मना, अश्रुमुखी रोती हुई द्वार-कोष्ठक के बाहर खडी है। भन्ते ! स्त्रियो को प्रव्रज्या की आज्ञा मिले।" "आनन्द ! मत तुझे यह रुचे।" आनन्द ने तथागत-प्रवेदित धर्म की मूल आत्मा को लेकर ही कहा, "भन्ते ! क्या तथागत-प्रवेदित धर्म म घर से बे घर प्रव्रजित हो, स्त्रियाँ स्रोत-आपत्ति-फल, सकृदागामि-फल अनागामि-फल, अर्हत्व-फल को साक्षात कर सकती है ?" भगवान् को कहते देर न लगी, "साक्षात् कर सकती हैं, आनन्द !" बस प्रजापती गोतमी और आनन्द की इच्छा को पूरी होते देर न लगी। भगवान् ने आठ गुरु-धम्मो

(जिनके कारण ही इस प्रसग को यहाँ अगुत्तर-निकाय के इस निपात में स्थान मिला है) के पालन करने की शर्त लेकर महाप्रजापती को प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। उसी समय से अन्य भी स्त्रियाँ भिक्षुणियाँ हुई और बाद मे एक अलग भिक्षुणी-सघ ही बन गया। किन्तु स्त्रियो को प्रव्रज्या की अनुमति देते समय भगवान् ने चेतावनी भी दी, जिसे बुद्ध-धर्म के बाद के इतिहास ने सम्भवत सच्चा भी प्रमाणित कर दिया है "आनन्द ! यदि तथागत-प्रवेदित-धर्म-विनय मे स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पाती, तो यह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष ठहरता। किन्तु चूँकि आनन्द ! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुई, अब सद्धर्म चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म अब पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा। आनन्द ! जैसे आदमी पानी की रोक-थाम के लिये, बडे तालाव को रोकने के लिये, मेड बाँधे, उसी प्रकार आनन्द। मैने रोक-थाम के लिये भिक्षुणियो को जीवन-भर अनुल्लघनीय आठ गुरु-धर्मो म प्रतिष्ठापित किया।" इसी प्रसग मे यहाँ यह भी कह देना अप्रासङ्गिक न हागा कि आनन्द किस प्रकार स्त्री-जाति के समर्थन मे अपने युग से बहुत आगे थे, इसकी भी सूचना हम इस निकाय मे मिलती है। स्त्रियो को प्रव्रज्या दिलाने मे उन्होने महाप्रजापती गोतमी की किस कुशलता के साथ सहायता की यह हम अभी देख ही चुके है। हम एक बार उन्हे (चतुक्क-निपात मे) भगवान् से यह तक पूछते देखते है "भन्ते ! क्या कारण है कि स्त्रियाँ परिषदो मे स्थान नही पाती, स्वतन्त्र उद्योग नही करती, स्वावलम्बन का जीवन नही बिताती ?" हम [illegible]ते है कि आनन्द को अपने इन सब विचारो के कारण ही प्रथम सगीति मे क्षमा-याचना करनी पडी। मनुष्यता के नाते आज आनन्द इसीलिये हमारे लिये अधिक प्रिय बन गये ह, उस समय के लोगो ने चाहे जो सोचा हो। अगुत्तर-निकाय मे इस प्रकार बुद्ध के शिष्यो के स्वभाव और जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रभूत सामग्री मिलती है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद प्रजापती गोतमी इसी निकाय (अट्ठक-निपात) मे भगवान् से पूछती है "भन्ते ! अच्छा हो यदि भगवान् सक्षेप से मुझे धर्म का उपदेश करे ताकि मै उसे सुन कर, प्रमाद-रहित हो, आत्म-सयम कर जीवन मे विचरूँ।" भगवान् का उत्तर बुद्ध-धर्म के उदार मन्तव्य को समझने के लिये इतना महत्वपूर्ण है कि उसको उद्धृत करने का लोभ सवरण नही किया जा सकता। "गोतमी ! जिन बातों को तू जाने कि ये बातें सराग के लिये है, विराग के लिये नही, सयोग के लिये है वियोग के लिये नही, सग्रह के लिये है, असग्रह के लिये नहीं, इच्छाओ को बढ़ाने

के लिये है, घटाने के लिये नही, असन्तोष के लिये है, सन्तोष के लिये नही, भीड़ के लिये है, एकान्त के लिये नही, अनुद्योगिता के लिये है, उद्योगिता के लिये नही, कठिनाई के लिये हैं, सुगमता के लिये नही, तो तू गोतमी ! सोलहो आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है। किन्तु गोतमी ! जिन बातो को तू जाने कि वे विराग के लिये है, सराग के लिये नही..... इच्छाओं को घटाने के लिये हैं, बढाने के लिये नही.... .सुगमता के लिये है कठिनाई के लिये नही, तो गोतमी ! तू सोलहो आने जानना वही विनय है, वही शास्ता का शासन है।"

सुत्तक-निपात मे भगवान् बुद्ध का ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी गम्भीर उपदेश है जो अपनी सूक्ष्मता और मार्मिकता मे अद्वितीय है। उसे यहाँ उद्धृत करना उपयोगी सिद्ध होगा। "ब्राह्मण ! यहाँ कोई एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, किन्तु वह स्त्री के द्वारा (स्नान-चूर्ण आदि) उबटन किये जाने, मले जाने, स्नान कराये जाने और मालिश किये जाने को स्वीकार करता है । वह उसमे रस लेता है, उसकी इच्छा करता है, उसमे प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण! यह भी ब्रह्मचर्य का टूटना है, छिद्रयुक्त होना है, चितकबरा होना है, धब्बेदार होना है। ब्राह्मण! इस पुरुष के लिये कहा जायगा कि वह मैथुन (स्त्री-सहवास) से युक्त होकर ही मलिन ब्रह्मचर्य का सेवन कर रहा है। वह मनुष्य जन्म से, जरा से, मरण से नही छूटता .....नही छूटता दु.ख से भी—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नही भी करता और न स्त्री के द्वारा अपने उबटन आदि किये जाने को ही स्वीकार करता है, किन्तु वह स्त्री के साथ हँसी-मजाक करता है, क्रीड़ा करता है, खेलता है, वह उसमे रस लेता है...... दुःख से नही छूटता—मै कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नही भी करता, उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता, उसके साथ हँसी मजाक भी नही करता, किन्तु वह स्त्री को आँख गड़ाकर देखता है, नजर भर कर देखता है, वह उसमें रस लेता है...... दु.ख से नही छूटता—

मे कहता हूँ। पुन ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक ब्रह्मचारी होन का दावा करता है और वह न प्रत्यक्ष स्त्री के साथ सहवास करता न उससे उबटन आदि लगवाता न उसके साथ हँसी मजाक करता न उसे आख गडाकर देखता किन्तु वह दीवार या चहारदीवारी की ओट स छिपकर स्त्री के शब्दो को सुनता है जब कि वह हँस रही हो या बात कर रही हो या गा रही हो या रो रही हो वह उसम रस लेता है दुख से नही छूटता—म कहता हूँ। पुन ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक ब्रह्मचारी होन का दावा करता ह ओर वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता न स्त्री से उबटन लगवाता न उसके साथ हसी मजाक करता न उसको नजर भर कर देखता है जब कि वह गा रही हो या रो रही हो किन्तु वह अपन उन हँसी मजाको सम्भाषणो और क्रीडाओ को स्मरण करता ह जो उसन पहल स्त्री के साथ की थी वह उनम रस लेता ह दुख से नही छूटता—म कहता ह। पुन ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक ब्रह्मचारी होन का दावा करता ह और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता न स्त्री स उबटन लगवाता न उसके साथ हँसी मजाक करता न उसको आख गडा कर देखता न उसके साथ किय हुए अपन पुरान हसी मजाको सम्भाषणो और क्रीडाओ आदि का ही स्मरण करता ह किन्तु वह किसी गहस्थ या गहस्थ पुत्र को पूरी तरह पाँच प्रकार के (शब्द स्पश रूप रस ग ध सम्बन्धी) विषयो से समर्पित सयुक्त हो विलास करते देखता ह वह उसम रस लेता है दुख से नही छूटता—मैं कहता ह। पुन ब्राह्मण यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और न वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता न स्त्री से उबटन लगवाता न उसके साथ हसी मजाक करता न उसको आँख गडाकर देखता न उसके साथ किय हुए अपन पुरान हसी मजाको को स्मरण करता न किसी गहस्थ या गृहस्थ पुत्र को कामासक्त होकर सुख विहार करते देख कर प्रसन्न होता किन्तु वह किसी देव योनि म जन्म लेन की अभिलाषा से ब्रह्मचर्य का आचरण करता ह और सोचता ह कि इस प्रकार के शील तप व्रत या ब्रह्मचर्य से म देव हो जाऊगा या देवोम कोई वह इसम रस लेता है इसकी इच्छा करता है इसम प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का खडित

हो जाना है, टूट जाना है, छिद्र-युक्त हो जाना है, चितकबरा हो जाना है, धब्बे-दार हो जाना है। इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला पुरुष मलिन मैथुन के संयोग से युक्त ब्रह्मचर्य का ही आचरण करता है और वह जन्म से, जरा से, मरण से नही छूटता, नही छूटता दु:ख से--मैं कहता हूँ।" साधना के इतिहास में इससे गम्भीर प्रवचन ब्रह्मचर्य पर नही दिया गया।

तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये कितनी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक सामग्री हमे अगुत्तर-निकाय में मिलती है, इसका कुछ दिग्दर्शन किया जा चुका है। तत्कालीन इतिहास की झलक भी उसमे कितनी मिलती है, यह अब हमे देखना है। सिह सेनापति (लिच्छवि सरदार) बुद्ध-युग का एक आकर्षक व्यक्ति है।[1] अट्ठक-निपात मे हम सिह सेनापति को भगवान् से भेंट करते हुए देखते है। सिह पहले निगण्ठो (निर्ग्रन्थों-जैन साधुओ) का शिष्य रहा है वह अपनी कुछ आपत्तियो को लेकर भगवान् बुद्ध के पास आता है। वह उन्हे पूछता है कि वे कहां तक अक्रियावादी, उच्छेदवादी है या नही। भगवान् एक-एक कर उसको बतला देते है कि किन-किन अर्थों मे उनको ऐसा (अक्रियावादी,उच्छेदवादी आदि) कहा भी जा सकता है। सिह सेनापति संतुष्ट होकर उपासक बनना चाहता है। भगवान् उसे कहते है "सिह! सोच-समझ कर करो। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त मनष्यो का सोच-समझ कर निश्चय करना ही अच्छा है।" सिह सेनापति जब अपनी दृढ श्रद्धा दिखाता है तो भगवान् उसे उपासक के रूप मे स्वीकार कर लेते है, किन्तु चूँकि वह पहले निर्ग्रन्थों का शिष्य रहा है और वे उससे दान पाते रहे है, इसलिये उदार शास्ता सिह को यह भी आदेश देना नही भूलते, "सिह! तुम्हारा कुल दीर्घ-काल से निगठो के लिये प्याऊ की तरह रहा है। उनके आने पर उन्हें पहले की ही तरह तुम्हारे घर से दान मिलता रहना चाहिये।" बुद्ध के विरुद्ध किस प्रकार मिथ्या प्रचार किया जाता था इसका विवरण हम इसी निकाय के वेरंजक-सुत्त में पाते है। वेरजक नामक ब्राह्मण भगवान् के पास जाकर कहता है, "हे गोतम! मैंने सुना है कि आप गोतम अ-रस

१. देखिये महापंडित राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति' शीर्षक उपन्यास।

रूप है .... आप गोतम निर्भोग है... आप गोतम अक्रियावादी है ... आप गोतम उच्छेदवादी है .. आप गोतम जुगुप्सु (घृणा करने वाले) है.......आप गोतम वैनयिक (हटाने वाले) है .आप गोतम तपस्वी है ..आप गोतम अपगर्भ है। भगवान् उसे बताते है कि उन्हे किस-किस अर्थ मे ऐसा कहा भी जा सकता है।" उदाहरणत "ब्राह्मण ! मै काया के दुराचार, वाणी के दुराचार, मनके दुराचार को अक्रिया कहता हूँ। अनेक प्रकार के पाप कर्मों को मै अ-क्रिया कहता हूँ। यही कारण है ब्राह्मण ! जिससे 'श्रमण गोतम अक्रियावादी है'। ऐसा कहा जा सकता है । ..ब्राह्मण ! मै राग, द्वेष, मोह के उच्छेद का उपदेश करता हूँ। अनेक प्रकार के पाप-कर्मों का उच्छेद कहता हूँ। 'श्रमण गोतम उच्छेदवादी है' ऐसा कहा जा सकता है। .. . ब्राह्मण ! जिसका भविष्य का गर्भ-शयन, आवागमन नष्ट हो गया, जड-मूल से चला गया, उसको मै अपगर्भ करता हूँ। ब्राह्मण ! तथागत का गर्भ-शयन, आवागमन, नष्ट हो गया, जड-मूल से चला गया। 'श्रमण गोतम अपगर्भ है', ऐसा कहा जा सकता है," आदि, आदि । यही भगवान् अपनी जीवनी का भी कुछ वर्णन करने लगते है, "ब्राह्मण ! इस अविद्या मे पडी, अविद्या रूपी अंडे से जकडी प्रजा में, मे अकेला ही अविद्या रूपी अडे को फोड़ कर, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मै ही ब्राह्मण ! लोक में ज्येष्ठ हूँ, अग्र हूँ। मैने न दबने वाला वीर्यारम्भ किया था, विस्मरण-रहित स्मृति मेरे सम्मुख थी, अचल और शान्त मेरा शरीर था, एकाग्र समाहित चित्त था। .. ...ब्राह्मण ! उस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर, आत्म-संयम-युक्त होकर विहरते हुए, मुझे रात के पहले याम में, पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह पहली फूट हुई। फिर ब्राह्मण ! रात के बीच के याम मे द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई रात के पिछले याम मे तृतीय विद्या उत्पन्न हुई। अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई। तम गया, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह तीसरी फूट हुई।"

कोशल-राज प्रसेनजित् बुद्ध का श्रद्धावान् उपासक था, यह हम संयुत्त निकाय मे देख चुके है। मज्झिम-निकाय (बाहीतिक-सुत्त) मे हमने प्रसेन-

जित् और आनन्द का संवाद भी देखा है। अंगुत्तर-निकाय के कोसल-सुत्त में हम उसे बुद्ध के प्रति अतीव श्रद्धा और प्रेम प्रदर्शित करते हुए देखते हैं। श्रावस्ती में भगवान् के दर्शनार्थ वह जाता है। जेतवन-आराम के द्वार पर ही वह भिक्षुओ से भगवान् के दर्शन-विषयक अपनी इच्छा को प्रकट करता है। "महाराज! यह द्वार-बन्द कोठरी है, चुपके से धीरे धीरे वहाँ जाकर बरामदे मे प्रवेश कर, खाँस कर जजीर को खटखटा देना। भगवान् तुम्हारे लिये द्वार खोल देंगे।" भगवान् ने द्वार खोल दिया। "विहार मे प्रविष्ट हो प्रसेनजित् भगवान् के पैरो मे गिर-कर, भगवान् के पैरो को मुख से चूमता था, हाथ मे पैरो को दबाता था और अपना नाम सुनाता था 'भन्ते! मै राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ।" "महाराज! तुम किस बात को देखकर इस शरीर मे इतनी मैत्री का उपहार दिखाते हो?" "भन्ते! कृतज्ञता, कृतवेदिता को देखते हुए मै भगवान् की इस प्रकार की परम सेवा करता हूँ, मैत्री उपहार दिखाता हूँ। भन्ते! भगवान् बहुत जनो के हित, बहुत जनो के सुख के लिये है"। अंगुत्तर-निकाय मे हम देखते है कि मगध-राज अजातशत्रु वज्जियो के गण-तन्त्र के विरुद्ध अभियान करना चाहता है। भगवान् जिस समय राजगृह में गृध्रकूट-पर्वत (गिज्झकूट पब्बत) पर विहर रहे थे, उसने अपने मन्त्री वर्षकार (वस्सकार) नामक ब्राह्मण को उनसे इस सम्बन्ध में पूछने के लिये भेजा था। सोलह महाजन-पदों का इस निकाय में विशेष वर्णन है।[1] इन सोलह महाजन पदों के नाम है अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेति, वस, कुरु, पंचाल (पाचाल), मच्छ (मत्स्य), सूरसेन (शूरसेन), अस्सक (अश्वक-अश्मक), अवन्ती, गन्धार और कम्बोज। ये सभी नाम उन प्रदेशो के निवासियों (जनो) के सूचक हैं। गणतन्त्र-प्रणाली की यह मुख्य विशेषता थी। भौगोलिक दृष्टि से भी इस निकाय के अनेक वर्णन बड़े महत्त्व के है। उदाहरणतः यहाँ गगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू) और मही इन पाँच बडी नदियो का वर्णन है। इसी प्रकार भंडगाम (वज्जि-प्रदेश) इच्छा-मंगल (कोशल) आदि ग्रामों, केसपुत्त (कालाम नामक क्षत्रियों का कस्बा)

---

१. अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पहली, पृष्ठ २१३, जिल्द चौथी, पृष्ठ २५२, २५६, २६०, आदि (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

कुसीनारा (मल्ल-प्रदेश मे), नलकपान (कोशल), कम्मासदम्म (कुरु-प्रदेश) आदि कस्बो और श्रावस्ती, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र आदि अनेक नगरो के वर्णन है जो बुद्ध-कालीन भारत के वातावरण को आज भी हमारे लिये सजीव बनाते है।

उ— खुद्दक-निकाय

खुद्दक-निकाय के स्वरूप की अनिश्चितता।

खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का पाँचवा मुख्य भाग है। पहले चार निकायो की सी एकरूपता यहाँ नही मिलती। खुद्दक-निकाय छोटे-छोटे (खुद्दक) स्वतन्त्र ग्रन्थो का सग्रह (निकाय) है। सभी ग्रन्थ छोटे भी नही है। कुछ तो (जैसे जातक आदि) काफी बडे भी है। भाषा-शैली म भी समानता नही है। कुछ विशुद्ध पद्यात्मक और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ है। काव्य, आख्यान, गीत, यही खुद्दक-निकाय के विषय ह। निश्चयत खुद्दक-निकाय के विषय और शैली की सब से बडी विशेषता उसकी विविधरूपता ही है। जैसा अक्षत दूसरे अध्याय मे दिखाया जा चुका है, वर्गीकरण के भेद से खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-सख्या मे भी पर्याप्त भेद पाया जाता है।

सुत्त-पिटक के अङ्ग के रूप में

सामान्यत खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का एक अङ्ग है। इस रूप मे खुद्दक-निकाय मे पन्द्रह ग्रन्थ सम्मिलित है, जिनकी गणना नीचे लिखे क्रम से आचार्य बुद्धघोष ने की है[१]—

१ खुद्दक-पाठ
२ धम्मपद
३ उदान
४ इतिवुत्तक
५ सुत्त-निपात
६ विमानवत्थु
७ पेतवत्थु
८ थेरगाथा
९ थेरी गाथा
१० जातक

---

१. सुमगल विलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ १७ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

११ निद्देस
१२ पटिसम्भिदामग्ग
१३ अपदान
१४ बुद्धवंस
१५ चरियापिटक

निद्देस के दो भाग चूलनिद्देस और महानिद्देस हैं। उनको दो स्वतंत्र ग्रन्थ मान कर गिनने से उपर्युक्त ग्रन्थ-संख्या १६ हो जाती है। किन्तु स्थविरवादी बौद्ध परम्परा १५ ही ग्रन्थ मानती है। "पण्णरसभेदो खुद्दक-निकायो"। आचार्य बुद्धघोष ने हमें सूचना दी है कि प्रथम संगीति के अवसर पर मज्झिम-निकाय का संगायन करने वाले (मज्झिम-भाणक) भिक्षु उपर्युक्त १५ ग्रन्थों को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत खुद्दक-निकाय में सम्मिलित मानते थे।[1]

खुद्दक-निकाय अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत भी

किन्तु एक दूसरी परम्परा उसी समय से खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत मानने के विपक्ष में थी। यह दीघ-निकाय का संगायन करने वाले (दीघ-भाणक) भिक्षुओं की परम्परा थी। ये भिक्षु खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मान कर उसे अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत मानते थे। ग्रन्थ-संख्या के विषय में भी मतभेद था। इन्हें खुद्दक-निकाय के सिर्फ निम्नलिखित ११ ग्रन्थ, जिन्हें वे खुद्दक-ग्रन्थ कहते थे मान्य थे। आचार्य बुद्धघोष ने इन ग्रन्थों की सूची इस प्रकार दी है[2]—

१ जातक
२ निद्देस
३ पटिसम्भिदा मग्ग
४ सुत्त-निपात
५ धम्मपद
६ उदान,
७ इतिवुत्तक
८ विमानवत्थु
९ पेतवत्थु
१० थेरगाथा
११ थेरीगाथा

---

१. मज्झिमभाणका पन..... सब्बंपि तं खुद्दक-गन्थं सुत्तन्तपिटके परियापण्णं ति वदन्ति। सुमंगलविलासिनी की निदानकथा।

२. ततो परं जातकं..... थेर-थेरी गाथाति इमं तन्तिं संगायित्वा 'खुद्दक-

उपर्युक्त सची से स्पष्ट है कि चरियापिटक अपदान बुद्धवंस और खुद्दक-पाठ य चार ग्रन्थ खुद्दक निकाय के ग्रन्था के रूप म दीघ भाणक भिक्षुओ को मान्य नही थ। वास्तव म खुद्दक निकाय को सुत्त पिटक के अन्तर्गत न मानना दीघ भाणक भिक्षुओ का इतना सात्त्विक कृत्य नही था जितना वह हमें आज लगता है। प्रथम सगीति के अवसर पर ही हम आय महाकाश्यप को आनन्द से पूछते हुए दखत ह सुत्त पिटक म चार सगीतियाँ (सग्रह) ह। इनमे से पहले किसका सगायन करना होगा ? १ इससे स्पष्ट है कि पहले सुत्त पिटक को चार भागो म ही विभाजित करने की प्रणाली थी। बाद मे स्वतन्त्र ग्रन्थो का एक अलग सग्रह कर दिया गया जिससे न तो ग्रन्थ-सख्या का ही ठीक निश्चय हो सका और न जिसे निश्चयपूवक सुत्त पिटक या अभिधम्म पिटक म ही रक्खा जा सका। खुद्दक निकाय के अनिश्चित स्वरूप का यही कारण है।

अभिधम्म-पिटक खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत भी

किन्तु इस अनिश्चितता का यही अन्त नही है। समग्र बुद्ध वचनो का जब पाच निकायो म वर्गीकरण किया जाता है तो वहा भी खुद्दक निकाय पाँचवाँ भाग ह। किन्तु वहा इसका विषय क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दीघ, मज्झिम, सयुत्त और अगुत्तर निकायो को छोडकर बाकी सभी बुद्ध-वचन जिनम पूरे विनय और अभिधम्म पिटक भी सम्मिलित ह वहा खुद्दक निकाय के ही अन्तर्गत समझे जाते ह। खुद्दक निकाय के इस विस्तृत विषय क्षेत्र के सम्बन्ध मे 'सुमगल-विलासिनी की निदान कथा म कहा गया है क्या है खुद्दक निकाय ? सम्पूर्ण विनय पिटक सम्पूण अभिधम्म पिटक खुद्दक पाठ आदि १५ ग्रन्थ , सारांश यह कि चार निकायो को छोडकर बाकी सभी बुद्ध वचन खुद्दक-निकाय है।"२

गन्थो नाम अय ति च वत्वा अभिधम्मपिटकस्मिं येव संगहं आरोपयिंसूति दीघभाणका वदन्ति। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

१ सुत्तन्त-पिटके चतस्सो सगीतियो, तासु पठम कतर सगीतिन्ति। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२ कतमो खुद्दक-निकायो ? सकल विनय-पिटक अभिधम्म-पिटकं खुद्दक-

निकाय की दृष्टि से यहाँ अभिधम्म-पिटक को खुद्दक-निकाय मे ही सम्मिलित कर दिया गया है, केवल पिटक के रूप म उसकी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य स्वीकार की गई है।[1]

इसका अभिप्राय

उपर्युक्त वर्गीकरणो को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि उनमें खुद्दक-निकाय और अभिधम्म-पिटक को एक दूसरे मे मिला दिया गया है। इसका अभिप्राय क्या है ? ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य बडे महत्व का है। 'अभिधम्म' धम्म का, सुत्त-पिटक का परिशिष्ट है । 'अभिधम्म' मे 'अभि' शब्द यही रहस्य लिये बैठा है यह हम आगे देखेगे। प्रथम चार निकायों के अतिरिक्त जो कुछ भी बुद्ध-वचन है वे इस विस्तृत अर्थ मे सभी अभिधम्म है, 'अतिरिक्त' धम्म है। खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ इसी प्रकार के अतिरिक्त धम्म है। अत उन्हे 'अभिधम्म' के साथ उपर्युक्त अर्थ मे मिला दिया गया है। इस तथ्य से खुद्दक-निकाय के ग्रन्थो के सकलन-काल पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है।

सिंहल, बरमा और स्याम में खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-संख्या के विषय में विभिन्न मत

सिहलदेशीय परम्परा खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत १५ ग्रन्थो को (जो निद्देस को दो ग्रन्थ मान कर १६ हो जाते है) मानती है। बरमा म इनके अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थ भी खुद्दक-निकाय मे सम्मिलित माने जाते है। इनके नाम है, मिलिन्द-पञ्ह, सुत्त-सगह, पेटकोपदेस और नेत्ति या नेत्ति-पकरण[2]। सिंहली परम्परा इन्हे खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत स्वीकार नही करती। १८९४ ई० में

पाठावयो च पुब्बे निद्दिसितपंचदसभेदा, ठपेत्वा चत्तारो निकाये अवसेसं बुद्ध-वचनं ति । सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २३ (पालि-टै० सो०); मिलाइये अट्ठसालिनी, पृष्ठ २८ (पालि० टै० सो०); गन्धवंस, पृष्ठ ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १८८६)

१. अयं अभिधम्मो पिटकतो अभिधम्मपिटकं, निकायतो खुद्दक-निकायो। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२. मेबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४

प्रकाशित त्रिपिटक के स्यामी संस्करण मे ये आठ ग्रन्थ अनुपलब्ध है—विमान-वत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, अपदान, बुद्धवंस और चरिया-पिटक। विंटरनित्ज ने कहा है कि यह बात आकस्मिक नही हो सकती।[1] इससे उनका तात्पर्य यह है कि स्याम मे ये ग्रन्थ बुद्ध-वचन के रूप मे प्रामाणिक नही माने जाते। कम से कम उनका अल्प महत्त्व तो निश्चित है ही।

खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि खुद्दक-निकाय पहले चार निकायो के बाद का संकलन है। बुद्ध-वचन के रूप मे उसका महत्त्व भी उनके बाद ही मानना चाहिये। चीनी आगमो मे तो उसे एक प्रकार स्वतन्त्र निकाय का स्थान ही नही मिला। केवल कुछ स्फुट ग्रन्थो के पाये जाने के कारण ही वहाँ 'क्षुद्र-कागम' के अस्तित्व का अनुमान कर लिया गया है[2]। ये ग्रन्थ भी वहाँ कभी कभी अन्य निकाया मे ही सम्मिलित कर दिये जाते है[3]। अत स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी दोनो ही परम्पराओ मे प्रथम चार निकायो की प्रधानता, पालि-त्रिपिटक मे उसके स्वरूप की बहुत कुछ अनिश्चितता, सर्वास्तिवादी त्रिपिटक मे उसके स्वतन्त्र रूप की अ-प्राप्ति अथवा आंशिक प्राप्ति, एव सब से बढ कर स्थविरवादी परम्परा मे भी उसके कुछ ग्रन्थो को बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक न मानने की ओर प्रवृत्ति, ये सब तथ्य इसी बात के सूचक है कि खुद्दक-निकाय प्रथम चार निकायो के बाद का संकलन है। विचारो के विकास की दृष्टि से भी इसी निष्कर्ष पर आना पडता है। प्रथम चार निकायो में विवेकवाद की प्रधानता है। खुद्दक-निकाय मे काव्यात्मक तत्त्व का आधार लेकर भावुकता भी काफी प्रधानता लिये हुए है। स्थविरवादी परम्परा बुद्ध-वचनो की गम्भी-

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७ पद-संकेत ३

२. देखिये पहले इसी अध्याय में 'पालित्रिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है' ? इसका विवेचन।

३. देखिये ट्रांजैक्शन्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव जापान, जिल्द ३५, भाग ३, पृष्ठ ९ में प्रो० एम० अनेसाकि का लेख, विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७, पद-संकेत २ में उद्धृत।

रता को काव्योचित भावनाओं और कल्पनाओं में खो देना पसन्द नहीं करती थी। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में बुद्ध-उपदेशों को गीतों की तरह गाना स्पष्ट रूप से निषिद्ध किया गया है और उसे अपराध बतलाया गया है। गम्भीर अनात्मदर्शन पर प्रतिष्ठित बुद्ध-वचनों को भावात्मक कविताओं में गाना स्थविरवादी परम्परा संघ के लिये एक आने वाली विपत्ति समझती थी।[1] खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में इसी विपत्ति के दर्शन हुए हैं, विंटरनित्ज का यह समझना[2] यद्यपि ठीक नहीं माना जा सकता, किन्तु यह उसके अपेक्षाकृत उत्तरकालीन होने का सूचक तो है ही। खुद्दक-निकाय का अधिकांश स्वरूप काव्यात्मक होते हुए भी उसकी मूल भावना सर्वांश में बौद्ध है। बल्कि उसकी गाथाओं मे अनेक तो पिटक-संकलन के प्राचीनतम युग की सूचक भी है। उनके सर्वांश मे बुद्ध-वचन होने का दावा तो स्वयं खुद्दक-निकाय मे भी नही किया गया, क्योंकि थेर-थेरी गाथाओं जैसी रचनाओ को वहाँ स्पष्टत. भिक्खु-भिक्खुणियों की कृतियाँ कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि तत्कालीन लोक-साहित्य और भावनाओं का प्रभाव खुद्दक-निकाय के कुछ ग्रन्थो (विशेषत. विमान-वत्थु, पेतवत्थु, जातक, चरियापिटक आदि) में अधिक परिलक्षित होता है, जो उनकी आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक अवश्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास के विद्यार्थी के लिये इसी दृष्टि से उसका महत्व भी बढ़ गया है। पालि के सर्वोत्तम काव्य-उद्गार खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों मे ही सन्निहित है और उनका प्रणयन मानवीय तत्त्वों के आधार पर निश्चय ही चार निकायों के बाद हुआ है, यद्यपि उनमें से अनेक अत्यन्त प्राचीन युग के भी है, यह भी उतना ही सुनिश्चित तथ्य है। इसका एक स्पष्टतम प्रमाण तो यही है कि 'पंचनेकायिक' भिक्षुओं की परम्परा विनय-पिटक—चुल्लवग्ग से आरम्भ होकर, भारहुत और साँची के स्तूपों (तृतीय शताब्दी या कम से कम २५० वर्ष ईसवी पूर्व) में

---

१. देखिये ओपम्म-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) एवं अंगुत्तर-निकाय के अनागत-भय-सुत्त

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ७७

अंकित होती हुई[1], अविच्छिन्न रूप से मिलिन्दपञ्ह'[2] (प्रथम शताब्दी ई० पू०) तक दृष्टिगोचर होती है। 'पंचम' निकाय के अस्तित्व के बिना यह असम्भव है। अतः यह निश्चित है कि प्रथम संगीति के समय से ही, जब कि दीघ-भाणक और मज्झिम-भाणक भिक्षुओं में खुद्दक-निकाय के विषय में मत-भेद प्रारम्भ हुआ, खुद्दक-निकाय का संकलन होने लगा था, किन्तु प्रथम चार निकायों से इसका अन्तर केवल इतना था कि जब कि उनका स्वरूप उसी समय स्थिर हो गया था, खुद्दक-निकाय मे तृतीय संगीति तक परिवर्द्धन होते गये। अतः प्रथम और तृतीय संगीतियाँ उसके प्रणयन या संकलन काल की क्रमशः उपरली और निचली काल-सीमाएँ हैं।

इस सामान्य कथन के बाद अब हमें खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों की पूर्वापरता पर विचार करना है। बाह्य साक्ष्य के आधार पर हम किन ग्रन्थों को कम या अधिक प्रामाणिक मान सकते हैं, इसका दिग्दर्शन करने के लिये हमें उन परम्पराओं को देखना है, जो खुद्दक-निकाय की प्रामाणिकता के विषय में पालि-साहित्य के इतिहास में चल पड़ी हैं। इन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(१) प्रथम संगीति के अवसर पर दीघ-भाणक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) बुद्धवंस (२) चरियापिटक (३) अपदान।

(२) द्वितीय संगीति के अवसर पर महासंगीतिक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) पटिसम्भिदामग्ग (२) निद्देस (३) जातक के कुछ अंश

(३) स्यामी परम्परा जिन्हें बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं समझती—(१) विमानवत्थु (२) पेतवत्थु (३) थेरगाथा (४) थेरीगाथा (५) जातक (६) अपदान (७) बुद्धवंस (८) चरियापिटक।

जिन ग्रन्थों को दीघ-भाणक भिक्षुओं ने प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया वे सभी स्यामी परम्परा द्वारा बहिष्कृत ग्रंथों की सूची में भी सम्मिलित हैं। महा-संगीतिक भिक्षुओं ने जातक के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं समझा और

---

१. देखिये रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९

२. पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

स्थामी परम्परा भी इसमें उसके समान ही है। पटिसम्भिदामग्ग और निद्देस को महासगीतिक भिक्षुओ ने अवश्य प्रामाणिक स्वीकार नही किया जब कि स्थामी परम्परा मे उन्हे प्रामाणिक मान लिया गया है। यदि हम सम्पूर्ण उपर्युक्त बहिष्कृत ग्रन्थो को मिलाकर गिनें तो अप्रमाणिक ग्रन्थो की यह सूची इस प्रकार होगी (१) विमानवत्थु (२) पेतवत्थु (३) थेरगाथा (४) थेरीगाथा (५) जातक (६) अपदान (७) बुद्धवस (८) चरियापिटक (९) पटिसम्भिदामग्ग और (१०) निद्देस। खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थो में से इन्हे निकाल दें तो बाकी ये बच रहते है (१) खुद्दक-पाठ (२) धम्मपद (३) सुत्त निपात (४) उदान और (५) इतिवुत्तक। अत बाह्य साक्ष्य के आधार पर उपर्युक्त पाँच ग्रन्थ ही अन्य १० की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक बुद्ध-वचन ठहरते है। खुद्दक-पाठ को छोडकर शेष चार ग्रन्थ चीनी अनुवाद म भी उपलब्ध ह।

आन्तरिक साक्ष्य भी इसी निष्कर्ष का अधिकतर समर्थन करता है। भाषा और विषय दोनो की दृष्टि से धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवुत्तक प्राचीनतम युग के सूचक है। इनकी विषय-वस्तु का जो विवेचन आगे किया जायगा उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। खुद्दक-पाठ अवश्य बाद का सकलन जान पडता है। उसमे कुछ सामग्री सुत्त निपात मे ली गई है और कुछ त्रिपिटक के अन्य अशो से। शरण-त्रय और शरीर के ३२ अङ्गो के विवरण जो इस सकलन मे है, चार निकायो में प्राप्त विवरणो से कुछ अधिक विकसित अवस्था के सूचक है।[१] अत खुद्दक पाठ का स्थान भी काल क्रम की दृष्टि से

---

१ देखिये विमलाचरण लाहा: हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३५; वास्तव में शरण त्रय के सम्बन्ध में तो ऐसा कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि 'बुद्धं सरणं गच्छामि' आदि के बाद यहाँ केवल 'दुतियम्पि' (दूसरी बार भी) 'ततियम्पि' (तीसरी बार भी) अधिक है। हाँ शरीर के ३२ अंगों के कथन में 'मत्थके मत्थलुंगंति' (मस्तक का गूदा) पद अवश्य अधिक है। प्रथम चार निकायों में केवल ३१ अंगों का ही वर्णन है।

शेष १७ ग्रन्थों के साथ है। इन सब ग्रन्थो के सकलन की निश्चित तिथि के सम्बन्ध मे तो कुछ नही कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमे जो अधिक उत्तरकालीन है वे भी अशोक के काल से बाद के नहीं है। धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवुत्तक के बाद काल-क्रम की दृष्टि से जातक और थेर-थेरी गाथाओ का स्थान कहा जा सकता है। 'जातक' में बुद्ध के पूर्व -जन्म की कथाएँ है। मूल जातक मे ऐसी केवल ५०० कहानियाँ थी। चुल्ल-निद्देस मे ५०० जातक-कहानियो का ही निर्देश हुआ है।[1] फाह्यान ने भी सिंहल मे ५०० जातक-कहानियाँ के चित्र अकित देखे थे।[2] बाद मे जातक-कहानियो की सख्या बढकर ५४७ हो गई। मूल जातक की प्राचीनता इस बात से प्रकट होती है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के साँची और भारहुत के स्तूपो म उसकी अनेक कहानियो के दृश्य अकित किये गये है।[3] अत जातको का काल उस से काफी पहले का होना चाहिये। थेर-और थेरी-गाथाओ मे बुद्ध-कालीन भिक्षुओ और भिक्षुणियो की गाथाएँ है। केवल थेरगाथा की कुछ गाथाएँ अशोक के समय के भिक्षुओं की बताई जाती है।[4] अत सम्भव है थेरगाथा ने भी अपना अन्तिम स्वरूप अशोक के काल मे ही प्राप्त किया हो और तृतीय सगीति के अवसर पर उसका सगायन हुआ हो। जातको के बोधिसत्त्व-आदर्श पर ही आधारित बुद्धवस और चरिया-

---

१. पृष्ठ ८०

२. रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंगडम्स, ऑक्सफर्ड १८८६, पृष्ठ १०६ (जे० लेग का अनुवाद)

३. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९; हल्श : जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृष्ठ ४०६; इस सम्बन्धी अधिक साहित्य के परिचय के लिये देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६, पदसंकेत ३; पृष्ठ ११३ पद संकेत ३

४ गाथाएँ १६९-७० अशोक के कनिष्ठ भ्राता वीतसोक की रचनाएँ हैं। मिलाइये "इमस्मिं बुद्धुप्पादे अट्ठारस वस्साधिकानं द्विन्नं वस्स सतानं मत्थके धम्मासोकरञ्ञो कणिट्ठ भाता हुत्वा निब्बत्ति। तस्स वीत-सोकोति नामं अहोसि।" (वीतसोकथेरस्स गाथावण्णना।)

पिटक हैं। बुद्धवंस में गोतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन है, जब कि प्रथम चार निकायों (विशेषतः महापदानसुत्त-दीघ. २।१) में केवल ६ पूर्ववर्ती बुद्धो का ही वर्णन मिलता है। चरियापिटक मे बोधिसत्वो की जीवन-चर्या का वर्णन् मिलता है। यही पर सर्व प्रथम दस पारमिताओं का भी वर्णन मिलता है। जातक की कहानियों से इन सब की बड़ी समानता है। बल्कि कहना चाहिये एक प्रकार से चरियापिटक २६ पद्य-बद्ध जातकों का संग्रह ही है। जिस प्रकार बुद्धवंस और चरियापिटक जातक के उत्तरवर्ती हैं, उसी प्रकार निद्देस भी जातक के बाद का संकलन है। जैसा अभी कहा जा चुका है, चुल्ल-निद्देस मे जातक का निर्देश मिलता है। निद्देस (जिसमें चुल्ल-निद्देस और महानिद्देस दोनों सम्मिलित हैं) सुत्त-निपात से बाद का संकलन है। एक प्रकार से निद्देस सुत्त-निपात के कुछ अंशो की व्याख्या ही है। चुल्ल-निद्देस खग्गविसाणसुत्त और पारायणवग्ग की व्याख्या है, जब कि महानिद्देस में अट्ठकवग्ग की व्याख्या की गई है। अतः निद्देस सुत्त-निपात से बाद की रचना ही मानी जा सकती है। डा० लाहा का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि निद्देस सुत्त-निपात से पहले की रचना होनी चाहिये। इसके लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं, (१) महानिद्देस मे सुत्त-निपात के अट्ठकवग्ग की व्याख्या उस युग की सूचक है जब अट्ठकवग्ग एक अलग वर्ग की अवस्था में था, (२) सुत्त-निपात के पारायणवग्ग के आरम्भ मे एक प्रस्तावना है जो चुल्ल-निद्देस की व्याख्या में लुप्त है। यदि चुल्ल-निद्देस सुत्त-निपात के बाद का संकलन होता तो इस प्रस्तावना की भी व्याख्या वहाँ अवश्य होती।[1] डा० लाहा ने जो कारण दिये है वे निषेधात्मक ढंग के है। निद्देस के रचयिता या संकलनकर्ता को सुत्त-निपात के सम्पूर्ण अंशों की जानकारी होते हुए भी वह उसके कुछ अंशों को ही व्याख्या के लिये चुन सकता था। इसी प्रकार प्रस्तावना की भी व्याख्या करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था। सब से बड़ी बात तो यह है कि निद्देस में सुत्त-निपात की कतिपय गाथाओ की व्याख्या की गई है, अतः वह उसके बाद की रचना ही हो सकती है। जिस प्रकार बुद्धवंस, चरियापिटक और निद्देस जातक के बाद की रचनाएँ हैं उसी प्रकार थेर-

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८

थेरी--गाथाओ के बाद अपदान का भी प्रणयन निश्चित है। अपदान के दो भाग है, थेर अपदान और थेरी अपदान। इन दोनों भागो मे क्रमशः भिक्षु और भिक्षुणियो के पूर्व जन्म की कथाये है। इस प्रकार यह पूरा ग्रथ थेर और थेरी गाथाओं का पूरक ही कहा जा सकता है। अपदान निश्चयत अशोककालीन रचना है। इसका कारण यह है कि उसमे कथावस्तु का निर्देश हुआ है, जो निश्चयतः तृतीय सगीति के समय लिखी गई। विमानवत्थु और पेतवत्थु भी उत्तरकालीन रचनाएँ है। इनमे क्रमश देव-लोकों और प्रेतों के वर्णन है, जो स्थविरवादी बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप से बहुत दूर है। विमानवत्थु मे तो एक ऐसी घटना का भी वर्णन है जो उसी के वर्णन के अनुसार पायासि राजन्य के १०० साल बाद हुई।[१] पायासि की मृत्यु भगवान् बुद्ध से कुछ साल बाद हुई थी, अत जिस घटना का विमानवत्थु मे वर्णन है वह बुद्ध-निर्वाण के सौ से कुछ अधिक साल बाद ही हुई होगी। इस प्रकार विमानवत्थु की रचना तृतीय सगीति के कुछ पहले की ही अधिक से अधिक हो सकती है। इसी प्रकार पेतवत्थु भी अशोककालीन रचना है। उसमे 'मौर्य-अधिपति' का निर्देश हुआ है[२] जिसका अभिप्राय 'अट्ठकथा' के अनुसार धम्माशोक से है।[३] 'पटिसम्भिदा-मग्ग' की रचना अभिधम्म-पिटक की शैली मे हुई है, अत वह भी इसी युग की रचना है। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन के आधार पर खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम तीन श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है, जो इस प्रकार दिखाया जा सकता है--

१ धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान, इतिवुत्तक।
२ जातक, थेरगाथा, थेरीगाथा।

---

१. मानुस्सकं वस्ससतं अतीतं यदग्गे कायम्हि इधूपपन्नो। पृष्ठ ८१ (पालि-टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)

२. राजा पिंगलको नाम सुरट्ठानं अधिपति अहुमोरियानं उपट्ठानं गन्त्वा सुरट्ठं पुनरागमा।

३. मोरियानंति मोरियराजूनं धम्मासोकं सन्धाय वदति। पृष्ठ ९८ (पालि-टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)

३ बुद्धवंस, चरियापिटक, निद्देस, अपदान, पटिसम्भिदामग्ग, विमानवत्थु, पेतवत्थु, खुद्दक-पाठ।

प्रत्येक श्रेणी के ग्रन्थो में भी कौन किस से पहले या पीछे का है, इसका सम्यक् निर्णय नही किया जा सकता। इसके लिये उतने स्पष्ट बाह्य और आन्तरिक साक्ष्य उपलब्ध नही है। निश्चित तिथियो के अभाव मे इस प्रकार के निर्णय का कोई अधिक महत्व भी नही हो सकता। अब हम खुद्दक-निकाय के ग्रन्थो का सक्षिप्त विवरण देगे।

खुद्दक-पाठ[1]

खुद्दक-पाठ छोटे छोटे नौ पाठो या सुत्तो का सग्रह है। ये सभी पाठ विशेषत सुत्त पिटक और विनय-पिटक से सगृहीत है। पहले चार पाठ पिछले पाँच की अपेक्षा अधिक सक्षिप्त है। इनका सकलन प्रारम्भिक विद्यार्थियो की शिक्षा के लिये अथवा बौद्ध गृहस्थो के दैनिक पाठ के लिये किया गया है। अत सिहल मे खुद्दक-पाठ का बडा आदर है। खुद्दक-पाठ के नौ पाठो या सुत्तो के नाम और विषय इस प्रकार है—

१. सरणत्तय (तीन शरण)—मै बुद्ध की, धम्म की, सघ की, शरण जाता हूँ। दूसरी बार भी—तीसरी बार भी—मै बुद्ध की, धम्म की, सघ की, शरण जाता हूँ।

२ दस सिक्खापद—(दस शिक्षापद या सदाचार-सम्बन्धी नियम) (१) जीवहिंसा (२) चोरी (३) व्यभिचार (४) असत्य-भाषण (५) मद्य-पान (६) असमय-भोजन (७) नृत्य-गीत (८) माला-गन्ध-विलेपन (९) ऊँची और बड़ी शय्या (१०) सोने और चाँदी का ग्रहण, इन दस बातो से विरत रहने का व्रत लेता हूँ।

---

१. राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन एवं जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित तथा भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित (बुद्धाब्द २४८१, १९३७ ई०) नागरी संस्करण उपलब्ध है। भिक्षु धर्मरत्न एम० ए० का मूल-पालि-सहित हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ (१९४५) ने प्रकाशित किया है।

३. द्वत्तिंसाकारं (शरीर के ३२ अङ्ग)—शरीर के ये ३२ (गन्दगियों से भरे) अङ्ग है, जैसे कि केश, रोम, नख, दाँत आदि।

४. कुमारपंञ्ह (कुमार विद्यार्थियो के लिये प्रश्न)

एक क्या है ?	सभी प्राणी आहार पर स्थित हैं।
दो क्या है ?	नाम और रूप।
तीन क्या है ?	तीन वेदनाएँ।
चार क्या है ?	चार आर्य-सत्य।
पाँच क्या है ?	पाँच उपादान-स्कन्ध।
छ क्या है ?	छ आन्तरिक आयतन।
सात क्या है ?	बोधि के सात अङ्ग।
आठ क्या है ?	आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग।
नौ क्या है ?	प्राणियो के नौ आवास।
दस क्या है ?	दस बातें, जिनसे मुक्त होने पर मनुष्य अर्हत् बनता है।

५. मङ्गल सुत्त (मङ्गल-सूत्र)—प्राणी नाना प्रकार के मङ्गल-कार्य करते हैं। किन्तु सर्वोत्तम मगल क्या है ?

" माता-पिता की सेवा, पत्नी और पुत्रो का भरण-पोषण,
शान्ति से अपना काम करना—यही सर्वोत्तम मगल है।
" दान देना, धर्म का जीवन, जाति-बन्धुओ की सहायता करना,
कर्म निर्दोष रखना—यही सर्वोत्तम मगल है।
" पाप और मद्य-पान से अलग रहना, संयमी जीवन,
धर्म के कार्यों मे आलस्य न करना—यही सर्वोत्तम मंगल है !
" गुरुजनों का आदर, विनम्रता, सन्तोष-वृत्ति, कृतज्ञता,
समय पर धर्म को श्रवण करना—यही सर्वोत्तम मंगल है !
" क्षमा, ब्रह्मचर्य, ज्ञानी भिक्षुओं का दर्शन,
समय पर धर्म का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है !
" तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, चार आर्य सत्यो का दर्शन
अन्त में निर्वाण का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है !"

६ रतन सुत्त (रत्नसूत्र)—१७ गाथाओ म बुद्ध, धम्म और सघ, इन तीन रत्नो की महिमा वणन की गई है और उसी से लोक-कल्याण की कामना की गई है। आरम्भ की दो और अन्त की तीन गाथाए तो बडी ही मार्मिक ह। बौद्ध परम्परा इन्हें मौलिक गाथाएँ मानती है। बुद्ध, धर्म और सघ की महिमा का वर्णन करते हुए प्रत्येक के विषय मे कहा गया है 'इद पि बुद्धे रतन पणीत' (यह बुद्ध रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है। 'इद पि धम्मे रतन पणीतं' (यह धम्म रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है) और 'इदपि सघे रतन पणीत' (यह सघ रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है)। इस सत्य रूपी वाणी मे लोक-कल्याण की कामना करते हुए कहा गया है—एतेन सच्चेन सुवत्थि होतु (इस सत्य से लोक का कल्याण हो)

७ तिरोकुडड-सुत्त—मृत आत्माए अपन छोडे हुए घरो के दरवाजों पर और उनकी देहलियो पर आकर खडी हो जाती है। वे अपने सम्बन्धियो से भोजन और पान की इच्छा रखती है। प्रेतो के लोक मे खेती और वाणिज्य नही होते। उन्हें जो कुछ इस लोक से मिलता है उसी पर वे गुजारा करते हैं। सद्गृहस्थ प्रतो के कल्याण की कामना से भोजन और जल का दान करते हैं। सुप्रतिष्ठित भिक्षु-सघ को जो कुछ दान किया जाता है वह प्रेतो के चिर सुख और कल्याण के लिये होता है। यह सुत्त भारतीय समाज मे प्रचलित श्राद्ध-विधान और पितर-पूजा का बौद्ध सस्करण ही है। दार्शनिक सिद्धान्त भिन्न रखते हुए भी बौद्ध जनता किस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित व्यवहारो और सामान्य विश्वासो से अपने को विमुक्त नही कर सकी, यह सुत्त इसका एक अच्छा उदाहरण है। इस सुत्त की कुछ गाथाओ का पाठ आज भी सिहल और स्याम देशो मे मुर्दों को जलाते समय किया जाता है।

८ निधिकड सुत्त (निधि सम्बन्धी सत्र)—सर्वोत्तम निधि क्या है? दान, शील, संयम, इन्द्रिय-विजय, सक्षेप मे पुण्य कर्मों का करना ही सर्वोत्तम निधि है। अन्य सब निधियाँ तो नष्ट हो जाने वाली हैं, किन्तु किया हुआ शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होता। यही वह निधि है जो मनुष्य के पीछे जाने वाली है—यो निधि अनुगामिको।

९ मैत्त-सुत्त (मैत्री-सूत्र)—ऊपर नीचे, चारों ओर, लोक को मित्रता की भावना से भर दो। किसी का दु ख-चिन्तन मत करो। भावना करो कि

सभी प्राणी सुखी हों—सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। ब्रह्मविहार भी तो यही है—ब्रह्ममेतं विहारं इधमाहु !

खुद्दक-पाठ के उपर्युक्त ९ सुत्तों में से मंगल-सुत्त, रतन-सुत्त, और मेत्त-सुत्त सुत्त-निपात म भी है। सुत्त-निपात में मंगल-सुत्त का नाम महा-मंगलसुत्त अवश्य है। इसी प्रकार तिरोकुड्ड-सुत्त पेतवत्थु में भी है। तीन शरण और दस शिक्षापदों के विवरण विनय-पिटक के आधार पर संकलित हैं। कुमारपञ्ह सुत्त को भी विनय-पिटक या दीघ-निकाय के संगीति-परियाय और दसुत्तर जैसे सुत्तों अथवा अंगुत्तर निकाय के विशाल तत्सम्बन्धी भांडार में से संकलित कर लिया गया है। 'कायगतासति' के रूप मे शरीर के ३२ आकारों का वर्णन दीघ और मज्झिम-निकायों के क्रमशः महासतिपट्ठान और सति-पट्ठान सुत्तों के वर्णनों की अनुलिपि है। केवल अन्तर इतना है कि वहाँ ३१ अङ्गों का वर्णन है जब कि यहाँ एक और (मत्थके मत्थलुगं—माथे का गूदा) बढ़ा दिया गया है। कायगता-सति (शरीर की गन्दगियों और अनित्यता पर विचार) का विधान बौद्ध योग में प्रारम्भ से ही है। दीघ और मज्झिम निकायों के उपर्युक्त सुत्तो के अतिरिक्त सयुत्त-निकाय के कस्सप-सुत्त में भी भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप को 'कायगता सति' का ध्यान करने का उपदेश दिया है। धम्मपद २१।१० में भी भिक्षुओं को 'कायगतासतिपरायण' होने को कहा गया है। 'उदान' में भगवान् बुद्ध के योग्य शिष्य महामौद्गल्यायन और महाकात्यायन को काय-गता-सति की भावना करते दिखलाया गया है[१]। 'विसुद्धि-मग्ग' (पाँचवी शताब्दी) में इस सम्बन्धी ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है[२]।

खुद्दक-पाठ के समान, किन्तु आकार में उससे बड़ा, एक और संग्रह पालि साहित्य में प्रसिद्ध है। इसका नाम 'परित्त' या 'महापरित्त' है। 'परित्त' शब्द का अर्थ है 'परित्राण' या 'रक्षा'। भिक्षुओं और गृहस्थों की रक्षा के उद्देश्य

---

१. क्रमशः पृष्ठ ३८ एवं १०५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. विसुद्धिमग्ग ८।४२-१४४; देखिये ११।४८-८१ भी (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

से सुत्त-पिटक से लगभग ३० सुत्तों का संग्रह कर लिया गया है, जिनका पाठ, बौद्धों के विश्वास के अनुसार, रोग, दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों को शान्त करने वाला और सामान्यतः मङ्गलकारी होता है। लंका और बरमा में परित्त-पाठ की प्रथा अधिक प्रचलित है।[1] मेबिल बोड ने हमें बतलाया है कि बरमा में तो इसके समान लोक-प्रिय पुस्तक ही पालि-साहित्य की दूसरी नहीं है।[2] खुद्दक-पाठ के ऊपर निर्दिष्ट ९ सुत्तों में से सात 'परित्त' में भी सम्मिलित हैं। 'परित्त' में विशेषतः निम्नलिखित सुत्त सम्मिलित हैं—

१ दस धम्म-सुत्त
२ महामंगल सुत्त
३ करणीय मेत्त सुत्त
४ खन्धपरित्त सुत्त
५ मेत्त सुत्त
६ मेत्तानिसंस सुत्त
७ मोरपत्ति सुत्त
८ चन्दपरित्त सुत्त
९ सुरिय परित्त सुत्त
१० धजग्ग सुत्त
११ महाकस्सपथेर बोज्झंग सुत्त
१२ महामोग्गल्लानथेर बोज्झंग सुत्त
१३ महाचन्दत्थेर बोज्झंग सुत्त
१४ गिरिमानन्द सुत्त
१५ इसिगिलि सुत्त
१६ धम्मचक्कपवत्तन सुत्त

---

१. लंका में यह 'पिरित्' कहलाता है। लंका में परित्त-पाठ की सांगोपांग विधि के विवरण के लिये देखिये त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित का "परित्त-पाठ और लंका" शीर्षक लेख "धर्मदूत" फरवरी-मार्च १९४८ पृष्ठ, १६३-६७ में;

२. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३-४

१७ आलवक सुत्त
१८ कसिभारद्वाज सुत्त
१९ पराभव सुत्त
२० वसल सुत्त
२१ सच्चविभग सुत्त
२२ आटानाटिय सुत्त

इनके अतिरिक्त परित्त-पाठ मे 'अनुलोम-पटिलोम-पटिच्चसमुप्पादसुत्त' आदि कुछ सुत्तो का भी पाठ किया जाता है । परित्त-पाठ की प्रथा बुद्ध-कालमे भी प्रचलित थी ऐसा बौद्धो का विश्वास है । कहा जाता है कि एक बार लिच्छवियो के नगर वैशाली मे दुर्भिक्ष पड़ा था । भगवान् के आदेशानुसार उन्होने परित्त पाठ किया था जिसके परिणामस्वरूप वर्षा हुई थी । परित्तपाठ से बीमारी की शान्ति हुई इसके तो उदाहरण त्रिपिटक मे काफी मिलते हैं । दीर्घ लम्बक ग्राम के किसी ब्राह्मण का पुत्र परित्त-पाठ से रोग-विमुक्त हो गया । इसी प्रकार आर्य महाकाश्यप की बीमारी के समय स्वयं भगवान् ने बोज्झग-सुत्त का पाठ किया और महाकाश्यप उसी समय रोग-मुक्त हो गये । स्वय भगवान् बुद्ध ने एक बार अपनी बीमारी की शान्ति के लिये महाचुन्द स्थविर से बोज्झग-सुत्त का पाठ करवाया । गिरिमानन्द नामक भिक्षुकी रोग-शान्ति के लिये विधान बतलाते हुए भगवान् ने स्वय आनन्द से कहा "आनन्द' यदि तुम गिरिमानन्द भिक्षुके पास जाकर 'दश-सज्ञा-सूत्र' का पाठ करो, तो उसे सुनकर अवश्य ही उसका रोग शान्त हो जायगा।[1]" 'मिलिन्द-प्रश्न' मे 'परित्र' को भगवान् बुद्ध का ही उपदेश बतलाया गया है।[2] अत परित्त पाठ का महत्व स्थविरवादी परम्परा मे सुप्रतिष्ठित है, इसमे सन्देह नही ।

परित्त के सकलन का ठीक काल निश्चय नही किया जा सकता, किन्तु इसमे

---

१ सचे खो त्व आनन्द ! गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो उपसकमित्वा दस सञ्ञा भासेय्यासि, ठान खो पनेत विज्जति य गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो दससञ्ञा सुत्वा सो आबाधो ठानसो पटिप्पस्सम्भेय्य ।

२. परित्ता च भगवता उद्दिट्ठाति । मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ १५३ (बम्बई विश्व-विद्यालय का सस्करण)

सन्देह नही कि वह काफी बाद का है। स्थविरवाद-परम्परा के पूर्वतम स्वरूप में भूत-प्रेत आदि की बातें अथवा उनसे बचने के लिये जादू के से प्रयोग बिलकुल नहीं है। ये सब बातें सामान्य अध विश्वासो के आधार पर उसमे प्रवेश कर गईं। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के आटानाटीय-सुत्त जैसे अश भी उत्तरकालीन ही कहे जा सकते है। भगवान् बुद्ध ने योग की विभूतियो के भी प्रदर्शन की निन्दा ही की[1]। फिर जादू के प्रयोगो की तो बात ही क्या? प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर सृष्टि के व्यापारो की व्याख्या करने वाला मन्त्रो के जप से बीमारी से विमुक्ति दिलाने नही आया था। जहाँ तक 'परित्त' के सुत्तो का सम्बन्ध है, वे अपने आप म नैतिक भावना से ओतप्रोत है। उनके अन्दर स्वय कोई ऐसी वस्तु नही जो उस उदात्त गम्भीरता से रहित हो जो सामान्यत बौद्ध साहित्य की विशेषता है। उनका पाठ निश्चय ही मनको ऊँची आध्यात्मिक अवस्था में ले जाने वाला है। अत उनका सगायन करना प्रत्येक अवस्था मे मगल का मूल ही हो सकता है। बीमारी की अवस्था में वह मानसोपचार का अङ्ग भी हो सकता है कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे रामनाम के स्मरण को गाधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा का एक अङ्ग बना दिया। यदि परित्त पाठ में अन्ध-विश्वास है तो उसी हद तक जितना गांधीजी की उपर्युक्त उपचार-विधि मे। फिर हम इसे अन्ध-विश्वास भी क्यो कहे? जिससे मन ऊँची अवस्था में जा सकता है उससे शरीर पर भी स्वस्थ प्रभाव क्यो न पडेगा? इस दृष्टि से परित्त-पाठ का उपदेश स्वय बुद्ध भगवान् का भी दिया हुआ हो सकता है, हाँ वहाँ कर्मकांड अवश्य नही है। भगवान् ने सर्प को अपनी मैत्री-भावना से आच्छादित कर देने का आदेश दिया।[2] सर्प के भय से बचने का यही

---

१. विनय-पिटक, चुल्लवग्ग में विभूति-प्रदर्शन को 'दुक्कट' अपराध बतलाया गया है; मिलाइये ; धम्मपदट्ठकथा ४।२, बुद्धचर्या, पृष्ठ ८२-८३ में अनुवादित। देखिये केवट्ट-सुत्त (दीघ १।११) तथा सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ. ३।५) महालि-सुत्त (दीघ ३।६), आदि।

२. मेत्तेन चित्तेन फरितुं (मित्रतापूर्ण चित्त से आच्छादित कर देने के लिये)— विनय-पिटक। साधारण अर्थ में इसे मन्त्र कहना भी बुद्धि का उपहास ही होगा।

एक 'मन्त्र' है। शेष जीव-जगत् के साथ मैत्री स्थापित कर इस 'मन्त्र' की सत्यता देखी जा सकती है। 'परित्त' में संगृहीत सुत्तों की भावनाएँ बड़ी मङ्गलमय और उदात्त है। उनमे चित्त को डुबो देने पर शरीर और मन प्रसन्नता से न भर जायँ, यह असम्भव है। प्रसन्नता (चित्त-प्रसाद) ही तो स्वास्थ्य और मङ्गलो की जननी है। भिक्षु-गण परित्त पाठ के अन्त मे ठीक ही संगायन करते हैं—सब्बीतियो विवज्जन्तु सब्बरोगो विनस्सतु। मा ते भवत्वन्तरायो सुखी दीघायुको भव ॥ तेरी सारी आपदाएँ दूर हो, सब रोग नष्ट हो जायँ, तुझे विघ्न न हो, तू सुखी और दीर्घायु हो।

धम्मपद[1]

बौद्ध साहित्य का सम्भवत सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। एक प्रकार इसे बौद्धो की गीता ही कहना चाहिये। सिहल में बिना धम्मपद का पारायण किये किसी भिक्षु की उपसम्पदा नही होती। बुद्ध-उपदेशो का धम्मपद से अच्छा सग्रह पालि-साहित्य में नही है। इसकी नैतिक दृष्टि जितनी गम्भीर है, उतनी ही वह प्रसादगुणपूर्ण भी है। धम्मपद में कुल मिलाकर ४२३ गाथाएँ है, जो २६ वर्गों में बँटी हुई है। प्रत्येक वर्ग मे गाथाओ की सख्या इस प्रकार है—

वर्ग	गाथाओ की सख्या
१ यमक वग्ग	२०
२ अप्पमाद वग्ग	१२

यह तो एक गम्भीर नैतिक उपदेश है। अधिकतर बुद्ध-वचनों का यही हाल है, फिर चाहे उनका उपयोग उत्तरकालीन बौद्ध जनता किसी प्रकार करने लगी हो।

१. धम्मपद के अनेक संस्करण और अनुवाद हिन्दी-भाषा में उपलब्ध हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं।

'यमकवग्ग' (वर्ग १) में अधिकतर ऐसे उपदेशों का संग्रह है, जिनमें दो दो बातें जोड़े के रूप में आती हैं। "'मुझे गाली दी', 'मुझे मारा', 'मुझे हरा दिया',

मुझे लूट लिया, ऐसा जो मन मे बाँधते है, उनका वैर कभी शान्त नही होता ।"[१] अहिंसा का यह सनातन सन्देश भी कितना मार्मिक है "यहाँ बैर से बैर कभी शान्त नही होता । अवैर से ही वैर शान्त होता है, यही सनातन धर्म है ।[२]" बडी बडी सहिताओ का भाषण करने वाले किन्तु उनके अनुसार आचरण न करने वाले व्यक्ति को 'धम्मपद' मे उस ग्वाले के समान कहा गया है जिसका काम केवल दूसरो की गायो को गिनना है ।[३] बौद्ध चिन्तको ने शारीरिक सयम की मूल को सदा मन के अन्दर देखा था, इसीलिए धम्मपद की प्रथम गाथा मन की महिमा का वर्णन करती हुई कहती है "मन ही सब धर्मों (कायिक, वाचिक मानसिक कर्मों) का अग्रगामी है मन ही उनका प्रधान है । सभी धर्म मनोमय है । आत्म-सयम वास्तविक श्रामण्य और सत्सकल्प के स्वरूप और महत्व के वर्णन इस वर्ग के अन्य विषय है । 'अप्पमाद-वग्ग' मे प्रमाद की निन्दा और अ-प्रमाद की प्रशसा की गई है । अप्रमाद के द्वारा ही अनुपम योग-क्षेम रूपी निर्वाण को प्राप्त किया जाता है ।[४] अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवताओ मे श्रेष्ठ बना है ।[५] अप्रमाद में रत भिक्षुओ को ही यहाँ 'निर्वाण के समीप' (निब्बाणस्सेव सन्तिके) कहा गया है ।[६] 'चित्तवग्ग' (वर्ग ३) म चित्त-सयम का वर्णन है । "जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते है न दूसरे भाई-बन्धु, उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है ।" 'पुप्फवग्ग (वर्ग ४) मे पुष्प को आलम्बन मानकर नैतिक उपदेश दिया गया है । सदाचार रूपी गन्ध की प्रशसा करते हुए कहा गया है "तगर और चन्दन की जो यह गन्ध फैलती है, वह अल्पमात्र है र किन्तु यह जो सदाचारियो की गन्ध है वह देवताओ में फैलती है ।" 'बालवग्ग'

---

१ १।४

२ १।५

३ १।१९

४. २।३

५ २।१०

६. २।१२

(वर्ग ५) में मूर्खों के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उनके लिये संसार (आवा गमन) लम्बा है। इसी वर्ग में सासारिक उन्नति और परमार्थ के मार्ग की विभिन्नता बतलाते हुए कहा गया है "लाभ का रास्ता दूसरा है और निर्वाण को ले जाने वाला रास्ता दूसरा है। इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन नही करता, बल्कि एकान्तचर्या को बढ़ाता है।" 'पंडितवग्ग' (वर्ग ६) में वास्तविक पडित पुरुषो के लक्षण बतलाये गये है। 'जो अपने लिये या दूसरो के लिये पुत्र, धन और राज्य नही चाहते, न अधर्म से अपनी उन्नति चाहते है, वही सदाचारी पुरुष, प्रज्ञावान् और धार्मिक है।' अर्हन्त वग्ग (वर्ग ७) में बडी सुन्दर काव्य-मय भाषा म अर्हतो के लक्षण कहे गये है। "जिसका मार्ग-गमन समाप्त हो चुका है। जो शोक रहित तथा सर्वथा मुक्त है जिसकी सभी ग्रन्थियाँ क्षीण हो गई है, उसके लिये सन्ताप नही है।" "सचेत हो वह उद्योग करते है। गृह-सुख मे रमण नही करते। हस जैसे क्षुद्र जलाशय को छोड कर चले जाते है, वैसे ही अर्हत् गह को छोड चले जाते है। 'जो वस्तुओ का सचय नही करते, जिनका भोजन नियत है शन्यता-स्वरूप तथा कारण रहित मोक्ष-जिनको दिखाई पडता है उनकी गति आकाश में पक्षियो की भाँति अज्ञेय है।" 'गाँव मे या जगल मे, नीचे या ऊँचे स्थल मे, जहाँ कही अर्हत् लोग विहार करते है वही रमणीय भूमि है। सहस्सवग्ग (वर्ग ८) की मल भावना यह है कि सहस्रो गाथाओ के सुनने से एक शब्द का सुनना अच्छा है, यदि उससे शान्ति मिले। सिद्धान्त के मन भर से अभ्यास का कण भर अच्छा है। सहस्रो यज्ञो से सदाचारी जीवन श्रेष्ठ है। पापवग्ग (वर्ग ९) में पाप न करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि "न आकाश में, न समुद्र के मध्य मे, न पर्वतो के विवर में प्रवेश कर—ससार मे कोई स्थान नही है जहाँ रह कर, पाप कर्मों के फल से प्राणी बच सके।" दडवग्ग (वर्ग १०) में कहा गया है कि जो सारे प्राणियो के प्रति दडत्यागी है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।" 'जरावग्ग' (वर्ग ११) में वृद्धावस्था के दुःखों का दर्शन है। इसी वर्ग में संसार की अनित्यता की याद दिलाते हुए यह मार्मिक उपदेश दिया गया है "जब नित्य ही आग जल रही हो तो क्या हँसी है, क्या आनन्द मनाना है! अन्धकार से घिरे हुए तुम दीपक को क्यो नही ढूढ़ते हो?" इसी वर्ग में भगवान् के वे उद्गार भी सन्निहित है जो उन्होने सम्यक्

सम्बोधि प्राप्त करने के अनन्तर ही किये थे, "अनेक जन्मों तक बिना रुके हुए मैं संसार में दौड़ता रहा। इस (काया-रूपी) कोठरी को बनाने वाले (गृहकारक) को खोजते खोजते पुनः पुनः मुझे दुःख-मय जन्मों में गिरना पड़ा। आज हे गृह-कारक! मैंने तुझे पहचान लिया। अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सारी कड़ियाँ भग्न कर दी गईं। गृह का शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्त से आज तृष्णा का क्षय हो गया।"अत्तवग्ग (वर्ग १२) में आत्मो-न्नति का मार्ग दिखाया गया है। इसी वर्ग की प्रसिद्ध गाथा है "पुरुष आप ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है? अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर वह दुर्लभ स्वामी को पाता है।" लोक-वग्ग (वर्ग १३) में लोक सम्बन्धी उपदेश है। बुद्ध-वग्ग (वर्ग १४) में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का यह सर्वोत्तम सार दिया हुआ है "सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यही बुद्ध का शासन है। निन्दा न करना, घात न करना, भिक्षु-नियमों द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकान्त मे सोना-बैठना, चित्त को योग में लगाना—यही बुद्धों का शासन है।" "सुख-वग्ग" (वर्ग १५) में उस सुख की महिमा गाई गई है जो धन-सम्पत्ति के संयोग से रहित और केवल सदाचारी और अकिंचनता मय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन से ही लभ्य है। भिक्षु कहते हैं "वैर-बद्ध प्राणियों के बीच अवैरी होकर विहरते हुए अहो! हम कितने सुखी हैं। वैर-बद्ध मानवों में हम अवैरी होकर विहरते हैं! भयभीत प्राणियों के बीच में अभय होकर विहरते हुए अहो! हम कितने सुखी हैं! भयभीत मानवों में हम अभय होकर विहरते हैं। आसक्ति-युक्त प्राणियों के बीच में अनासक्त होकर विहरते हुए अहो! हम कितने सुखी हैं! आसक्ति-युक्त मानवों में हम अनासक्त होकर विहरते हैं।" "पियवग्ग" (वर्ग १६) में यह कहा गया है कि जिसके जितने अधिक प्रिय हैं उसको उतने ही अधिक दुःख हैं। "प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम से मुक्त को कोई शोक नहीं, फिर भय कहाँ से?" "क्रोधवग्ग" (वर्ग १७) की मुख्य भावना है "अक्रोध से क्रोध को जीतो, असाधु को साधुता से जीतो, कृपण को दान से जीतो, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतो।" "मलवग्ग" (वर्ग १८) में भगवान् ने कहा है कि अविद्या ही सब से बड़ा मल है

"भिक्षुओ ! इस मल को त्याग कर निर्मल बनो।" "धम्मट्ठवग्ग" (वर्ग १९) में वास्तविक धर्मात्मा पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं।" "बहुत बोलने से धर्मात्मा नहीं होता। जो थोड़ा भी सुन कर शरीर से धर्म का आचरण करता है और जो धर्म में असावधानी नहीं करता, वही वास्तव में धर्मधर है।" इसी प्रकार "मौन होने से मुनि नहीं होता। वह तो मूढ़ और अविद्वान् भी हो सकता है। जो पापों का परित्याग करता है, वही मुनि है। चूंकि वह दोनों लोकों का मनन करता है, इसीलिये वह मुनि कहलाता है।" इसी वर्ग में भगवान् का यह उत्साहकारी मार्मिक उपदेश भी है, 'भिक्षुओ ! जब तक चित्त-मलों का विनाश न कर दो चैन मत लो"—भिक्खू ! विस्सास मापादि अप्पत्तो आसवक्खयं। "मग्गवग्ग" (वर्ग २०) में निर्वाण-गामी विशुद्धि -मार्ग का वर्णन है। सभी संस्कारो को अनित्य, दु:ख और अनात्म समझते हुए मनुष्य को चाहिये कि "वाणी की रक्षा करने वाला और मन से संयमी रहे तथा काया से पाप न करे। इन तीनों कर्म-पथो की शुद्धि करे और ऋषि (बुद्ध) के बताये धर्म का सेवन करे।" 'पकिण्णक-वग्ग' (वर्ग २१) में अहिंसा, और शरीर के दु:खदोषानुचिन्तन आदि का वर्णन है। "निरय- वग्ग" (वर्ग २२) में बतलाया गया है कि कैसे पुरुष नरक-गामी होते हैं। "नाग-वग्ग" (वर्ग २३) में नाग (हाथी) के समान अडिग रहने का उपदेश दिया गया है। "जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे वाण को सहन करता है, वैसे ही वाक्यों को सहन करूँगा। संसार में तो दु:शील आदमी ही अधिक है।" "तण्हा वग्ग" (वर्ग २४) में तृष्णा को खोद डालने का उपदेश है। अपने पास दर्शनार्थ आये हुए आदमियों को सम्बोधन करते हुए भगवान् कहते हैं, "इसलिए तुम्हें कहता हूँ, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारा सब का मंगल हो। जैसे खस के लिए लोग उशीर को खोदते है, वैसे ही तुम तृष्णा की जड़ को खोदो।" "भिक्खु वग्ग" (वर्ग २५) में भिक्षुओं के लिए लोमहर्षक उपदेश हैं। "हे भिक्षु ! इस नाव को उलीचो। उलीचने पर यह तुम्हारे लिए हल्की हो जायगी। राग और द्वेष को छेदन कर फिर तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे।" पुन: "हे भिक्षु ! ध्यान में लगो। मत असावधानी करो। मत तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में पड़े। प्रमत्त हो कर मत लोहे के गोले को निगलो। 'हाय दु:ख !' कह कर दग्ध होते हुए मत तुम्हें पीछे क्रन्दन करना पड़े।" "भिक्षुओ ! जैसे जूही कुम्हलाये हुए फूलों को

छोड देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड दो।" "ब्राह्मण-वग्ग" (वर्ग २६) में ब्राह्मणो के लक्षण गिनाये गए है। २६।१३-४१ गाथाएँ तो बडी ही काव्य-मय है। भगवान् की दृष्टि मे वास्तविक ब्राह्मण कौन है, इस पर कुछ गाथाएँ देखिए—

"माता और योनि से उत्पन्न होने से मै किसी को ब्राह्मण नही कहता। वह तो 'भोवादी' ('भो' 'भो' कहने वाला जैसा ब्राह्मण उस समय एक दूसरे को सम्बोधन करते समय करते थे) है और सग्रही है। मै तो ब्राह्मण उसे कहता हू जो अपरिग्रही और लेने की इच्छा न रखने वाला है।

"जो बिना दूषित चित्त किये गाली, वध और बन्धन को सहन करता है, क्षमा बल ही जिसकी सेना का सेनापति है उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।

"कमल के पत्ते पर जल और आरे के नोक पर सरसो की भाँति जो भोगो मे लिप्त नही होता, उसे मै ब्राह्मण कहता हू।

"जो विरोधियो के बीच विरोध-रहित रहता है, जो दडधारियो के बीच दड रहित रहता है, सग्रह करने वालो मे जो सग्रह-रहित है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसने यहा पुण्य और पाप दोनो की आसक्ति को छोड दिया, जो शोक-रहित, निर्मल और शुद्ध है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसके आगे, पीछे और मध्य मे कुछ नही है, जो सर्वत्र परिग्रह रहित है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।" आदि।

ऊपर धम्म-पद की विषय वस्तु के स्वरूप का जो परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि उसमे नीति के वे सभी आदर्श सगृहीत है जो भारतीय संस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति है।[1] धम्मपद की आधी से अधिक गाथाएँ त्रिपिटक

---

१. डा० विमलाचरण लाहा ने 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' जिल्द पहली पृष्ठ २००–२१४ के अनेक पद-संकेतों में उपनिषद्, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों से उद्धरण देकर धम्मपद की गाथाओं से उनकी समानता दिखाई है। इस विषय का अधिक तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

के अन्य भागो में भी मिलती है। धम्मपद के पालि संस्करण के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्करण भी मिलते हैं। उनका भी उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। इस प्रकार के मख्यतः चार संस्करण उपलब्ध है। सर्वप्रथम प्राकृत धम्मपद है। खोतान में खडित खरोष्ट्री लिपि में यह प्राप्त हुआ है। यह बिलकुल अपूर्ण अवस्था में है और यह नही कहा जा सकता कि इसका मौलिक स्वरूप क्या था। इस ग्रन्थ का सम्पादन पहले फ्रेंच विद्वान् सेनाँ ने किया था। बाद मे इसका सम्पादन डा० वेणीमाधव बाडुआ और सुरेन्द्रनाथ मित्र ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अध्याय है जिनकी अनुरूपता पालि-धम्मपद के साथ इस प्रकार है[1]—

प्राकृत धम्मपद		पालि धम्मपद
वर्ग-क्रम	वर्ग-नाम और गाथाओ की सख्या	इनके अनुरूप क्रम, नाम और गाथाओ की सख्या जो पालि धम्म-पद म पाई जाती है
१	मगवग ३०	२० मग्ग वग्ग १७
२	अप्रमाद वग २५	२ अप्पमाद वग्ग १२
३	चितवग ५ (अपूर्ण)	३ चित्त वग्ग ११
४	पुष वग १५	४ पुप्फ वग्ग १६
५	सहस वग १७	८ सहस्स वग्ग १६
६	पनित वग या धमठ वर्ग १०	६ पडित वग्ग १४
		१९ धम्मट्ठ वग्ग १७
७	बाल वग ७ (अपूर्ण)	५ बाल वग्ग १६
८	जरा वग २५	११ जरावग्ग ११
९	सुह वग २०	१५ सुख वग्ग १२
१०	तष वग ७ (अपूण)	२४ तण्हा वग्ग २६
११	भिखु वग ४०	२५ भिक्खु वग्ग २३
१२	ब्राह्मण वग ५०	२६ ब्राह्मण वग्ग ४१

---

१. देखिये बाडुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ८ (भूमिका)

चूंकि प्राकृत धम्म पद की अभी कोई पूर्ण प्रति नही मिल सकी है, अतः दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचा जा सकता। जिन वर्गों के नामों में समानता है उनके भी क्रमों और गाथाओं की संख्या के सम्बन्ध में काफी असमानता है। अधिकतर पालि धम्मपद की अपेक्षा प्राकृत-धम्मपद के वर्गों में ही गाथाएँ अधिक है। इस गाथा-वृद्धि का कारण यही जान पड़ता है कि चूकि धम्मपद की गाथाओं का सग्रह पूरे सुत्त-पिटक के ग्रन्थों से ही किया गया है, अतः उनके चुनने में विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में विभिन्नता आ गई है।[1] अन्य संस्करणो के बारे मे भी यही बात है। धम्मपद का दूसरा सस्करण, जिसका भी स्वरूप अभी अनिश्चित ही है उसका गाथा-संस्कृत या मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ रूप है। इसका साक्ष्य हमें 'महावस्तु' से मिलता है जो स्वयं गाथा-सस्कृत में लिखी हुई रचना है और जिसने 'धर्मपद' का एक अंश मानते हुए 'सहस्र वर्ग' (धर्मपदेषु सहस्रवर्ग) नामक २४ गाथाओं के समूह को उद्धृत किया है।[2] 'सहस्सग्ग' नामक धम्मपद का भी आठवाँ 'वग्ग' है, यह हम पहले देख चुके है। किन्तु वहाँ केवल १६ गाथाएँ हैं। 'महावस्तु' मे उद्धृत 'सहस्र वर्ग' के अतिरिक्त प्राकृत धम्मपद के पूरे स्वरूप के बारे में हमे कुछ अधिक ज्ञान नही है। धम्मपद के 'चुह्-खि-उ-थिङ' नामक चीनी अनुवाद से जो २२३ ई० में किया गया था, यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसका मूल प्राकृत धम्मपद था, किन्तु उसके भी आज अनुपलब्ध होने के कारण प्राकृत-धम्मपद के वास्तविक स्वरूप की समस्या उलझी ही रह जाती है। धम्मपद का तीसरा रूप विशुद्ध संस्कृत में है जो अपने खंडित रूप मे तुर्फान मे पाया गया है। इस ग्रन्थ में ३३ अध्याय हैं, अर्थात् पालि धम्म पद से ६ अधिक। इसी संस्करण का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी मिलता है जो ८१७-८४२ ईसवी में किया गया था। रॉकहिल ने इसका अनुवाद 'उदान वर्ग' शीर्षक से किया है और उसे संस्कृत-धर्मपद का प्रतिरूप

---

१. गाथा-वृद्धि के उदाहरणों और उनके कारणों के अधिक विस्तृत विवेचन के के लिये देखिये बाड़ुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ३१ (भूमिका)

२. तेषां भगवान् जटिलानां धर्मपदेषु सहस्रवर्गं भासति 'सहस्रमपि वाचानां अनर्थपदसंहितानां, एकार्थवती श्रेया यं श्रुत्वा उपशाम्यति'।

माना है। धम्मपद का चौथा रूप फ-च्यू-किङ् नामक चीनी अनुवाद में पाया जाता है। यह अनुवाद मूल संस्कृत धम्मपद से २२३ ई० में किया गया। मूल आज अनुपलब्ध है। अतः पालि धम्मपद से उसकी तुलना तो नहीं की जा सकती, किन्तु चीनी अनुवाद के आधार पर कुछ ज्ञातव्य बातें अवश्य जानी जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि चीनी अनुवाद मात्र अनुवाद ही नहीं है। उसे या तो एक अर्थ-कथा ही कहा जा सकता है, या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें वास्तविक धर्मपद का काफी परिवर्द्धन किया गया है। इस चीनी अनुवाद में पालि धम्मपद के २६ वर्गों या अध्यायो की जगह ३९ तो अध्याय है और ४२३ गाथाओ की जगह ७५२ गाथाएँ है। इनका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

चीनी धम्मपद (फ-च्यू-किङ)	पालि धम्मपद
१. अनित्यता (२१)	अनुपलब्ध
२. ज्ञान-दर्शन (२९)	
३. श्रावक (१९)	
४. श्रद्धा (१८)	
५. कर्तव्य-पालन (१६)	
६. विचार (१२)	
७. मैत्री भावना (१९)	
८. सलाप (१२)	
९. यमक वग्ग (२२)	१. यमक वग्ग (२०)
१०. अप्रमाद वग्ग (२०)	२. अप्पमाद वग्ग (१२)
११. चित्त वग्ग (१२)	३. चित्त वग्ग (११)
१२. पुप्फ वग्ग (१७)	४. पुप्फ वग्ग (१६)
१३. बाल वग्ग (२१)	५. बाल वग्ग (१६)
१४. पंडित वग्ग (१७)	६ पंडित वग्ग (१४)
१५. अर्हन्त वग्ग (१०)	७. अर्हन्त वग्ग (१०)
१६. सहस्स वग्ग (१६)	८. सहस्स वग्ग (१६)
१७. पाप वग्ग (२२)	९. पाप वग्ग (१३)
१८. दंड वग्ग (१४)	१०. दंड वग्ग (१७)

१९. जरा वग्ग (१६)	११. जरा वग्ग (११)
२०. अन्न वग्ग (१४)	१२ अत्ता वग्ग (१०)
२१. लोक वग्ग (१६)	१३ लोक वग्ग (१३)
२२ बुद्ध वग्ग (२१)	१४. बुद्ध वग्ग (१८)
२३. सुख वग्ग (१४)	१५ सुख वग्ग (१२)
२४. पिय वग्ग (१२)	१६. पिय वग्ग (१२)
२५ कोध वग्ग (२६)	१७. कोध वग्ग (१४)
२६. मल वग्ग (१९)	१८ मल वग्ग (२१)
२७. धम्मट्ठ वग्ग (१७)	१९ धम्मट्ठ वग्ग (१७)
२८. मग्ग वग्ग (२८)	२०. मग्ग वग्ग (१७)
२९. पकिण्ण वग्ग (१६)	२१ पकिण्ण वग्ग (१६)
३०. निरय वग्ग (१६)	२२. निरय वग्ग (१४)
३१. नाग वग्ग (१८)	२३. नाग वग्ग (१४)
३२ तण्हा वग्ग (३२)	२४. तण्हा वग्ग (२६)
३३. सेवा (२०)	—
३४. भिक्खु वग्ग (३२)	२५. भिक्खु वग्ग (२३)
३५ ब्राह्मण वग्ग (४०)	२६. ब्राह्मण वग्ग (४१)
३६ निर्वाण (३६)	—
३७. जन्म और मृत्यु (१८)	—
३८. धर्म-लाभ (१९)	—
३९. महामंगल (१९)	—

ऊपर चीनी अनुवाद के वर्गों के नाम जहाँ उनकी पालि धम्मपद के साथ समता है, पालि में सुविधा के विचार से दे दिये गए हैं। चीनी अनुवादों में तो उनके स्वभावतः चीनी भाषा में ही शीर्षक हैं। ऊपर की तुलना से स्पष्ट है कि पालि धम्मपद की गाथाओं की संख्या को चीनी अनुवाद में बढ़ा दिया गया है। वास्तव में ऊपर जितने संस्करणों का विवरण दिया है उनमें यही घटा-बढ़ी की गई है। वास्तव में सब का मूलाधार तो पालि धम्मपद ही है जिसकी गाथाओं को अक्सर बढ़ा कर और कहीं कहीं घटा कर भी भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों

ने अपने अलग अलग् संग्रह बना लिए जिनके कुछ उदाहरण हम धम्मपद के ऊपर निर्दिष्ट स्वरूपो मे देख चुके हैं। अब हम बुद्ध-वचनो के एक दूसरे संग्रह पर आते हैं।

उदान[1]

'उदान' भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीति-वाक्यो का एक संग्रह है। "भावातिरेक से कभी कभी सन्तो के मुख से जो प्रीति-वाक्य निकला करते हैं, उन्हे 'उदान' कहते हैं।" "उदान" मे भगवान् बुद्ध के ऐसे गम्भीर और उनकी समाधि-अवस्था के सूचक शब्द सगृहीत हैं जो उन्होंने विशेष अवसरो पर उच्चरित किये। भगवान् द्वारा उच्चरित वचन अधिकतर गाथाओ के रूप में हैं और जिन अवसरो पर वे उच्चरित किये गये, उनका वर्णन गद्य में है। गद्य-भाग निश्चयत संगीतिकारो की रचना है जिसे उन्होंने बुद्ध-जीवन के प्रत्यक्ष सम्पर्क से ग्रथित किया है। उसकी प्रामाणिकता के विषय म यही कहा जा सकता है कि विनय-पिटक के चुल्लवग्ग और महावग्ग मे तथा महापरिनिब्बाण-सुत्त जैसे सुत्त-पिटक के अशो मे बुद्ध-जीवन का जो चित्र उपस्थित किया गया है उसकी वह अनुरूपता मे ही है। गद्य-भाग के अन्त मे आने वाले 'उदानो' मे तो वास्तविक बुद्ध-वचन होने की सुगन्ध आती ही है। उनमे जैसे शास्ता ने अपने आपको अनुप्राणित कर दिया है अपनी प्राण-ध्वनि ही फूक दी है, ऐसा मालूम पडता है। वास्तव मे 'उदान' का अर्थ भी यही है। 'उदान' की सब से बडी विशेषता है बौद्ध जीवन-दर्शन का उसके अन्दर स्पष्टतम प्रस्फुटित स्वरूप। बुद्ध-जीवन के अनेक प्रसगो के अतिरिक्त चित्त की परम शान्ति, निर्वाण, पुनर्जन्म, कर्म और आचार-तत्व सम्बन्धी गम्भीर उपदेश 'उदान' मे निहित हैं।

'उदान' में ८ वर्ग (वग्ग) हैं और प्रत्येक वर्ग मे प्राय दस सुत्त हैं। केवल सातवें वर्ग मे ९ सुत्त है। ८ वर्गों के नाम इस प्रकार हैं (१) बोधि वर्ग (बोधि-

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देव-नागरी लिपि में सम्पादित, तथा उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, सारनाथ १९३७ ई०। भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है, महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द, २४८२।

वग्ग), (२) मुचलिन्द वर्ग (मुचलिन्द वग्ग), (३) नन्द वर्ग (नन्द वग्ग), (४) मेघिय वर्ग (मेघिय वग्ग), (५) सोण-स्थविर सबंधी वर्ग (सोणत्थेरस्स वग्ग), (६) जात्यन्ध वर्ग (जच्चन्ध वग्ग), (७) चूल वर्ग (चूल वग्ग), और (८) पाटलिग्राम वर्ग (पाटलिगामिय वग्गो) । प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक सूत्र मे भगवान् का गाथा बद्ध उदान है। शैली सरल है और सब जगह प्राय एक सी ही है। उदाहरण के लिए पाचवे वर्ग के इस सातवें सुत्त को उद्धृत किया जाता है— "ऐसा मैने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्ती मे अनाथपिडिक के जेतवनाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् के पास ही आयुष्मान् काक्षारेवत आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किए काक्षाओ से शुद्ध हो गये अपने चित्त का अनुभव करते बैठे थे। भगवान् ने पास ही मे आयुष्मान् काक्षारेवत को आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किये, काक्षाओ स शुद्ध हो गए अपने चित्त का अनुभव करते देखा। इसे जान, उस समय भगवान के मुह से उदान के य शब्द निकल पडे—

"लोक या परलोक मे, अपनी या परायी,
(ससार सम्बन्धी) जितनी काक्षाए है,
ध्यानी उन सभी को छोड देते है,
तपस्वी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करत है।"

सब सुत्तो की यही शैली है। पहले कहानी या पृष्ठभूमि आती है, फिर बुद्ध का भावातिरेकमय वचन। कही कही कहानी अपनी प्रभावशीलता और मौलिकता भी लिये हुए है जैसे ३।२ मे नन्द की कहानी, या २।८ मे सुप्रवासा की कथा। कही कही, जैसा विटरनित्ज ने दिखाया है, उदानो के लिए उपर्युक्त पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए सगीतिकारो ने कथाओ को अपनी तरफ से गढा भी है जिसमे उन्हें सफलता नही मिली है। विटरनित्ज के इस कथन से सर्वांश मे सहमत होना अशक्य है। उदाहरणत ८।९ में आयुष्मान् दब्ब जो एक महान् साधक और भगवान बुद्ध के शिष्य थे, की निर्वाण-प्राप्ति के अवसर पर भगवान् ने यह उदान किया "शरीर को छोड दिया, सज्ञा निरुद्ध हो गई, सारी वेदनाओ को भी बिलकुल

जला दिया। संस्कार शान्त हो गए, विज्ञान अस्त हो गया।" विटरनित्ज़ का कहना है कि ऐसे गम्भीर प्रवचन के लिए उपर्युक्त अवसर ठीक नही था। कम ही लोग डा० विटरनित्ज़ के इस मत से सहमत हो सकते है। जिन-जिन अवसरो पर या जिस-जिस पृष्ठभूमि में बुद्ध के उद्गारो का 'उदान' में निकलना दिखलाया गया है, उन्हे हम ऐतिहासिक रूप से अधिकतर ठीक ही मानने के पक्षपाती हैं। अब हम प्रत्येक वर्ग की विषय-वस्तु का संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

'बोधि वर्ग" (वर्ग १) में भगवान् बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति के बाद के कुछ सप्ताहो के जीवन का वर्णन है। उस समय भगवान् विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए विहर रहे थे। इसी समय उन्होने अनुलोम और प्रतिलोम प्रतीत्य-समुत्पाद का चिन्तन किया था। कुछ ब्राह्मणो को देख कर उन्होने वास्तविक ब्राह्मण पर उद्गार किये। स्नान और होम मे रत कुछ व्यक्तियो को देख कर भगवान् ने यह उद्गार भी किया, "स्नान तो सभी लोग करते है, किन्तु पानी से कोई शुद्ध नही होता। जिसमे सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है।" "मुचलिन्द वर्ग" (वर्ग २) मे भी भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति के कुछ सप्ताहो बाद तक की जीवनी का वर्णन है, किन्तु यहा कुछ अलौकिकता से अधिक काम लिया गया है। मचलिन्द नामक सर्पराज समाधिस्थ भगवान बुद्ध के शरीर की वर्षा से रक्षा करने के लिए जो उस समय होने लगी थी, उनके शरीर को सात बार लपेट कर उनके ऊपर अपना फन फैला कर खडा हो गया, ताकि भगवान् को वर्षा का कष्ट न होने पावे। जिन घटनाओ का प्रथम और इस दूसरे वर्ग मे वर्णन है, उनमे काल-क्रम का कोई तारतम्य नहीं है, क्योकि प्रथम वर्ग के कुछ सूत्र भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति की बाद की अवस्था का वर्णन करते है और उसके बाद ही कुछ सूत्र सूचना देते है "एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन आराम मे विहार करते थे"। (१।५, १।८, १।१०)। इसी प्रकार दूसरे वर्ग मे भी प्रथम सूत्र मे तो भगवान् उरुवेला में नेरंजना नदी के तीर पर ही विहार करते है, किन्तु दूसरे सूत्र में वे श्रावस्ती मे अनाथपिंडिक के जेतवन आराम मे विहार कर रहे है। बुद्धत्व के तीसरे वर्ष जेतवन-आराम का दान किया गया था। अत ये घटनायें काफी बाद की हैं। इसी प्रकार भगवान् अन्य स्थानो में भी विहार

करते दिखाये गए है, जैसे मृगारमाता के पूर्वाराम प्रासाद में (२१९) या कुंडिया नगर के कुंडिधान बन मे (२१८)। दूसरे वर्ग मे हम भिक्षुओं को इस निरर्थक बात पर विवाद करते हुए पाते हैं कि "मगधराज बिम्बिसार और कोशलराज प्रसेनजित् मे कौन अधिक धनी, सम्पत्तिशाली या अधिक सेनाओ वाला है।" भगवान् इसे सुन कर उन्हे कहते हैं "भिक्षुओ! तुम श्रद्धापूर्वक घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुए हो। तुम कुलपुत्रो के लिए यह अनुचित है कि तुम ऐसी चर्चा में पडो। भिक्षुओ! इकट्ठे हो कर तुम्हे दो ही काम करने चाहिए, या तो धार्मिक कथा या उत्तम मौन भाव।" इसी वर्ग में सुप्रवासा की कथा भी है। यह स्त्री गर्भ की असह्य पीडा मे पडी थी। प्रसव न होता था। उसने सुन रक्खा था भगवान् दु खो के प्रहाण के लिये धर्मोपदेश करते हे। पति से कहा--भगवान् के चरणो मे मेरा शिर से प्रणाम कहना, उनका कुशल-मगल पूछना और मेरी दशा से अवगत कराना। उसके पति ने ऐसा किया। भगवान् ने अनुकम्पा-पूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहा, "कोलिय पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय, चंगी हो जाय, बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" पति घर लौटा तो सुप्रवासा को सुखी और चगी पाया, जिसने बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव कर दिया था। सारा घर सन्तोष और प्रमोद से भर गया। कृतज्ञता से भर कर सुप्रवासा ने एक सप्ताह भर तक बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-सघ को भोजन के लिये आमन्त्रित किया। भगवान् शिष्यो सहित उपस्थित हुए। सात दिन बीत जाने पर भगवान् ने सुप्रवासा से कहा, "सुप्रवासे! ऐसा ही एक और भी पुत्र लेना चाहती है?" सुप्रवासा ने प्रमोद से भर कर कहा "भगवन्! मै ऐसे सात पुत्रो को लेना चाहूँगी।" भगवान् के मुह से उस समय उदान के ये शब्द निकल पडे "बुरे को अच्छे के रूप में, अप्रिय को प्रिय के रूप मे, दुःख को सुख के रूप मे प्रमत्त लोग समझा करते हैं।" बुद्ध के जीवन-दर्शन को समझने के लिये यह कहानी एक अच्छा उदाहरण है। विटरनित्ज ने कहा है कि यह कहानी यह भी दिखाती है कि बुद्ध-काल मे ही बुद्ध-भक्ति के द्वारा लोग अपने कल्याण की कामना करने लगे थे। महात्माओं के वचनो और आशीर्वादो मे मङ्गल प्रसविनी शक्ति होती है, ऐसा विश्वास भारतीय जनता मे प्राय. सदा से ही रहा है। अत इसमे कोई विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। विशेषता उस बात में है जो भगवान् ने बाद में सुप्रवासा की सात पुत्रों

वाली कामना को सुनकर कही। यह बात बुद्ध के मुख से ही निकल सकती थी। बुद्ध, जिसने अपने एकमात्र पुत्र का जन्म होते समय उसे अपने उदीयमान विचार-चन्द्र को ग्रसने के लिये राहु समझ कर 'राहुल' नाम दिया, "राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ।" या तो 'प्रजया कि करिष्याम" (हम सन्तान से क्या करेंगे) कहने वाले उपनिषदो के ऋषि या सम्यक् सम्बुद्ध ही इतना ऊँचा और निवृत्ति-परायण दृष्टिकोण ले सकते थे। २।८ में वर्णित आर्य सगाम जी की कथा और २।७ मे प्रेम को छोड देने का उपदेश, ऐसे ही निवृत्ति-परायण उपदेश है। नन्द-वर्ग (वर्ग ३) मे विशेषतः भगवान् बुद्ध के मौसेरे भाई नन्द की कथा है। किस प्रकार यह विलासी युवक भगवान के उपदेश से विरक्त बन गया, यही इसमें वर्णन किया गया है। यहाँ भी निवृत्ति का आदर्श ही सामने रक्खा गया है। नन्द पहले भगवान की जामिनी पर अप्सराओ के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करते-करते उसकी अप्सराओ सम्बन्धी इच्छा प्रहीण हो जाती है। भगवान् कहते है "नन्द! जिस समय तुम्हारी सासारिक आसक्ति से मुक्ति हो गई उसी समय मैं जामिनी से छूट गया।" कुछ अन्य कथाएँ और उद्‌गार भी इस वर्ग मे सम्मिलित हैं। ३।५ मे महामोद्‌गल्यायन की कायगतासति-भावना का वर्णन है। ३।१० मे भगवान् ने कहा है कि अनासक्ति ही मुक्ति-मार्ग है। मेघिय-वर्ग (वर्ग ४) मे मेघिय नामक भिक्षु की कथा है। वह भिक्षु भगवान् की सेवा मे नियत था। एक दिन एक रमणीय आम्र-वन देख कर इसने वहा जाकर योग-साधन करने की भगवान् से अनुमति माँगी। भगवान् ने कहा "मेघिय! ठहरो, अभी मैं अकेला हूँ, किसी दूसरे भिक्षु को आ जाने दो।" मेघिय ने भगवान् के आदेश को न माना और ध्यान करने चला गया। किन्तु वहाँ जाकर जैसे ही ध्यान के लिये बैठा उसके मन में पाप-वितर्क उठने लगे। शाम को फिर भगवान् के पास लौटकर आया। भगवान् ने उसे ध्यान-सम्बन्धी उपदेश दिया। इसी वर्ग में भिक्षुओं पर व्यभिचार के मिथ्यारोप का वर्णन है (४।८)। इस अवस्था में भी वे शान्त रहते है और बाद मे उनकी निष्पापता सिद्ध हो जाती है। भगवान् का एक ग्वाले ने मक्खन और खीर से आतिथ्य किया, इसका भी वर्णन इस वर्ग में आता है (४।३)। आदमियो की भीड से तग आकर भगवान् को पालिलेय्यक के रक्षितवन में एकान्त-वास करते भी इस वर्ग मे हम देखते

है (४।५)। भव-तृष्णा मिट जाने से ही मुक्ति होती है, इस अर्थ का एक उदान भी भगवान् ने यहीं किया है (४।१०)। पाँचवें वर्ग (शोण स्थविर सम्बन्धी वर्ग) में शोण नामक भिक्षु के संघ-प्रवेश, अर्हत्व-प्राप्ति आदि का वर्णन है। इसी वर्ग में कोशलराज प्रसेनजित् का बुद्ध के दर्शनार्थ जेतवन-आराम में जाना (५।२) तथा सुप्रबुद्ध नामक कोढी की उपासक (गृहस्थ-शिष्य) के रूप में दीक्षा (५।३) का भी वर्णन है। छठे वर्ग (जात्यन्ध-वर्ग) में जात्यन्ध पुरुषों को हाथी दिखाये जाने की कथा है। इस कथा का प्रवचन भगवान ने श्रावस्ती के जेतवन-आराम मे दिया। अनेक अन्धे हाथी को देखते हैं किन्तु उसके पूरे स्वरूप को कोई नही देख पाता। जो जिस अग को देखता है वह उसका वैसा ही रूप बताता है। 'भिक्षुओ! जिन जात्यन्धो ने हाथी के शिर को पकडा था, उन्होने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई बडा घडा'। जिन्होंने उसके कान को पकडा था उन्होने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई सूप'। जिन्होने उसके दाँत को पकडा था, उन्होने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई खटा। जिन्होने उसके शरीर को पकडा था उन्होने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई कोठी' आदि। इस प्रकार अन्धे आपस मे लडने-भिडने लगे और कहने लगे हाथी ऐसा है वैसा नही, वैसा है, ऐसा नही। यही हालत मिथ्यामतवादो मे फँसे हुए लोगो की है। कोई कहते हैं 'लोक शाश्वत है यही सत्य है दूसरा बिलकुल झूठ' कोई कहते हैं 'लोक अशाश्वत है, यही सत्य है दूसरा बिलकुल झूठ' आदि।" कितने श्रमण और ब्राह्मण इसी में जूझे रहते हैं। (धर्म के केवल) एक अङ्ग को देख कर वे आपस में विवाद करते हैं।" उपर्युक्त दृष्टान्त बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। संस्कृत में भी 'अन्धगजन्याय' प्रसिद्ध है। जैन-साहित्य में भी यह सिद्धान्त विदित है। मानवीय बुद्धि की अल्पता और सर्व-धर्म-समन्वय की दृष्टि से यह दृष्टान्त इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इसका उद्धरण अपने 'अखरावट' में दिया है "सुनि हाथी कर नाँव अँधन टोवा धायकै। जो देखा जेहि ठाँव मुहम्मद सो तैसेहि कहा।" विश्व का धार्मिक साहित्य इस बहुमूल्य दृष्टान्त के लिये अपने मूल रूप में बौद्ध साहित्य का ही ऋणी है, इसमें बिलकुल भी सन्देह नही। सातवे वर्ग (चूलवर्ग) में अनेक स्फुट बातों का वर्णन है, यथा लकुटक भद्दिय नामक भिक्षु को सारिपुत्र का उपदेश (७।२) और

उसकी समाधि-प्राप्ति (७।५), महाकात्यायन की कायगता-स्मृति की भावना (७।७) तथा कौशाम्बी के राजा उदयन के अन्तःपुर में अग्निकांड की सूचना जिसमें रानी श्यामावती (सामावती) के साथ ५०० स्त्रियाँ जल मरी (७।९)। आठवें वर्ग (पाटलि ग्राम-वर्ग) में निर्वाण-सम्बन्धी गम्भीर प्रवचन हैं। केवल एक को यहाँ उद्धृत किया जाता है "भिक्षुओ! वह एक आयतन है जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञानानन्त्यायतन न आकिञ्चन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वहाँ न तो यह लोक है न परलोक है न चन्द्रमा है न सूर्य है। न तो मैं उसे 'अगति' कहता हूँ और न 'गति'। न मैं उसे स्थिति और न च्युति कहता हूँ। मैं उसे उत्पत्ति भी नहीं मानता। वह न तो कहीं ठहरा है न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दुःखों का अन्त है" (८।१) आयुष्मान् दब्ब के निर्वाण पर भगवान् ने जो उद्गार किया उसे हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं। बौद्ध निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिये 'उदान' का आठवाँ वर्ग भूरि भूरि पढ़ने और मनन करने योग्य है। भगवान के चुन्द सोनार के यहाँ अन्तिम भोजन करने का भी इस वर्ग में वर्णन है जो महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३) के समान ही है।

इतिवुत्तक[1]

'इतिवुत्तक' खुद्दक-निकाय का चौथा ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में है। 'इतिवुत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा'। 'इतिवुत्तक' में भगवान् बुद्ध के ११२ प्रवचनों का संग्रह है। ये सभी प्रवचन अत्यन्त लघु आकार के और नैतिक विषयों पर हैं। 'इतिवुत्तक' का प्रायः प्रत्येक सूत्र इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है—"भगवान् (बुद्ध) ने यह कहा, पूर्ण

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित। उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, १९३७ ई०। इस ग्रन्थ के गद्य-भाग का अनुवाद प्रस्तुत लेखक ने 'ऐसा तथागत ने कहा' शीर्षक से किया है।

पुरुष (तथागत) ने यह कहा, ऐसा मैंने सुना।" केवल ८१-८८, ९१-९८, और १००-१०१ संख्याओ के सूत्र इसके अपवाद हैं। बुद्ध-वचनो के उद्धरण की यह विशिष्ट शैली ही इस सग्रह के "इतिवुत्तक' (ऐसा तथागत ने कहा) नामकरण का आधार है।

'इतिवुत्तक' के विषय-सकलन और शैली की अपनी विशेषताएँ हैं। 'इति-वुत्तक' के ११२ सुत्त चार बडे वडे वर्गो या निपातों मे विभक्त है। पहले निपात में उन उपदेशो का सकलन है जिनका सम्बन्ध सख्या एक मे है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे निपातो मे उन उपदेशों का सकलन है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः दो, तीन और चार सख्याओ मे है। इसीलिये इनके नाम भी क्रमशः एकक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात और चतुक्क-निपात हैं। पहले निपात मे २७ सूत्र हैं, दूसरे मे २२, तीसरे मे ५० और चौथे मे १३। इस प्रकार सूत्रो की कुल सख्या मिलाकर ११२ है। विषय-सकलन की यह शैली आज कृत्रिम जान पड़ती है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन के उस युग मे जब सारा काम मौखिक रूप से (मुखपाठवसेन) ही चलता था, गणनात्मक सकलन और वर्गीकरण की यह पद्धति स्मृति के लिये बडी सहायक सिद्ध होती थी। फलत बौद्धो और जैनो का अधि-कांश प्राचीन साहित्य इसी शैली मे लिखा गया है। सस्कृत के सूत्र-साहित्य का भी उद्‌भावन इसी आवश्यकता के कारण हुआ। 'इतिवुत्तक' की सख्याबद्ध शैली का ही विकसित रूप हमे अगुत्तर-निकाय और बाद मे अभिधम्म-पिटक में मिलता है। 'इतिवुत्तक' के विषय मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस गण-नात्मक विधान ने उसके विषय-स्वरूप की स्वाभाविकता मे कोई बाधा नही पहुँ-चाई है। उसका अलकार-विहीन सौन्दर्य हमे बुद्ध-वचनो को उनके उस नैस-र्गिक रूप मे, जिसमें वे उच्चरित किये गये थे, ठीक प्रकार देखने में सहायता देता है।

'इतिवुत्तक' की एक बड़ी विशेषता उसके अन्दर गद्य और पद्य दोनों का होना है। प्रत्येक सूत्र के आदि में पहले "ऐसा भगवान् ने कहा, ऐसा पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने कहा, ऐसा मैने सुना" आता है। फिर गद्य में बुद्ध-वचन का उद्धरण होता है। फिर उसके बाद "भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है" इस प्रस्तावना के साथ कोई गाथा या गाथाएँ आती है, जिनका या तो बिल-

कुल वही अभिप्राय होता है जो गद्य-भाग का अथवा जो उसकी पूरक-स्वरूप होती है। शब्दों में भी बहुत थोड़ा ही हेर-फेर होता है, अक्सर गद्य-भाग को गाथा-बद्ध कर के रख दिया जाता है। इस गाथा-भाग को भी बुद्ध-वचन की सी प्रामाणिकता देने के लिये उसका उपसहार करते हुए अन्त में लिख दिया जाता है, 'यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।" इस प्रकार गद्य-भाग और गाथा-भाग दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए है। 'इतिवुत्तक' के प्रत्येक सूत्र की यही शैली है। इसका दिग्दर्शन करने के लिये एक पूरे सूत्र को उद्धृत कर देना आवश्यक होगा। एकक-निपात के इस तीसरे सूत्र को लीजिये—"ऐसा मैंने सुना—

भगवान् ने यह कहा, पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने यह कहा, "भिक्षुओ! एक वस्तु को छोड़ो। मै तुम्हारा साक्षी होता हूँ तुम्हें फिर आवागमन मे पड़ना नही होगा। किस एक वस्तु को? भिक्षुओ! मोह ही एक वस्तु को छोडो। मै तुम्हारा साक्षी होता हूँ तुम्हे फिर आवागमन में पडना नही होगा।"

भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है—

जिस मोह के कारण मूढ बन कर प्राणी बुरी गतियो में पडते है, उसी मोह को तत्त्वदर्शी मनुष्य सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये छोड देते है, छोड़ कर, वे इस लोक मे फिर नही आते।

यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।"

विद्वानो में इस बारे मे कुछ मत-भेद है कि 'इतिवुत्तक' के गद्य और पद्य भाग मे कौन अधिक प्राचीन या प्रामाणिक है। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि संकलनकर्ता ने भी गद्य-भाग मे रक्खे हुए अश को ही बुद्ध-वचन के रूप म उद्धृत किया है और फिर उसकी व्याख्या-स्वरूप गाथा-भाग को जोड़ दिया है, जिसकी प्रशंसा मात्र करने के लिये ही उसने अन्त में यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना, जोड़ दिया है। वास्तव में, जैसा संकलनकर्ता ने स्वयं कहा है, गाथा-भाग वास्तविक बुद्ध-वचन का, जो गद्य में है, अर्थ (अत्थो) ही है। मूल-बुद्ध-वचन के साथ इस प्रकार उसकी अर्थ-कथा देने की प्रवृत्ति त्रिपिटक के कुछ अन्य अंशों में भी देखी जाती है। 'इतिवुत्तक' में इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया गया, जान पड़ता है। अतः 'इतिवुत्तक' के गाथा-भाग का उसके गद्य-भाग से उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा 'उदान' के गद्य-भाग का उसके गाथा-भाग

के साथ। उदान में गाथा भाग मख्य प्रामाणिक बद्ध वचन है। उसकी पष्ठभूमि के रूप म ही वहा के गद्य भाग का उपयोग है। कुछ कुछ इसी प्रकार इतिवुत्तक म गद्य भाग मख्य प्रामाणिक बद्ध वचन है जिसकी व्याख्या स्वरूप ही गाथा भाग की अवतारणा की गई ह। अत इतिवुत्तक के पद्य भाग की अपेक्षा उसके गद्य भाग की ही प्रमाणवत्ता और प्राचीनता हम अधिक मान्य होगी शली की दृष्टि मे भी यही निष्कर्ष ठीक जान पडता ह। इतिवुत्तक का गद्य सरल स्वाभाविक और आलङ्कारिक कृत्रिमताओ से रहित ह अत उसको मल बद्ध वचन मानना अधिक युक्ति युक्त जान पडता ह नि सन्देह यह भाग शास्ता के मख से ही निकला हुआ ह। एक एक शब्द यहा धम मेघ (धम रूपी मेघ बुद्ध) की वर्षा से अभी तक आद्र ह ए ज एडमड्स के इस कथन मे हम अक्षरश सहमत ह कि यदि इतिवुत्तक बद्ध वचन न हो तो और कुछ भी बद्ध वचन नहीं ह। हम इतिवुत्तक को इसी गौरव दृष्टि से देखना ह

इतिवुत्तक के पहले निपात म जसा पहले कहा जा चुका है उन सुत्तो का सग्रह ह जिनका सम्बध एक सख्या वाली वस्तुओ मे ह। इसी निपात में से एक पूरे सुत्त का उद्धरण पहले दिया भी जा चुका ह। इसी प्रकार राग द्वष क्रोध ईर्ष्या आदि पर भी सुत्र ह यह निपात तीन वर्गों म विभक्त है जिनम से प्रत्येक म क्रमश १० १० और ७ सुत्र ह। इस निपात का मेत्तभाव-सुत्त (मैत्री भाव सत्र– १ ३।७) तो भाषा और भाव की दृष्टि से बडा ही सुन्दर है। उसके गद्य भाग को उद्धृत करना यहाँ उपयुक्त होगा। भगवान् कहते हैं भिक्षुओ ! पुनर्जन्म के आधारभूत सब पुण्यकर्म मिलकर भी उस मैत्री भावना के जो चित्त की विमुक्ति है सोलहवे अश के भी बराबर नही होते। भिक्षुओ ! मैत्री भावना ही सब पुण्यकारी कर्मों से अधिक चमकती है प्रभासित होती है क्योकि वह चित्त की विमुक्ति ही है। भिक्षुओ ! जैसे तारागणो का सारा प्रकाश मिलाकर भी एक चन्द्रमा के प्रकाश के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होता —जैसे वर्षा के अन्त म शरद ऋतु म जब अकाश साफ और मेघों से रहित होता है तो सूर्य वहाँ आरोहण कर अन्धकार समूह को विच्छिन्न कर चमकता ह जसे भिक्षुओ ! रात के पिछले पहर में प्रत्यष काल के समय शुक-

तारा चमकता है भिक्षुओ ! मैत्री भावना भी सब पुण्यकारी कर्मों के ऊपर चमकती है, प्रभासित होती है क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है ।"

सुत्तनिपात[1]

सुत्त-निपात भी खुद्दक-निकाय का धम्मपद के समान ही अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है यद्यपि हिन्दी मे वह अभी इतना लोक-प्रिय नही हुआ जितना धम्मपद । फिर भी मौलिक बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ-रत्न का अत्यन्त ऊँचा स्थान है । अशोक ने भाब्रू शिला लेख मे जिन सात बुद्धो-पदेशो के नाम दिये है उनमे से तीन अकेले सुत्तनिपात में है, यथा मोनेय्य सूने=नालक सुत्त, मुनि गाथा=मुनि सुत्त एवं उपतिसपसने=सारिपुत्त-सुत्त । सुत्त-निपात की भाषा वैदिक भाषा के बहुत अधिक समीप है । वैदिक भाषा की विविधरूपता और उसके अनेक प्रकार के व्यत्ययो का विवरण हम पहले दे चुके है ।[2] जिन अनेक प्रयोगो को बाद मे चल कर सस्कृत ने छोड दिया, सुत्त-निपात मे हमे ज्यो के त्यो मिलते है । सस्कृत और पालि का विकास समकालिक है, पर चूकि पालि विशेषत जन-भाषा थी उसने

---

१. नागरी लिपि में डा० बापट द्वारा सम्पादित, पूना १९२४ । पर यह संस्करण आज कल अप्राप्य है । सन् १९३७ (बुद्धाब्द २४८१) में खुद्दक-निकाय के अन्य दस ग्रन्थों के साथ-साथ सुत्त-निपात का भी नागरी लिपि में सम्पादन महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जग-दीश काश्यप ने किया है । धर्मोदय विहार सारनाथ (बनारस) द्वारा प्रकाशित । पर यह संस्करण भी अब नहीं मिलता । सुत्त-निपात के पांच वर्गों में से प्रथम वर्ग (उरग वर्ग) का हिन्दी-अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है । साथ में मूल पालि भी दी है । प्रकाशक भिक्षु महानाम, मूलगन्धकुटी विहार, सारनाथ (बनारस), बुद्धाब्द २४८८ (१९४४ ई०) । सुत्त-निपात के शेष भाग का भी अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है, और इस समय प्रेस में है । बंगला में पूरे सुत्त-निपात का अनुवाद भिक्षु शीलभद्र ने किया है, जो कलकत्ता से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ है ।

२. देखिए प्रथम परिच्छेद में पालि और वैदिक भाषा की तुलना ।

ऋग्वेद की भाषा के उन अनेक प्रादेशिक प्रयोगो को ले लिया है जो वहाँ विद्यमान है। अत उसकी भाषा म पर्याप्त प्राचीनता है। अनेक गाथाओ मे हमें इस प्रकार वैदिक भाषा के प्रभाव के लक्षण मिलते है। उदाहरणत समूहतासे (गाथा १४) पच्चायामे (११) चरामसे भवामसे (३२) आनुमान, सुवामि, सुवाना (२०१) अवीवदाता (७८४) जैसे प्राचीन वैदिक प्रयोग हमें सुत्त-निपात की भाषा म विशेषत उसकी गाथाओं की भाषा मे, मिलते है। इसी प्रकार जनेत्वा के स्थान पर 'जनेत्व (६०५) और कुप्पटिच्चसन्ति (७८८) जैसे प्रयोग भी बिल्कुल ऋग्वेद की भाषा के प्रयोग है। सुत्त-निपात की गाथाओ के छन्द भी प्राय वैदिक है। अनुष्टुभ त्रिष्टुभ और जगती छन्दो की वहाँ अधिकता है और वैदिक छन्दो के समान गण का बन्धन भी नही है[१]। भाषा के समान विचार के साक्ष्य म भी सुत्त निपात की प्राचीनता सिद्ध है। वैदिक युग के देवयजनवाद का पूरा चित्र हमे यहाँ मिलता है। उसका वर्णन इतना सजीव है कि वह प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही लिखा हुआ हो सकता है। भाषा और विचारो म सभी जगह एक निसर्गगत स्वाभाविकता और सरलता मिलती है जो बौद्धधम के विकास के प्रथम स्तर का पर्याप्त रूप मे परिचय देती ह। उसकी प्रभावशीलता भी इसीलिए अत्यन्त उच्चकोटि की है। बुद्ध-धम के नैतिक रूप का बडा सुन्दर चित्र हमे सुत्त-निपात में मिलता है। उरग-सुत्त म निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग का बताते हुए कहा गया है

यो उप्पतित विनेति कोध, विसत सप्पविस व ओसधेहि।
सो भिक्खु जहाति ओरपार, उरगो जिण्णमिव तच पुराण॥

जो भिक्षु चढे क्रोध को, सर्प-विष को औषध की तरह, शान्त कर देता है, वह इस पार (अपने प्रति आसक्ति) और उस पार (दूसरे के प्रति आसक्ति) को छोडता है, साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को। 'साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को' कैसी सुन्दर उपमा है!

---

१. देखिये सुत्त-निपात (भिक्षु धर्मरत्न-कृत हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग) की वस्तुकथा में भिक्षु जगदीश काश्यप का 'सुत्तनिपात की प्राचीनता' सम्बन्धी विवेचन, पृष्ठ ३-५

धनिय-सुत्त में गृहस्थ-सुख और ध्यान-सुख की तुलना की गई है, जिसके उद्धरण का मोह संवरण नहीं किया जा सकता। धनिय गोप पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि से समृद्ध है। वह एक सुखी गृहस्थ किसान है। वर्षा-काल में वह उद्-गार कर रहा है :—

भात मेरा पक चुका। दूध दुह लिया। मही (गंडक) नदी के तीर पर स्वजनों के साथ वास करता हूँ। कुटी छा ली है। आग सुलगा ली है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

मक्खी मच्छर यहाँ पर नहीं हैं। कछार में उगी घास को गौवें चरती हैं। पानी भी पड़े तो वे उसे सह लें। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारी और अचचला है। वह चिरकाल की प्रिय सगिनी है। उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग हैं। उनके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।

. . . .

मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं। गाभिन गायें हैं और तरुण गायें भी, और सब के बीच वृषभराज भी हैं। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

खूँटे मजबूत गड़े हैं, मूंज के पगहे नये और अच्छी तरह बटे हैं, बैल भी उन्हें नहीं तोड़ सकते। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।[1]

पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के मगध-कोसल के किसान के सुखी जीवन का कैसा सुन्दर चित्रण है, उसकी आशा-आकांक्षाओं का कैसा सुन्दर निरूपण है ! ग्रामीण जीवन का यह चित्र, उसके सुख का यह आदर्श, आज भी उतना ही सत्य है जितना बुद्ध-काल में।

---

१. भिक्षु धर्मरत्न का अनुवाद, पृष्ठ ७-१० (कुछ अल्प परिवर्तनों के सहित)

वेद की एक प्रार्थना में राष्ट्र की विभूति का चित्र खीचा गया है ।[1] पर उसके रंग इतने गहरे नही है, उसकी रेखाए इतनी और स्पष्ट नही है, जितनी सुत्त-निपात के वर्णन की । इतना होते हुए भी सुखी कृषक के जीवन का वर्णन सुत्त-निपात मे केवल एक पृष्ठभूमि के रूप मे है, वह स्वयं अपना लक्ष्य नहीं है । उसका वर्णन यहाँ उससे बडे एक अन्य सुख की केवल अभिव्यक्ति के रूप मे किया गया है । उस सुख का उपभोग भगवान् बुद्ध कर रहे है । उनके उद्‌गारों को कृषक के उद्‌गारो से पक्तिश. मिलाइये । मही नदी के तट पर खुले आकाश मे बैठे हुए भगवान् उमड़ते हुए बादलों को देख कर प्रसन्न उद्‌गार कर रहे है :—

मैं क्रोध और राग से रहित हूँ । एक रात के लिए मही नदी के तीर पर ठहरा हूँ । मेरी कुटी खुली है । अग्नि (रागाग्नि, द्वेषाग्नि, मोहाग्नि) बुझ चुकी है । अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मैने एक अच्छी तरणी बना ली है । भव सागर को तर कर पार चला आया । अब तरणी की आवश्यकता नही । हे देव ! चाहो तो खूब बरसो ।

. . . .

मेरा मन वशीभूत और विमुक्त है, चिर काल से परिभावित और दान्त है । मुझ में कोई पाप नही । हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

मै किसी का चाकर नही । स्वच्छन्द सारे ससार मे विचरण करता हूँ । मुझे चाकरी से मतलब नही । हे देव ! चाहो तो खूब बरसो !

. . . .

---

१. "आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् . . . दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽन ड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा . . . . निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु । फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् । योगक्षेमो नः कल्पताम्" । यजुर्वेद २२।२२

मेरे न तरुण बैल है और न बछड़े, न गाभिन गायें है और न तरुण गायें और सब के बीच वृषभराज भी नही । हे देव ! चाहो तो खूब बरसो ।[1]

. . . .

सासारिक सुख और ध्यान-सुख को आमने-सामने रख कर कितनी सुन्दर तुलना है । सासारिक मनुष्य कहता है 'उपधी हि नरस्स नन्दना, न हि सो नन्दति यो निरूपधि' अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य के आनन्द के कारण है । जिन्हे विषय-भोग नही, उन्हे आनन्द भी नही । पर राग-विमुक्त महात्मा कहता है "उपधी हि नरस्स सोचना न हि सो सोचति यो निरूपधि" अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य की चिन्ता के कारण है । जो विषय-रहित है, वे चिन्तित भी नही । दोनो आदर्शों का इससे अधिक सुन्दर निरूपण, इस नाटकीय गति और सवाद-शैली के साथ, सम्भवत. सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में नही मिल सकता । बौद्ध धर्म के आचार-तत्त्व के रूप को समझने के लिए भी यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसी प्रकार 'खग्गविसाण सुत्त' मे एकान्तवास का सुन्दर उपदेश दिया गया है । 'एको चरे खग्गविसाण कप्पो' (अकेला विचरे गैंडे के सीग की तरह) से अन्त होने वाली इन गाथाओ का सौन्दर्य भी अपना है ।

कसी भारद्वाज सुत्त में हम ५०० हल लेकर जुताई के काम में लगे हुए कृषि भारद्वाज नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् के प्रसिद्ध काव्यात्मक संवाद को देखते है । भिक्षा के लिए मौन खडे हुए भगवान् को देख कर कृषि भारद्वाज कहता है "श्रमण । मै जोतता हूँ, बोता हूँ । श्रमण ! तुम भी जोतो, बोओ । जोताई-बोआई कर खाओ ।" भगवान् कहते है "ब्राह्मण ! मै भी जोताई बोआई करता हूँ, जोताई बोआई कर खाता हूँ ।" (अहम्पि खो ब्राह्मण कसामि च वपामि च कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि) आगे भगवान् ने अपने इस कथन की व्याख्या की है, जो बड़ी सुन्दर है । चन्द-सुत्त में भगवान् ने मग्गजिन (मार्ग जिन) आदि चार प्रकार के श्रमणों की व्याख्या की है । पराभव-सुत्त में पतन के कारणों

---

१. भिक्षु धर्मरत्न का अनुवाद, पृष्ठ ७-१० (कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ); भगवान् के इन उद्गारों के साथ मिलाइये 'थेरगाथा' में प्राप्त भिक्षुओं के इस प्रकार के उद्गार भी (आगे 'थेरगाथा' के विवेचन में)

को बतलाया गया है। वसल सुत्त में हम अग्नि-भारद्वाज नामक ब्राह्मण को भगवान् के प्रति यह कहते सुनते हैं "मुण्डक ! वहीं ठहर ! श्रमण वहीं ठहर ! वृषल वहीं ठहर" (तत्रैव मुण्डक, तत्रैव समणक, तत्रैव वसलक तिट्ठाहीति)। भगवान् ने बिना क्रोध किए उस अग्निहोत्री ब्राह्मण को बतलाया कि वृषल किसे कहते हैं। लज्जित होकर ब्राह्मण भगवान् बुद्ध का जीवन-पर्यन्त उपासक (गृहस्थ-शिष्य) बना। हेमवत सुत्त में भगवान् बुद्ध के स्वभाव का वर्णन है। अन्य अनेक बातों के साथ कहा गया है कि उनका ध्यान कभी रिक्त नहीं होता—बुद्धो झान न रिञ्चति। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के विषय में कहा गया है :

"उनका चित्त समाधिस्थ है। सब प्राणियों के प्रति वे एक समान हैं। इष्ट और अनिष्ट विषयक संकल्प उनके वश में हैं।" आलवक सुत्त आलवक यक्ष के साथ भगवान् का संवाद है, जिसकी तुलना महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद से की जा सकती है। यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में कि सब रसों में कौन सा रस उत्तम है (किं सु हवे सादुतरं रसानं) भगवान् ने कहा है 'सच्चं हवे सादुतरं रसानं' अर्थात् सत्य ही सब रसों में उत्तम है।

ब्राह्मण बावरि और उनके शिष्यों के भगवान् से संवाद तो विश्व के दार्शनिक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार पब्बज्जा, पधान और नालक सुत्त भी अपनी आख्यानात्मक गीतात्मकता के साथ साथ दार्शनिक गम्भीरता में अपनी तुलना नहीं रखते। सुत्त-निपात की विषय-वस्तु पाँच वर्गों में विभक्त है (१) उरगवग्ग (२) चूल वग्ग (३) महावग्ग (४) अट्ठकवग्ग और (५) पारायण वग्ग। प्रथम वग्ग में १२ सुत्त हैं, यथा (१) उरग (२) धनिय (३) खग्गविसाण (४) कसि-भारद्वाज (५) चुन्द (६) पराभव (७) वसल (८) मेत्त (९) हेमवत (१०) आलवक (११) विजय और (१२) मुनि। द्वितीय वर्ग में १४ सुत्त हैं, यथा (१) रतन (२) आमगन्ध (३) हिरि (४) महामंगल (५) सुचिलोम (६) धम्मचरिय (७) ब्राह्मण-धम्मिय, (८) नावा (९) किंसील (१०) उट्ठान (११) राहुल (१२) वंगीस (१३) सम्मापरिब्बाजनिय और (१४) धम्मिक। तीसरे वर्ग में १२ सुत्त हैं, यथा (१) पब्बज्जा (२) पधान (३) सुभासित (४) सुन्दरिक भारद्वाज (५) माघ (६) सभिय (७) सेल, (८) सल्ल

(९) वासेट्ठ (१०) कोकालिय (११) नालक और (१२) द्वायतानु-पस्सना। चौथे वर्ग में १६ सुत्त हैं, यथा (१) काम (२) गुहट्ठक (३) दुट्ठक (४) सुद्धट्ठक (५) परमट्ठक (६) जरा, (७) तिस्समेत्तेय्य, (८) पसूर (९) मागन्दिय, (१०) पुराभेद (११) कलहविवाद (१२) चूल वियूह (१३) महावियूह (१४) तुवटक (१५) अत्तदण्ड और (१६) सारिपुत्त। पाँचवे वर्ग में ये १७ सुत्त हैं, (१) वत्थुगाथा (२) अजितमाणवपुच्छा (३) तिस्समेत्तेयमाणवपुच्छा (४) पुण्णकमाणवपुच्छा (५) मेत्तगूमाणवपुच्छा (६) धोतकमाणवपुच्छा (७) उपसीवमाणवपुच्छा (८) नन्दमाणवपुच्छा (९) हेमकमाणवपुच्छा (१०) तोदेय्यमाणवपुच्छा (११) कप्पमाणवपुच्छा (१२) जतुकण्णिमाणवपुच्छा (१३) भद्रावुधमाणवपुच्छा (१४) उदयमाणवपुच्छा (१५) पोसालमाणवपुच्छा (१६) मोघराजमाणवपुच्छा और (१७) पिंगियमाणवपुच्छा।

यद्यपि सुत्त-निपात की गाथाओं के अनेक अंश, जिनमे आख्यान भी कही कही कलात्मक सुन्दरता के साथ अनुविद्ध हैं, उद्धरण की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु विस्तार-भय से ऐसा नही किया जा सकता। वास्तव मे सुत्त-निपात में सभी कुछ इतना महत्त्वपूर्ण, सभी कुछ इतना आकर्षक है कि कुछ समझ मे नही आता कि उसकी सुन्दरता का क्या नमूना सामने रक्खा जाय। वह सब का सब बौद्ध-साहित्य मे जो कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उसका नमूना है। फिर भी पाँचवें वर्ग (पारायण वग्ग) मे बुद्ध के समकालिक गोदावरी-तटवासी प्रसिद्ध वेदज्ञ ब्राह्मण बावरि के १६ शिष्यों के भगवान् बुद्ध के साथ जो उदात्त-गम्भीर संलाप हुए उनका कुछ दिग्दर्शन तो आवश्यक ही है। यहाँ हम देखेंगे कि वैदिक परम्परा के सच्चे साधको ने भी बुद्ध को कितनी जल्दी पहचान लिया था और उन्हे कितना ऊँचा स्थान दिया था।

अजित-माणव-पुच्छा

(अजित) "लोक किससे ढँका है? किससे प्रकाशित नही होता? किसे इसका अभिलेपन कहते हो? क्या इसका महाभय है?"

(भगवान्) "अविद्या से लोक ढँका है, प्रमाद से प्रकाशित नही होता।

तृष्णा को अभिलेपन कहता हूँ। जन्मादि दुःख इसके महाभय है।"

(अजित) "चारो ओर सोते बह रहे है। सोतो का क्या निवारण है? सोतों का ढंकना बतलाओ, किससे ये सोते ढाके जा सकते है?"

(भगवान्) "जितने लोक मे सोते है, स्मृति उनका निवारण है। सोतों की की रोक प्रज्ञा है, प्रज्ञा से ये रोके जा सकते है।"

(अजित) "हे मार्ष! प्रज्ञा और स्मृति नाम-रूप ही है। यह पूछता हूँ, बतलाओ, कहाँ यह नाम-रूप निरुद्ध होता है?"

(भगवान्) "अजित! जो तूने यह प्रश्न पूछा, उसे तुझे बतलाता हूँ, जहाँ पर कि सारा नाम-रूप निरुद्ध होता है। विज्ञान के निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।"

पुण्णक-माणव-पुच्छा

(पुण्णक) "हे तृष्णा-रहित मल-दर्शी! मै आपके पास प्रश्न के सहित आया हूँ ...... जिन ऋषियो ने यज्ञ कल्पित किये, क्या वे यज्ञ-पथ मे अ-प्रमादी थे? हे मार्ष! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवान्! तुम्हे यह पूछता हूं, मुझे बताओ।"

(भगवान्) "वे जो हवन करते है, लाभ के लिए ही कामो को जपते है। वे यज्ञ के योग से भव के राग से रक्त हो, जन्म-जरा को पार नही हुए, ऐसा मै कहता हूं।"

(पुण्णक) "हे मार्ष! यदि योग के योग (आसक्ति) से यज्ञो द्वारा जन्म-जरा को पार नही हुए तो हे मार्ष! फिर लोक मे कौन देव-मनुष्य जन्म-जरा को पार हुए, तुम्हे हे भगवन्! मैं पूछता हूँ। मुझे बतलाओ?"

(भगवान्) "लोक मे वार-पार को जान कर, जिसको लोक मे कही भी तृष्णा नही, जो शान्त, धूम-रहित, रागादि-विरत और आशा-रहित है वह जन्म-जरा को पार हो गया—मै कहता हूँ।"

मेत्तगू-माणव पुच्छा

(मेत्तगू) "हे भगवान्! मैं तुम्हे पूछता हूँ, मुझे यह बतलाओ, तुम्हे मैं ज्ञानी (वेदगू-वेदज्ञ) और भावितात्मा समझता हूँ। जो भी लोक मे अनेक प्रकार के दुख है, वे कहाँ से आये है?"

(भगवान्) "दुख की इस उत्पत्ति को पूछते हो। प्रज्ञानुसार मैं उसे तुम्हे कहता हूँ। तृष्णा के कारण ही लोक मे अनेक प्रकार के दुख उत्पन्न होते है।"

धोतक माणव पुच्छा

(धोतक) "हे भगवान! तुम्हे यह पूछता हूँ, महर्ष! तुम्हारा वचन सुनना चाहता हूँ। तुम्हारे निर्घोष को सुन कर मैं अपने निर्वाण को सीखूगा।"

(भगवान) 'तो तत्पर हो स्मृतिमान हो, यहाँ से वचन सुन तुम अपने निर्वाण को सीखो।"

(धोतक) "मैं तुम्हे देव-मनुष्य-लोक म निर्लोभ होकर विहरने वाला ब्राह्मण देखता हूँ। हे समन्तचक्षु! (चारो ओर आँखो वाले) तुम्हे मैं नमस्कार करता हूँ। हे शक्र! मुझे वाद-विवाद से छडाओ।"

(भगवान्) "हे धोतक! लोक मे मैं किसी वाद-विवाद-परायण (कथकथी) को छुडाने नही जाऊँगा। इस प्रकार श्रेष्ठ धर्म को जान कर तुम इस ओघ (भव-सागर) को तर जाओगे।"

(धोतक) "हे ब्रह्म! करुणा कर विवेक-धर्म को मुझे उपदेश करो, जिसके अनुसार मैं यहीं शान्त और विमुक्त हो कर विचरूँ।"

(भगवान्) "धोतक! इसी शरीर मे प्रत्यक्ष धर्म को बतलाता हूँ, जिसे जान कर, स्मरण कर, आचरण कर, तू लोक मे अशान्ति से तर जायगा।"

कप्प-माणव पुच्छा

(कप्प) "बड़ी भयानक बाढ मे सरोवर के बीच में खडे, मुझे तुम द्वीप (शरण-स्थान) बतलाओ, जिससे यह संसार फिर न हो।"

(भगवान्) "हे कप्प ! तुझे द्वीप बतलाता हूँ। अकिंचनता ही सर्वोत्तम द्वीप है। इसे मैं जरा-मृत्यु-विनाश रूप निर्वाण कहता हूँ[१]।" आदि, आदि।

विमानवत्थु और पेतवत्थु

विमानवत्थु (विमानवस्तु) का अर्थ है विमानों या देव-आवासों की कथाएँ। इसी प्रकार पेतवत्थु का अर्थ है प्रेतों की कथाएँ। विमानवत्थु और पेतवत्थु में क्रमश: देवताओं और प्रेतों की कहानियों के द्वारा कर्म-फल के सिद्धान्त का प्राकृत-जनोपयोगी दिग्दर्शन कराया गया है। देवता प्रकाश-रूप हैं। वे सुन्दर आवासों में रहते हैं। स्वर्ग-लोक नाना प्रकार के आमोद-प्रमोदों से पूरित है। इसके विपरीत प्रेत-योनि दुःखमय है। प्रेतों को नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। इस जन्म में जो नाना प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं, उन्हीं के परिणामस्वरूप मृत्यु के उपरान्त क्रमश: देवताओं या प्रेतों की गतियाँ प्राप्त होती हैं, यह दिखाने के लिए ही विमानवत्थु और पेतवत्थु की रचना की गई है। इस प्रकार बौद्ध नैतिकवाद ने यहाँ पौराणिक परिधान ग्रहण कर लिया है। ऐसा लगता है नैतिक प्रयोजन के लिए बौद्धों ने स्वर्ग-नरक मय प्राचीन पौराणिकवाद को स्वीकार कर लिया है। किन्तु स्वर्ग का लक्ष्य उन्होंने गृहस्थ-जनों के लिए ही रक्खा है। भिक्षु का पद इससे बहुत अधिक ऊँचा है। वह तो निर्वाणका अभिलाषी है। स्वर्ग-लोक भी उसके लिए एक बन्धन है, कामनाओं की तृप्ति का ही एक साधन है। वह तो कामनाओं से ऊपर उठ कर, मनुष्य और देवता सब का ही अनुशासक है। अतः यह ठीक ही है कि किसी भी भिक्षु को शुभ कर्म के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते 'विमानवत्थु' में नहीं दिखाया गया। केवल सद्गृहस्थ ही शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं और वहाँ नाना प्रकार के रमण, क्रीड़ा दिव्य माल्य-धारण आदि का उपभोग करते हैं। विमानवत्थु[२] में ८५ देव-आवासों

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७३-३८४ में अनुवादित।
२. देवनागरी लिपि में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०)

(विमानों) का वर्णन है, जिन्हें सात वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग का नाम 'पीठ वग्ग' है। इसमें १७ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार शेष ६ वर्गों में जिनके नाम क्रमशः 'चित्तलता वग्ग', 'पारिच्छत्तक वग्ग', 'मञ्जेट्ठ वग्ग', 'महारथ वग्ग', 'पायासि वग्ग' और 'सुनिक्खित्त वग्ग' हैं, क्रमशः ११, १०, १२, १४, १० और ११ देव-निवासो का वर्णन किया गया है। केवल नाम और थोडे से आमोद-प्रमोदों को छोड कर प्राय: प्रत्येक देव-आवास के वर्णन की शैली और मूल भावना एक ही है। कोई देवता किसी आवास-विशेष में आमोद-प्रमोद करता हुआ दिखाई पडता है। उसे देख कर कोई भिक्षु (मोग्गल्लान) उससे पूछता है "हे देवते! तू सुन्दर वर्ण से युक्त है। अपने शुभ्र वर्ण से तू शुक्र-तारा के समान सारी दिशाओ को आलोकित कर रहा है। मनुष्यो को प्रिय लगने वाले सारे भोग तुझे प्राप्त हैं। हे महानुभाव देवते! मैं तुझसे पूछता हूँ—मनुष्य होते हुए तूने क्या पुण्य किया था जिसके फलस्वरूप तुझे ये सब भोग मिले—"पुच्छामि त देवि महानुभावे मनुस्सभूता किमकासि पुञ्ञ......यस्स कम्मस्सिदं फलं।" देवता प्रसन्न हो कर अपने मनुष्य रूप मे किए हुए पुण्यादि का वर्णन करता है—"महानुभाव भिक्षु! सुन, मैं तुझे अपने मनुष्य-रूप में किए हुए पुण्य को बतलाता हूँ। प्राण-हिंसा से विरत, मृषावाद से विरत, सयत, सदा शील से संवृत हो कर मैं चक्षुष्मान्, यशस्वी, गोतम का उपासक था...... इसी कारण मेरा यह शुभ्र वर्ण है। इसी कारण मैं दिशाओ को आलोकित कर रहा हूँ।" सब वर्णनो की प्राय: यही बानगी है। बौद्ध धर्म में जन-साधारण के लिए जिस नीति-विधान का आदर्श रक्खा गया है उसी का दिग्दर्शन ये करते हैं। अधिक काव्यमय नवीनता इनमें न होते हुए भी वे केवल उन नैतिक गुणों को जिन्हें बौद्ध धर्म में सद्गृहस्थों के लिए साधारणतः आचरणीय माना गया है, बार बार हमारी स्मृति में अङ्कित करने का प्रयत्न करते हैं। आज इससे अधिक विमानवत्थु के वर्णनों का महत्व हमारे लिए नहीं माना जा सकता। उसकी पौराणिक पृष्ठभूमि तो निश्चय ही बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास की सूचक है, अतः उसे बुद्ध-शासन का उतना आवश्यक अंग मानने की गलती नहीं करनी चाहिए। काव्यात्मक गुण भी उसके अन्दर अधिक नहीं है। 'पेतवत्थु' में ५० प्रेतो की कहानियाँ हैं, जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है, यथा (१) पेतवत्थु,

(२) उरग पेतवत्थु, (३) उब्बरी पेतवत्थु और (४) धातु विवण्ण पेतवत्थु। 'पेतवत्थु' मे प्रेतो की कहानियों के द्वारा यह दिखाया गया है कि किस किस दुष्कर्म के कारण परलोक मे क्या क्या दुःख भोगने पडते हैं। उदाहरण के लिए एक भिक्षु की कथा देखिए। भिक्षु नारद किसी प्रेत मे पूछते हैं—"तेरी सम्पूर्ण काया शुभ्र है। तू सारी दिशाओ को अपने कान्त वर्ण से आलोकित भी कर रहा है। किन्तु तेरा मुख शूकर का है। तूने पूर्व जन्म में क्या कर्म किया था ?"[१] प्रेत उत्तर देता है "नारद ! मै काया से सयत था, किन्तु वाणी से असयत था। इसी लिये नारद ! मेरा यह ऐसी अवस्था है जिसे तू देखता है। हे नारद ! जैसा तुमने स्वय देखा है, मै भी तुम्हें कहता हूँ--मुख से पाप न करना, ताकि तुम्हे भी कहीं शूकर के मुख वाला न होना पडे।"[२] इस प्रकार शुभ कर्म का परिणाम मरने के बाद शुभ और अशुभ कर्म का अशुभ होना है, इसी नैतिक सत्य को क्रमश. 'विमानवत्थु' और 'पेतवत्थु' मे दिखलाया गया है।

थेरगाथा[३] और थेरीगाथा[४]

थेरगाथा और थेरीगाथा खुद्दक-निकाय के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन दो ग्रन्थो मे क्रमश बुद्धकालीन भिक्षु और भिक्षुणियो के पद्य-बद्ध जीवन-संस्मरण है।

---

१. कायो ते सब्बसोवण्णो सब्बा ओभाससे दिसा। मुखं ते सूकरास्स एव किं कम्मं अकरी पुरे।

२. कायेन सञ्ञतो आसिं वाचा आसिं असञ्ञतो। तेन मे तादिसो वण्णो यथा पस्ससि नारद।

तं त्याहं नारद ब्रूमि सामं दिट्ठं इदं तया। मा कासि मुखसा पापं मा खो सूकर-मुखो अहू ति। पेतवत्थु (खेत्तूपमा पेतवत्थु)

३, ४. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन देवनागरी लिपि में किया है जिसे भिक्षु उत्तम ने बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०) में प्रकाशित किया है। प्रोफेसर भागवत ने भी थेरीगाथा का सम्पादन नागरी लिपि में किया है, जिसे बम्बई विश्व विद्यालय ने सन् १९३७ में प्रकाशित किया है। 'थेरीगाथा'

थेरगाथा में २५५ भिक्षुओ के उद्गार है, जब कि थेरीगाथा मे ७३ भिक्षुणियो के। थेरगाथा मे १२७९ गाथाएँ (पद्य) हैं जो २१ निपातों (वर्गों) मे विभक्त हैं। थेरीगाथा में ५२२ गाथाएँ हे जो १६ निपातो में विभक्त हे। वास्तव में थेरगाथा से थेरीगाथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है क्योकि यहाँ भिक्षुणियो की आत्मीयता और यथार्थवादिता अधिक स्पष्ट झलकती है। थेरगाथा में अन्तर्जगत् के अनुभवो की बहुलता है जबकि थेरीगाथा मे वैयक्तिक ध्वनि प्रधान है। थेरगाथा में सुरम्य प्राकृतिक वर्णनो की अधिकता हैं। भिक्षुओ के ध्यान के प्रसग मे ये वर्णन वहाँ स्वभावत आ गए हे। किन्तु भिक्षुणियो ने अपने जीवन की वास्तविक परिस्थितियो पर ही अधिक पर्यवेक्षण किया है। दोनो के ही उदगारो मे जीवन के करुण पक्ष के अनभव की अधिक अभिव्यक्ति है। फिर भी वहाँ निराशा नही है। बुद्ध-शासन का अवलम्बन पा कर दोना ने ही उस गभीर और शान्त सुख का स्पर्श किया है जो जीवन की विषमताओ और कटुताओ को घोल डालता है और उन पर मनुष्य की विजय का सचक बनता है। किसी किसी भिक्षु के शब्दो मे नारी के प्रति विरक्त भाव भी है। इसी प्रकार किसी किसी भिक्षुणी ने पुरुष के द्वारा उस पर किय गए अत्याचार का भी दु खपवक स्मरण किया है। मानव-जीवन की ये सामान्य विषमताएँ है। इनस हमे किसी विशेष सिद्धान्त को यहाँ निकालने का प्रयत्न नही करना चाहिए। अब हम थेर और थेरी गाथाओ से कुछ उद्धरण दे कर उनकी विषय-वस्तु की विशेषताओ को स्पष्ट करेगे। स्थविर आतुम अपने अनुभव का वर्णन करते हुए कहते है—मैंने वृद्ध दु खी, व्याधि से मारे हुए, समाप्त आयु-सस्कार वाले, पुरुष को इन आँखो से देखा। बस इन (दु खो) से निष्क्रमण पाने के लिए मैंने सारे मनोरम भोगो को छोड कर प्रव्रज्या ले ली[1]।" स्थविर वल्लिय का अनुभव भी मार्मिक है "मेरे बाल बनाने के लिए नाई मेरे पास आया।

का अनुवाद (परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों के सहित, लेखक ने किया है, जो सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हो चुका है)।

१. जिण्णञ्च दिस्वा दुक्खितञ्च ब्याधितं मतञ्च दिस्वा गतमायुसंखयं। ततो अहं निक्खमितून पब्बजिं पहाय कामानि मनोरमानि ॥गाथा ७३

उसके हाथ से दर्पण ले कर मैं अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण करने लगा। काया की तुच्छता को मैंने देखा। मेरा अन्धकार वहीं विदीर्ण हो गया! अहंकार का वस्त्र फाड डाला गया। सारे आवरणों से मैं अब विमुक्त हो गया! अब मेरे लिए पुनर्जन्म होना नहीं है।"[1] एक विषयी पुरुष बुद्ध-शासन को सुन कर किस प्रकार प्रव्रजित हो गया है, यह स्थविर किम्बिल के शब्दों में सुनिये, "बुरे चिन्तन में लगा हुआ मैं पहले इस काया के शृंगार-साधन में लगा रहता था। मैं उद्धत था, चपल था, एवं काम-वासना से बुरी तरह व्यथित था। सौभाग्यवश आदित्य-बन्धु भगवान् बुद्ध ने, जो मेरे जैसों का उपाय करने में कुशल हैं, अपने उपदेश से मुझे सत्पथ पर लगा दिया। अब संसार से मेरा चित्त अनासक्त हो चुका है।"[2] स्थविर नन्द का गम्भीर अनासक्त भाव देखिये "चित्त समाधि-मग्न नहीं है और दूसरे इसकी प्रशंसा करते हैं। यदि चित्त समाधि-मग्न नहीं है तो दूसरों की प्रशंसा व्यर्थ ही है। चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है और दूसरे इसकी निन्दा करते हैं। यदि चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है तो दूसरे की निन्दा व्यर्थ ही है।"[3]

वस्तुतः 'थेरगाथा' की दो बड़ी विशेषताएँ हैं भिक्षुओं के आन्तरिक अनुभव का वर्णन और उनका प्रकृति-दर्शन। भिक्षुओं ने संस्कारों की अनित्यता को देख कर सांसारिक जीवन से वैराग्य लिया है। चित्त की शान्ति ही उनके लिए सब से बड़ा सुख है। जीवन के प्रति न उनमें उत्सुकता है और न विषादमय दृष्टिकोण।

---

१. केसे मे ओलिखिस्सन्ति कप्पको उपसंकमि। ततो आदासं आदाय सरीरं पच्च-वेक्खिस। तुच्छो कायो अदिसित्थ, अन्धकारे तमो व्यगा। सब्बे चोला समुच्छिन्ना नत्थि दानि पुनब्भवो' ति"॥ गाथाएँ १६९-१७०

२. अयोनिसोमनसीकारा मण्डनं अनुयुञ्जिसं। उद्धतो चपलो चासिं कामरागेन अट्टितो। उपायकुसलेनाहं बुद्धेनादिच्चबन्धुना। योनिसो पटिपज्जित्वा भवे चित्तं उदब्बहिन्ति॥ गाथाएँ १५७-१५८

३. परे च नं पसंसन्ति अत्ता चे असमाहितो। मोघं परे पसंसन्ति अत्ता हि असमाहितो॥

परे च न गरहन्ति अत्ता चे सुसमाहितो। मोघं परे गरहन्ति अत्ता हि सुसमाहितो॥ गाथाएँ १५९-१६०

वे केवल शान्त और गम्भीर हैं। अनासक्ति उनके जीवन का मुख्य लक्षण है। जिन्होंने विषयों को वमन के समान छोड़ दिया है, सुख-दुःख जिनके लिए अर्थहीन हो गए हैं, शीत और उष्ण जिनके लिए समान हैं, ऐसे साधकों की मानसिक दशाओं का वर्णन ही हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। भिक्षु-जीवन के आदर्श को धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों में व्यक्त करते हुए अपने विषय में कहा है —

> **नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं ।**
> **कालञ्च पटिकङ्खामि सम्पजानो पटिस्सतो ॥**
> **नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं ।**
> **कालञ्च पटिकङ्खामि निब्बिसं भतको यथा ॥**[1]

(न मुझे मरने की इच्छा है न जीने की अभिलाषा। ज्ञान पूर्वक सावधान हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। काम करनेके बाद अपनी मजूरी पाने की प्रतीक्षा करने वाले दास के समान मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ)

धर्मसेनापति सारिपुत्र के परिनिर्वाण पर महामोग्गल्लान स्थविर ने संस्कारों की अनित्यता पर जो भाव प्रकट किए हैं वे भगवान के उन महाशिष्य के हृदय के अन्तस्तल तक हमें ले जाते हैं। 'अनिच्चा वत सखारा' का उद्‌गार करते हुए महा-मोग्गल्लान स्थविर कहते हैं—

> **तदासि यं भिंसनकं तदासि लोमहंसनं ।**
> **अनेकाकारसम्पन्ने सारिपुत्तम्हि निब्बुते ॥**[2]

यह भीषण हुआ, यह रोमांचकारी हुआ। अनेक ध्यान-समापत्तियों से सम्पन्न सारिपुत्र परिनिर्वृत्त हो गये।

---

१. गाथाएँ १००२-१००३; स्थविर संकिच्च में भी इन गाथाओं की पुनरावृत्ति की है, गाथाएँ ६०६-६०७ और अंशतः स्थविर निसभ में भी, गाथा १९६; मिलिन्दप्रश्न में भी इन गाथाओं को उद्धृत किया गया है। देखिये मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ५५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

२. गाथाएँ ११५८-११५९ ।

भिक्षुओं ने स्त्री के कामिनी-रूप पर विजय प्राप्त की है। उसके प्रलोभनों में वे नहीं आ सकते, ऐसा उन्होंने प्रमन्नतापूर्वक कहा है।[१] एक अलंकृता, सुवसना, मालाधारिणी, चन्दन लेप किये हुए नर्तकी को महापथ के बीच में नृत्य-गान करते हुए भिक्षु ने देखा है। उसी समय उसने वासना के दुष्परिणाम पर चिन्तन किया है, अशुभ-भावना की है, और इस प्रकार अपने चित्त को विमुक्त किया है।[२] स्त्री के रूपादि की आसक्ति को भिक्षुओं ने सब दुःख का कारण माना है।[३] श्मशान में स्त्री के सड़ते हुए शरीर को कृमि आदि से खाये जाते हुए देख कर उन्होंने उसके अनित्य और अशुभ रूप की भावना की है और सत्य का दर्शन किया है।[४] स्त्री की काया के ही नहीं, उन्होंने अपनी काया के भी अशुभ, तुच्छ रूप

१. सचे पि एत्तका भिय्यो आगमिस्सन्ति इत्थियो ।
नेव मं व्याधयिस्सन्ति धम्मे स्वम्हि पतिट्ठितो ॥ गाथा, १२११

२. अलंकता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा ।
मज्झे महापथे नारी तुरिये नच्चति नट्टकी ॥ गाथा, २६७
. . . .
ततो मे मनसीकारो . .   ततो चित्तं विमुच्चि मे ॥२६९-७०;
मिलाइये गाथाएँ ४५९-४६५ भी जहाँ 'पैरों में महावर लगाये हुए' (अलत्तककता पादा) सुवसना, अलंकृता, स्मित करती हुई वेश्या ने भिक्षु के सामने गृहस्थ-जीवन में प्रवेश का प्रस्ताव रक्खा है 'अहं वित्तं ददामि ते' (मैं तुझे धन देती हूँ) यह कहते हुए, पर भिक्षु के उसे मृत्यु का पाश समझ कर अशुभ की भावना की है और सत्य का साक्षात्कार किया है। "काम-वासना में दुष्परिणाम देख कर मैंने चित्तमल-रहित अवस्था को प्राप्त कर लिया" (कामेस्वादीनवं . . . .पत्तो मे आसवक्खयो—गाथा ४५८); मिलाइये "अंकेन पुत्तमादाय भरिया मं उपागमि. . . . .ततो मे मनसीकारो. . . . . ततो चित्तं विमुच्चि मे", आदि गाथाएँ २९९-३०१ भी

३. इत्थिरूपे इत्थिरसे फोट्ठब्बे पि च इत्थिया । इत्थिगन्धेसु सारत्तो विविधं विन्दते दुखं ॥ गाथा ७३८

४. अपविद्धं सुसानस्मिं खज्जन्तिं किमिही फुटं ।
आतुरं असुचिं पूतिं पस्स कुल्ल समुस्सयं । गाथा ३९३ मिलाइये 'धिरत्थु पूरे

का दर्शन ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए किया है।[1] एक भिक्षु ने हमें बताया है कि भिक्षु होने से पहले वह एक राज-पुरोहित का पुत्र था और जाति-मद और भोग और ऐश्वर्य के मद से मतवाला रहता था किन्तु अब उसका सब मान मद और अस्मिमान छूट चुका है और वह प्रसन्न और शान्त है।[2] इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु ने हमें बताया है कि पहले राजा होते समय किस प्रकार उसके हाथी की ग्रीवाओ मे सूक्ष्म वस्त्र लटकते थे पर वही आज परिग्रह रहित सुख से ध्यान करता है। उच्च मण्डलाकार दृढ अट्टलिकाओ और कोठो मे वह पहले हाथ म खड्ग धारण किये सिपाहियो और पहरदारो द्वारा रक्षित होते हुए भी त्रासपूर्वक सोता था पर आज वही बिना किसी त्रास के सम्पूर्ण भयो से विमुक्त हो कर वन म प्रवेश कर ध्यान करता है।[3] एक दूसरे भिक्षु (शीलव) ने हमे बताया है कि वह पहले नीच कुल म उत्पन्न हुआ था। दरिद्र था और भोजन भी नही पाता था। सूखे फलो को बीन बीन कर वह बेचता था और अपनी जीविका कमाता था। उसका कर्म हीन था। अपने मन को नीचा कर के वह अनेक मनुष्यो की वन्दना करता था। एक दिन भिक्षु-सघ के साथ मगध के उत्तम नगर (राजगृह) मे प्रवेश करते हुए भगवान सम्यक सँम्बुद्ध को उसने देखा। वह आगे

कुणन्धे ' आदि गाथा २७९ तथा गाथा ११५० भी।

१. धम्मावास गहेत्वान ञाणवस्सनपत्तिया। पच्चवेक्खि इम काय तुच्छ सन्तरबाहिरं ॥ गाथा ३९५

२. जातिमदेन मत्तोह भोगैसरियेन च। मानं मदञ्च छड्डेत्वा विप्पसन्नेन चेतसा। अस्मिमानो समुच्छिन्नो सब्बे मानविधा हता ॥४२३-४२८

३. या तं मे हत्थिगीवाय सुखुमा वत्था पधारिता।
सोज्ज भद्दो झायति अनुपदानो
उच्चे मण्डलिपाकारे दल्हमट्टालकोट्ठके।
रक्खितो खग्गहत्थेहि उत्तसं विहरिं पुरे ॥
सोज्ज भद्दो अनुत्रासी पहीनभयभेरवो।
झायति वनमोगहय " ८४२-८६४

बढ़ कर भगवान् की वन्दना करने गया। पुरुषोत्तम (बुद्ध) उस पर कृपा करके स्वय खड़े हो गए। फिर सर्वलोकानुकम्पक कारुणिक शास्ता ने उससे कहा "आ भिक्षु'। यही उसकी उपसम्पता हुई। आज भिक्षु की यह हालत है कि इन्द्र और ब्रह्मा भी आकर अञ्जलि बाँध कर उसको प्रणाम करते हैं।[1] भिक्षुओं के आन्तरिक जीवन का एक अनठा चित्र हमें स्थविर ताल्पुट के आत्मोद्गार में मिलता है। इस भिक्षु ने अपने चित्त को सम्बोधन कर कुछ महनीय उद्गार किए हैं जिनकी तुलना समर्थ रामदास के मनाचश्लोक' और गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के अनेक पदों से अच्छी प्रकार की जा सकती है। वैसे तो तालपुट स्थविर द्वारा उच्चरित सभी गाथाएं (१०९१-११४५) उद्धरणीय हैं परन्तु यहाँ स्थानाभाव से केवल कुछ का उद्धरण ही उपयुक्त होगा। स्थविर तालपुट अपने मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं 'हे चित्त! जैसे फल की इच्छा करने वाला मनुष्य वृक्ष को लगाकर फिर उसकी जड़ को ही तोड़ने की इच्छा कर, उसी प्रकार हे चित्त! मुझको चल और अनित्य इस संसार में लगातार तू वैसा ही करता है।[2] हे चित्त! सर्वत्र ही तो मैंने तेरे वचन को किया है अनेक पूर्व

---

१. नीचे कुलम्हि जातोहं दलिद्दो अप्पभोजनो।
हीनं कम्मं मम आसि अहोसिं पुप्फछड्डको ॥६२

. . . .

नीचं मनं करित्वान वन्दिस्सं बहुकं जनं।६२१
अथ अद्दसासिं सम्बुद्धं भिक्खुसंघपुरक्खतं पविसन्तं महावीरं मगधानं पुरुत्तमं ॥ ६२२
निक्खिपित्वान ब्याभंगिं वन्दितुं उसपसंकमिं।
ममेव अनुकम्पाय अट्ठासि पुरिसुत्तमो ॥६२३
ततो कारुणिको सत्था सब्बलोकानुकम्पको। एहि भिक्खूति मं आह सा मे आसुपसम्पदा ॥६२५

इन्दो ब्रह्मा च आगन्त्वा मं नमस्सिसु पञ्जलि ॥६२८

२. रोपेत्वा रुक्खानि यथा फलेसी मूले तरुं छेत्तु तमेव इच्छसि।
तथूपमं चित्त इदं करोसि य म अनिच्चम्हि चले नियुञ्जसि ॥११२१

जन्मों में भी तो मैंने तुझे कभी कुपित नहीं किया। तू मेरे ही अन्दर से उत्पन्न है, इसलिए कृतज्ञतावश हे चित्त ! मैंने तेरे लिए चिरकाल तक दुःख में संसरण किया है[1] ! हे चित्त ! तू ही ब्राह्मण बनाता है और तू ही क्षत्रिय राजर्षि। हे चित्त ! तेरे ही कारण वैश्य और शूद्र बनते हैं और देवत्व भी पाते हैं तेरे ही कारण! हे चित्त ! तेरे ही कारण असुर बनते हैं नरक-योनियाँ भी तेरे ही कारण हैं। हे चित्त ! पशु-पक्षी की योनियाँ और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है[2]। धिक् ! धिक् ! रे चित्त ! अब तू आगे का क्या करना चाहता है। अब तू मुझे अपना वशवर्ती बना न सकेगा।"[3] यही भिक्षु आगे कामना करता है :—

कदा नु हं दुब्बचनेन वुत्तो ततो निमित्त विमनो न हेस्सं।
अथो पसट्ठो पि ततो निमित्त तुट्ठो न हेस्स तदिद कदा मे ॥[4]

अर्थात्—कब मैं अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदासीन नहीं हूँगा, और इसी प्रकार अपनी प्रशंसा किये जाने पर उसके कारण प्रसन्न भी नहीं हूँगा—क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ? आदि, आदि।

अपने पुत्र भिक्षु को बुद्ध के साथ देखकर एक पिता उसका अभिनन्दन करता है :—

---

१. सब्बत्थ ते चित्त वचो कतं मया बहूसु जातिसु न मे सि कोपितो। अज्झत्त-सम्भवो कतञ्ञुताय ते दुक्खे चिरं संसरितं तया कते ॥११२६

२. तवेव हेतू असुरा भवामसे, त्वं मूलकं नेरयिका भवामसे। अथो तिरच्छान गतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव वाहसा ॥११२८
त्वञ्ञेवनो चित्त करोसि ब्राह्मणो त्वं खत्तिया वापि राजदिसी करोसि।
वेस्सा च सुद्दा च भवाम एकदा, देवत्तनंवापि तवेव वाहसा ॥११२७

३. धी धी परं किं मम चित्त काहसि न ते अलं चित्त वसानुवत्तकी। ११३४;
मिलाइये ..... नाहं अलं तुय्ह वसे निवत्तितुं।११३२

४. गाथा ११००; मिलाइये तुलसीदास "कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।.. ..
"परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो। बिगतमान, सम सीतल मन.. ..." विनय-पत्रिका।

जैसे पर्वत-गुफा में दो सिंह एक दूसरे को देखकर नाद करें, उसी प्रकार दोनों ज्ञानी एक दूसरे का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं :—मार को सेना-सहित जीत कर हम दोनों वीरों ने संग्राम विजय किया है।[1]

अपने प्रव्रजित पुत्र को देखकर माता विलाप करती है। पुत्र उसे समझाता हुआ कहता है —माता ! मृत पुत्र के लिए माता रो सकती है, अथवा उस पुत्र के लिए भी जो जीवित होते हुए भी उसे दिखाई नहीं देता, अनुपस्थित है। माता ! मैं तो जीवित हूँ और तू मुझे सामने देख भी रही है। फिर माता ! मेरे लिए तू रोदन क्यों करे ?

मतं वा अम्म रोदन्ति यो वा जीवं न दिस्सति।
जीवन्तं मं अम्म दिस्सन्ती कस्मा मं अम्म रोदसि ॥[2]

पर्वत-गुफाओं में ध्यान करते हुए अनेक भिक्षुओं के चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। पांशुकूल धारी (गुदड़ी धारी) भिक्षु पर्वत-गुफा में सिंह के समान सुशोभित है—'सोभति पंसुकूलेन सीहो व गिरिगब्भरे'।[3] इसी प्रकार भिक्षु की अचल, ध्यानस्थ अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है : जिस प्रकार सुदृढ़ पर्वत निश्चल और सुप्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार जिस भिक्षु का मोह नष्ट हो चुका है, वह अचल पर्वत के समान कम्पित नहीं होता।

यथापि पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु पब्बतो' व न वेधति ॥[4]

इस प्रकार भिक्षु-जीवन के बाह्य और आन्तरिक रूप के अनेक चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। उनके आन्तरिक अनुभवों और ध्यानी जीवन का पूरा परिचय हमें यहाँ मिलता है।

---

१. नन्दन्ति एवं सप्पञ्ञा सीहा व गिरिगब्भरे।
वीरा विजितसंगामा जेत्वा मारं सवाहनं ॥ गाथा १७७

२. गाथा ४४

३. गाथा १०८१

४. गाथा १०००

भिक्षुओ ने अपनी साधना मे प्रकृति का कितना सहयोग लिया था, इसका भी पूरा दर्शन हमे 'थेरगाथा' मे मिलता है। 'थेरगाथा' में इस प्रकार वन्य और पार्वत्य दृश्यो के तथा वर्षा और शरद् आदि ऋतुओ के जितने सुन्दर, सश्लिष्ट चित्र प्रसगवश आ गये है, वे उसकी एक विभूति बन गये है। 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णन की तुलना भारतीय साहित्य मे केवल वाल्मीकि के इस विषय-सम्बन्धी वर्णनो से की जा सकती है। उसकी उदात्तता, सरलता और सूक्ष्म निरीक्षण सब अद्वितीय है। विन्टरनित्ज ने 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों को 'भारतीय गीति-काव्य के सच्चे रत्न' कहा है[1]। प्रस्तुत लेखक ने 'पालि साहित्य मे प्रकृति-वर्णन' शीर्षक लेख मे पालि साहित्य, विशेषत 'थेरगाथा', मे प्राप्त प्रकृति-वर्णन का विस्तृत विवेचन करते हुए भारतीय काव्य-साहित्य मे उसके स्थान का निर्धारित किया है।[2] अत यहाँ केवल सक्षेप से ही कुछ कहना उपयुक्त होगा।

भिक्षुओं का जीवन प्रकृति स गहरे रूप से सम्बद्ध था। गिरि-गुहा, नदी-तट, वन-प्रस्थ, पुआल-पुज अथवा किसी छाई हुई या बिना छाई हुई ही[3] कुटिया मे ध्यान करते हुए भिक्षुओ को वर्षा, शीत आदि ऋतुओ के परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रगो और रूपो के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। प्रकृति के अनेक रूपो की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैसी होती है, इसके अनेक चित्र वे 'थेरगाथा' मे हमारे लिए छोड गये हैं। उनमे से कुछ का अवलोकन करना यहाँ आवश्यक होगा।

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु अपनी कुटिया मे बैठा है। हा, उसकी कुटिया छाई हुई है। भिक्षु उद्गार करता है —

---

१. "The Real Gems of Indian Lyric Poetry" इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०६

२. धर्मदूत, अप्रेल-मई १९५१

३. वर्षा होने वाली है। भगवान् मही (गंडक) नदी के तट पर खुली कुटिया (विवटा कुटि) में बैठे है। देखिये सुत्त-निपात, गाथा १९ (धनिय-सुत्त)

बरसो देव ! यथासुख बरसो !
मेरी कुटिया छाई हुई है।
(ठंढी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है।
मेरा चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है।
(कामासक्ति से) विमुक्त हो चुका है।
निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है।
बरसो देव ! यथा सुख बरसो ।[1]

एक दूसरे भिक्षु ने इसी अनुभव को इनसे भी अधिक सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
(ठंढी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है !
उसमें शान्त चित्त ध्यानस्थ मैं बैठा हूँ।
बरसो देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो !

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण वह सुखकारी है !
उसमें शान्त चित्त में ध्यान कर रहा हूँ !
वीत राग ! वीत-द्वेष ! वीत मोह !
बरसो देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो ![2]

---

१ छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं ।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवा 'ति । गाथा १

२ वस्सति देवो यथा सुगीतं छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता ।
तस्सं विहरामि वूपसन्तो, अथ चे पत्थयसि पवस्स देव ।।
वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता ।
वीतरागो वीतदोसो वीतमोहो अथ चे
पत्थयसि पवस्स देवा' ति ।। गाथाएँ ३२५-३२९

'वस्सति देवो यथा सुगीतं' (सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !) कैसी सुन्दर उपमा है ! प्राकृतिक सौन्दर्य का कैसा मनोज्ञ प्रत्यक्षीकरण है ! झड़ी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की क्षमता वीतराग भिक्षु में है । पर ध्यान का सुख तो इससे भी बड़ा है :

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन न रति होति तादिसी ।
यथा एकग्गचित्तस्स सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥[1]

(पञ्चविध तूर्यध्वनि (सङ्गीत) से भी वैसा आनन्द प्राप्त नही होता, जैसा एकाग्र चित्त पुरुष का धर्म के सम्यक् दर्शन करने मे उत्पन्न होता है) अत: ध्यान का सुख ही भिक्षु के लिए सब से बड़ा सुख है और प्राकृतिक सौन्दर्य उसके लिए इसी ध्यान का उद्दीपन बनता है ।

वर्षाकाल है । सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, कलँगीधारी मोर अपने सुन्दर मुखों से बोल रहे है । कितनी मधुर है उनकी गर्जन ! विस्तृत पृथ्वी चारो ओर हरियाली से भरी हुई है । सारी सृष्टि जल से व्याप्त है । आकाश मे जल-पूरित कृष्ण मेघ छाये हुए है । ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है । भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त सुचारु रूप से चल रहा है । बुद्ध-शासन के अभ्यास में वह सुन्दर रूप से अप्रमादी है । यदि प्रकृति मे उल्लास और उत्साह है, तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है । उसे भी उत्साह होता है अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम, अच्युत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार करने के लिए । वर्षाकालीन सौन्दर्य के बीच ध्यानस्थ भिक्षु के इस पराक्रम को देखिये :—

नन्दन्ति मोरा सुसिखा सुपेखुणा सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो ।
सुसद्दला चापि महा मही अयं सुब्यापितम्बु सुवलाहकं नभं ॥
सुकल्लरूपो सुमनस्स झायितं सुनिक्खमो साधु सुबुद्धसासने ।
सुसुक्कसुक्कं निपुणं सुदुद्दसं फुसाहितं उत्तममच्चुतपदं ॥[2]

छतके नीचे बैठे हुए, मित्र परिजनादि से घिरे हुए, सासारिक मनुष्यके समान वर्षा का सौन्दर्य केवल दूर से अवलोकन करने की वस्तु भिक्षु के लिए नही थी ।

---

१. गाथा ३९८, मिलाइये गाथा १०७१
२. गाथाएँ २११-२१२

उसके लिए वर्षा अपने सम्पूर्ण आकर्षण और भय के साथ ही आती थी। उसके रौद्र रूप का भी वह उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करता था जैसे उसके मधुर गीत के समान स्रवित होने का। अकेला ध्यानस्थ भिक्षु भयकर गुफा मे बैठा है। बादल बरस रहा है और आकाश मे गडगडा रहा है। भयकर मूसलाधार वर्षा और आकाश मे निरन्तर बिजली की गड़गडाहट! पर भिक्षु को भय कहाँ? निर्भयता उसका स्वभाव है, उसकी 'धम्मता' है। अत उसे न भय है, न स्तम्भ है और न रोमाच! स्थविर सम्बुल कच्चान के अनुभव को उनके शब्दों मे ही सुनिये

> देवो च वस्सति देवो च गळगळायति
> एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।
> तस्स मय्हं एककस्स भेरवे बिले विहरतो
> नत्थि भयं वा छम्भितत्त वा लोमहंसो वा।।
> धम्मता ममेसा यस्स मे एककस्स
> भेरवे बिले विहरतो नत्थि भयं वा
> छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा।।[1]

भिक्षुओं की वृत्ति वर्षाकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य और विशेषत ध्यान के लिए उसकी उपयुक्तता पर बहुत रमी है। सुन्दर ग्रीवा वाले मोरों का बोलना और एक दूसरे को बुलाना भिक्षुओ के लिए ध्यान का निमत्रण है। शीत वायु में कलित विहार करते हुए मोर भिक्षु को ध्यान के लिए उद्बोधन करते है :

> नीला सुगीवा मोरा कारवियं अभिनदन्ति।
> ते सीतवातकलिता सुत्तं झायं निबोधेन्ति।।[2]

इसी प्रकार सप्पक स्थविर का भी वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर ध्यान के लिए बैठ जाना एक पवित्रताकारी वस्तु है। महास्थविर अपने

---

१. गाथाएँ १८९-१९०; निर्भयता-विहार के लिए देखिये स्थविर न्यग्रोध का का उद्गार भी "नाहं भयस्स भायामि सत्था नो अमतस्स कोविदो। यत्थ भयं नावतिट्ठति तेन मग्गेन वजन्ति भिक्खवो ।। गाथा २१

२. गाथा २२

प्रकृति-प्रेम और उससे उत्पन्न ध्यान की इच्छा का वर्णन करते हुए कहते हैं —

जब स्वच्छ पाडुर पख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहो की खोज करते हुए उडते हैं। उस समय बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

जब स्वच्छ पाडुर पख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत हुए अपनी खोहो की खोज करते हुए उडते हैं,

और उनकी खोहे वर्षा के अन्धकार से ढँकी हुई है ! उस समय बाढ मे शब्द करती हुई यह नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

इस नदी के दोनों ओर जामुन के पेड है, वहाँ मेरा मन कैसे न रमेगा ? महामार्ग के पीछे, नदी के किनारे पर अन्य अनेक निर्झरिणियाँ सुशोभित हैं। जगे हुए मेढक मृदुल नाद कर रहे हैं।

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है।

बाढ़ मे शब्द करती हुई यह नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है ! मै यहाँ ध्यान करूँगा।[1]

'नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो' (आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है) इस उद्गार मे भिक्षु ने प्रकृति-प्रेम की उस पूरी निष्ठा को रख दिया है, जो आज तक विश्व-साहित्य मे कही भी व्यक्त हुई है।

---

१ यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसति लेन मलेन दस्सिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
कन्नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहिं, सोभेन्ति आपगा कूलं महालेनस्स पच्छतो॥
तामतमदसंघसुप्पहीना भेका मन्दवती पनादयन्ति
नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो,
खेमा अजकरणी सिवा सुरम्मा ति॥ गाथाएँ, ३०७-३१०

उस सुपुष्पित शीत वन मे, गिरि और कन्दराओं में,
कब मैं अकेला चंक्रमण करूँगा।
अकेला, बिना साथी के, उस रमणीय महावन मे,
एकान्त, शीतल, पुष्पो से आच्छादित पर्वत पर,
विमुक्ति-सुख से सुखी, मैं गिरिव्रज मे कब विचरण करूँगा ![1]

एक दूसरे स्थविर (तालपुट) की भी इस इच्छा को देखिये :

कब मैं अकेला, बिना किसी साथी के, (गिरिव्रज के) पर्वत-कन्दराओं में ध्यान करता हुआ विचरूँगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेगे ?[2]

कब मै एकान्त वन में विदर्शना भावना का अभ्यास करता हुआ निर्भय विचरूँगा। क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयँगे ?[3]

कब मै वन के उन मार्गो पर जिन पर ऋषि (बुद्ध) चले, चलता हूँगा, और वर्षा काल के मेघ नये जल की वृष्टि सचीवर मुझ पर करते होगे ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेगे ?[4]

कब मै वन और गिरिगुहाओ मे कलँगीधारी मयर पक्षियो की मधुर ध्वनि

---

१. हन्द एको गमिस्सामि अरञ्ञं बुद्धवण्णितं। गाथा ५३८
योगिपीतिकरं रम्मं मत्तकुञ्जरसेवितं।५३९
सुपुप्फिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे।
..........चंकमिस्सामि एकको ॥५४०
एकाकियो अदुतियो रमणीये महावने।५४१
चिन्ने कुसुमसञ्छन्ने पब्भारे नून सीतले।
विमुत्तिसुखेन सुखितो रमिस्सामि गिरिब्बजे ॥५४५

२. कदा नु हं पब्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्सं।.........तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति ॥१०९१

३. विपस्समानो वीतभयो विहस्सं एको वने तं नु कदा भविस्सति ॥१०९२

४. कदा नु मं पावुसकालमेघो नवेन तोयेन सचीवरं मे। इसिप्पयातम्हि पथे वजन्तं ओवस्सते, तं नु कदा भविस्सति ॥११०२

को सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए जागरूक होकर ध्यान करूँगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[१]

फिर अपने मन को सम्बोधन कर भिक्षु कहता है :

हे चित्त ! उस गिरिव्रज में अनेक विचित्र और रंग बिरंगे पंखधारी पक्षी हैं। सुन्दर नीली ग्रीवा वाले मोर हैं। (इन्द्र के घोष को सुनकर उनका अभिनन्दन करते हुए) वे नित्य ही मंजुल ध्वनि करते हैं। हे चित्त ! जब तू ध्यानी होकर वहाँ विचरेगा तो ये तुझे कितने प्रीतिकर होंगे ![२]

नये वर्षाजल से सिक्त कानन में, किसी गुहा-गृह में ध्यान लगाते हुए[३] . . . मयूर और क्रौंच के रव से पूरित उस वन में, हाथी और व्याघ्रों के सामने बसते हुए,[४] हे चित्त ! तुझ ध्यानी को ये कितने प्रीतिकर होंगे ![५]

एक दूसरे ध्यानी भिक्षु को भी पर्वत कितने प्रिय हैं।

करेरि-वृक्षों की पंक्तियों से आपूर्ण, मनोरम भूमिभाग वाले
कुंजरों से अभिरुद्ध, रमणीय—वे पर्वत मुझे प्रिय हैं।
नीले आकाश के समान वर्ण वाले, सुन्दर, शीतल जल
से परिपूर्ण, पवित्रताकारी

. . . .

हाथियों के शब्दों से परिपूर्ण—वे पर्वत मुझे प्रिय हैं !
मुझ ध्यानेच्छु, आत्मसंयमी, स्मृतिमान् भिक्षु के लिये पर्याप्त,
मृग समूहों से सेवित।

---

१. कदा मयूरस्स सिखण्डिनो वने दिजस्स सुत्वा गिरिगब्भरे रुतं। पच्चुट्ठहित्वा अमतस्स पत्तिया संचिन्तये तं नु कदा भविस्सति ॥११०३

२ सुनीलगीवा सुसिखा सुपेखुणा सुचित्तपत्तच्छदना विहंगमा। सुमञ्जुघोसत्थनिताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं ॥११३६

३. नवाम्बुना पावुससित्तकानने तहिं गुहागेहगतो रमिस्ससि। ११३५

४. मयूरकोञ्चाभिरुदम्हि कानने दीपीहि ब्यग्घेहि पुरक्खतो वसं। ११११

५. ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं।११३६ आदि

अनक पक्षि समूहो से आकीण---वे पवत मुझ प्रिय हैं[1] ।

शीतकाल का पूरा अनभव लेते हुए भी ध्यानी भिक्षुओ को हम थरगाथा' म देखते ह

हेमन्त की शीतल बाढ़ रात्रि है ।

खाड़ को भी पार करने वाली मन को भी विदीण करने वाली ठढी हवा ह ।

भिक्ष ! तू कैसे करेगा ?

मन सना है मगध निवासी लाग शस्या की पूणता मे सम्पन्न ह । उनका जीवन सखी ह । म भी उनके समान सख अनभव करता हूँ ।

रात की यह रात म इस पुआल-पज म लेटकर बिताऊगा ।[2]

इसी प्रकार एक दूसरे भिक्ष न चारा ओर मनोरम द्रुम फले हुए ह (दुमानि फ लानि मनोरमानि---गाथा ५२८) आदि रूप से वसन्त ऋतु का वर्णन कर[3] काओ इतो पक्कमनाय वीर (हे वीर ! यह प्रक्रमण करने का समय है) इस प्रकार ध्यानमयी प्रेरणा दी है ।

भगवान न मध्य रात्रि म उठ कर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का

---

१ करेरिमालावितता भूमिभागा मनोरमा। कुञ्जराभिरुद्धा ते सला रमयन्ति म ॥१०६२

नीलब्भवण्णा रुचिरा वारिसीता सुचिन्धरा।१०६३

वारणाभिरुदा ते सेला [illegible]यन्ति मं॥१०६४

अलं झायितुकामस्स पहितत्तस्स मे सतो।१०६६

मिगसंघनिसेविता ।

नानादिजगणाकिण्णा ते सेला रमयन्ति मं॥१०६९

२ [illegible] चिरभद्दक हेमन्तिक सीतकालरत्तियो भिक्खु त्वं सि कथं करिस्ससि ॥सम्पन्नसस्सा मगधा केवला इति मे सुतं। पलालच्छन्नको सेय्य यथञ्ञे सुखजीविनो ॥२०७--२०८

३ वसन्त ऋतु के सुन्दर वर्णन के लिए देखिये थेरीगाथा, गाथाएँ ३७१-३७२ आदि भी।

आदेश दिया है। भिक्षु की रात्रि ध्यान करने के लिए है। एक भिक्षु का कहना है :

न ताव सुपितं होति रत्ति नक्खत्तमालिनी।
पटिजग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता॥[1]

यह ताराओं से भरी रात सोने के लिए नहीं है। ज्ञानी के लिए यह रात जाग कर ध्यान करने के लिए है।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि विशेषत वन्य और पार्वत्य प्रकृति के अनेक सुन्दर संश्लिष्ट चित्र हमे 'थेरगाथा' मे मिलते है। वेस्सन्तर जातक (संख्या ५४७) मे भी हमें ऐसे अनेक चित्र मिलते है। महर्षि वाल्मीकि को छोड़कर ऐसे सश्लिष्ट वर्णन किसी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय कवि ने नही किये है। जितना शम और विराग इन प्राकृतिक वर्णनो मे 'थेरगाथा' मे मिलता है, उतना अन्य किसी काव्य में नही । विश्व-साहित्य मे प्रकृति का वर्णन अधिकतर कवियों ने राग के उद्दीपन की दृष्टि से ही किया है। वाल्मीकि के समान उदात्त वर्णन करने वाले कवि बहुत कम है। हिन्दी के कवियों ने प्राय सस्कृत के उत्तर-कालीन कवियो का अनुसरण कर प्रकृति को शृंगार रस के उद्दीपन के रूप मे ही चित्रित किया है। आधुनिक कवि और साधको को वाल्मीकि की ओर देखने के साथ-साथ रागशमनकारी 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनो की ओर भी देखना चाहिये।

'थेरीगाथा', जैसा अभी कहा गया, ५२२ पालि श्लोको (गाथाओं) का संग्रह है जिसमें ७३ बुद्ध बौद्ध भिक्षुणियो के उद्गार सङ्कलित है। अत्यन्त सगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यञ्जनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन-काव्य को गाया है। नैतिक सच्चाई, भावनाओं की गहनता और सब से बढ़कर एक अपराजित वैयक्तिक ध्वनि, इन गीतों की मुख्य विशेषताएँ है। निर्वाण की परम शान्ति से भिक्षुणियों के उद्गारो का एक एक शब्द उच्छ्वसित है। यहाँ संगीत

---

१. गाथा १९३

२. मिलाइये, "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" गीता २।६९

भी हैं और जीवन का सच्चा दर्शन भी। निर्वाण की परम शान्ति का वर्णन करते हुए भिक्षुणियाँ कभी थकती नहीं। जीवन की विषमताओं पर वे अपनी विजय का ही गीत गाती हैं। "अहो! मैं कितनी सुखी हूँ!" यही उनके उद्गारों की प्रतिनिधि ध्वनि है। बार बार उनका यही प्रसन्न उद्गार होता है "सीतिभूतम्हि निब्बुता" अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर मैं परम शान्त हो गई, निर्वाण की परम-शान्ति का मैंने साक्षात्कार कर लिया। भिक्षुणियों की गाथाओं में निराशावाद का निराकरण है, साधनालब्ध इन्द्रियातीत सुख का साक्ष्य है और नैतिक ध्येयवाद की प्रतिष्ठा है। बुद्ध-शासन की भावना से ओतप्रोत है, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं। 'थेरीगाथा' की भावना-शैली से परिचित होने के लिये महाप्रजापती गोतमी की भगवान् बुद्ध के प्रति यह श्रद्धाञ्जलि देखिये—

हे बुद्ध! हे वीर! हे सर्वोत्तम प्राणी! तुम्हें नमस्कार!
जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा।
मेरे सब दुःख दूर हो गये, उनके मूल कारण वासना का भी उच्छेदन कर दिया गया!
आज मैंने दुःखनिरोध-गामी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में विचरण किया।
माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्व जन्मों में अनेक बार बनती रही!
यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मैं लगातार संसार में घूमती रही! अब मैंने इस जन्म में उन भगवान् (बुद्ध) के दर्शन किये, मुझे अनुभव हुआ—यह मेरा अन्तिम शरीर है!
मेरा आवागमन क्षीण हो गया, अब मेरा फिर जन्म होना नहीं है।
....

बहुतों के हित के लिये ही महामाया ने गोतम को जाना!
जिसने व्याधि और मरण से आकुल जन-समूह के दुःख-पुंज को काट दिया!

एक अन्य भिक्षुणी (चन्दा) अपने पूर्व के दुःख-मय जीवन का प्रत्यवेक्षण करती हुई कहती है—

विधवा और निःसन्तान—मैं पहले बड़ी मुसीबत में पड़ी थी,
मित्र-साथी मेरे कोई नहीं थे, जाति-बन्धु मेरे कोई नहीं थे!
भोजन और वस्त्र भी मैं नहीं पाती थी!

लकड़ी और भिक्षापात्र लेकर घर से घर भिक्षा माँगती फिरती थी,
गर्मी और सर्दी से व्याकुल हुई, मैं सात वर्ष तक इसी प्रकार घूमती रही,
एक दिन एक भिक्षुणी के दर्शन मुझे हुए,
उसने आदरपूर्वक भोजन और जल देकर मुझे अनुगृहीत किया,
फिर मैंने उसके पास जाकर प्रार्थना की--
मैं प्रव्रज्या लूँगी।
उस दयामयी पटाचारा ने मुझे अनुकम्पापूर्वक प्रव्रज्या दी।
फिर मुझे धर्मोपदेश देकर उसने मुझे परमार्थ में लगाया।
उसके उपदेश को सुनने के बाद मैंने उसके अनुशासन को पूरा किया।
अहो! अमोघ था देवी का उपदेश!
मैं आज तीनों विद्याओं को जानने वाली हूँ, सम्पूर्ण चित्त-मलों से रहित हूँ!'

पटाचारा भिक्षुणी की शिष्या तीस भिक्षुणियां किस प्रकार उसके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करती है, यह उनके उद्गारों से देखिये--

"लोग मूसलों से अन्न कूट कूट कर वित्तार्जन करने और अपने स्त्री-पुत्रादि का पालन करते हैं।'
तो फिर तुम भी बुद्ध-शासन को पूरा क्यों नहीं करती,
जिसे कर के पछताना नहीं होता!
अभी शीघ्र पैर धोकर बैठ जाओ,
चित्त की एकाग्रता से युक्त होकर बुद्ध-शासन को पूरा करो।"

पटाचारा के शासन के उन इन शब्दों को सुनकर हम सब पैर धोकर एकान्त में ध्यान के लिये बैठ गई।
चित्त की समाधि से युक्त होकर हमने बुद्ध-शासन को पूरा किया?
रात्रि के प्रथम याम में हमने पूर्व-जन्मों का स्मरण किया!
रात्रि के मध्यम भाग में हम ने दिव्य चक्षुओं को विशोधित किया! रात्रि के अन्तिम भाग में अन्धकार-पुंज को विनष्ट कर दिया।

भिक्षुणी अम्बपाली ने अपनी वृद्धावस्था में अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण कर जो उद्गार किये हैं, वे तो पालि-काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही हैं। अम्बपाली अपने जीर्ण शरीर को देख कर कहती है--

किसी समय भौंरे के समान कृष्ण वर्ण और घना मेरा केशपाश और सघन उपवन सी मेरी यह वेणी, पुष्पाभरणो और स्वर्णालकारों से सुरभित और सुशोभित रहा करती थी, वही आज जरावस्था में श्वेत, गन्धपूर्ण, बिखरी हुई, जीर्ण सन के वस्त्रों जैसी झर रही है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन मिथ्या नहीं होते !

गाढ नील मणियों से समुज्ज्वल, ज्योतिपूर्ण नेत्र आज शोभा विहीन है।

नवयौवन के समय सुदीर्घ नासिका, कर्णद्वय और कदली-मुकुल के सदृश पूर्व की दन्तपंक्ति क्रमश ढुलकती और भग्न होती जा रही है।

वनवासिनी कोकिला के समान मेरा मधुर स्वर और चिकने शख की भाँति सुघड ग्रीवा आज कम्पित हो रही है।

स्वर्ण-मडित उँगलियाँ आज अशक्त एव मेरे उन्नत स्तन आज ढुलकते शुष्क चर्म मात्र हैं।

स्वर्ण नूपुरो से सुशोभित पैरों और कटि-प्रदेश की गति आज श्री-विहीन है। आदि

प्राय. सभी भिक्षुणियों के उद्गारों में काव्यगत विशेषताएँ भरी पडी है, जिनका विवेचन यहाँ नही किया जा सकता। निश्चय ही भिक्षुणियों के उद्गारो की मार्मिकता और उनकी शान्त, गम्भीर ध्वनि भारतीय साहित्य में अद्वितीय है और पालि-काव्य की तो वह अमूल्य सम्पत्ति ही है। जिन ७३ भिक्षुणियों के उद्गार 'थेरीगाथा' में सन्निहित है, वे सभी बुद्धकालीन हैं। बल्कि यों कहना चाहिये, वे सभी भगवान् बुद्ध की शिष्याएँ हैं। नारी जाति के प्रति भगवान् की कितनी अनुकम्पा थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि उनमें से अनेक अपने को 'बुद्ध की हृदय से उत्पन्न कन्या' (ओरसा धीता बुद्धस्स) कह कर अभिनन्दित करती थी[1]। वे मानती थीं कि 'जब चित्त सुसमाहित है, तो स्त्री-भाव इसमे हमारा क्या करेगा (इत्थिभावो नो

---

१. देखिये गाथाएँ ४६ एवं ३३६

कि कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते (गाथा ६१)। फलतः निर्वाण-प्राप्ति में उनका अधिकार था और उसे प्राप्त भी उन्होंने किया था, जिसके साक्ष्य-स्वरूप उन्होंने अपने उद्गार भी किये हैं। महाराज शुद्धोदन की मृत्यु के उपरान्त भगवान् बुद्ध ने अपनी विमाता महाप्रजापती गोतमी को भिक्षुणी होने की अनुमति दे दी थी। उसके साथ पाँच सौ अन्य शाक्य-महिलाएँ भी प्रव्रजित हुई थी। कालान्तर मे भिक्षुणियो का एक अलग सघ ही बन गया था और नाना कुलो और नाना जीवन की अवस्थाओ मे प्रव्रजित होकर उन्होंने शाक्य-मुनि के पाद-मूल में बैठकर-साधना का मार्ग स्वीकार किया था। इन्ही मे से कुछ भिक्षुणियाँ अपने जीवनानुभवो को हमारे लिये छोड गई है जो 'थेरीगाथा' के रूप मे आज हमारे लिये उपलब्ध है। किस उद्देश्य से, किन कारणो से, किस सामाजिक परिस्थिति मे, प्रत्येक भिक्षुणी ने बुद्ध, धम्म और सघ की शरण ली थी, इसका विस्तृत विवरण तो 'थेरीगाथा' की अर्थकथा 'परमत्थदीपनी' मे उपलब्ध है, जो पाँचवी शताब्दी ईसवी की रचना है। इसी के आधार पर यहाँ संक्षेप मे यह दिखाया जा सकता है कि किन नाना कारणो से इन भिक्षुणियो ने घर को छोडकर प्रव्रज्या ली। इनमें से कुछ, जैसे मुक्ता (२) और पूर्णा (३) अपनी ज्ञान-सम्पत्ति की पूर्णता के कारण प्रव्रजित हुईं। कुछ ने घर के काम काज और दोषो से ऊब कर प्रव्रज्या ली, जैसे मुक्ता (११) गुप्ता (५६) और शुभा (७०)। धम्मदिन्ना (१६) ने पति की विरक्ति के कारण प्रव्रज्या ली। धम्मा (१७) मैत्रिका (२४) दन्तिका (३०) सिंहा (४०) सुजाता (५३) पूर्णिका (६५) रोहिणी (६७) शुभा (७१) चित्रा (२३) शकुला (३४) अम्बपाली (६६) अनोपमा (५४) तथा शोभा (२८) ने शास्ता मे श्रद्धा के कारण प्रव्रज्या ली। प्रियजनों की मृत्यु और उनके विरह के कारण प्रव्रज्या लेने वाली भिक्षुणियों में श्यामा (३६) उर्विरी (३३) किसा गोतमी (६३) वासेट्ठी (५१) सुन्दरी-नन्दा (४१) चन्दा (४९) पटाचारा (४७) तथा महाप्रजापती गोतमी हैं। पुत्रों की अकृतज्ञता शोणा (४५) की प्रव्रज्या का कारण हुई। भद्रा कुडलकेशा और ऋषिदासी ने अकृतज्ञ, धर्म पतियों के कारण प्रव्रज्या ली। पति का अनुसरण कर भद्रा कापिलायिनी और चापा प्रव्रजित हुई। इसी प्रकार भाई (सारिपुत्र) का अनुसरण कर चाला, उपचाला और शिशुपचाला प्रव्रजित हो गईं।

बुद्ध-शिष्य को पराजित न कर सकने पर विमला प्रव्रजित हो गई। जहाँ तक इन भिक्षुणियों के वंश या सामाजिक कुल-शील आदि का सम्बन्ध है, ये प्राय: सभी परिस्थितियों की थीं। उदाहरणत: खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा कोशल और मगध के राजवंशों की महिलाएँ थी। महाप्रजापती गोतमी, तिष्या, अभिरूपानन्दा, सुन्दरी नन्दा, जेन्ती, सिंहा, तिष्या, धीरा, मित्रा, भद्रा, उपशमा और अन्यतरा स्थविरी, शाक्य और लिच्छवि आदि सामन्तो की लडकियाँ थी। मैत्रिका, अन्यतरा उत्तमा, चाला, उपचाला, शिशूपचाला, रोहिणी, सुन्दरी, शुभा, भद्रा कापिलायिनी, मुक्ता, नन्दा, नकुला, चन्दा, गुप्ता, दन्तिका और शोभा ब्राह्मण-वंश की थी। गृहपति और वैश्य (सेट) वर्ग की महिलाओं में पूर्णा, चित्रा, श्यामा, उर्विरी, शुक्ला, धम्मदिन्ना, उत्तमा, भद्रा कुडलकेशा, पटाचारा, सुजाता, अनोपमा और पूर्णिका थीं। अड्ढकासी, अभय माता, विमला और अम्बपाली जैसी गणिकाएँ थी। इसी प्रकार शुभा बढई की पुत्री और चापा एक बहेलिये की लडकी थी। साराश यह कि अनेक कुल-शीलो से स्त्रियों ने बुद्ध-शासन मे दीक्षा ग्रहण की थी। 'थेरीगाथा' में सन्निहित इनके उद्‌गारो और उनमें प्रतिध्वनित इनकी पूर्व जीवन-चर्याओं से पाँचवी-छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारतीय समाज में नारी के स्थान पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। परन्तु 'थेरीगाथा' का मुख्य आकर्षण तो उसकी काव्य और साधना की भूमि ही है, जिसके विषय मे पीछे काफी कहा जा चुका है।

हम देखते है कि प्रकृति-वर्णन की ओर जितनी प्रवृत्ति भिक्षुओ की है, उतनी भिक्षुणियों की नही। 'थेरीगाथा' मे केवल शुभा भिक्षुणी की गाथाओं में वसन्त का वर्णन है। वह अत्यन्त सुन्दर, संश्लिष्ट और सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है। पर उसका लक्ष्य वहाँ केवल पृष्ठभूमि को तैयार कर देना है। शुभा भिक्षुणी अपनी आँख को अश्रुजल-सिंचित जल-बुद्‌बुद् मात्र कहती है। बाद में निर्विकार भाव से उसे निकाल कर कामी पुरुष को दे देती है। इसके प्रभाव में तीव्रता लाने के लिए ही यहाँ पृष्ठभूमि रूप मे वसन्त का वर्णन किया गया है। वसन्त की शोभा काव्य का सत्य है, आँख का वर्णन विज्ञान का सत्य है। इन दो सत्यों को इतने सुन्दर ढंग से आमने-सामने रख कर काव्य मे कभी वर्णन नहीं किया गया। भिक्षुणियों की प्रवृत्ति अपने आन्तरिक अनुभव के वर्णन

के साथ-साथ अपने पूर्व आश्रम के जीवन की अवस्थाओं के वर्णन की ओर ही अधिक है। भिक्षुओं में तो शीलव और जयन्त पुरोहित-पुत्र आदि कुछ-एक भिक्षुओं ने ही हमें अपने पूर्व जीवन से परिचित कराया है। बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक अनुभव के प्रकाशन पर ही उनका ध्यान अधिक है, और उस अनुभव में इतना साम्य है कि कहीं-कहीं न केवल भिक्षुओं के उद्गारों की भाषा ही समान है, बल्कि वे कई जगह व्यक्ति के प्रतिनिधि न होकर वर्ग (भिक्षु-वर्ग) के ही प्रतिनिधि हो गये है। इसके विपरीत भिक्षुणियों के उद्गारो में व्यक्तिगत विशिष्टता की पूरी ध्वनि विद्यमान है। उन्होंने अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन के विषय में हमें बहुत कुछ बतलाया है। अपने पूर्व जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि के बारे में भी उन्होंने बहुत कुछ कहा है। इस प्रकार अपने गृहस्थ-जीवन के झंझटों की ओर संकेत मुक्ता, गुप्ता और शुभा भिक्षुणियों ने किया है। उब्बिरी, किसा गोतमी और वाशिष्ठी भिक्षुणियों के वचनों में उनके सन्तान-वियोग की पूरी झलक है। सुन्दरी नन्दा और चन्द्रा ने पति आदि सम्बन्धियों की मृत्यु से प्रव्रज्या प्राप्त की, इसकी सूचना है। पटाचारा के शब्दों में उसके करुण जीवन की सारी गाथा छिपी हुई पड़ी है। भिक्षुणियों की अनेक गाथाएँ (११, २५-२६, ३५-३८, ६१; ७२-८१, ९९-१०१; १०७-१११; १५७-१५८, आदि, आदि) 'अहं' से ही प्रारम्भ होती है और उनकी आन्तरिक ध्वनि भी अपनी विशिष्टता लिए हुए है।

जहाँ तक विचारों और काव्यगत सौन्दर्य का सम्बन्ध है, थेरगाथा और थेरीगाथा में अनेक समानताएँ है। जिस प्रकार भिक्षुओं ने अशुभ की भावना की है उसी प्रकार भिक्षुणियों ने भी। "आज मेरी भव-बेड़ी कट गई!' 'मेरे हृदय में बिंधा तीर निकल गया, 'तृष्णा की लौ सदा के लिए बुझ गई!' 'मैं सब मलों से विमुक्त हूँ' 'अब मैं सर्वथा शान्त हूँ, निष्पाप हूँ' आदि भिक्षुणियों के उद्गार अपना गम्भीर और शान्त प्रभाव लिए हुए है और मानव-मन को पवित्रता की उच्च भूमि में ले जाते हैं। पटाचारा का यह उपदेश-वाक्य 'बुद्ध-शासन को पूरा करो, जिसे करके पछताना नहीं होता। अभी शीघ्र पैर धोकर एकान्त (ध्यान) में बैठ जाओ" कितना प्रेरणादायक है! भिक्षुणियों को जीवित विश्वास था कि वे निर्वाण का साक्षात्कार कर सकती हैं। स्त्री-भाव की अशक्तता दिखाई

जाने पर एक भिक्षुणी (सोमा) आत्मविश्वासपूर्वक कह उठती है "जब चित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है, जीवन नित्य ज्ञान में विद्यमान है, अन्तर्ज्ञान पूर्वक धर्म का सम्यक् दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा?" 'थेरीगाथा' में नाटकीय तत्त्व की कमी नहीं है और अनेक महत्त्व पूर्ण संवाद हैं। रोहिणी और उसके पिता का संवाद (२७१-२९०) सुन्दरी उसकी माता और सारथी का संवाद (३१२-३३७) चापा और उसके पति का संवाद (२९१-३११) शैला और मार का संवाद, (५७-५९) चाला और मार का संवाद (१८२-१९५) शिशूपचाला और मार का संवाद (१९६-२०३) उत्पलवर्णा और मार का का संवाद (२२४-२३५) बड्ढमाता और उसके पुत्र का संवाद (२०४-२१२) आदि नाटकीय गति से परिपूर्ण है। पनिहारिन के रूपमें पूर्णा ने अपने पूर्व जीवन का जो परिचय दिया है, वह अपनी करुणा लिए हुए है। अम्बपाली की गाथाओं में अनित्यता का चित्रण गीतिकाव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ हुआ है। सुन्दरी की गाथाओं (३१२-३३७) और शुभा की गाथाओं (३६६-३९९) को विन्टरनित्ज़ ने सुन्दर आख्यान-गीति कहा है[1]।

थेर और थेरीगाथाएँ क्रमशः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ हैं, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं। जर्मन विद्वान् के ई न्यूमनने उन पर एकमनुष्य के मन की छाप देखी है।[2] बौद्धधर्म की प्रभाव-समष्टि के कारण जो स्वभावतः ही इन साधक और साधिकाओं के अनुभव-सिद्ध वचनों में होनी चाहिये, न्यूमन को यह भ्रम हो गया है। विन्टरनित्ज़ ने न्यूमन के मत में सहमति तो नहीं दिखाई पर कुछ भिक्षुओं की रचनाओं में भिक्षुणियों की रचनाएँ और इसी प्रकार कुछ भिक्षुणियों की रचनाओं में भिक्षुओं की रचनाएँ सम्मिलित हो गई हैं, ऐसा उन्होंने माना है।[3] वस्तुतः बात यह है कि गाथाओं का संकलन विषय-क्रम से न होकर गाथाओं की

---

१. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०८-१०९

२. देखिये विन्टर नित्ज़, इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०२, पद-संकेत १

३. इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०१

संख्या के क्रम से है, जो कृत्रिम है। फिर संकलन में भी कहीं कुछ कमियाँ रह ही गई है। स्थविरिणियों के साथ पुरुषों के सवाद भी 'थेरीगाथा' में कहीं कहीं पाये जाते ही हैं। दोनों की कथा भी कही कही मिलती दिखाई देती है। उदाहरणार्थ थेरीगाथा (२०४-२१२) मे बड्ढ की माता उसे ज्ञान-मार्ग पर लगाती है और थेरगाथा (३३५-३३९) में वह उसे धन्यवाद देता है। जिस प्रकार तीन टेढी वस्तुओं (हँसिया, हल और कुदाल) मे मुक्ति पाकर भिक्षु प्रसन्न है[1] उसी प्रकार ओखल से, मूसल से और अपने कुबडे स्वामी से मुक्ति पाकर भिक्षुणी प्रसन्न है।[2] इसी प्रकार के वर्णनो से विन्टरनित्ज को गाथाओ के सम्मिलित होने का भ्रम हो गया है। गाथाओ के सकलन में भले ही कही कोई प्रमाद हो, पर थेर और थेरी गाथाओ को मूलत उन भिक्षु और भिक्षुणियो की रचनाएँ ही माना जा सकता है, जिनके नामो से वे सम्बन्धित हैं।

जातक[3]

जातक खुद्दक-निकाय का दसवाँ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जातक को वस्तुतः ग्रन्थ न कह कर ग्रन्थ-समूह ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा हम आगे देखेंगे,

---

१. असितासु मया नंगलासु मया खुद्दकुद्दालासु मया। गाथा ४३ (थेरगाथा)

२. उदुक्खलेन मुसलेन पतिना खुज्जकेन च। गाथा ११ (थेरीगाथा)

३. भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने जातक का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, से वह तीन भागों में प्रकाशित हो चुका है। जातक (प्रथम खंड), १९४१; जातक (द्वितीय खंड) १९४२, जातक (तृतीय खंड) १९४६। प्रथम खंड मे जातक-संख्या १–१००; द्वितीय खंड में जातक-संख्या १०१–२५० और तृतीय खंड में जातक-संख्या २५१–४०० अनुवादित है। चतुर्थ खंड प्रेस में है। राय साहब ईशानचन्द्र घोष का बंगला अनुवाद प्रसिद्ध है। अँग्रेजी में कॉवल के सम्पादकत्व मे ६ जिल्दों में जातक का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है। कॉवल के अतिरिक्त चामर्स आदि अन्य चार विद्वानों ने इस अनुवाद-कार्य में भाग लिया है। जातक का यह सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद केम्ब्रिज से १८९५–१९१३ में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने जातक के कुछ अंशों का अनुवाद भी

उसका कोई-कोई कथानक पूरे ग्रन्थ के रूप में है और कहीं-कहीं उसकी कहानियों का रूप संक्षिप्त महाकाव्य का सा है। 'जातक' शब्द का अर्थ है 'जात' अर्थात् जन्म-सम्बन्धी। 'जातक' भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्म सम्बन्धी कथाएँ हैं। बुद्धत्व प्राप्त कर लेने की अवस्था से पूर्व भगवान् बुद्ध 'बोधिसत्व' कहलाते हैं। वे उस समय बुद्धत्व के लिए उम्मेदवार होते हैं, और दान, शील, मैत्री, सत्य आदि दस पारमिताओं अथवा परिपूर्णताओं का अभ्यास करते हैं। भूत-दया के लिए वे अपने प्राणों का अनेक बार बलिदान करते हैं। इस प्रकार वे बुद्धत्व की योग्यता का सम्पादन करते हैं। 'बोधिसत्व' शब्द का अर्थ ही है बोधि के लिए उद्योगशील प्राणी (सत्व)। बोधि के लिए है सत्व (सार) जिसका, ऐसा अर्थ भी कुछ विद्वानों

किया है। इनमें रायस डेविड्स का 'बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज', जो सन् १८८० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था, अति प्रसिद्ध है। इसमें जातक-संख्या १–४० अनुवादित है। सम्पूर्ण जातक का जर्मन अनुवाद भी हो चुका है (लीपज़िग, १९०८)। फॉसबाल का रोमन लिपि में जातक का संस्करण एक महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य है। यह भी ६ जिल्दों में है और सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है (लन्दन, १८७७–१८९७)। सिआमी राजवंश की दो श्रद्धालु रानियों के द्वारा सन् १९२५ में १० जिल्दों में जातक का सिआमी लिपि में सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया जा चुका है। सिंहली लिपि में हेवावितरणे निधि की की ओर से प्रकाशित संस्करण वैज्ञानिक सम्पादन-कला का एक सुन्दर नमूना है। 'जातक' के अनेक बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं। यह खेद है कि नागरी लिपि में अभी जातक का कोई संस्करण नहीं निकला। अंग्रेजी में तथा अन्य अनेक यूरोपीय भाषाओं में तो 'जातक' पर प्रभूत विवेचनात्मक साहित्य भी लिखा गया है। इसके अतिशय परिचय के लिए देखिये, विन्टरनित्ज़, इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११६, पद-संकेत ३, तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द सातवीं, पृष्ठ ४९१ से आगे उन्हीं का जातक सम्बन्धी विवरण; रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८९; गायगर: पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३०, पद संकेत २ एवं ३; लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्द पहली , पृष्ठ २७६-७७, आदि, आदि

ने किया है।[१] पालि सुत्तों मे हम अनेक बार पढते है "सम्बोधि प्राप्त होने से पहले, बुद्ध न होने के समय, जब में बोधिसत्व ही था "[२] आदि। अत. बोधिसत्व से स्पष्ट तात्पर्य ज्ञान, सत्य, दया आदि का अभ्यास करने वाले उस साधक से है, जिसका आगे चलकर बुद्ध होना निश्चित है। भगवान् बुद्ध भी न केवल अपने अन्तिम जन्म में बुद्धत्व-प्राप्ति की अवस्था से पूर्व बोधिसत्व रहे थे, बल्कि अपने अनेक पूर्व जन्मो मे भी बोधिसत्व की चर्या का उन्होंने पालन किया था। 'जातक' की कथाएँ भगवान् बुद्ध के इन विभिन्न पूर्व-जन्मो से, जब कि वे 'बोधिसत्व' रहे थे, सम्बन्धित है। किसी-किसी कहानी मे वे प्रधान पात्र के रूप मे चित्रित है। कहानी के वे स्वय नायक है। कही-कही उनका स्थान एक साधारण पात्र के रूप मे गौण है और कही कही वे एक दर्शक के रूप में भी चित्रित किये गए है। प्राय प्रत्येक कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है "एक समय (राजा ब्रह्मदत्त के वाराणसी में राज्य करते समय) बोधिसत्व कुरङ्ग मृग की योनि मे उत्पन्न हुए"[३] अथवा " सिन्धु पार के घोडो के कुल म उत्पन्न हुए"[४] अथवा " बोधिसत्व उसके (ब्रह्मदत्त के) अमात्य थे।"[५] अथवा " .... बोधिसत्व गोह की योनि मे उत्पन्न हुए"[६] आदि, आदि।

जातको की निश्चित सख्या कितनी है, इसका निर्णय करना बडा कठिन है। लका, बरमा, और सिआम मे प्रचलित परम्परा के अनुसार जातक ५५० है। यह सख्या मोटे तौर पर ही निश्चित की गई जान पडती है। जातक के वर्तमान रूप में ५४७ या ५४८ जातक-कहानियाँ पाई जाती हैं। पर यह सख्या भी केवल ऊपरी है। कई कहानियाँ अल्प रूपान्तर के साथ दो जगह भी पाई जाती है या एक दूसरे मे समाविष्ट भी कर दी गई है, और इसी प्रकार कई जातक-

---

१. विन्टरनित्ज—इडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३, पद-संकेत २
२. भय-भेरव सुत्तन्त (मज्झिम १।१।४)
३. कुरुंगमिग जातक (२१)
४. भोजाजानीय जातक (२३)
५. अभिण्ह जातक (२७)
६. गोध जातक (३२५)

कथाएँ सुत्त-पिटक, विनय-पिटक तथा अन्य पालि ग्रन्थों में तो पाई जाती हैं, किन्तु 'जातक' के वर्तमान रूप में संगृहीत नहीं हैं। अत. जातकों की संख्या में काफी कमी की भी और वृद्धि की भी सम्भावना है। उदाहरणतः, मुनिक जातक (३०) और सालूक जातक (२८६) की कथावस्तु एक ही सी है, किन्तु केवल भिन्न-भिन्न नामो से वह दो जगह आई है। इसके विपरीत 'मुनिक जातक' नाम के दो जातक होते हुए भी उनकी कथा भिन्न-भिन्न है। कही-कही दो स्वतंत्र जातको को मिला कर एक तीसरे जातक का निर्माण कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, पञ्चपण्डित जातक (५०८) और दकरक्खस जातक (५१७) ये दोनों जातक महाउम्मग्ग जातक (५४६) में अन्तर्भावित है। जो कथाएँ जातक-कथा के रूप मे अन्यत्र पाई जाती है, किन्तु 'जातक' मे सगृहीत नहीं हैं, उनका भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। मज्झिम-निकाय का घटिकार सुत्तन्त (२।४।१) एक ऐसी ही जातक-कहानी है, जो 'जातक' मे नही मिलती। इसी प्रकार दीघ-निकाय का महागोविन्द सुत्तन्त (२।६) जो स्वय 'जातक' की निदान-कथा मे भी 'महागोविन्द-जातक' के नाम से निर्दिष्ट हुआ है, 'जातक' के अन्दर नही पाया जाता। इसी प्रकार धम्मपदट्ठकथा और मिलिन्दपञ्ह मे भी कुछ ऐसी जातक-कथाएँ उद्धृत की गई है, जो 'जातक' मे सगृहीत नही है।[1] अतः कुल जातक निश्चित रूप से कितने है, इसका ठीक निर्णय नही हो सकता। जब हम जातको की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते है तो 'जातक' से हमारा तात्पर्य एक विशेष शीर्षक वाली कहानी से होता है, जिसमे बोधिसत्व के जीवन-सम्बन्धी किसी घटना का वर्णन हो, फिर चाहे उस एक 'जातक' मे कितनी ही अवान्तर कथाएँ क्यो न गूँथ दी गई हो। यदि कुल कहानियाँ गिनी जायँ तो 'जातक' मे करीब तीन हजार कहानियाँ पाई जाती है।[2] वास्तव में जातको का सकलन सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के आधार पर किया गया है। सुत्त-पिटक में अनेक ऐसी कथाएँ है जिनका उपयोग वहाँ उपदेश देने के लिए किया गया है। किन्तु बोधिसत्व का उल्लेख उनमें नही है। यह काम बाद मे करके प्रत्येक कहानी को जातक का

---

१. विन्टरनित्ज़—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत ४

२. देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २१ (वस्तुकथा)

रूप दे दिया गया है। तित्तिर जातक (३४) और दीघित कोसल जातक (३७१) का निर्माण इसी प्रकार विनय-पिटक के क्रमश चुल्लवग्ग और महावग्ग से किया गया है। मणिकंठ जातक (२५३) भी विनय-पिटक पर ही आधारित है। इसी प्रकार दीघ-निकाय के कूटदन्त-सुत्तन्त (१।५) और महासुदस्सन सुत्तन्त (२।४) तथा मज्झिम-निकाय के मखादेव-सुत्तन्त (२।४।३) भी पूरे अर्थो मे जातक है। कम से कम १३ जातको की खोज विद्वानो ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक मे की है।[1] यद्यपि राज-कथा, चोर-कथा, एव इसी प्रकार की भय, युद्ध, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट, भूत-प्रेत आदि सम्बन्धी कथाओ को 'तिरश्चीन' (व्यर्थ की, अधम) कथाएँ कह कर भिक्षु-सघ मे हेयता की दृष्टि से देखा जाता था,[2] फिर भी उपदेश के लिए कथाओं का उपयोग भिक्षु लोग कुछ-न-कुछ मात्रा मे करते ही थे। स्वय भगवान् ने भी उपमाओं के द्वारा धर्म का उपदेश दिया है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर जातक-कथाओं का विकास हुआ है। जन-समाज मे प्रचलित कथाओ को भी कही-कही ले लिया गया है, किन्तु उन्हे एक नया नैतिक रूप दे दिया गया है जो बौद्ध धर्म की एक विशेषता है। अत सभी जातक कथाओं पर बौद्ध धर्म की पूरी छाप है। पूर्व परम्परा से चली आती हुई जनश्रुतियो का आधार उनमे हो सकता है। पर उसका सम्पूर्ण ढाचा बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्श के अनुकूल है। हम पहले देख चुके है कि बुद्ध-वचनों का नौ अगो में विभाजन, जिनमे जातक की सख्या सातवी है, अत्यन्त प्राचीन है।[3] अत. जातक कथाएँ सर्वांग मे पालि साहित्य के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अग है। उनकी सख्या के विषय में अनिश्चितता विशेषत. उनके समय-समय पर सुत्त-पिटक और विनय-पिटक तथा अन्य स्रोतो से सकलन के कारण और स्वय पालि त्रिपिटक के नाना वर्गीकरणों और उनके परस्पर समिश्रण के कारण उत्पन्न हुई है। चुल्ल-निद्देस मे हमे केवल ५०० जातको का (पञ्च जातकसतानि) का उल्लेख मिलता

---

१. विन्टरनित्ज़--इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत २

२. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ १।१), सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ १।२), विनय-पिटक--महावग्ग, आदि, आदि।

३. देखिये पीछे दूसरे अध्याय में पालि साहित्य के वर्गीकरण का विवेचन।

है।[1] चीनी यात्री फ-शिनयन ने पाँचवीं शताब्दी ईसवी में ५०० जातकों के चित्र लंका में अंकित हुए देखे थे।[2] द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व के भरहुत और साँची के स्तूपों में कम से कम २७ या २९ जातकों के चित्र उत्कीर्ण मिले हैं।[3] ये सब तथ्य 'जातक' की प्राचीनता और उसके विकास के सूचक हैं।

रायस डेविड्स का कथन है कि जातक का संकलन और प्रणयन मध्य-देश में प्राचीन जन-कथाओं के आधार पर हुआ।[4] विन्टरनित्ज ने भी प्राय: इसी मत का प्रतिपादन किया है।[5] अधिकांश जातक बुद्धकालीन है। साँची और भरहुत के स्तूपों के पाषाण-वेष्टनियों पर उनके अनेक दृश्यों का अङ्कित होना उनके पूर्व-अशोककालीन होने का पर्याप्त साक्ष्य देता है। 'जातक' के काल और कर्तृत्व के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश उसके साहित्यिक रूप और विशेषताओं के विवेचन से पड़ेगा।

प्रत्येक जातक-कथा पाँच भागों मे विभक्त है (१) पच्चुप्पन्नवत्थु (२) अतीतवत्थु (३) गाथा (४) वेय्याकरण या अत्थवण्णना (५) समोधान। पच्चुप्पनवत्थु का अर्थ है वर्तमान काल की घटना या कथा। बुद्ध के जीवन काल में जो घटना घटी, वह पच्चुप्पन्नवत्थु है। उस घटना ने भगवान् को किसी पूर्व जन्म के वृत्त को कहने का अवसर दिया। यह पूर्व जन्म का वृत्त ही अतीतवत्थु है। प्रत्येक जातक का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग यह अतीतवत्थु ही है। इसी के अनुकूल पच्चुप्पन्नवत्थु कहीं-कहीं गढ़ ली गई प्रतीत होती हैं। पच्चुप्पन्नवत्थु के बाद एक या अनेक गाथाएं आती हैं। गाथाएं जातक के प्राचीनतम अंश है। वास्तव में गाथाएँ ही जातक हैं। पच्चुप्पन्नवत्थु आदि पाँच भागों से समन्वित जातक तो वास्तव में 'जातकत्थवण्णना' या जातक की अर्थकथा है। गाथाओ के बाद प्रत्येक जातक मे वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओं की व्याख्या और

---

१. पृष्ठ ८० (स्टीड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९१८)
२. लेगी : रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृष्ठ १०६ (ऑक्सफर्ड, १८८६)
३. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९
४. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १७२; २०७-२०८
५. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३-११४; १२१-१२३

उसका शब्दार्थ होता है। सबसे अन्त मे समोधान आता है, जिसमें अतीतवत्थु के पात्रो का बुद्ध के जीवन-काल के पात्रो के साथ सम्बन्ध मिलाया जाता है, यथा "उस समय अटारी पर से शिकार खेलने वाला शिकारी अब का देवदत्त था। और कुरुङ्ग मृग तो मै था ही"[1] आदि, आदि।

प्रत्येक जातक के पाँच अङ्गो के उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट है कि जातक गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएं है। गाथा (पद्य) भाग जातक का प्राचीनतम भाग माना जाता है। त्रिपिटक के अन्तर्भूत इस गाथा-भाग को ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। शेष सब अट्ठकथा है। परन्तु जातक-कथाओ की प्रकृति ऐसी है कि मूल को व्याख्या से अलग कर देने पर कुछ भी समझ मे नही आ सकता। केवल गाथाएँ कहानी का निर्माण नही करती। उनके उपर जब वर्तमान और अतीत की घटनाओ का ढाँचा चढाया जाता है तभी कथावस्तु का निर्माण होता है। अत: पूरे जातक मे उपर्युक्त पाँच अवयवो का होना आवश्यक है, जिसमे गाथा-भाग को छोड़कर शेष सब उसकी व्याख्या है, बाद का जोडा हुआ है। फिर भी सुविधा के लिए, और ऐतिहासिक दृष्टि से गलत ढग पर, हम उस सबको 'जातक' कह देते है। वास्तव मे ५४७ जातक-कथाओ के सग्रह को, जो उपर्युक्त पाँच अगो से समन्वित है हमे, 'जातक' न कहकर 'जातकट्ठवण्णना' (जातक के अर्थ की व्याख्या) ही कहना चाहिए। फॉसबाल और कॉवल ने जिसका क्रमश रोमन लिपि मे और अँग्रेजी मे सम्पादन और अनुवाद किया है, या हिन्दी मे भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'जातक' शीर्षक से ३ भागो मे (चतुर्थ भाग निकलने वाला है) अनुवाद किया है, वह वास्तव मे 'जातक' न हो कर जातक की व्याख्या है। जैसा अभी कहा गया, जातक तो मूल रूप में केवल गाथाएँ है, शेष भाग उसकी व्याख्या है।

तो फिर गाथा और जातक के शेष भाग का काल-क्रम आदि की दृष्टि से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, यह प्रश्न सामने आता है। अट्ठकथा में गाथा-भाग को 'अभिसम्बुद्ध गाथा' या भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित गाथाएँ कहा गया है। वे बुद्ध-वचन है। अत वे त्रिपिटक के अगभूत थी और उनको वहाँ से संकलित कर उनके ऊपर कथाओ का ढाँचा प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण 'जातक' ग्रन्थ की

---

१. कुरुंगमिग जातक (२१)

विषय-वस्तु का जिस आधार पर वर्गीकरण हुआ है, उससे भी यही स्पष्ट है कि गाथा-भाग, या जिसे विन्टरनित्ज़ आदि विद्वानों ने 'गाथा-जातक'[1] कहा है, वही उसका मूलाधार है। 'जातक' ग्रन्थ का वर्गीकरण विषय-वस्तु के आधार पर न होकर गाथाओं की संख्या के आधार पर हुआ है। थेर-थेरी गाथाओं के समान वह भी निपातों में विभक्त है। 'जातक' में २२ निपात हैं। पहले निपात में १५० ऐसी कथाएँ हैं जिनमें एक ही एक गाथा पाई जाती है। दूसरे निपात में भी १५० जातक-कथाएँ हैं, किन्तु यहाँ प्रत्येक कथा में दो-दो गाथाएँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार तीसरे और चौथे निपात में पचास-पचास कथाएँ हैं और गाथाओं की संख्या क्रमशः तीन-तीन और चार-चार है। आगे भी तेरहवें निपात तक प्रायः यही क्रम चलता है। चौदहवें निपात का नाम 'पकिण्णक निपात' है। इस निपात में गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न हो कर विविध है। इसीलिए इसका नाम 'पकिण्णक' (प्रकीर्णक) रख दिया गया है। इस निपात में कुछ कथाओं में १० गाथाएँ भी पाई जाती हैं और कुछ में ४७ तक भी। आगे के निपातों में गाथाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती गई है। बाईसवें निपात में केवल दस जातक कथाएं हैं, किन्तु प्रत्येक में गाथाओं की संख्या सौ से भी ऊपर है। अन्तिम जातक (वेस्सन्तर जातक) में तो गाथाओं की संख्या सात सौ से भी ऊपर है।[2] इस सब से यह निष्कर्ष आसानी से निकल सकता है कि जातक-कथाओं की आधार गाथाएँ ही हैं। स्वयं अनेक जातक-कथाओं के 'वेय्याकरण' भाग में 'पालि' और 'अट्ठकथा' के बीच भेद दिखाया गया है, जैसे कि पालि सुत्तों की अन्य अनेक अट्ठकथाओं तथा 'विसुद्धिमग्गो' आदि ग्रन्थों में भी।[3] जहाँ तक 'जातक' के वेय्याकरण भाग से सम्बन्ध है, वहाँ 'पालि' का अर्थ त्रिपिटक-गत गाथा ही हो सकता है। भाषा के साक्ष्य से भी गाथा-भाग अधिक प्राचीनता का द्योतक है अपेक्षाकृत गद्यभाग के। फिर भी, जैसा विन्टरनित्ज़ ने कहा है, जातक की सम्पूर्ण

---

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९

२. जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २० (वस्तुकथा); देखिये विन्टरनित्ज़ः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९ भी।

३. देखिए पहले अध्याय में 'पालि-शब्दार्थ-निर्णय' सम्बन्धी विवेचन।

गाथाओं को त्रिपिटक का मूल अंश नहीं माना जा सकता। उनमें भी पूर्वापर भेद है। स्वयं 'जातक' के वर्गीकरण से ही यह स्पष्ट है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, चौदहवें निपात में प्रत्येक जातक-कथा की गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न होकर कहीं-कहीं बहुत अधिक है। इसी प्रकार सत्तरवें निपात में उसकी दो जातक-कथाओं की गाथाओं की संख्या सत्तर-सत्तर न हो कर क्रमशः ९२ और ९३ हैं। इस सब से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जातक की गाथाओं अथवा 'गाथा-जातक' की मूल संख्या निपात की संख्या के अनुकूल ही रही होगी, और बाद में उसका संवर्द्धन किया गया है।[१] अत: कुछ गाथाएँ अधिक प्राचीन हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम प्राचीन। इसी प्रकार गद्य-भाग भी कुछ अत्यन्त प्राचीनता के लक्षण लिए हुए है और कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। किसी-किसी जातक में गद्य और गाथा-भाग में साम्य भी नहीं दिखाई पड़ता[२] और कहीं-कहीं शैली में भी बड़ी विभिन्नता है। इस सब से जातक के संकलनात्मक रूप और उसके भाषा-रूप की विविधता पर प्रकाश पड़ता है, जिसमें कई रचयिताओं या संकलन-कर्ताओं और कई शताब्दियों का योग रहा है।

जातक की गाथाओं की प्राचीनता तो निर्विवाद है ही, उसका अधिकांश गद्य-भाग भी अत्यन्त प्राचीन है। भरहुत और साँची के स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर जो चित्र अंकित हैं, वे 'जातक' के गद्य-भाग से ही सम्बन्धित हैं। अतः 'जातक' का अधिकांश गद्य-भाग जो प्राचीन है, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में इतना लोक प्रिय तो होना ही चाहिए कि उसे शिल्प-कला का आधार बनाया जा सके। अतः सामान्यतः हम 'जातक' को बुद्धकालीन भारतीय समाज और संस्कृति का प्रतीक मान सकते हैं। हाँ, उसमें कुछ लक्षण और अवस्थाओं के चित्रण प्राग्बौद्ध-कालीन भारत के भी हैं। जहाँ तक गाथाओं की व्याख्या और उनके शब्दार्थ का सम्बन्ध है, वह सम्भवतः जातक का सब से अधिक अर्वाचीन अंश है। इस अंश के लेखक आचार्य बुद्धघोष माने जाते हैं। 'गन्धवंस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने

---

१. विन्टरनित्ज: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९

२. देखिये विन्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९, पद-संकेत २; पृष्ठ १२२, पद-संकेत २

ही 'जातकट्ठवण्णना' की रचना की।[१] किन्तु यह सन्दिग्ध है। रायस डेविड्स ने बुद्धघोष को 'जातकट्ठवण्णना' का रचयिता या संकलनकर्ता नहीं माना है।[२] स्वयं जातकट्ठकथा के उपोद्घात में लेखक ने अपना परिचय देते हुए कहा है " .. शान्तचित्त पंडित बुद्धमित्त और महिंशासक वंश में उत्पन्न, शास्त्रज्ञ, शुद्धबुद्धि भिक्षु बुद्धदेव के कहने से. . . व्याख्या करूँगा।"[३] महिंशासक सम्प्रदाय महाविहार की परम्परा से भिन्न एक बौद्ध सम्प्रदाय था। बुद्धघोष ने जितनी अट्ठकथाएँ लिखी है, शुद्ध महाविहार वासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित (महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सितं—विसुद्धिमग्गो) है। अतः जातकट्ठकथा के लेखक को आचार्य बुद्धघोष से मिलाना ठीक नहीं। सम्भवतः यह कोई अन्य सिंहली भिक्षु थे, जिनका काल पाँचवीं शताब्दी ईस्वी माना जा सकता है। जातक-कथाएँ, जैसा पहले कहा जा चुका है, भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों से सम्बन्धित है। बोधिसत्व की चर्याओं का उनमें वर्णन है। अतः वे सभी प्रायः उपदेशात्मक है। परन्तु उनका साहित्यिक रूप भी निखरा हुआ है। उपदेशात्मक होते हुए भी वे पूरे अर्थों में कलात्मक है। कुछ जातक-कथाओं का सारांश देकर यहाँ उनकी विषय-वस्तु के रूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। 'जातक' के आदि में निदान-कथा (उपोद्घात) है, जिसमें भगवान् बुद्ध के पहले के २७ बुद्धों के विवरण के साथ-साथ भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी भी जेतवन-विहार के दान की स्वीकृति तक दी गई है। अब कुछ जातकों की कथा-वस्तु का दिग्दर्शन करें। अपण्णक जातक (१) व्यापार के लिए जाते हुए दो बनजारों की कथा है। एक दैत्यों के हाथ मारा गया, दूसरा बुद्धिमान् होने के कारण अपने पाँच सौ साथियों सहित सकुशल घर लौट आया। कण्डिन जातक (१३)—कामुकता के कारण एक मृग शिकारी के हाथों मारा गया। मखादेव जातक (९)—सिर के सफेद बाल देख कर राजा सिंहासन छोड़ कर बन चला गया। सम्मोदमान जातक (३३)

---

१. पृष्ठ ५९ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)
२. बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृष्ठ ६३ (भूमिका)
३. जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १-२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) देखिये, वहीं पृष्ठ २३ (वत्थुकथा) भी।

एकमत बटेरों का चिड़ीमार कुछ न बिगाड़ सका, परन्तु जब उनमें फूट पड़ गई तो सभी चिडीमार के जाल में फँस गये। तित्तिर जातक (३७)--बन्दर, हाथी और तित्तिर ने आपस मे विचार कर निश्चय किया कि जो ज्येष्ठ हो उसका आदर करना चाहिए। बक जातक (३८)--बगुले ने मछलियो को धोखा दे दे कर एक एक को ले जाकर मार खाया। अन्त मे वह एक केकडे के हाथ से मारा गया। कण्ह जातक (२९)--एक बैल ने अपनी बुढ़िया माँ को जिसने उसे पाला था मजदूरी से कमा कर एक हजार कार्षापण ला कर दिये। वेळुक जातक (४३) तपस्वी ने साँप के बच्चे को पाला, जिसने उसे डस कर मार डाला। रोहिणी जातक (४५) रोहिणी नामक दासी ने अपने माता के सिर की मक्खियाँ हटाने के लिये जाकर माता को मार डाला। बानरिन्द जातक (५७) मगरमच्छ अपनी स्त्री के कहने से बानर का हृदय चाहता था। बानर अपनी चतुरता से बच निकला। कुद्दाल जातक (७०) कुद्दाल पंडित कुद्दाल के मोह मे पड छ बार गृहस्थ और प्रव्रजित हुआ। सीलवनागराज जातक (७२) वन में रास्ता भूले हुए एक आदमी की हाथी ने जान बचाई। खरस्सर जातक (७९) गाँव का मुखिया चोरो से मिल कर गाँव लुटवाता था। नामसिद्धि जातक (९७) 'पापक' नामक विद्यार्थी एक अच्छे नाम की तलाश मे बहुत घूमा। अन्त मे यह समझ कर कि नाम केवल बुलाने के लिए होता है, वह लौट आया। अकालरावी जातक (११९) असमय शोर मचाने वाला मुर्गा विद्यार्थियो द्वारा मार डाला गया। बिळारवत जातक (१२८) गीदड धर्म का ढोंग कर चूहों को खाता था। गोध-जातक (१४१) गोह की गिरगिट के साथ मित्रता उसके कुल-विनाश का कारण हुई। विरोचन जातक (१४३) गीदड़ ने शेर की नकल कर के पराक्रम दिखाना चाहा। हाथी ने उसे पाँव से रौंद कर उस पर लीद कर दी। गुण जातक (१५७) दलदल में फँसे सिंह को सियार ने बाहर निकाला। मक्कट जातक (१७३) बन्दर तपस्वी का वेश बना कर आया। आदिच्चुपट्ठान जातक (१७५) बन्दर ने सूर्य की पूजा करने का ढोंग बनाया। कच्छप जातक (१७८) जन्मभूमि के मोह के कारण कछुवे की जान गई। गिरिदत्त जातक (१८४) शिक्षक के लँगडा होने के कारण घोड़ा लँगडा कर चलने लगा। सीहचम्म जातक (१८९) सिंह की खाल पहन कर गधा खेत चरता रहा। किन्तु बोलने पर मारा गया। महापिंगल जातक (२४०)

राजा मर गया, फिर भी द्वारपाल को भय था कि अत्याचारी राजा यमराज के पास से कहीं लौट न आवे। आरामदूसक जातक (२६८) बन्दरों ने पौधों को उखाड़ कर उनकी जड़े नाप-नाप कर पानी सींचा। कुटिदूसक जातक (३२१) बन्दर ने बये के सदुपदेश को सुन कर उसका घोसला नोच डाला। बावेरु जातक (३३९) बावेरु राष्ट्र में कौआ सौ कार्षापण में और मोर एक हजार कार्षापण मे बिका। वानर जातक (३४२) मगरमच्छनी ने बन्दर का हृदय-मांस खाना चाहा। सन्धिभेद जात (३४९) गीदड़ ने चुगली कर सिंह और बैल को परस्पर लड़ा दिया, आदि आदि।[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि जातक-कथाओं का रूप जन-साहित्य का है। उसमें पशु-पक्षियों आदि की कथाएं भी है और मनुष्यों की भी। जातकों के कथानक विविध प्रकार के है। विन्टरनित्ज़ ने मुख्यत. सात भागों मे उनका वर्गीकरण किया है[2] (१) व्यावहारिक नीति-सम्बन्धी कथाएँ (२) पशुओं की कथाएँ (३) हास्य और विनोद से पूर्ण कथाएँ (४) रोमांचकारी लम्बी कथाएँ या उपन्यास (५) नैतिक वर्णन (६) कथन और (७) धार्मिक कथाएँ। वर्णन की शैलियाँ भी भिन्न-भिन्न है। विन्टरनित्ज़ ने इनका वर्गीकरण पाँच भागों मे इस प्रकार किया है[3] (१) गद्यात्मक वर्णन (२) आख्यान, जिसके दो रूप है (अ) संवादात्मक और (आ) वर्णन और संवादों का संमिश्रित रूप। (३) अपेक्षाकृत लम्बे विवरण, जिनका आदि गद्य से होता है किन्तु बाद मे जिनमे गाथाएँ भी पाई जाती है (४) किसी विषय पर कथित वचनो का संग्रह और (५) महाकाव्य या खंड काव्य के रूप मे वर्णन। वानरिन्द जातक, (५७) बिळारवत जातक, (१२८) सीहचम्म जातक (१८९) संसुमारजातक

---

१. इस विवर्शन के लिए मैं भदन्त आनन्द कौसल्यायन के जातक-अनुवाद के तीनों खंडों की विषय-सूची के लिए कृतज्ञ हूँ। वहीं से यह सामग्री संकलित की गई है।

२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२५

३. वहीं पृष्ठ १२४

(२०८) और सन्धिभेद जातक (३४९) आदि जातक-कथाएँ पशु-कथाएँ हैं। ये कथाएँ अत्यधिक महत्वपूर्ण है। विशेषत इन्ही कथाओ का गमन विदेशों में हुआ है। व्यङ्ग्य का पुट भी यही अपने काव्यात्मक रूप में दृष्टिगोचर होता है। प्राय: पशुओं की तुलना मे मनुष्यो को हीन दिखाया गया है। एक विशेष बात यह है कि व्यङ्ग्य किसी व्यक्ति पर न कर सम्पूर्ण जाति पर किया गया है। एक बन्दर कुछ दिनो के लिए मनुष्यो के बीच आकर रहा। बाद मे अपने साथियों के पास जाता है। साथी पूछते हैं

"आप मनुष्यो के समाज मे रहे हैं। उनका बर्ताव जानते हैं। हमें भी कहे। हम उसे सुनना चाहते है।"

"मनुष्यों की करनी मुझ से मत पूछो।"

"कहें, हम सुनना चाहते है।"

बन्दर ने कहना शुरू किया,

"हिरण्य मेरा ! सोना मेरा ! यही रात-दिन वे चिल्लाते हैं। घर मे दो जने रहते है। एक को मूछ नही होती। उसके लम्बे केश होते है, वेणी होती है और कानों मे छेद होते है। उसे बहुत धन से खरीदा जाता है। वह सब जनो को कष्ट देता है।"

बन्दर कह ही रहा था कि उसके साथियो ने कान बन्द कर लिए "मत कहें, मत कहें"।[1] इस प्रकार के मधुर और अनूठे व्यङ्ग्य के अनेको चित्र 'जातक' मे मिलेंगे। विशेषत: मनुष्य के अहंकार के मिथ्यापन के सम्बन्ध में मर्मस्पर्शी व्यङ्ग्य महापिंगल जातक (२४०) मे, ब्राह्मणों की लोभ-वृत्ति के सम्बन्ध में सिगाल जातक (११३) में, एक अति बुद्धिमान् तपस्वी के सम्बन्ध में अवारिय जातक (३७६) में है। सब्बदाठ नामक शृगाल सम्बन्धी हास्य और विनोद भी बडा मधुर है (सब्बदाठ जातक २४१) और इसी प्रकार मक्खी हटाने के प्रयत्न में दासी का मूसल से अपनी माता को मार देना (रोहिणी जातक ३४५) और बन्दरो का पौधो को उखाड़कर पानी देना भी (आरामदूसक

---

१. गरहित-जातक (२१९) भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद, जातक (द्वितीय खंड), पृष्ठ ३६२-६३

जातक-४६) मधुर विनोद से भरे हुए है। इसी प्रकार रोमांच के रूप मे महा-उम्मग जातक (५४६) आदि; नाटकीय आख्यान के रूप मे छदन्त जातक (५१४) आदि, एक ही विषय पर कहे हुए कथनो के सकलन के रूप में कुणाल जातक (५३६) आदि, सक्षिप्त नाटक के रूप मे उम्मदन्ती जातक (५२७) आदि, नीति-परक कथाओं के रूप में गुण जातक (१५७) आदि, पूरे महाकाव्य के रूप मे वेस्सन्तर जातक (५४७) आदि एव ऐतिहासिक सवादो के रूप में ५३० और ५४४ संख्याओ के जातक आदि, अनेक प्रकार के वर्णनात्मक आख्यान 'जातक' मे भरे पडे है, जिनकी साहित्यिक विशेषताओ का उल्लेख यहाँ अत्यन्त सक्षिप्त रूप से भी नही किया जा सकता।

बुद्धकालीन भारत के समाज, धर्म, राजनीति, भूगोल, लौकिक विश्वास, आर्थिक एवं व्यापारिक अवस्था एव सर्वविध जीवन की पूरी सामग्री हमे 'जातक' मे मिलती है। 'जातक' केवल कथाओ का सग्रह भर नही है। बौद्ध साहित्य मे तो उसका स्थान सर्वमान्य है ही। स्थविरवाद के समान महायान मे भी उसकी प्रभूत महत्ता है, यद्यपि उसके रूप के सम्बन्ध मे कुछ थोडा-बहुत परिवर्तन है। बौद्ध साहित्य के समान समग्र भारतीय साहित्य मे और इतना ही नही समग्र विश्व-साहित्य में 'जातक' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार भारतीय सभ्यता के एक युग का ही वह निदर्शक नही है, बल्कि उसके प्रसार की एक अद्‌भुत गाथा भी 'जातक' मे समाई हुई है। विशेषत. भारतीय इतिहास में 'जातक' के स्थान को कोई दूसरा ग्रन्थ नही ले सकता। बुद्धकालीन भारत के सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक जीवन को जानने के लिए 'जातक' एक उत्तम साधन है। चूकि उसकी सूचना प्रासङ्गिक रूप से ही दी गई है, इसलिए वह और भी अधिक प्रामाणिक है और महत्त्वपूर्ण भी।[1] 'जातक' के आधार पर यहाँ बुद्धकालीन भारत का संक्षिप्ततम विवरण भी नही दिया जा सकता। जातक की निदान-कथा में हम तत्कालीन भारतीय भूगोल-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचना पाते हैं। वहाँ कहा गया है कि जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) दस हजार योजना बड़ा

१. देखिये डा० विमलाचरण लाहा के ग्रन्थ "Geography of Early Buddhism" में डा० एफ० डब्ल्यू० थॉमस का प्राक्कथन।

है। मध्य-देश की सीमाओं का उल्लेख वहाँ इस प्रकार किया गया है "मध्य देश की पूर्व दिशा में कजंगला नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल (के वन) हैं और, फिर आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश। पूर्व-दक्षिण मे सललवती नामक नदी है उसके आगे सीमान्त देश। दक्षिण दिशा मे सेतकण्णिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा में थून नामक ब्राह्मण ग्राम है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश।"[१] यह वर्णन यहाँ विनय-पिटक से लिया गया है और बुद्ध-कालीन मध्य-देश की सीमाओं का प्रामाणिक परिचायक माना जाता है। जातक के इसी भाग मे नेरंजरा, अनोमा आदि नदियों, पाण्डव पर्वत, वैभारगिरि, गयासीस आदि पर्वतों, उरुवेला, कपिलवस्तु, वाराणसी, राजगृह, लुम्बिनी, वैशाली, श्रावस्ती आदि नगरो और स्थानों, एवं उत्कल देश (उड़ीसा) का तथा यष्टिवन (लट्ठि वन) आदि वनो का उल्लेख मिलता है। सम्पूर्ण जातक मे इस सम्बन्धी जितनी सामग्री भरी पड़ी है, उसका ठीक अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। सम्पूर्ण कोशल और मगध का तो उसके ग्रामो, नगरो, नदियों और पर्वतो के सहित वह पूरा वर्णन उपस्थित करता है। सोलह महाजनपदो (जिनका नामोल्लेख अगुत्तर-निकाय मे मिलता है) का विस्तृत विवरण हमें अस्सपदान जातक में मिलता है। महासुतसोम जातक (५३७) मे हमे कुरु-देश के विस्तार के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इसी प्रकार धूमाकारि जातक (४१३) मे कहा गया है कि युधिष्ठिर गोत्र के राजा का उस समय वहाँ राज्य था। कुरु-देश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ का विस्तार ३०० योजन (त्रियोजनसते कुरुरट्ठे) महासुत-सोम जातक (५३७) मे दिया गया है। धनजय, कोरव्य और सुतसोम आदि कुरु-राजाओ के नाम कुरुधम्म जातक (२७६), धूमकारि जातक (४१३), सम्भव जातक (५१५) और विधुर पंडित जातक (५४५) मे आते है। उत्तर पचाल के लिए कुरु और पचाल वशो मे झगड़ा चलता रहा, इसकी सूचना हम चम्पेय्य जातक (५०६) तथा अन्य अनेक जातकों में पाते है। कभी वह कुरु-राष्ट्र मे सम्मिलित हो जाता था (सोमनस्स-जातक, ५०५)[२] और कभी कम्पिल-

---

१. जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ ६४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)
२. मिलाइये महाभारत १।१३८ भी।

राष्ट्र में भी, जिसका साक्ष्य ब्रह्मदत्त जातक (३२३), जयद्दिस जातक (५१३) और गण्डतिन्दु जातक (५२०) में विद्यमान है।[१] पञ्चाल-राज दुर्मुख निमि का समकालिक था, इसकी सूचना हमें ४०८ संख्या के जातक से मिलती है। अस्सक (अश्मक) राष्ट्र की राजधानी पोतन या पोतलि का उल्लेख हमें चुल्ल-कलिङ्ग जातक (३०१) में मिलता है। मिथिला के विस्तार का वर्णन सुरुचि जातक और गन्धार जातक (४०६) में है। महाजनक जातक (५३९) में मिथिला का बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना महाभारत ३. २०६. ६-९ से की जा सकती है। सागल नगर का वर्णन कलिङ्गबोधिजातक (४७९) और कुश जातक (५३१) में है। काशी राज्य के विस्तार का वर्णन धजविदेह जातक (३९१) में है। उसकी राजधानी वाराणसी के केतुमती, सुरुन्धन, सुदस्सन, ब्रह्मवड्ढन, पुप्फवती, रम्मनगर और मोलिनी आदि नाम थे, ऐसा साक्ष्य अनेक जातकों में मिलता है।[२] तण्डुलनालि जातक (५) में वाराणसी के प्राकार का वर्णन है। तेलपत्त जातक (९६) और सुसीम जातक (१६३) में वाराणसी और तक्षशिला की दूरी १२० योजन बताई गई है। कुम्भकार जातक (४०८) में गन्धार के राजा नग्गजि या नग्नजित् का वर्णन है। कुरु जातक (५३१) में मल्लराष्ट्र और उसकी राजधानी कुसावती या कुसिनारा का वर्णन है। चम्पेय्य जातक (५०६) में अङ्ग और मगध के संघर्ष का वर्णन है। वत्स राज्य और उसके अधीन भग्ग-राज्य की सूचना धोनसाख जातक (३५३) में मिलती है। इन्द्रिय जातक में सुरट्ठ, अवन्ती, दक्षिणापथ, दण्डकवन, कुम्भवति नगर आदि का वर्णन है। बिम्बिसार सम्बन्धी महत्वपूर्ण सूचना जातकों में भरी पड़ी है। महाकोशल की राजकुमारी कोसलादेवी के साथ उसके विवाह का वर्णन और काशी गाँव की प्राप्ति का उल्लेख हरितमातक जातक (२३९) और वड्ढकिसूकर जातक (२८३) आदि जातकों में है। मगध और कोसल के संघर्षों का और अन्त में उनकी एकता का उल्लेख वड्ढकिसूकर जातक, कुम्मासपिंड जातक, तच्छसूकर जातक और भद्दसाल

---

१. मिलाइये कुम्भकार जातक (४०८) भी

२. देखिये, डायलॉग्स ऑव दि बुद्ध, तृतीय भाग, पृष्ठ ७३; कारमाइकेल लेक्चर्स, (१९१८), पृष्ठ, ५०-५१

जातक आदि अनेक जातकों में है। इस प्रकार बुद्धकालीन राजाओं, राज्यों, प्रदेशों, जातियों, ग्रामों, नगरों आदि का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है।[१] तिलमुट्ठि जातक (२५२) में हमें बुद्धकालीन शिक्षा, विशेषतः उच्च शिक्षा, का एक उत्तम चित्र मिलता है। महापाल जातक (५२४) और दरीमुख जातक (३७८) में मगध के राजकुमारों की तक्षशिला में शिक्षा का वर्णन है। शिक्षा के विधान, पाठ्य-क्रम, अध्ययन-विषय उनके व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष, निवास, भोजन, नियन्त्रण आदि के विषय में पूरी जानकारी हमें जातकों में मिलती है। बनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैनी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, तक्षशिला आदि प्रसिद्ध नगरों को मिलाने वाले मार्गों का तथा स्थानीय व्यापार का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है। काशी से चेदि जाने वाली सड़क का उल्लेख वेदब्भ जातक (४८) में है। क्या क्या नाना पेशे उस समय लोगों में प्रचलित थे, कला और दस्तकारी की क्या अवस्था थी तथा व्यवसाय किस प्रकार होता था, इसके अनेक चित्र हमें जातकों में मिलते हैं। बावेरु जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) से हमें पता लगता है कि भारतीय व्यापार विदेशों में भी होता था और भारतीय व्यापारी सुवर्ण-भूमि (बरमा से मलाया तक का प्रदेश) तक व्यापार के लिए जाते थे। भरुकच्छ उस समय एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। जल के मार्गों का भी जातकों में स्पष्ट उल्लेख है। लौकिक विश्वासों आदि के बारे में देवधम्म जातक (६) और नल-पान जातक (२०) आदि में; समाज में स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में अण्डभूत जातक (६२) आदि में; दासों आदि की अवस्था के सम्बन्ध में कटाहक जातक (१२५) आदि में, सुरापान आदि के सम्बन्ध में सुरापान जातक (८१) आदि में; यज्ञ में जीव-हिंसा के सम्बन्ध में दुम्मेध जातक (५०) आदि में, व्यापारिक संघों

---

१. डा० विमलाचरण लाहा का "Geography of Early Buddhism" बुद्धकालीन भूगोल पर एक उत्तम ग्रन्थ है, जिसमें जातक के अलावा त्रिपिटक के अन्य अंशों से भी सामग्री संकलित की गई है। डा० लाहा के 'Some Kshatriya Tribes of Ancient India', तथा 'Ancient Indian Tribes' आदि पालि त्रिपिटक पर आधारित ग्रन्थ बुद्धकालीन भारत के अनेक पक्षों का प्रामाणिक विवरण उपस्थित करते हैं।

और डाकुओ के भय आदि के सम्बन्ध मे खुरप्प जातक (२६५) और तत्कालीन शिल्पकला आदि के विषय में महाउम्मग्ग जातक (५४६) आदि में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है, जिसका यहाँ वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। सचमुच त्रिपिटक मे यदि ऐतिहासिक , भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सूचनाओ के लिए यदि किसी ग्रन्थ का महत्व सब से अधिक है तो 'जातक' का। रायस डेविड्स ने 'बुद्धिस्ट इन्डिया' में बुद्धकालीन भारत का चित्र उपस्थित किया है। उसमे उन्होंने एक अध्याय (ग्यारहवाँ अध्याय) 'जातक' के विवेचन के लिए दिया है। बुद्धकालीन राजवशों, विभिन्न जातियों, जन-तन्त्रो, भौगोलिक स्थानो, ग्रामो, नगरो, नदियो, पर्वतो, मनुष्यो के पेशो आदि के सम्बन्ध मे जातको से जो महत्त्वपूर्ण उद्धरण वहाँ दिये गये है, यदि उनका सक्षिप्ततम विवरण भी दिया जाय तो प्रस्तुत परिच्छेदाश जातक का विवेचन न होकर बुद्धकालीन भारत का ही विवरण हो जायगा। फिर यही अन्त नही है। बुद्धकालीन भारत के अनेक पक्षो को लेकर विद्वानो ने अलग-अलग महाग्रन्थ लिखे है और उनमे प्राय. जातक का ही आश्रय अधिकतर लिया गया है। रायस डेविड्स के उपर्युक्त ग्रन्थ के अलावा डा० विमलाचरण लाहा का बुद्धकालीन भूगोल सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।[१] डा० फिक का बुद्धकालीन सामाजिक अवस्था पर प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[२] डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने 'इडियन शिपिंग' मे भारतीय व्यापार का विस्तृत विवेचन किया है और एक अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ मे वैदिक और बौद्धयुगीन शिक्षा पद्धति का भी।[3] इसी प्रकार आर्थिक और व्यावसायिक परिस्थितियो पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और प्रबन्ध है।[४] बीसो की सख्या इसी प्रकार गिनाई जा सकती

१. Geography of Early Buddhism, केगन पॉल, लन्दन १९३२; देखिये उसका India as Described in Early Texts of Jainism and Buddhism भी।

२. मूल ग्रन्थ जर्मन में है। अंग्रेजी में "The Social Organization in North-East India in Buddha's Time" शीर्षक से डा० मैत्र ने अनुवाद किया है। कलकत्ता, १९२०

३. Ancient Indian Education, Brahmanical and Buddhist, Macmillan.

४. उदाहरणार्थ श्रीमती रायस डेविड्स : Notes on Early Economic Conditions in Northern India, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक

है। यदि पालि साहित्य के इतिहास का लेखक इन अनेक ग्रन्थों, महाग्रन्थो, में मे उल्लिखित जातक-सामग्री का उल्लेख अपने जातक-परिचय मे कराना चाहे तो यह उसकी धृष्टता ही होगी। यह अनेक महाग्रन्थो का विषय है। यदि वह इसके निदर्शन का प्रयत्न करेगा तो महासमुद्र मे अपने को गिरा देगा। उसका मूर्धापात हो जायगा।

यही बात वास्तव मे जातक के भारतीय साहित्य और विदेशी साहित्य पर प्रभाव की है। पहले बौद्ध साहित्य और कला मे उसके स्थान और महत्त्व को ले। जैसा पहले कहा जा चुका है, बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायो मे 'जातक' का महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। महायान और हीनयान को वह एक प्रकार से जोडने वाली कडी है, क्योकि महायान का बोधिसत्त्व-आदर्श यहाँ अपने बीज-रूप मे विद्यमान है। हम पहले देख चुके है कि दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के साँची और भरहुत के स्तूपो मे जातक के अनेक दृश्य अकित है। 'मिलिन्दपञ्हो' मे अनेक जातक-कथाओ को उद्धृत किया गया है। पाँचवी शताब्दी मे लका मे उसके ५०० दृश्य अंकित किये जा चुके थे। अजन्ता की चित्रकारी मे भी महिस जातक (२७८) अकित है ही। बोध-गया मे भी उसके अनेक चित्र अकित है। इतना ही नही जावा के बोरोबदूर स्तूप (९वी शताब्दी ईसवी) मे, बरमा के पेगन स्थित पेगोडाओ मे (१३वी शताब्दी ईसवी) और सिआम के सुखोदय नामक प्राचीन नगर (१४वी शताब्दी) मे जातक के अनेक दृश्य चित्रित मिले है। अत जातक का महत्त्व भारत मे ही नही, बृहत्तर भारत मे भी, स्थविर-वाद बौद्ध धर्म मे ही नही, बौद्ध धर्म के अन्य अनेक के रूपों में भी, स्थापित है।

अब भारतीय साहित्य मे जातकों के महत्त्व और स्थान को ले। यदि काल-क्रम की दृष्टि से देखे तो वैदिक साहित्य की शुन शेप की कथा, यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी सवाद आदि कथानक ही बुद्ध-पूर्व काल के हो सकते है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदो की आख्यायिकाएँ भी बुद्ध-पूर्व काल की मानी जा सकती है, और इसी प्रकार ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण के कुछ

सोसायटी, १९०१; रतिलाल मेहता : Pre-Buddhist India; डा० रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, अध्याय ६ (Economic Conditions) पृष्ठ ८७-१०७

आख्यान भी । पर इनका भी जातकों से और सामान्यतः पालि साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है । हम देख चुके हैं कि तेविज्ज-सुत्त (दीघ १।१३) में अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अङ्गिरा, भरद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप और भृगु इन दस मन्त्रकर्ता ऋषियों के नाम के साथ-साथ ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण और छन्दावा ब्राह्मण का भी उल्लेख हुआ है ।[१] इसी प्रकार हम यह भी देख चुके हैं कि मज्झिम-निकाय के अस्सलायण-सुत्तन्त (२।५।३) के आश्वलायन ब्राह्मण को प्रश्न-उपनिषद् के आश्वालायन से मिलाया गया है । मज्झिम-निकाय के आश्वलायन श्रावस्ती-निवासी है और वेद-वेदाङ्ग में पारङ्गत (तिण्ण वेदान पारगू सनिघण्डु-केटभानं) हैं, इसी प्रकार प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन भी वेद-वेदाङ्ग के महापडित है और कौसल्य (कोशल-निवासी) है ।[२] जातको में भी वैदिक साहित्य के साथ निकट सम्पर्क के हम अनेक लक्षण पाते है । उद्दालक जातक (४८७) में उद्दालक के तक्षशिला जाने और वहाँ एक लोकविश्रुत आचार्य की सूचना पाने का उल्लेख है । इसी प्रकार सेतुकेतु जातक (३७७) मे उद्दालक के पुत्र श्वेतुकेतु का कलाओ की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाने का उल्लेख है । शतपथ ब्राह्मण (११.४.१-१) मे उद्दालक को हम उत्तरापथ मे भ्रमण करते हुए देखते हैं । अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना असंगत नही है कि जातकों के उद्दालक और श्वेतुकेतु ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदो के इन नामो के व्यक्तियो से भिन्न नहीं है ।[३] जर्मन विद्वान् लूडर्स ने सेतकेतु जातक (३७७) में आने वाली गाथाओं को 'वैदिक आख्यान और महाकाव्य-युगीन काव्य को मिलाने वाली कड़ी' कहा है,[४] जो समुचित

---

१. देखिये पीछे दीघ-निकाय की विषय-वस्तु का विवेचन ।

२. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ २१ (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९३२)

३. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ४१ (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९३२); विन्टरनित्ज़ः इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३

४. "connecting link between the vedic epic आख्यान and the epic poetry" विन्टरनित्ज़-कृत इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३, पद-संकेत २ में उद्धृत ।

ही है। रामायण और महाभारत के साथ जातक की तुलना करते समय हमें एक बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि इन दोनों ग्रन्थों के सभी अंश बुद्ध-पूर्व युग के नहीं हैं। रामायण के वर्तमान रूप में २४००० श्लोक पाये जाते हैं। जनश्रुति भी है और स्वयं रामायण में कहा भी गया है 'चतुर्विंश सहस्राणि श्लोकानाम् उक्तवान् ऋषिः' (१. ४ २)। किन्तु बौद्ध महाविभाषा-शास्त्र में सिद्ध है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी में भी रामायण में केवल १२००० श्लोक थे।[1] रामायण २-१९०-९४ में 'बुद्ध तथागत' का उल्लेख आया है।[2] इसी प्रकार शक, यवन आदि के साथ संघर्ष (शकान् यवनमिश्रितान्- १-५४-२१) का वर्णन है। किष्किन्धा-काण्ड (४. ४३-११-१२) में सुग्रीव के द्वारा कुरु, मद्र और हिमालय के बीच में यवनों और शकों के देश और नगरों को स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध है कि जिस समय ये अंश लिखे गये, ग्रीक और सिथियन लोग पंजाब के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा चुके थे। अतः रामायण के काफी अंश महाराज बिंबिसार या बुद्ध के काल के बाद लिखे गये।[3] महाभारत में इसी प्रकार एडुकों (बौद्ध मन्दिरों) का स्पष्ट उल्लेख है।[4] बौद्ध विशेषण चातुर्महाराजिक भी वहां आया है (१२-३३९-४०)। रोमक (रोमन) लोगों का भी वर्णन (२-५१-१७) है। इसी प्रकार सिथियन और ग्रीक आदि लोगों का भी (३-१८८-३५)। आदि पर्व (१-६७-१३-१४) में महाराज अशोक को 'महासुर' कहा गया है और महावीर्योऽपराजितः' के रूप में उसकी प्रशंसा की गई है। शान्ति पर्व में विष्णुगुप्त कौटिल्य (द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व) के शिष्य कामन्दक का भी अर्थविद्या के आचार्य के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध है कि महाभारत के वर्तमान रूप

१. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (तृतीय संस्करण, १९३२)

२. उद्धरण के लिये देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २४ (वस्तुकथा) पद-संकेत ३ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

३. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (तृतीय संस्करण १९३२)

४. देखिये वहीं, पृष्ठ ४-५

का काफी अंश बुद्ध, अशोक और कौटिल्य विष्णुगुप्त के बाद के युग का है।[1] जातक की अनेक गाथाओ और रामायण के श्लोकों मे अद्भुत समानता है।[2] दसरथ जातक (४६१) और देवधम्म जातक (६) में हमे प्राय. राम-कथा की पूरी रूपरेखा मिलती है। जयद्दिस जातक (५१३) मे राम का दण्डकारण्य जाना दिखाया गया है। इसी प्रकार साम जातक (५४०) की सदृशता रामायण २. ६३-२५ से है और विन्टरनित्ज़ के मत मे जातक का वर्णन अधिक सरल और प्रारम्भिक है।[3] वेस्सन्तर जातक (५४७) के प्रकृति-वर्णन का साम्य इसी प्रकार वाल्मीकि के प्रकृति-वर्णन से है और इस जातक की कथा के साथ राम की कथा मे भी काफी सदृशता है।[4] महाभारत के साथ जातक की तुलना अनेक विद्वानों ने की है। उनके निष्कर्षों को यहाँ सक्षिप्ततम रूप मे भी रखना वास्तव में बड़ा कठिन है। सब से बडी बात यह है कि महाजनक जातक (५३९) के जनक उपनिषदों और महाभारत के ही ब्रह्मज्ञानी जनक है।[5] इसमे तनिक भी सन्देह नही। मिथिला के प्रासादो को जलते देखकर जनक ने कहा था 'मिथिलायां प्रदीप्ताया न मे दह्यति किंचन' (महाभारत १२-१७, १८-१९, २१९-५०)। ठीक उनका यही कथन हमे महाजनक जातक (५३९) में भी मिलता है तथा ४०८ और ५२९ सख्याओ के जातको में भी। अत दोनो व्यक्ति एक है. इसमें तनिक भी सन्देह का अवकाश नहीं। इसी प्रकार ऋष्य शृङ्ग (पालि इसिसिङ्ग) की पूरी कथा नलिनिका जातक (५२६) मे है। युधिष्ठिर (युधिट्ठिल) और विदुर (विधूर) का संवाद जातक-संख्या ४९५ मे है। कुणाल

---

१. अधिक प्रमाणों के लिए देखिये, वहीं, पृष्ठ ४-५

२. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २५ पद-संकेत १ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४७, पद-संकेत ४

४. विंटरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५२

५. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६, विन्टरनित्ज़ : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४६; हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३६-३७ (तृतीय संस्करण, १९३२), आदि, आदि

जातक (५३६) में कृष्ण और द्रौपदी की कथा है। इसी प्रकार घट जातक (३५५) में कृष्ण द्वारा कंस-वध और द्वारका बसाने का पूरा वर्णन है। महा-कण्ह जातक (४६९) निमि जातक (५४१) और महानारदकस्सप जातक (५४४) में राजा उशीनर और उसके पुत्र शिवि का वर्णन है। सिविजातक (४९९) में भी राजा शिवि की दान-पारमिता का वर्णन है। अतः कहानी मूलतः बौद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। महाभारत में १०० ब्रह्मदत्तों का उल्लेख है (२८२३)[1] सम्भवतः ब्रह्मदत्त किसी एक राजा का नाम न होकर राजाओं का सामान्य विशेषण था जिसे १०० राजाओं ने धारण किया। दुम्मेध जातक (५०) में भी राजा और उसके कुमार दोनों का नाम ब्रह्मदत्त बताया गया है। इसी प्रकार गगमाल जातक (४२१) में कहा गया है कि ब्रह्मदत्त कुल का नाम है। ससीम जातक (४११) कुम्मासपिंड जातक (४१५) अट्ठान जातक (४२५) लोमस्सकस्सप जातक (४३३) आदि जातकों की भी यही स्थिति है। अतः जातकों में आए हुए ब्रह्मदत्त केवल 'एक समय' के पर्याय नहीं हैं ऐसा कहा जा सकता है। उनमें कुछ न कुछ ऐतिहासिकता भी अवश्य है। रामायण और महाभारत के अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य में भी जातक-गाथाएँ उल्लिखित हैं[2] प्राचीन जैन साहित्य में भी[3] और पंचतन्त्र, हितोपदेश, वैताल पंचविंशति, कथासरित्सागर तथा पैशाचीप्राकृत-निबद्ध 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) में भी जातक का प्रभाव किस प्रकार स्पष्टतः उपलक्षित है इसके निदर्शन के लिए तो कई महाग्रन्थों की आवश्यकता होगी।

'जातक' ने विदेशी साहित्य को भी किस प्रकार प्रभावित किया है और किस प्रकार उसके माध्यम से बुद्ध-वचनों का गमन दूरस्थ देशों में, यूरोप तक, हुआ है इसकी कथा भी बड़ी अद्भुत है। जिस प्रकार जातक-कथाएँ समुद्र-मार्ग से लंका बरमा सिआम, जावा, सुमात्रा, हिन्द-चीन आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को गईं और वहाँ स्थापत्य-कला आदि में चित्रित की गईं, उसी प्रकार स्थल-मार्ग से हिन्दुकुश और हिमालय को पार कर पच्छिमी देशों तक उनके

---

१. मिलाइये "शतं वै ब्रह्मदत्तानाम्" (मत्स्य पुराण)

२. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, पृष्ठ १७

३. विन्टरनित्ज इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४५, पद-संकेत २

पहुँचने की यात्रा भी बडी लम्बी और मनोहर है। पिछले पचास-साठ वर्षों की ऐतिहासिक गवेषणाओ से यह पर्याप्त रूप से सिद्ध हो चुका है कि बुद्ध-पूर्व काल मे भी विदेशो के साथ भारत के व्यापारिक सम्पर्क थे। बावेर जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) मे हम इन सम्बन्धो की पर्याप्त झलक देख ही चुके है। द्वितीय-शताब्दी ईसवी पूर्व से ही अलसन्द (अलेक्जेन्ड्रिया) जिसे अलक्षेन्द्र (अलेक्जन्डर) ने बसाया था, पूर्व और पश्चिम की सस्कृतियो का मिलन-केन्द्र हो गया था। वस्तुत पश्चिम मे भारतीय साहित्य और विशेषत जातक-कहानिया की पहुँच अरब और फिर उनके बाद ग्रीक लोगो के माध्यम से हुई। पञ्चतन्त्र मे अनेक जातक-कहानियाँ विद्यमान है यह तथ्य सर्वविदित है। छठी शताब्दी ईसवी मे पचतन्त्र का अनुवाद पहलवी भाषा म किया गया। आठवी शताब्दी मे 'कलेला दमना' शीर्षक से उसका अनवाद अरबी म किया गया। कलेला दमना' शब्द ककट' और 'दमनक' के अरबी रूपान्तर ह। पन्द्रहवी शताब्दी मे पचतत्र के अरबी अनुवाद का जर्मन भाषा म अनुवाद हुआ, फिर धीरे-धीरे सभी यूरोपीय भाषाओ मे उसका रूपान्तर हो गया। यह हमने पचतन्त्र के माध्यम से जातक-कथाओ के प्रसार की बात कही है। वास्तव मे सीधे रूप से भी जातक ने विदेशी साहित्य को प्रभावित किया है और उसकी कथा भी अत्यन्त प्राचीन है।

ग्रीक साहित्य म ईसप की कहानियाँ प्रसिद्ध है। फ्रेंच, जर्मन और अग्रेज विद्वानो की खोज से सिद्ध है कि ईसप एक ग्रीक थे, यद्यपि उनके काल के विषय मे अभी पूर्ण निश्चय नही हो पाया है। ईसप की कहानियो का यूरोपीय साहित्य पर बडा प्रभाव पडा है और विद्वानो के द्वारा यह दिखा दिया गया है कि ईसप की प्राय प्रत्येक कहानी का आधार जातक है।[1] यही बात अलिफलैला की कहा-नियो के सम्बन्ध मे भी है। समुग्ग जातक (४३६) का तो सीधा सम्बन्ध अलिफलैला की एक कहानी से दिखाया ही गया है।[2] अन्य अनेक कहानिया की

---

१. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज़, पृष्ठ ३२ (भूमिका)

२. देखिये डा० हेमचन्द्र राय चौधरी का "बुद्धिज्म इन वेस्टर्न एशिया" शीर्षक लेख डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्टिक स्टडीज़' में, पृष्ठ ६३९-६४०

भी तुलना विद्वानों ने की है।[1] आठवी शताब्दी मे अरबो ने यूरोप पर आक्रमण किया। स्पेन और इटली आदि को उन्होने रोद डाला। उन्ही के साथ जातक-कहानियाँ भी इन देशो में गईं और उन्होने धीरे धीरे सारे यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया। फ्रान्स के मध्यकालीन साहित्य मे पशु-पक्षी सम्बन्धी कहानियो की अधिकता है। फ्रेंच विद्वानो ने उन पर 'जातक' के प्रभाव को स्वीकार किया है। बायबिल और विशेषत सन्त जोन के सुसमाचार की अनेक कहानियों और उपमाओं की तुलना पालि त्रिपिटक और विशेषत 'जातक' के इस सम्बन्धी विवरणो से विद्वानो ने की है। ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव पडा है, यह अब प्राय निर्विवाद माना जाने लगा है। इस प्रभाव में अन्य अनेक तत्त्वों के अतिरिक्त 'जातक' का भी काफी सहयोग रहा है। ईसाई सन्त प्लेसीडस की कथा की तुलना न्यग्रोधाराम जातक (१२) की कथा से की गई है, यद्यपि विन्टरनित्ज ने उसमे अधिक साम्य नही पाया है।[2] पर सब से अधिक साम्य तो मध्य-युग की रचना 'बरलाम एण्ड जोसफत' का जातक के 'बोधिसत्व' से है। इस रचना में, जो मूलत छठी या सातवी शताब्दी ईसवी मे पहलवी मे लिखी गई थी, भगवान् बुद्ध की जीवनी ईसाई परिधान मे वर्णित की गई है। बाद मे इस रचना के अनुवाद अरब, सीरिया इटली और यूरोप की अन्य भाषाओं मे हुए। 'जोसफत' शब्द अरबी 'युदस्तफ' का रूपान्तर है, जो स्वय सस्कृत 'बोधिसत्व' का अरबी अनुवाद है। ईसाई धर्म मे सन्त 'जोसफत' को (जिनका न केवल नाम, बल्कि पूरा जीवन बोधिसत्व-बुद्ध का है) ईसाई सन्त के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] यह एक बडी अद्भुत किन्तु ऐतिहासिक रूप से सत्य बात है। श्रीमती रायस डेविड्स ने तो शेक्सपियर के मर्चेंट ऑव वेनिस मे 'तीन डिबियों' तथा 'आध सेर मास' के वर्णन मे तथा 'ऐज यू लाइक इट' मे 'बहुमूल्य रत्नो' के विवरण मे जातक के प्रभाव को ढूढ निकाला है, एव स्लेवोनिक जाति के साहित्य

---

१. मिलाइये विन्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३०, पद-संकेत २, आदि, आदि।

२. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५०, पद-संकेत २

३. देखिये जातक (प्रथमखंड) पृष्ठ३०, पद-संकेत १ (वस्तुकथा)

म तथा प्राय सभी पूर्वी यूरोप के साहित्य मे 'जातक' के प्रभाव की विद्यमानता दिखाई है ।[1] भिक्षु शीलभद्र ने पर्याप्त उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि निमि जातक (५४१) ही चौदहवी शताब्दी के इटालियन कवि दाँते की प्रसिद्ध रचना (Divina Comedia) का आधार है ।[2] जर्मन विद्वान् बेन्फे न 'जातक' को विश्व के कथा-साहित्य का उद्गम कहा है, जो तथ्यो के प्रकाश म अतिशयोक्ति नही कहा जा सकता । इस प्रकार भारतीय साहित्य और सस्कृति के साथ विश्व के साहित्य और सभ्यता के इतिहास मे 'जातक' के स्थान और महत्व के इस सक्षिप्त दिग्दर्शन के बाद अब हम खुद्दक निकाय के अन्य ग्रन्थो पर आते है ।

निद्देस

निद्देस के दो भाग है, महानिद्देस और चूल निद्देस । महानिद्देस सुत्त-निपात क अट्ठक वग्ग की व्याख्या है । इसी प्रकार चूल निद्देस एक प्रकार सुत्त-निपात के ही खग्ग विसाण सुत्त और पारायण की व्याख्या है । इस प्रकार पूरा निद्देस सुत्त-निपात के एक भाग की ही अट्ठकथा है । परम्परा से यह सारिपुत्र की रचना बताई जाती है । 'महानिद्देस' मे हमे उन स्थानो, देशो और बन्दरगाहो की सूची मिलती है जिनके साथ भारत का व्यापार पाँचवी-छठी शताब्दी ईसवी पूर्व होता था । समुद्र नदी और स्थल के कौन-कौन से मार्ग थे इसका भी पूरा विवरण हमे यहाँ मिलता है ।

---

1. "Thus for instance the Three Caskets and the Pound of Flesh in the Merchant of Venice and the Precious Jewels which in 'As You Like It' the venomous toad wears in his head, are derived from the Buddhist tales. In a simi lar way, it has been shown that tales current among the Hungarians and the numerous peoples of the Slavonic race have been derived from the Buddhist sources, through translations made for the Huns, who penetrated in the time of Genghis Khan into the East of Europe
बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ १२ (भूमिका)
२. **देखिये उनका** Influence of the Buddhist Jatakas on European Literature" **शीर्षक लेख, महाबोधि, जनवरी १९५०, पृष्ठ १०-१६; मिलाइये दि बुद्धिस्ट, जनवरी, १९४८, पृष्ठ ११८-१२० (कोलम्बो, सिंहल),**

पटिसम्भिदामग्ग

इस ग्रन्थ का विषय अर्हत् के प्रतिसवित् सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे तीन मुख्य भाग है, जिनमे से प्रत्येक में १० परिच्छेद है। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शैली और विषय दोनो की दृष्टि से अभिधम्म पिटक से अधिक है। इसका कुछ विवरण हम आगे अभिधम्म पिटक का विवेचन करते समय करेंगे।

अपदान

अपदान (स० अवदान) खुद्दक-निकाय के उत्तरकालीन ग्रन्थो मे से है। इसमें बौद्ध भिक्षुओ और भिक्षुणियों के पूर्व जन्मो के महान् कृत्यो का वर्णन है। जातक के समान इसकी भी कहानी के दो भाग होते है, एक अतीत जन्म-सम्बन्धी और दूसरा वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) जीवन-सम्बन्धी। अपदान दो भागों मे विभक्त है, थेर-अपदान और थेरी-अपदान। थेर-अपदान में ५५ वर्ग है और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान है। थेरी-अपदान मे ४ वर्ग है, जिनमे भी प्रत्येक मे १० अपदान है। साहित्य या इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व नहीं है। हां, इसी ग्रन्थ पर सस्कृत बौद्ध साहित्य का अवदान-साहित्य अधिकांशत आधारित है, यह इसका एक महत्त्व अवश्य कहा जा सकता है। 'अपदान' मे चीनी लोगो के व्यापारार्थ उत्तरी पजाब मे आने का उल्लेख है।

बुद्धवंस[1]

बुद्धवस २८ परिच्छेदो का एक पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमे गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ अन्य बुद्धो की जीवनियो का विवरण है। गौतम बुद्ध के जीवनी सम्बन्धी अश को छोड कर शेष तो प्राय पौराणिक ढग का ही है, अत उसका महत्त्व भी केवल उसी दिशा मे समझना चाहिए।

चरियापिटक[2]

चरियापिटक मे भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मो की चर्याओ का वर्णन है, जिसमे

---

१. २. इनके देवनागरी संस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित किए जा चुके है, जिन्हें महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने सम्पादित किया है। चरियापिटक' का देवनागरी लिपि में सम्पादन डा० विमलाचरण लाहा ने भी किया है, जिसे मोतीलाल बनारसीदास, लाहोर, ने प्रकाशित किया था।

-यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान् ने नाना पारमिताओं को पूरा किया था। दस पारमिताओं में से यहाँ केवल सात का उल्लेख है, यथा दान, शील, नैष्कर्म्य अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा। प्रज्ञा, वीर्य और क्षान्ति का वर्णन नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ६ परिच्छेदों में है जिनमें कुल मिला कर ३५ जीवन-चर्याओं का वर्णन है। प्रत्येक जीवन-चर्या का वर्णन एक जातक-कथा सा लगता है जिसे गाथात्मक रूप दे दिया गया है। नाम-साम्य भी दोनों में पूरा है। उदाहरण के लिए 'अकित्ति-चरिय' 'अकित्ति-जातक' का रूपान्तर मात्र है। इसी प्रकार 'सख-चरिय' सखपालजातक के, 'कुरुधम्म चरिय' 'कुरुधम्म जातक' के तथा इसी प्रकार शेष चर्याएँ प्राय उसी नाम के जातक के पद्यात्मक रूपान्तर मात्र हैं। जातक से अत्यन्त सम्बन्धित होते हुए भी चरियापिटक का कलात्मक रूप उस कोटि तक नहीं पहुँच पाया है। वैसे कई मनोहर गाथाएँ भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ती है।

चरियापिटक' की प्रत्येक 'चर्या' की तुलना किस जातक से है, यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होगा।

१—दान पारमिता

१ अकित्ति चरिय—अकित्ति जातक (४८०)
२ सख चरिय—सखपाल जातक (५२४)
३ कुरुधम्म चरिय—कुरुधम्म जातक (२७६)
४ महासुदस्सन चरिय—महासुदस्सन जातक (९५)
५ महागोविन्द चरिय—महोगोविन्द सुत्तन्त (दीघ निकाय)
६ निमिराज चरिय—निमि जातक (५४१)
७ चन्दकुमार चरिय—खडहाल जातक (५४२)
८ सिविराज चरिय—सिवि जातक (४९९)
९ वेस्सन्तर चरिय—वेस्सन्तर जातक (५४७)
१० ससपडित चरिय—सस जातक (३१६)

२—सील पारमिता

११. सीलवनाग चरियं—सीलवनाग जातक (७२)
१२. भूरिदत्त चरिय—भूरिदत्त जातक (५४३)
१३. चम्पेय्य नाग चरिय—चम्पेय्य जातक (५०६)
१४. चूल बोधि चरिय—चुल्लबोधि जातक (४४३)
१५. महिसराज चरिय—महिस जातक (२७८)
१६. ससराज चरिय—सस जातक (४८२)
१७. मातग चरिय—मातग जातक (४९७)
१८. धम्माधम्मदेवपुत्त चरिय—धम्म जातक (४५७)
१९. जयद्दिस चरिय—जयद्दिस जातक (५१३)
२०. संखपाल चरियं—सखपाल जातक (५२४)

३—नेक्खम्म पारमिता

२१. युधञ्जय चरिय—युवञ्जय जातक (४६०)
२२. सोमनस्स चरिय—सोमनस्स जातक (५०५)
२३. अयोघर चरिय—अयोघर जातक (५१०)
२४. भीस चरिय—भिस जातक (४८८)
२५. सोणपण्डित चरिय—सोणनन्द जातक (५३२)

४—अधिट्ठान पारमिता

२६. तेमिय चरियं—तेमिय जातक (५३८)

५—सच्च पारमिता

२७. कपिराज चरिय—कपि जातक (२५०)
२८. सच्चसव्हय चरिय—सच्चंकिर जातक (७३)
२९. वट्टपोतक चरिय—वट्ट जातक (३५)
३०. मच्छराज चरिय—मच्छ जातक (३४)
३१. कण्हदीपायन चरियं—कण्हदीपायन जातक (४४४)
३२. सुतसोम चरिय—महासुतसोम जातक (५३७)

६—मैत्री पारमिता

३७. सुवण्णसाम चरियं—सस जातक (५४०)

३८. एकराज चरिय—एकराज जातक (३०३)

७—उपेक्खा पारमिता

३९. महालोमहंस चरिय—लोमहंस जातक (९४)

चौथा अध्याय

विनय-पिटक

त्रिपिटक में विनय-पिटक[1] का स्थान

विनय-पिटक बौद्ध सघ का संविधान है। अत. धार्मिक दृष्टि से उसका बडा महत्त्व है। बुद्ध-धर्म का प्रथम तीन शताब्दियो का इतिहास विनय-पिटक सबधी विवादो और मतभेदो का ही इतिहास है। शास्ता के महापरिनिर्वाण के बाद ही 'क्षुद्रानुक्षुद्र' विनय-सम्बन्धी नियमो को लेकर भिक्षु-सघ मे विवाद उठ खडा हुआ था, जिसका प्रथम सघ-भेदक परिणाम वैशाली की सगीति मे दृष्टिगोचर हुआ और बाद मे तृतीय सगीति तक आते आते वह अष्टादश निकायो के रूप मे पूर्णत प्रस्फुटित हो गया। यह बात नही है कि इसके अन्य कारण न रहे हो, किन्तु विनय-विपरीत आचरण एक प्रमुख कारण था। यही कारण है कि स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा ने 'विनय-पिटक' को अपनी धर्म-साधना मे सदा एक अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है। बुद्ध के जीवन-काल मे ही उनके विद्रोही शिष्य देवदत्त ने विनय-सम्बन्धी नियमो मे कुछ अधिक कडाई की माँग की थी। उसने उस स्वतत्रता के विरुद्ध ही, जो तथागत ने अपने शिष्यो को दी थी, विद्रोह किया था। इसी प्रकार कौशाम्बिक भिक्षुओ के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् को खिन्न हो कर एक बार भिक्षु-सघ को कुछ काल के लिए छोड कर एकान्त-वास के लिए जाना पडा था। इन सब बातो से स्पष्ट था कि भगवान् ने जिस धम्म का उपदेश दिया था उसका साक्षात्कार बिना जीवन की पवित्रता के असम्भव था। उस पवित्रता के सम्पादन के लिए जिस साधन-मार्ग की आवश्यकता थी उसका वास्त-

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ १९३५; र० द० वडेकर ने विनय-पिटक के 'पातिमोक्ख' अंश का नागरी लिपि में सम्पादन किया है।

विक उपदेश तो उनके 'धम्म' में ही दे दिया गया था, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघो की स्थापना के बाद, उनमें कुछ असंयमी और अ-वैराग्यवान् व्यक्तियो के भी स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जाने के कारण, उनकी व्यवस्था को कुछ बाह्य नियमों मे भी बाँधने की आवश्यकता थी। यही कारण है कि हम विनय-पिटक में नाना प्रकार के नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से हुआ देखते हैं, जिनके प्रज्ञापन करने की उनके अपने उस प्राथमिक उपदेश-काल में, जब तपस्सु और भल्लिक जैसे उपासक केवल बुद्ध और धम्म की शरण जाते थे (सघ की स्थापना ही उस समय नही हुई थी, अत स्वभावत. पारिभाषिक अर्थो मे विनय-सम्बन्धी नियमो की भी नही) कोई आवश्यकता ही नही थी।[1] बुद्ध-धर्म की साधना का यह वह युग था जब बुद्ध कह सकते थे—

"यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्ञत्तं, तं मम सावका जीवितहेतु पि नातिक्कमन्ति (अंगुत्तर-निकाय) अर्थात् "जिन शिक्षापदों (सदाचार-नियमों) का मैंने उपदेश किया है, उनको मेरे शिष्य अपने प्राणों के लिये भी कभी नहीं तोड़ते।"

उस समय शिक्षा-पद थे, किन्तु वे धर्म मे ही अन्तर्हित थे। बोधिपक्षीय धर्मों की भावना और तदनुकूल आचरण स्वयं अपने आप में चित्त और काया की विशुद्धि के लिए एक अद्वितीय मार्ग था। चार आर्य-सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि सभी उस साधना के अंग थे। चार स्मृति-प्रस्थानों के विषय मे तो स्वय भगवान् ने कहा है "भिक्षुओ! प्राणियो की विशुद्धि के लिए. निर्वाण के साक्षात्कार के लिए, यही अकेला सर्वोत्तम मार्ग है।" कहने का तात्पर्य यही है कि जब भगवान् बुद्ध ने प्रारम्भ से ही सभी पाप-कर्मो को न करने, सभी कुशल कर्मों को करने और चित्त को संयमित कर उसे शुद्ध रखने का आदेश देते हुए अपने धम्म को प्रकाशित किया, तो 'विनय' उसमें स्वय अपने आप सम्मिलित था। लौकिक सफलता और महत्व-प्राप्ति के लिए भी जब संयम, या जिसे आज अनुशासन कहा जाता है, इतना आवश्यक है, तो ब्रह्मचर्य के उस महत् उद्देश्य के

---

१. यद्यपि विनय-पिटक के वर्णनानुसार यह काल बहुत कम दिन रहा, किन्तु इसकी सी पवित्रता तो बहुत दिन रही।

लिए, जिसकी महत्ता सभी लौकिक और पारलौकिक उद्देश्यों को अतिक्रमण करती है, कितना आवश्यक था, इसका सर्वोत्तम दर्शन हम बुद्ध-उपदेशों में ही होता है। स्वभावत शास्ता के धम्म और विनय दोनों एक चीज हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। उनके सामासिक स्वरूप 'धम्म-विनय' का भी यही रहस्य है।

जब कि बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार धम्म और विनय का एक सा ही महत्त्व है, 'विनय-पिटक' के नियम शास्ता के शासन के बाहरी रूप मात्र हैं। उनका मानसिक आधार निश्चित होते हुए भी स्वय उनका प्रज्ञापन उस अवस्था का सूचक है जब सघ मे प्रविष्ट कुछ अ-सयमी भिक्षु तथागत-प्रवेदित धर्म के विरुद्ध आचरण करने लगे थे। जब तक यह बात नही हुई तथागत को नियम विधान करने की आवश्यकता नही हुई। धर्मसेनापति के साथ भगवान् के इस सलाप मे यह बात स्पष्ट होगी। धर्मसेनापति सारिपुत्र भगवान् से प्रार्थना करते है "भन्ते ! भगवान् शिष्यों के लिए शिक्षा-पद का विधान करे, प्रातिमोक्ष का उपदेश करे, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो। भगवान् कहते है, "सारिपुत्र ! ठहरो, तथागत काल जानेगे। सारिपुत्र ! शास्ता तब तक श्रावकों (शिष्यों) के लिए शिक्षा-पद का विधान नही करते प्रातिमोक्ष का उपदेश नही करते, जब तक कि सघ मे कोई चित्त-मल वाले धर्म (पदार्थ) उत्पन्न नहीं होते। सारिपुत्र ! जब यहाँ सघ मे कोई चित्त-मल को प्रकट करने वाले धर्म पैदा हो जाते है, तो उन्ही का निवारण करने के लिए उन्ही के प्रतिघात के लिए, शास्ता श्रावकों को शिक्षा-पद का विधान करते है, प्रातिमोक्ष का उपदेश करते है (अभी तो) सारिपुत्र ! सघ मल-रहित, दुष्परिणाम-रहित, कालिमा-रहित, शुद्ध, सार मे स्थित है। इन पाँच सौ भिक्षुओं मे जो सब से पिछडा भिक्षु है, वह भी स्रोत-आपत्ति फल को प्राप्त, दुर्गति से रहित और स्थिर सबोधि-परायण है।"[1] अत निश्चित है कि विनय सम्बन्धी नियमो का उपदेश जैसे कि वे विनय-पिटक मे निहित है, भगवान् के द्वारा 'धर्म्म' के बाद दिया गया जब कि अधिक मल-ग्रस्त व्यक्ति उसके आधार पर अपना सुधार नही कर सके।

---

१. विनय-पिटक, पाराजिका १

एक बार शिक्षापदों और प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी नियमो का प्रज्ञापन करने के बाद संघ की स्थिति के लिए वह अत्यन्त आवश्यक हो गया। किन्तु शास्ता यह जानते थे कि एक बार आन्तरिक संयम से च्युत हो जाने के बाद उसे बाहरी नियमों के बन्धन में बाँध कर नही रक्खा जा सकता था। भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय भिक्षुणियो के लिए जीवन-पर्यन्त पालनीय आठ गुरु धर्मों (बड़ी शर्तों) का विधान करते समय ही शास्ता को यह प्रतिभान हो गया था कि यह बाहरी रोक-थाम अधिक दिन तक चल नही सकती। "आनन्द ! जैसे आदमी पानी को रोकने के लिए, बडे तालाब की रोक-थाम के लिए, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द ! मैंने रोक थाम के लिए, भिक्षुणियों को जीवन भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु धर्मों को स्थापित किया।" फलत "आनन्द ! अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।" विचार-स्वातन्त्र्य की महत्त्वानुभूति पर आश्रित बुद्ध-मन्तव्य कभी मनुष्य को बाहरी नियमों के बन्धन मे बाँधने वाला नहीं हो सकता था। जो कुछ भी नियम उन्होने आवश्यकतावश प्रज्ञप्त किये थे, उनमें से अनेक ऐसे भी हो सकते थे जो उसी युग और परिस्थिति के लिए अनुकूल हो और जिनका सार्वकालिक या सार्वजनीन महत्त्व प्रतिष्ठापित करना उसी बुद्धिहीनता, सकुचित वृत्ति और सच्चे उद्देश्य को छोड़ कर बाहरी रूप की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति का सूचक हो, जो धर्म-साधनाओ के इतिहास में अक्सर देखा जाता है, इसकी भी पूरी अनुभूति भगवान् बुद्ध को थी, यह हम परिनिर्वृत्त होने से पहले उनके इस आदेश मे देखते है "इच्छा होने पर संघ मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र (छोटे-मोटे) शिक्षा पदों को छोड़ दे।" संघ बाहरी बन्धन अनुभव न करे, इसीलिए उन्होने अपने बाद किसी व्यक्ति को जान बूझ कर उसका नेता तक नहीं चुना।[1] एकमात्र 'धम्म-विनय' रूपी नेता की शरण में ही उन्होंने भिक्षु-संघ को छोड़ा। उन्होने तो यहाँ तक कह दिया "भिक्षुओ ! मैंने बेड़े की भाँति निस्तरण के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नही। धर्म को बेड़े के समान उपदिष्ट जान कर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या ?"[2] यही बात विधि-निषेध-परक

---

१. देखिये विशेषतः महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ, २।३); गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त (मज्झिम ३।१।८)

२. अलगद्दूपम-सुत्त (मज्झिम १।३।२)

विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में भी कही जा सकती है। चेतना (चित्त) को ही कम्म (कर्म) कहने वाले[1] शास्ता का यह बाहरी नियम-विधान अन्तिम मन्तव्य नहीं हो सकता था, यह ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। किन्तु निर्बल, मल-ग्रस्त मानवता के लिए और क्या किया जाय? बाहरी नियम-विधानों से काम नहीं चलता, वे अपूर्ण ठहरते है, किन्तु उनके प्रज्ञापन किये बिना काम भी नहीं चलता! जब सम्यक् सम्बुद्ध ने मनुष्यों का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया, उनके बीच रहना-सहना, घूमना-फिरना स्वीकार कर लिया, संघ को धारण करना स्वीकार कर लिया,[2] मनुष्यों को विशुद्धि रूपी निर्वाण के मार्ग पर लगाना स्वीकार कर लिया, तो उनकी चित्त-स्थिति के लिए अनुकूल नियम-विधान भी वे क्यों नहीं करते? उनके शिष्यों में जो प्रधान थे, वे स्वतः ही भगवान् के 'धम्म' के अनुसार आचरण करते थे। अतः उन्हें अलग से विनय-सम्बन्धी नियमों का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु 'बहुजनों' में अधिकांश तो मल-ग्रस्त प्राणी ही थे। उन्हीं के पतन को देख कर भगवान् ने बाहरी नियमों का विधान किया, जिन्हें हम आज विनय-पिटक में देखते हैं। इनमें से बहुत कुछ बाहरी होते हुए भी अधिकांश मानसिक भित्ति पर ही आश्रित है, जो बुद्ध-मन्तव्य की सब से बड़ी विशेषता है। संयुत्त-निकाय के भिक्खु-संयुत्त में किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने नन्द और तिस्स तथा अन्य भिक्षुओं को विनय-सम्बन्धी नियमों को कड़ाई के साथ पालन करने का आदेश दिया है, यह हम पहले देख चुके हैं।

---

१. चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा। अंगुत्तर-निकाय।

२. केवल व्यावहारिक अर्थ में। वास्तव में तो संघ की पूरी व्यवस्था करते हुए भी भगवान् सदा निर्लिप्त ही रहे। जब आनन्द उनसे अन्तिम समय पर भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहने के लिए प्रार्थना करते है, तो भगवान् कहते हैं, "आनन्द! जिसको ऐसा हो कि मैं भिक्षु-संघ को धारण करता हूँ . . . वह जरूर आनन्द! भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहे। आनन्द! तथागत को ऐसा नहीं है।" एक और स्थान पर भगवान् अपनी निर्लेपता का साक्ष्य देते है "मागन्दिय! धर्मों का अन्वेषण कर के मुझे 'मैं यह कहता हूँ' यह धारणा नहीं हुई।"

अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हे, जहाँ भगवान् बुद्ध ने विनय सम्बन्धी नियमो को पूरी तरह पालन करने का भिक्षुओ को उपदेश दिया है। जब तक भगवान् जीवित रहे, तब तक उनके व्यक्तित्व और साक्षात् सम्पर्क से मनुष्यो को प्रेरणा मिलती थी। किन्तु उनके परिनिर्वाण के बाद तो विनय-सम्बन्धी नियम ही संघ की एकता और मौलिक पवित्रता के एक मात्र मापदड रह गए। उसके बाद बौद्ध सघ मे विनय-पिटक का जो महान् आदर और गौरव प्रतिष्ठापित हुआ वह उसकी सकीर्णता या साम्प्रदायिकता का द्योतक नही था। वह भिक्षुओं की उस व्यग्रता का द्योतक था जिसके साथ वे 'लिखे शख की तरह निर्मल' (शंख-लिखित) शाक्य-मुनि के शासन को उसकी मौलिक पवित्रता में रखना और दखना चाहते थे। उनका वह प्रयत्न बेकार नही गया है, यह हम आज भी देख सकते है। वैशाली की सगीति के अवसर पर ही धर्म-वादी भिक्षुओं ने किस प्रकार भगवान् के मौलिक उद्देश्यो की रक्षा की, यह हम उसके विवरण मे (द्वितीय अध्याय में) देख चुके है। लका, बरमा और स्याम के भिक्षु-संघो के इतिहास मे किस प्रकार विहार-सीमा और पारुपण (चीवर को दोनो कन्धे ढँक कर पहनना), एकमिक (चीवर को इस प्रकार पहनना, जिससे एक कन्धा, दाहिना कन्धा खुला रहे) आदि अल्प महत्त्व के विनय-सम्बन्धी प्रश्नो को लेकर भी उत्तरकालीन युगो मे जो वाद-विवाद होते रहे है वे न केवल उन देशो मे बुद्ध-धर्म के जीवित स्वरूप मे विद्यमान होने के प्रमाण है, बल्कि उसे उसी मौलिक, अक्षुण्ण पवित्रता के साथ रखने की व्यग्रता के भी अविवाद लक्षण हैं। अत स्थविरवादी बौद्ध धर्म के क्षेत्र मे विनय-पिटक की जो प्रतिष्ठा प्रारम्भिक युग से अब तक रही है, वह एक जीवित ऐतिहासिक तथ्य है और ऊपर के तथ्यो को देखते हुए वह सार्थक भी है।

बौद्ध संघ मे विनय-पिटक का सदा से कितना आदर रहा है और उसके उत्तरकालीन इतिहास के निर्माण मे उसका कितना बडा हाथ रहा है, यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। वास्तव मे भिक्षु-सघ ने अत्यन्त प्राचीन काल से उसे सुत्त-पिटक से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया है, क्योंकि उसे ही उन्होने बुद्ध-शासन की आयु माना है। उनका विश्वास रहा है कि जब तक विनय-पिटक अपने मौलिक, विशुद्ध रूप में रहेगा तभी तक बुद्ध-शासन भी जीवित रहेगा और विनय-सम्बन्धी

नियमों के अभ्यास के लुप्त हो जाने पर बुद्ध-शासन भी लुप्त हो जायगा। विशेषतः सिहल और स्याम के भिक्षु-सघ में अभी तक यह विश्वास दृढ है और वे विनय, सुत्त, अभिधम्म यह क्रम महत्त्व की दृष्टि से त्रिपिटक का करते हैं। विनय-सम्बन्धी मामलो मे बरमी भिक्षु-सघ पर सिहली प्रभाव ग्यारहवी शताब्दी से ही रहा है।[1] दोनो देशो मे बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल (चौथी-पाँचवी शताब्दी के प्रसिद्ध पालि अट्ठकथाकार) के काल से लेकर ठीक आधुनिक काल तक विनय-पिटक पर विपुल व्याख्यापरक साहित्य की रचना हुई है, जो इन देशो में उसकी जीवित परम्परा का सूचक है। न केवल स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा में ही बल्कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायो मे भी विनय की महिमा सुरक्षित है, फिर चाहे उनके विनय-पिटक का स्वरूप स्थविरवादी बौद्धो के विनय-पिटक से भले ही कुछ थोडा विभिन्न हो। चीन और जापान मे 'रिश्शू' नामक बौद्ध सम्प्रदाय है, जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'विनय-सम्प्रदाय'। यह सम्प्रदाय 'धम्मगुत्तिक' विनय को ही अपना मुख्य आधार मानता है। इस प्रकार विनय की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण बौद्ध सम्प्रदायो मे समान रूप से पाई जाती है।

ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से भी विनय-पिटक का बडा महत्त्व है। पिटक-साहित्य के कालानुक्रम के विवेचन मे हम देख चुके हैं कि विनय-पिटक के अनेक अश त्रिपिटक के प्राचीनतम अशो में से हैं। न केवल बुद्ध की जीवनी, बल्कि उनके द्वारा सघ की स्थापना, उनके जीवन-काल मे संघ का विकास, उसके नियम, उसका शासन, एवं बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद १०० साल तक का उसका प्रामाणिकतम इतिहास, यह सब हमे विनय-पिटक मे ही मिलता है। प्रथम दो बौद्ध संगीतियो के विषय मे किस प्रकार विनय-पिटक का विवरण प्राचीनतम और प्रामाणिकतम है, यह हम दूसरे अध्याय मे देख चुके है। इसके अलावा बुद्ध के शिष्यो का परिचय, छठी-पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व के भारत का सामाजिक विवरण, विशेषत. बुद्धकालीन संघ और तत्सम्बन्धी विवरण, इस सबके लिये विनय-पिटक के

---

१. सिंहली विनय-पिटक सम्बन्धी ग्रन्थो के आधार पर ही बरमा में इस सम्बन्धी साहित्य की रचना हुई। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५

समान अन्य कोई प्रामाणिक साधन हमारे पास नही है। साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि विनय-पिटक का महत्त्व उतना नही दिखाया जा सकता क्योकि उसका अधिकांश भाग नियमो का प्रज्ञापक है जो अत्यन्त नीरस ही हो सकता है। फिर भी 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' आदि गम्भीर बुद्ध-प्रवचन भी यहाँ रक्खे हुए हैं, जो उसके ऐतिहासिक अश के समान ही उसे महत्ता प्रदान करते हैं।

विनय-पिटक का विषय और उसका संकलन-काल

भिक्षु और भिक्षुणी सघ ही विनय-पिटक के एक मात्र विषय हैं, ऐसा कहा जा सकता है। वह बौद्ध सघ का सविधान और एक मात्र आधार है। बौद्ध सघ की व्यवस्था, भिक्षु और भिक्षुणियो के नित्य-नैमित्तिक कृत्य, उपसम्पदा-नियम, देसना-नियम, वर्षावास के नियम, भोजन, वस्त्र, पथ्य-औषधादि सम्बन्धी नियम, *सघ के सचालन सम्बन्धी नियम, सघ-भेद होने पर संघ-सामग्री (संघ की एकता)* सम्पादित करने के नियम, आदि नियम-समूह विनय-पिटक मे विवृत किये गये है। इन सभी नियमों का प्रज्ञापन भगवान् बुद्ध के द्वारा ही हुआ है, ऐसी बौद्ध सघ की सामान्यत: मान्यता है। विनय-पिटक का सकलन, जैसा हम ने प्रथम सगीति के विवरण मे देखा है, धम्म या सुत्त-पिटक के साथ-साथ प्रथम सगीति के अवसर पर ही हुआ। उसके प्रारम्भ मे ही हम आर्य महाकाश्यप को कहते देखते हैं 'धम्मं च विनयं च सङ्गायेय्याम" अर्थात् "हम धम्म और विनय का संगायन करें"। अतः सुत्त और विनय के सकलन-काल मे कुछ ऐसा पूर्वापर स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसा अक्सर पच्छिमी विद्वानों ने किया है। कुछ पच्छिमी विद्वानों (कर्न, पूसाँ आदि) ने विनय-पिटक को सुत्त-पिटक मे पूर्व का संकलन माना है, कुछ (फ्रैंक आदि) ने उसके बाद का भी। किन्तु ये दोनों ही मत निराधार हैं। सुत्त और विनय में अनेक उपदेश समान हैं, विनय-सम्बन्धी अनेक उपदेश सुत्त-पिटक मे भी मिलते हैं, और सुत्त-पिटक के अनेक बुद्ध-धर्म और बुद्ध-जीवन सम्बन्धी प्रकरण विनय-पिटक में मिलते हैं। दोनों की शैली प्राचीनता की सूचक है। अतः उन दोनों को समकालीन मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। वैशाली की संगीति के अवसर पर विनय-सम्बन्धी कुछ विवादों का निर्णय हुआ था, अतः उसके आधार पर सम्भव है इस पिटक के रूप मे कुछ

अन्तर कर दिया गया हो। चूकि इस सगीति का इस पिटक मे विवरण भी हैं, अतः उसी समय इसके रूप का अन्तिम स्थिरीकरण हो गया था, यही इसके संकलन-काल के विषय मे हमे जानना चाहिये ।

बौद्ध परम्परा विनय-सम्बन्धी सब नियमो का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से ही हुआ मानती है। आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी) ने समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के प्रारम्भ मे भिक्षुओ की उस अप्रतिहत परम्परा का उल्लेख किया है जिसने बुद्ध-काल से लेकर उनके समय तक विनय-पिटक का उपदेश दिया। बुद्ध-काल मे विनय-धरो मे उपालि स्थविर प्रधान थे, यह हम अगुत्तर-निकाय के एतदग्गवग्ग मे जानते हैं। प्रथम सगीति के अवसर पर उन्होने ही विनय का सगायन किया, यह विनय-पिटक की सूचना है। अत. विनय-धरो की परम्परा स्थविर उपालि से ही प्रारम्भ होती है। बुद्ध-शिष्य उपालि से लेकर अशोक के समकालिक मोग्गलिपुत्त तिस्स तक विनयधरो की इस परम्परा का उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने इस प्रकार किया है (१) बुद्ध (२) उपालि (३) दासक (४) सोणक (५) सिग्गव और (६) मोग्गलिपुत्त तिस्स। "श्री जम्बुद्वीप मे तृतीय सगीति तक इस अटूट परम्परा से विनय आया। तृतीय सगीति मे आगे इसे इस (लका) द्वीप मे महेन्द्र आदि लाये। महेन्द्र से सीख कर कुछ काल तक अरिष्ट स्थविर आदि द्वारा चला। उनमे ही उनके शिष्यो की परम्परा वाली आचार्य-परम्परा मे आज तक विनय आया, जैसा कि पुराने आचार्यो ने कहा है (७) महिन्द, इट्ठिय, उत्तिय, सवल और भद्दसाल ये महाप्राज्ञ भारत (जम्पुद्वीप) से यहां आये। उन्होने तम्बपण्णि (ताम्रपर्णी-लका) द्वीप मे विनय-पिटक पढाया तब (८) आर्य तिष्यदत्त (९) काल सुमन (१०) दीर्घ स्थविर (११) दीर्घ सुमन (१२) काल सुमन (१३) नाग स्थविर (१४) बुद्धरक्षित (१५) तिष्य स्थविर (१६) देव स्थविर (१७) सुमन (१८) चूलनाग (१९) धर्मपालित (२०) रोहण (२१) क्षेम (२२) उपतिष्य (२३) पुष्यदेव (२४) सुमन (२५) पुष्य (२६) महाशिव (महासीव) (२७) उपालि (२८) महानाग (२९) अभय (३०) तिष्य (३१) पुष्य (३२) चूल अभय (३३) तिष्य स्थविर (३४) चूलदेव (३५) शिव स्थविर ...इन महाप्राज्ञ, विनयज्ञ मार्ग-कोविदो ने ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप में विनय-पिटक को प्रकाशित

किया"[१] जिस प्रकार किसी कालेज की दीवाल में लगे हुए प्रस्तरपट पर उसके प्रिंसिपलों के खुदे हुए नामों की सूची में कोई सन्देह नहीं करता, उसी प्रकार हमें विनय-धरों की इस सूची को भी प्रामाणिक मानना चाहिये।

विनय-पिटक के भेद

पालि संस्करण के अतिरिक्त विनय-पिटक के छह और संस्करण चीनी अनुवादों में मिलते हैं। इनके नाम हैं (१) जूजु-रित्सु, सर्वास्तिवादियों का विनय (२) शिबुन्-रित्सु, धम्मगुत्तिक या धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय का विनय (३) मथसोगि-रित्सु, महासंघिक सम्प्रदाय का विनय (४) कोन्-पोन-सेत्सु-इस्से-उबु, नवीन या उत्तरकालीन सर्वास्तिवादियों का विनय (५) गोबुन-रित्सु या महिसासक विनय (६) विनय। विनय-पिटक के इन छह चीनी संस्करणों में आपस में बहुत कम भेद है। मौलिक रूप से वे सब समान हैं। जिन सम्प्रदायों से वे सम्बन्धित हैं, उनका उद्भावन अशोक के काल से पहले ही हो चुका था। वे सब स्थविरवाद बौद्ध धर्म की ही शाखा थे और विनय-सम्बन्धी कुछ छोटे-मोटे मत-भेदों के कारण ही उनसे अलग हो गये थे। 'कथावत्थु' में इन सब का वर्णन आया है। पाँचवें अध्याय में हम इन सब के सिद्धान्तों का विवरण देंगे। यहाँ अलग से परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अलावा अन्य १७ बौद्ध सम्प्रदायों के, जो तृतीय संगीति तक उत्पन्न हो चुके थे, साहित्य के विषय में हमें अभी कोई महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। केवल सर्वास्तिवादियों का कुछ साहित्य मिला है, जिसका कुछ विवरण हम ने सुत्त-पिटक के विवेचन के आरम्भ में दिया है और उनके अभिधर्म-साहित्य का स्थविरवादियों के साथ तुलनात्मक विवेचन हम पाँचवें अध्याय में करेंगे। यह प्रसन्नता की बात है कि विनय के क्षेत्र में न केवल सर्वास्तिवादियों का ही बल्कि उनसे अतिरिक्त अन्य पाँच प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों का भी साहित्य मिलता है जो सब उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से हीनयानी ही थे। न केवल विनय-पिटक ही बल्कि उसकी पाँच व्याख्याएँ भी चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। उनके नाम हैं (१)

---

१. बुद्धचर्या पृष्ठ ५७६ में अनुवादित। मोग्गलिपुत्त तिस्स तक की परम्परा के लिए देखिये आगे नवें अध्याय में 'महावंस' सम्बन्धी विवरण भी।

बिनि-मो-रोन् या विनय-माता-वण्णना (२) भतो-रोग-रोन् या मातिका अथवा मात्रिका-वण्णना (३) जैन्-कैन्-रोन् (पासादिका-वण्णना) (४) सब्बत-रोन् (सब्बत्थि-वण्णना) (५) म्यो-र्यो-रोन् या पाकटवण्णना। चीनी भाषा में 'रोन्' 'विभाषा' या 'वण्णना' (वर्णन, व्याख्या) को कहते हैं। 'जैन्-कैन्- रोन्' बुद्धघोषकृत 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) का चीनी अनुवाद है। पहले यह 'धम्मगुत्तिक' सम्प्रदाय के विनय 'शिबुन्-रित्सु' की व्याख्या समझी जाती थी। किन्तु जापानी विद्वान नगई ने इस भ्रम का निवारण कर दिया है।[1] चीनी और जापानी बौद्ध धर्म की दृष्टि से 'धम्मगुत्तिक' (धर्मगुप्तिक) सम्प्रदाय का विनय-पिटक शिबुन-रित्सु ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वहाँ के रिश्श सम्प्रदाय (विनय-सम्प्रदाय) का यही आधार-भूत ग्रन्थ है। पालि विनय पिटक के साथ चीनी विनय-पिटक की तुलना के प्रसंग मे इसी सस्करण को लिया जा सकता है और बाकी छोटे-मोटे विभेदो को, जो बहुत अल्प है, अलग से दिखाया जा सकता है। यहाँ हमे तुलना केवल 'शिक्षापदो' या विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय मे करनी है, जो ही विनय-पिटक के आधार-भूत विषय हैं, चाहे वह किसी सम्प्रदाय या सस्करण का हो।

पालि विनय-पिटक के शिक्षापदों की सख्या २२७ है, जिनकी गणना इस प्रकार है—

१. पाराजिका	४
२. सघादिसेसा	१३
३. अनियता धम्मा	२
४ निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२
६ पटिदेसनिया धम्मा	४
७ सेखिया धम्मा	७५
८. अधिकरणसमथा धम्मा	७
	२२७

१. देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ३६८ में नगई के 'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन' शीर्षक लेख का अंश।

चीनी विनय-पिटक के प्रायः सभी संस्करणों में शिक्षापदों की यह सख्या २५० है। 'शिबुन्-रित्सु' के अनुसार यह गणना इस प्रकार है—[१]

१. पाराजिका	४
२. सघावशेष (संघादिसेसा)	१३
३. अनियत	२
४ निःसर्गिक पातयन्तिक (निस्सग्गिया पाचित्तिया)	३०
५ पातयन्तिक (पाचित्तिय)	९०
६. प्रतिदेशनीय (पटिदेसनिया)	४
७. शैक्ष्य (सेखिया)	१००
८ अधिकरण-शमथ	७
	२५०

विनय-पिटक के चीनी-सस्करणो के अलावा एक तिब्बती सस्करण भी मिलता है।[२] यह मूल सर्वास्तिवादियो के प्रातिमोक्ष का तिब्बती अनुवाद है। इसके अनुसार शिक्षापदो की संख्या इस प्रकार है—

१. पाराजिका	४
२ सघावशेष	१३
३ अनियत	२
४ नि.सर्गिक पातयन्तिक	३०
५. पातयन्तिक	९२
६ प्रतिदेशनीय	४
७. शैक्ष्य	१०६
८. अधिकरण-शमथ	७
	२५८

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डा० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६९ (नगई का विनय-पिटक सम्बन्धी लेख)

२. इसके अलावा महापंडित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से विनय-सूत्र, विनय-सूत्र-टीका, प्रातिमोक्ष-सूत्र, प्रातिमोक्षसूत्र-टीका, भिक्षु-प्रकीर्णक तथा उपसम्पदा-

उपर्युक्त सूचियों से स्पष्ट हैं कि पालि-विनय-पिटक मे शिक्षापदो की सख्या २२७ और चीनी और तिब्बती सस्करणो में वह क्रमश २५० और २५८ है। जहाँ तक पालि और तिब्बती सस्करणो की तुलना का सवाल है, उनके प्रत्येक नियम की सख्या मे समानता है। केवल शैक्ष्य-सम्बन्धी नियमो मे असमानता है। पालि संस्करण मे वे ७५ है जब कि तिब्बती सस्मरण मे १०६। इसी कारण तिब्बती सस्करण के नियमो की कुल सख्या भी ३१ बढ गई है। पालि और चीनी सस्करणो मे केवल 'पाचित्तिया धम्मा' (पातयन्तिक) और 'सेखिया धम्मा' (शैक्ष्य) इन दो नियमो की गणना मे अन्तर है। पालि सस्करण मे इनकी सख्या क्रमश ९२ और ७५ है जब कि चीनी 'शिबुन्-रित्सु' मे वह इसी क्रम से ९० और १०० है। 'पाचित्तिय' धर्मों सम्बन्धी मत-भेद कुछ महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है, किन्तु 'सेखिय' धर्मो सम्बन्धी मत-भेद बिलकुल महत्त्वपूर्ण नही है। 'सेखिय धम्म' बाह्य शिष्टाचार सम्बन्धी छोटे-मोटे नियम है, जो बुद्धोक्त 'क्षुद्रानुक्षुद्र' की कोटि मे आसानी से आ जाते है। अत उनके विषय मे मतभेद होना भिक्षु-सघ के इतिहास में प्रथम सगीति के समय से ही देखा जाता है। स्वयं विभिन्न चीनी सम्प्रदायो के विनय-पिटको में भी इसके विषय मे समानता नही है। पालि विनय-पिटक के ७५ 'सेखिय' धर्मो के स्थान पर 'शिबुन् रित्सु' मे तो उनकी सख्या १०० है ही, नवीन सर्वास्तिवादी विनय के अनुसार उनकी सख्या १०३ है। तिब्बती मूल सर्वास्तिवादियो के अनुसार तो वह १०६ है ही जैसा हम देख चुके है। इस प्रकार कुछ छोटे-मोटे विभेद है। 'महाव्युत्पत्ति' (महायानी ग्रन्थ) ने इन शैक्ष्य धर्मो को 'असख्य' (सबहुला शैक्ष्यधर्मा) बताकर इस सम्बन्धी भेद का बडा ही अच्छा समाधान कर दिया है। पालि और चीनी विनय-पिटको के शिक्षापदो की तुलना के आधार पर यहा एक सुझाव रख देना आवश्यक जान पडता है। पालि विनय-पिटक मे, जैसा हमने अभी देखा है, शिक्षापदो की सख्या २२७ है। किन्तु अगुत्तर निकाय मे कम से कम दो जगह उनकी सख्या १५०

ज्ञप्ति आदि अनेक विनय-सम्बन्धी ग्रन्थो के फोटो लाये हैं, जिनके सम्पादन के बाद इस विषय सम्बन्धी अध्ययन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। अभी ये प्रतिलिपियाँ बिहार और उड़ीसा के ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टट्यीट्यूट, पटना में सुरक्षित है।

कही गई है ।[१] ('मिलिन्दपञ्ह' में भी १५० शिक्षापदों का वर्णन है[२] । यदि पालि सूची की कुल सख्या (२२७) में से हम उसके ७५ 'सेखिय' धर्मों को, जो अल्प महत्त्व के है, निकालते है तो बाकी सख्या १५२ बच जाती है । किन्तु 'शिबुन्-रित्सु' की कुल सख्या २५० में से उसके १०० 'शैक्ष्य' धर्मों को निकाल देने पर ठीक सख्या १५० बच जाती है । क्या पालि विनय-पिटक की अपेक्षा 'शबुन्-रित्स' उस परम्परा का अधिक वाहक है जिसके आधार पर अगुत्तर-निकाय या मिलिन्द-पञ्ह में शिक्षापदों की सख्या १५० बताई गई है ?

विनय पिटक के नियम

पालि विनय-पिटक के अनुसार अब हम उसके ऊपर निर्दिष्ट २२७ शिक्षा-पदों या विनय-सम्बन्धी नियमों का वर्णन करेंगे ।

चार पाराजिका धम्मा

'पाराजिक धम्म' का अर्थ है वे वस्तुएँ जो भिक्षु को पराजय दिलाती है, अर्थात् जिस उद्देश्य के लिये उसने घर से बेघर होकर प्रव्रज्या ली है उसमे उसे सफल नही होने देती । इस प्रकार की वस्तुएँ चार है, (१) स्त्री-मैथुन (२) चोरी या न दी हुई वस्तु को लेना (३) मनुष्य या आत्म-हत्या की प्रशसा करना, ताकि कोई दूसरा आदमी आत्म-हत्या करने के लिये उद्यत हो जाय (४) लाभ या सत्कार की इच्छा से अपने अन्दर ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति दिखाना जब कि वास्तव मे ऐसी प्राप्ति नही हुई है । ये चार वस्तुएँ भिक्षु को उसके श्रामण्य के उद्देश्य की प्राप्ति नही होने देती । वे उसे पराजित कर डालती है । इसीलिये वे 'पाराजिक धम्म' कहलाती है । इनमे से किसी एक का भी अपराधी होने पर भिक्षु बुद्ध का शिष्य नही रहता । वह अपने उद्देश्य से पतित हो जाता है । वह

---

१. देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३, पद-संकेत ५; अंगुत्तर-निकाय में वास्तव में शब्द हैं 'साधिकं दियड्ढ-सिक्खापदसतं' (१५० या उससे कुछ अधिक) जिसका अर्थ आचार्य बुद्धघोषने ठीक १५० किया है। 'मिलिन्दपञ्ह में भी बिलकुल यही शब्द है ।

२. देखिये, पृष्ठ २६७ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसके लिये किसी प्रायश्चित्त का विधान नही है। जैसे पीली पड़ी हुई पत्ती पेड से झडकर गिर पडती है, उसी प्रकार यह भिक्षु श्रामण्य के सर्वथा अयोग्य समझा जाता है और नियमानुसार संघ से उसका निष्कासन कर दिया जाता है।

तेरह संघादिसेसा धम्मा

चार पाराजिक धम्मो का दण्ड तो जैसा हम ऊपर देख चुके है सघ से निष्कासन है। 'सघादिसेस' धम्म इन पाराजिक धम्मों से कुछ कम गम्भीर अपराध माने जाते है। इनका नाम 'सघादिसेस' इसलिये है कि इनके दड-स्वरूप अपराधी भिक्षु को छह दिन के लिये अस्थायी रूप से सघ को छोड देना पडता है और प्रायश्चित्त-स्वरूप वह अकेला रह कर तपस्या (मानत्त) करता है। बाद मे शुद्ध होकर वह सघ मे प्रवेश करता है। 'सघादिसेस' कोटि मे आने वाले तेरह अपराध है, जो इस प्रकार है (१) जान बूझकर वीर्य-नाश करना। अज्ञात रूप से स्वप्न-दोष मे वीर्य-स्खलन हो जाना इसके अन्तर्गत अपराध नही माना जाता (२) काम-वासना से स्त्री-स्पर्श (३) काम-वासना से स्त्री से वार्तालाप (४) अपनी प्रशंसा द्वारा किसी स्त्री को अपनी ओर बुरे उद्देश्य मे आकर्षित करना (५) विवाह सम्बन्ध निश्चित करवाना या प्रेमियों का सगम करवाना (६) विना सघ की अनुमति लिये अपने लिये विहार बनवाने लग जाना (७) विना सघ की अनुमति के निश्चित मात्रा से बड़े नाप के विहार बनवाने लग जाना जिनके चारो ओर खुली जगह भी न हो (८) क्रोध के कारण निराधार ही किसी भिक्षु को 'पाराजिक धम्म' का अपराधी ठहराना (९) पाराजिक अपराध से मिलते-जुलते किसी अन्य अपराध को पाराजिक अपराध बतलाकर किसी साथी भिक्षु को उसका अपराधी ठहराना (१०) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी सघ मे फूट डालने का प्रयत्न करना (११) फूट डालने वालो की सहायता करना। (१२) विना किसी गृहस्थ की अनुमति के उसके घर के भीतर घुस जाना (१३) बारबार चेतावनी दिये जाने पर भी सघ या साथी भिक्षुओं के आदेश को न सुनना।

दो अनियता धम्मा

'अनियत' का अर्थ है अनिश्चित। जिन अपराधों का स्वरूप अनिश्चित हो और साक्ष्य प्राप्त होने पर ही जिन्हे एक विशेष श्रेणी के अपराधों मे रक्खा जा

सके, तत्सम्बन्धी नियमों को 'अनियता धम्मा' कहते हैं। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के अपराधों से है (१) यदि कोई भिक्षु किसी एकान्त स्थान पर बैठा हुआ स्त्री से बातें कर रहा है और कोई श्रद्धावती उपासिका आकर उसे 'पाराजिक' 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' (प्रायश्चित्तिक—जिसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़े) अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है (२) यदि वह एकान्त स्थान में न बैठ कर किसी खुली हुई जगह में बैठ कर ही स्त्री से सम्भाषण कर रहा है। किन्तु उसके शब्दों मे कुछ अनौचित्य है और कोई श्रद्धावती उपासिका उसी प्रकार आकर उसे 'पाराजिक' 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है।

तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा

'निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा' वे अपराध हैं जिनके लिये स्वीकरण के साथ साथ प्रायश्चित करना पड़ता है और जिस वस्तु के सम्बन्ध मे अपराध किया जाता वह वस्तु भी भिक्षु से छीन ली जाती है। इस श्रेणी के अपराधों मे प्रायः सभी वस्त्र-सबधी और केवल दो भिक्षा-पात्र सम्बन्धी हैं। वस्त्र सम्बन्धी तृष्णा भिक्षु को किन किन रूपों में आ सकती है, इसी को देखकर इन नियमों का विधान किया गया है। उदाहरणत यदि कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त वस्त्र रखता है, या किसी गृहस्थ से बेठीक समय पर वस्त्र माँगता है, या अपनी इच्छानुसार किसी अच्छे वस्त्र को प्राप्त करने के लिये अपने किसी उपासक गृहस्थ को इशारा देता है, या रेशम या मुलायम ऊन के गद्दों आदि को काम मे लेता है, तो वह इस अपराधी के अन्तर्गत अपराधी होता है। इसी प्रकार अतिरिक्त भिक्षा-पात्र रखने पर या बिना आवश्यक कारण उसे किसी दूसरे से बदल लेने पर वह इस अपराध के अन्तर्गत अपराधी होता है। इन वस्त्र और भिक्षा-पात्र सम्बन्धी नियमों का उद्देश्य, जिनके सब के ब्योरेवार विवरण देने की हमें आवश्यकता नहीं, केवल यही है कि भिक्षु इन वस्तुओं के प्रयोग में संयत और सावधान रहे, वे अल्पेच्छ हों और यथा-प्राप्त सामग्री से ही अपना गुजारा कर लें। व्यक्ति के ऊपर संघ की प्रतिष्ठा भी इन नियमों के द्वारा की गई है। जो वस्तु संघ को दान दी गई है उसे कोई एक भिक्षु व्यक्तिगत रूप से अपनी बनाकर नहीं रख

सकता । ऐसा करने पर वह अपराधी ठहरता है, उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है और वह वस्तु संघ को लौटा देनी पड़ती है ।

९२ पाचित्तिया धम्मा

९२ अपराधो की एक सूची ऐसी है जिन्हे करने पर प्रायश्चित्त करने के बाद अपराधमुक्त कर दिया जाता है । चीनी विनय-पिटक शिबुन्-रित्सु (धम्मगुत्तिक सम्प्रदाय का विनय-पिटक) मे इस श्रेणी के केवल ९० अपराधो का उल्लेख है । इन सब अपराधो का विवरण यहाँ अनावश्यक होगा । सघ-शासन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पालि साहित्य के इतिहास मे तो इनका सक्षिप्त निर्देश ही हो सकता है । अधिकतर नियम ऐसे है जो उस समय के देश-काल आदि से सम्बन्ध रखते है, किन्तु ऐसे भी कम नही है जिनका उपयोग सब काल और सब देश के लिये है । भिक्षु के लिये एक बार भोजन करना, भिक्षुणी को उपदेश देते समय सावधान और जागरूक रहना, भिक्षु-पद के गौरव की रक्षा करना, आदि बाते ऐसी है जिनका उल्लघन करने पर भिक्षुओ को प्रायश्चित्त कर आगे के लिये सयम-रक्षा का सकल्प लेना पडता था । झूठ बोलना, गाली देना, चुगली करना, नशीली चीजो का प्रयोग करना, आदि अपराधो के करने पर भी प्रायश्चित करने के बाद आगे के लिये वैसा न करने के लिये कृत-सकल्प होना पडता था ।

चार पटिदेसनिया धम्मा

'पटिदेसनिया धम्मा' का अर्थ है वे वस्तुएं जिनके लिये प्रतिदेशना (क्षमा-याचना) आवश्यक हो । किसी अज्ञात भिक्षुणी द्वारा भोजन-प्राप्ति, भोजन के समय किसी भिक्षुणी को भिक्षुओ के प्रति आदेश देती हुई देखकर भी उसे न रोकना, बिना पूर्व निमत्रण के अपने स्थान पर किसी गृहस्थ के हाथ से भोजन ग्रहण करना तथा उपद्रव-ग्रस्त वन मे किसी गृहस्थ को वही बुलवा कर उसके हाथ मे भोजन की प्राप्ति, इन चार अपराधो के लिये क्षमा-याचना करनी पडती है ।

७५ सेखिया धम्मा

'सेखिया धम्मा' या शैक्ष्य धर्म वे है जिनका सम्बन्ध बाहरी शिष्टाचार, वस्त्र पहनने के ढग और भोजन आदि करने के नियमो से है । भिक्षु को किस प्रकार ठीक वस्त्र पहनकर भिक्षा-चर्या के लिये जाना चाहिये, किस प्रकार शरीर औ

वस्त्रो के उचित समेटन और फैलाव के साथ उसे बरतना चाहिये, किस प्रकार उसे शान्त रहना चाहिये, जोर से हँसना आदि नही चाहिये, इन्ही सब बातो का विस्तृत विवरण किया गया है और इनके तोडने पर फिर शिक्षा का विधान किया गया है। इन नियमो मे से अधिकतर तत्कालीन शिष्टाचार से सम्बन्ध रखते है जो बौद्ध देशो मे आज तक भी कुछ हद तक जीवित अवस्था मे है।

सात अधिकरणसमथा धम्मा

सघ मे विवाद होने पर उसकी शान्ति के उपाय के रूप मे सात नियमो का विधान किया गया है। वे सात नियम है (१) समुख-विनय (२) स्मृति-विनय (३) अ-मूढ विनय (४) प्रतिज्ञात करण (५) यद्भूयसिक (६) तत्पापीयसिक (७) तिणवत्थारक। चूकि सघ-शासन तथा तत्कालीन गणतन्त्रीय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अत इनका सक्षिप्त विवरण अपेक्षित होगा। भगवान् के मुख मे ही सुनिये—"आनन्द! समुख विनय कैसे होता है? आनन्द! भिक्षु विवाद करते है' यह धर्म है या अधर्म, विनय या अविनय'? आनन्द! उन सभी भिक्षुओ को एक जगह एकत्रित होना चाहिये। एकत्रित होकर धर्म रूपी रस्सी का ज्ञान से परीक्षण करना चाहिये। जैसे वह शान्त हो उसी प्रकार उस झगडे (अधिकरण) को शान्त करना चाहिये। इस प्रकार आनन्द! समुख विनय होता है। इस प्रकार समुख विनय से भी किन्ही किन्ही झगडो (अधिकरणो) का शमन होता है।

"आनन्द! यद्भूयसिक कैसे होता है? आनन्द! यदि भिक्षु अपने झगड़े को उसी आवास (निवास-स्थान) मे शान्त न कर सके तो आनन्द' उन सभी भिक्षुओ को, जिस आवास मे अधिक भिक्षु है, वहाँ जाना चाहिये। वहाँ सबको एक जगह एकत्रित होना चाहिये, एकत्रित होकर धर्म रूपी रस्सी का समनुमार्जन (परीक्षण) करना चाहिये। इस प्रकार भी कुछ झगडो का शमन हो जाता है।

"आनन्द! स्मृति-विनय कैसे होता है? यहाँ आनन्द! भिक्षु भिक्षु पर पाराजिक या-पाराजिक समान दोष का आरोप लगाता है, स्मरण करो आवुस! तुम पाराजिक या पाराजिक-समान बडे दोष के अपराधी हुए, किंतु वह दूसरा भिक्षु उत्तर में कहता है, 'आवुस! मुझे याद नहीं कि मं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हूँ, दोष से दोषी हूँ"। उस भिक्षु को आनन्द! स्मृति-विनय देना चाहिये। इस स्मृति विनय से भी किन्हीं किन्ही झगड़ों का निबटारा होता है।

"आनन्द ! अमूढ विनय कैसे होता है ? ......"आवुस ! मै पागल हो गया था, मुझे मति-भ्रम हो गया था, उन्मत्त हो मैंने बहुत सा श्रमण-विरुद्ध आचरण किया, भाषण किया, मुझे वह स्मरण नही होता। मूढ हो, मैंने वह किया। उस भिक्षुको आनन्द ! अ-मूढ-विनय देना चाहिये ।

"आनन्द ! प्रतिज्ञात करण कैसे होता है ? आनन्द !......भिक्षु दूसरो के द्वारा आरोप करने या न करने पर भी अपने दोष को स्मरण करता है, खोलता है, स्पष्ट करता है। उस भिक्षु को अपने से वृद्धतर भिक्षु के पास जाकर चीवर को एक (बाये) कन्धे पर करके, पाद-वन्दना कर हाथ जोडकर ऐसा कहना चाहिये, 'भन्ते ! मै इस नाम की आपत्ति (दोष) से आपन्न हूँ, उसकी मै प्रति-देशना (निवेदन) करता हूँ'। तब वह दूसरा भिक्षु ऐसा कहे "देखते हो उस दोष को ?" "देखता हूँ" "आगे से इन्द्रिय-रक्षा करना", "रक्षा करूँगा"। आनन्द ! इस प्रकार प्रतिज्ञात-करण होता है ।

"आनन्द ! तत्पापीयसिका कैसे होती है ? यहाँ आनन्द ! किसी भिक्षु पर कोई दूसरा भिक्षु पाराजिक या पाराजिक-समान भारी अपराध का दोष लगाता है। वह उसे सुनकर कहता है, 'आवुस ! मुझे स्मरण नही कि मै ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ हूँ' फिर दोष लगाने वाला भिक्षु कहता है 'आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो। क्या तुम्हे स्मरण है कि तुम ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुए थे !' 'आवस ! मै स्मरण नही करता कि मै ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ। स्मरण करता हूँ आवुस ! मै इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ'। 'आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो।' 'आवुस ! मै इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ, यह मै बिना पूछे ही स्वीकार करता हूँ, तो क्या मै ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हो पूछने पर भी स्वीकार न करूँगा'। अधिक जोर देने पर वह स्वीकार करले 'आवुस ! स्मरण करता हूँ मै ऐसी भारी आपत्ति (दोष से आपन्न हुआ। सहसा प्रमाद से मैंने यह कह दिया कि मै स्मरण नही करता'। इस प्रकार आनन्द! तत्पापीयसिका (उससे भी और कडी आपत्ति) होती है।

"आनन्द! तिण्ण वित्थारक कैसे होता है ? आनन्द ! आपस मे कलह करते हुए भिक्षु बहुत से श्रमण-विरुद्ध आचरण करते और भाषण करते है। उन सभी भिक्षुओ को एकत्रित होना चाहिए। एकत्रित हो कर एक पक्ष वालो मे से किसी चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर चीवर को एक कन्धे पर कर हाथ जोड़ सघ को विज्ञापित करना चाहिए "भन्ते ! सघ सुने। कलह करते हुए हमने बहुत से

श्रमण-विरुद्ध आचरण किए है। यदि सघ उचित समझे तो जो इन आयुष्मानों का दोष है और जो मेरा दोष है, इन आयुष्मानों के लिए भी और अपने लिए भी मै तिणवित्थारक (घाँस से ढाँकना जैसा) बयान करूँ, लेकिन बडे दोष गृहस्थ-सम्बन्धी को छोड कर। तब दूसरे पक्ष वालों मे से चतुर भिक्षु को आसन मे उठ कर ऐसा ही करना चाहिए। इस प्रकार आनन्द! तिणवित्थारक (तृण से ढाँकने जैसा) होता है"।[१]

भिक्षुओ के समान भिक्षुणिओ के लिए भी अनेक आचरण-सम्बन्धी नियमों का विधान था। आठ गुरु-धर्म तो भगवान ने प्रथम बार ही भिक्षुणी-सघ के लिए स्थापित कर दिये गए थे, जो इस प्रकार है—

(१) सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी दिन के सम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान, अजलि जोडना, सामीची कर्म करना चाहिए।

(२) जहाँ भिक्षु न हो, ऐसे स्थान मे वर्षावास नही करना चाहिए।

(३) प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु-सघ से पर्येषण करना चाहिए।

(४) वर्षा-वास कर चुकने पर भिक्षुणी को दोनो सघो मे देखे, सुने जाने तीनो स्थानो से प्रवारणा करनी चाहिए।

(५) जिस भिक्षुणी ने गुरु-धर्मो को स्वीकार कर लिया है उसे दोनो सघो को मानना चाहिए।

(६) किसी प्रकार की भिक्षुणी भिक्षु को गाली आदि न दे।

(७) भिक्षुणिओ का भिक्षुओ को कुछ भी कहने का रास्ता बन्द है। भिक्षुणी को भिक्षु से बात नही करनी चाहिए।

(८) भिक्षुओ का भिक्षुणिओ को कहने का रास्ता खुला है। अर्थात् भिक्षुओ को उन्हें उपदेश करने का अधिकार है।

उपर्युक्त प्रधान नियमो के अलावा भिक्षुणियो के दैनिक जीवन के लिए अनेक साधारण नियम भी थे। उनमे कुछ भिक्षुओ के समान भी थे, जैसे झूठ, चुगली आदि से विरति। कुछ विशिष्ट रूप से उनके लिए ही थे, जैसे एकान्त या अँधेर स्थान में किसी से सम्भाषण न करना, रात्रि मे अकेली कहीं न जाना, सड़क पर भी किसी से अलग बात नही करना, किसी भी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र स न

---

१. **सामगाम-सुत्त (मज्झिम. ३।१।४; महापंडित राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)**

मिलना-जुलना, जीविका के लिए कोई शिल्प न सीखना न सिखाना, अंग-लेप आदि न लगाना, आदि । भिक्षुणियो पर भी पाराजिका आदि दोष उसी प्रकार लागू थे जैसे भिक्षुओ पर। हाँ, प्रव्रज्या प्राप्त करने से पहले के दोषो के लिए वे दड की भागिनी नही होती थी। एक बार एक व्यभिचारिणी स्त्री सघ मे प्रवेश पा गयी थी। सघ-प्रवेश के वाद वह उसके लिए दडित नही की गई ।

ऊपर भिक्षु-भिक्षुणियो सम्बन्धी नियमो और उनके उल्लघन करने पर प्राप्त दण्ड-विधान का कुछ दिग्दर्शन किया गया है। वास्तव मे विनय-पिटक नियमो और उनके उल्लघन से उत्पन्न दोषो की इतनी लम्बी सूची है कि उसका सक्षेप नही दिया जा सकता। किन्तु विनय-पिटक मे नियमो के अलावा और भी बहुत कुछ है। उसकी विषय-वस्तु के क्रम मे ये नियम और अन्य बाते कहाँ कहाँ आती है, यह तत्सम्बन्धी विश्लेषण से स्पष्ट होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, विनय-पिटक निम्नलिखित भागो मे विभक्त है--

१. सुत्त-विभग
    (अ) पाराजिक
    (आ) पाचित्तिय
२. खन्धक
    (अ) महावग्ग
    (आ) चुल्लवग्ग
३. परिवार

सुत्त-विभंग

सुत्त-विभग के दो भागो 'पाराजिक' और 'पाचित्तिय' मे क्रमश. उन अपराधो का उल्लेख है, जिनका दड क्रमानुसार सघ से निष्कासन या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त है। ये अपराध सख्या मे २२७ है और जैसा हम अभी दिखा चुके है, इन सम्बन्धी नियम आठ वर्गीकरणो मे विभक्त है, यथा (१) चार पाराजिक, (२) १३ सघादिसेस, (३) दो अनियता धम्म, (४) तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्म, (५) ९२ पाचित्तिय धम्म, (६) चार पटिदेसनिय धम्म, (७) ७५ सेखिय धम्म, तथा (८) सात अधिकरणसमथ धम्म । इनका विश्लेषण हम पहले कर चुके है। सुत्त-विभंग मे इन्ही नियमो का विश्लेषण है। साथ मे इन नियमो का

विधान किस प्रकार किया गया इसका पूरा इतिहास भी दिया गया है। अप-राधो के विचार से वर्गीकरण करने पर 'सुत्त-विभंग' के दो विभाग है ही (१) पाराजिक और (२) पाचित्तिय, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी सघो को उद्देश्य कर उनका वर्गीकरण करने से उसके दो भाग होते है (१) महाविभग या भिक्षु-विभग और (२) भिक्षुणी-विभग (भिक्खुनी विभंग)। भिक्खु-विभंग में भिक्षुओ सम्बन्धी नियमो का विवरण है और भिक्खुनी-विभग में भिक्षुणी-सम्बन्धी नियमो का। इन नियमो का इतिहास छोड कर केवल नियमों मात्र का सग्रह ही 'पातिमोक्ख' के नाम से प्रसिद्ध है। भिक्षु और भिक्षुणी सघ के अनुसार पाति-मोक्ख के भी दो भेद है, यथा (१) भिक्खु पातिमोक्ख और (२) भिक्खुनी पातिमोक्ख जो क्रमश महाविभग (भिक्खु विभंग) और भिक्खुनी-विभग के ही सक्षिप्त रूप है। यदि हम चाहे तो सुत्त-विभग को 'पातिमोक्ख' का विस्तृत रूप या व्याख्या कह सकते है, या 'पातिमोक्ख' को 'सुत्त-विभग' का उपयोग के योग्य सक्षिप्तीकरण। भिक्षु-सघ मे उपोसथ (उपवसथ-उपवास-व्रत) नाम का एक सस्कार होता था। प्रत्येक मास की अमावस्या और पूर्णिमा को जितने भिक्षु एक गॉव या खेत के पास विहरते थे, सब एक जगह एकत्रित हो जाते थे और उन सब की उपस्थिति मे 'पातिमोक्ख' (प्रातिमोक्ष) का पाठ होता था। 'पातिमोक्ख' मे, जैसा हम अभी कह चुके है, पाराजिक, पाचित्तिय आदि के वर्गीकरणमे विभक्त २२७ अपराधो एव तत्सम्बन्धी नियमो का विवरण है। 'पातिमोक्ख' का पाठ करते समय जैसे जैसे अपराधो के प्रत्येक वर्गीकरण का पाठ किया जाता था, उस सभा मे सम्मिलित प्रत्येक भिक्षु से यह आशा की जाती थी कि वह उठ कर यदि उसने वह अपराध किया है तो उसका स्वीकरण कर ले, ताकि भविष्य के लिए सयम हो सके। उपवासादि रखने और पाप-प्रायश्चित्त करने की यह प्रथा प्राग्बुद्धकालीन भारत मे अन्य सम्प्रदायो मे भी प्रचलित थी। किन्तु बुद्धने उसे एक विशेष नैतिक अर्थ से अनुप्राणित कर दिया था। पाप को उघाड देने से वह छूट जाता है। चित्त-शुद्धि के लिए अपने पापो को खोल देना चाहिए। गुप्त रखने मे वे और भी लिपटते है। पाप-स्वीकरण, क्षमा-याचना और आगे के लिए कृतसकल्पता, यही प्रातिमोक्ष-विधान के प्रधान लक्ष्य थे। चूकि ऐसा करने के बाद प्रत्येक अपराधी भिक्षु एक प्रकार अपने-अपने अपराध के बोझ को उठा फेकता था, उससे विमुक्ति पा जाता था, इसलिए 'पातिमोक्ख' का अर्थ प्रत्येक का पाप-भार को फेक देना, पाप से मुक्त हो जाना, पाप मे

मोक्ष पा जाना, हो सकता है। चूंकि प्रत्येक भिक्षु अलग अलग अपने मुख से अपने पाप का स्वीकरण कर पाप-विमुक्त होता था, अत. 'प्रातिमोक्ष' के 'प्राति' शब्द मे यह 'प्रति' का भाव लेकर हम कह सकते हे कि 'प्रातिमोक्ष' का अर्थ है प्रत्येक की अलग अलग मुक्ति। चकि पालि 'पातिमोक्ख' का सस्कृत प्रतिरूप 'प्रातिमोक्ष' ही सर्वास्तिवादी आदि प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायो ने किया है, अत पालि 'पातिमोक्ख' का भी अर्थ प्रत्येक का अलग अलग पाप-मुक्त हो जाना अशुद्ध नही हो सकता। आधुनिक विद्वान् अधिकतर इसी अर्थ को लेते है। किन्तु आचार्य बुद्धघोष ने 'प्रति मुख' अर्थात् प्रत्येक भिक्षु के द्वारा अपने अपने मुख से पाप-स्वीकरण, इस अर्थ पर जोर दिया है। यह 'पातिमोक्ख' मे होता ही है। बुद्धघोष की 'पातिमोक्ख' की निरुक्ति और सर्वास्तिवादी आदि सम्प्रदायों मे 'प्रातिमोक्ष' के रूप मे उसका अर्थ ग्रहण, इन दोनो मे कोई असगति नही है। बल्कि वे दोनो ही उसके क्रिया और फल के क्रमश सूचक है, अत वे एक दूसरे के पूरक भी है। भगवान् ने प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी उपदेश सुत्तों में भी अनेक बार दिया है" भिक्षु शीलवान् होता है, प्रातिमोक्ष के सवर (सयम) मे सवृत होता है, आचार-गोचर से सम्पन्न होता है, शिक्षापदो को ग्रहण कर अभ्यास करता है"[१] आदि, ।

खन्धक

विनय-पिटक का दूसरा भाग खन्धक भी दो भागो मे विभक्त है, महावग्ग और चुल्लवग्ग। सुत्त-विभग जब कि अधिकाशत निषेधात्मक है, महावग्ग उसी का विधानात्मक स्वरूप है। सघ के अन्दर जिस प्रकार का जीवन बिताना चाहिए उसका यहाँ निर्देश किया गया है। महावग्ग में प्रथम दस खन्धक है। सम्बोधि-प्राप्ति स लेकर प्रथम सघ की स्थापना तक कायहाँ पूरा इतिहास भी दिया गया है। यह भाग 'महावग्ग' का बडा महत्वपूर्ण है। पहले खन्धक (विभाग, अध्याय) मे भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति एव वाराणसी में धर्म चक्र-प्रवर्तन का वर्णन है।

---

१. गोपक-मोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम. ३।१।८); मिलाइये "भिक्षुओ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष-संवर से संवृत (रक्षित) होकर विहरो, शिक्षापदों को ग्रहण कर उनका अभ्यास करो।" आकंखेय्य-सुत्त (मज्झिम १।१।६)

इसके बीच उरुवेला से लेकर वाराणसी तक की उनकी यात्रा का विस्तृत विवरण है। इसी प्रसग मे मार्ग के बीच में ही तपस्सु और भल्लिक नामक वणिको को भगवान् उपासक बनाते है और वे बुद्ध और धम्म की शरण मे जाते है। उपक नामक आजीवक भी भगवान् को मार्ग मे मिलता है, उसके साथ हुए उनके संलाप का विवरण है। वाराणसी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के बाद भगवान् आज्ञा कौण्डिन्य, भद्दिय, वप्प, अस्सजि और महानाम इन पचवर्गीय भिक्षुओ को जो उनके साथ पहले उरुवेला मे रहे थे, बुद्ध-मत मे प्रव्रजित करते है। इसके बाद यश के सन्यास का वर्णन है। उसके बाद काश्यप-बन्धुओ (जटिल काश्यप, उरवेल काश्यप, नदी काश्यप) की प्रव्रज्या का वर्णन है। महाराज बिबिसार के उपासकत्व का भी वर्णन है। "भन्ते! मेरी पाँच अभिलाषाएँ थी—मै राज्य-अभिषिक्त होता—मेरे राज्य मे सम्यक् सम्बुद्ध आते—मैं उनकी सेवा करता—वे भगवान् मुझे धर्म-उपदेश करते—उन भगवान् को मै जानता। भन्ते! ये मेरी पाँचो इच्छाएँ आज पूरी हो गईं। इसलिए भन्ते! मै भगवान् की शरण लेता हूँ, धर्म की और भिक्षु-संघ की भी।" इसी समय उसने भिक्षु संघ को वेणु-वन दान भीकिया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के सन्यास का वर्णन, महाकाश्यप के संन्यास का वर्णन, नन्द और राहुल का सन्यास, अनिरुद्ध, आनन्द, उपालि आदि के सन्यास के वर्णन, सभी क्रमानुसार दिए गए हैं जो भिक्षु-सघ के बुद्धकालीन विकास को जानने के लिए तथा इन प्रथम शिष्यो की जीवन-साधना से परिचित होने के लिए बडे आवश्यक है। बुद्ध-स्वभाव पर प्रकाश डालने वाले भी अनेक प्रकरण बीच-बीच मे मिलते ही चलते है। उदाहरणतः इसी वर्ग में हम भगवान् बुद्ध को एक रोगी भिक्षु की सेवा-शुश्रूषा करते देखते है। साथ मे आनन्द भी भगवान की सहायता करते है। यह प्रसंग वास्तविक श्रमण-धर्म को जानने के लिए अति आवश्यक है। वास्तव मे अनिरुद्ध, उपालि और आनन्द के संन्यास के वर्णन चुल्लवग्ग मे है, जो महावग्ग का ही आगे का भाग है। इसी वर्ग मे आगे अनाथपिंडिक की दीक्षा और जेतवन-दान का वर्णन और महाप्रजापती गोतमी की प्रव्रज्या का वर्णन है। यही से भिक्षुणी-सघ का भी आरम्भ होता है। चुल्लवग्ग के अन्त मे प्रथम दो बौद्ध सगीतियो के विवरण है। वास्तव मे न केवल भिक्षु-सघ के इतिहास की दृष्टि से ही बल्कि छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज की अवस्था को जानने के लिए भी महावग्ग और चुल्लवग्ग में पर्याप्त सामग्री भरी हुई। जीवक कौमारभृत्य का विवरण जो महावग्ग मे आता है, तत्कालीन आयुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान और उसके

अभ्यास का अच्छा परिचय देता है। बिम्बिसार आदि के विवरण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और वैशाली आदि के विवरण उस समय की सामान्य सभ्यता और मनुष्यो के रहन-सहन के ढग का अच्छा परिचय देते है। निश्चय ही इस दृष्टि से विनय-पिटक का और विशेषत महावग्ग और चुल्लवग्ग का बडा महत्त्व है। यही पर सुत्त-विभग की विषय-वस्तु के पूरक-स्वरूप भिक्षु और भिक्षुणी सघोके आन्तरिक जीवन एवकार्य-सचालन का भी अच्छा चित्र दिया गया है। भिक्षु-सघ मे प्रवेश के नियम, उपोसथ के नियम, वर्षावास के नियम, उसके अन्त पर 'पवारणा' सम्बन्धी नियम, सघ मे फूट पडने पर उसमे एकता लाने के उपाय, भिक्षुओ के जीवन की छोटी से छोटी बातो पर भी सूक्ष्मतापूर्वक विचार, उनके कपडे और जूते पहनने तक के ढग, सवारी मे बैठने सम्बन्धी नियम, निवास- स्थान और उसकी सफाई, मरम्मत आदि सम्बन्धी नियम, किसी भी विषय को यहा छोडा नही गया है। चुल्लवग्ग के दसवे खन्धक मे केवल भिक्षुणी-जीवन सम्बन्धी नियमो और ज्ञातव्य बातो का ही विवरण है। 'खन्धक' मे ही सलग्न 'कम्म वाचा' के भी विवरण है जो सघ सम्बन्धी विभिन्न कृत्यो और सस्कारोके समय कार्य-प्रणाली के सूचक है। 'खन्धक' मे आये हुए नियमो के समान यहाँ विभिन्न कर्मों (कम्म) के लिए प्रयुक्त शब्दो (वाचा) का विधान किया गया है।

'परिवार' या 'परिवार-पाठ' विनय-पिटक का अन्तिम भाग है। जैसा विंटरनित्ज ने कहा है, 'परिवार' का विनय-पिटक से वही सम्बन्ध है, जो वेद की अनुक्रमणी और परिशिष्टो का वेद के साथ।[१] 'परिवार' सम्भवत बाद का भी सकलन है। वह प्रश्नोत्तर के रूप मे है। विनय-पिटक की विषय-वस्तु की इसे एक प्रकार से 'मातिका' या विषय-सूची ही समझना चाहिए। 'परिवार' मे १९ परिच्छेद है, जिनमे अभिधम्म की शैली पर विनय-पिटक के विषय की ही पुनरावृत्ति की गई है। 'परिवार' कोअन्तिम गाथाओमे कहा गया है ' पुब्बाचरियमग्गं च पुच्छित्वा च तहिं तहिं दीप नाम महापञ्ञो सुतधरो विचक्खणो इम वित्थार-सखेप सज्झमग्गेन मज्झिमे चिन्तयित्वा लिखापेसि सिस्सकानं सुखावहं।" इससे निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी शिक्षा के इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महामति भिक्षु ने सिंहल मे लेखबद्ध करवाया। 'लेखबद्ध करवाने' (लेखापेसि) का अर्थ

---

१. हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३३

प्रणयन या संकलन करना या करवाना नही है, जैसा कुछ विद्वानो ने भ्रमवश समझ लिया है। पूर्व परम्परा से मौखिक रूप मे प्राप्त इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महामति भिक्षु ने (पुस्तकाकार) लेखबद्ध करवाया, इन गाथाओ का केवल यही अर्थ है। सम्पूर्ण त्रिपिटक के वट्टगामणि के समय से लेखबद्ध किए जाने के प्रसग (महावस३३।२४७९ ८०) मे भी ऐसा ही कहा गया है। अत. उसे प्रणयन या सकलन का सूचक नही मानना चाहिए। यद्यपि 'परिवार' के सकलन-काल की तिथि निश्चित रूप से स्थापित नही की जा सकती, फिर भी शैली के साक्ष्य पर उसे अभिधम्म-पिटक के समकालिक माना जा सकता है, अर्थात् कम से कम तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व।

इस प्रकार हमने सघ की अनुस्मृति की। जिस प्रकार धम्म की अनुस्मृति मे हमने सुत्तो का सहारा लिया, उसी प्रकार भिक्षु-सघ की स्मृति करने मे विनय-पिटक ने हमारी सहायता की। बुद्ध की अनुस्मृति तो दोनो जगह समान ही रही। साथ-साथ हमने तत्कालीन लोक-समाज को भी देखा, बुद्ध के देश और काल को भी देखा। इतिहास-लेखक तो इसी पर सर्वाधिक जोर देते है, किन्तु हमने तो प्रासगिक वश ही सही, पर बुद्ध, धम्म और सघ की अनुस्मृति भी अवश्य की। निश्चय ही महापुरुष (बुद्ध) का जितना बडा दान विश्व को 'धम्म' का था, उससे कम बडा दान सघ का भी नही था। बुद्धकालीन भिक्षु-सघ साक्षात् साधना का निवास-स्थान था। उसकी वह पवित्रता की द्युति ही थी जो उसकी महिमा के इतने विशाल भूखड पर विस्तार का कारण हुई। भिक्षु-सघ के विषय मे जो यह कहा गया है कि वह आहुनेय्य (निमत्रण करने योग्य) था, पाहुणेय्य (पाहुना बनाने योग्य) था, दान देने योग्य था, अञ्जलि जोडने योग्य था, एव लोक के लिए पुण्य बोने का अद्वितीय क्षेत्र था, वह उसकी पवित्रता और सयम-प्रियता को देखते हुए बिलकुल ठीक ही था। भगवान् का श्रावक-सघ 'आमिस-दायाद' नही था और न वह किसी लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित किया गया था, यह इसी से प्रकट होता है कि आनन्द और महाकाश्यप जैसे ज्ञानी और साधक भिक्षुओ के रहते हुए भी शास्ता ने किसी को अपने बाद सघ का संचालक नही बनाया। धर्म और विनय के सचालन में ही उन्होंने उसे छोडा। भगवान् का कोई पीटर या अली नही बना। कारण, यहाँ वैसा कुछ था ही नही जिसका किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार सौंपा जा सके। इतनी निर्वैयक्तिकता विश्व के इतिहास में अन्यत्र कही नही देखी गई।

विनय-पिटक के नियमो में आधारभूत विश्वजनीन तत्व कितना है अथवा कितना वह देश और काल की विशिष्ट परिस्थितियो से उद्भूत है, यह एक बडा महत्वपूर्ण प्रश्न है। नगई ने अपने सक्षिप्त विनय-सम्बन्धी निबन्ध[१] मे इस प्रश्न को उठाया है और सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तित स्वरूपो का विवेचन करते करते वे उस हद तक पहुँच गए हैं, जहाँ तक स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उनके साथ जा ही नही सकती, धर्म और साधना का कोई भी भारतीय विद्यार्थी भी जहाँ तक जाना पसन्द नही करेगा। उदाहरणत. स्त्री-सलाप आदि अनेक बातों के साथ साथ भिक्षु के एकाशनिक (एकाहारी) होने सम्बन्धी व्रत के अभ्यास को भी नगई ने इस आधुनिक युग मे असम्भव और कदाचित् अनावश्यक मान लिया है। निश्चय ही यह सीमा को अतिक्रमण कर जाना है। समाज और जीवन के बाहरी रूपो मे परिवर्तन होने के साथ-साथ आज के मनुष्य के लिए उनके मूल्यो के अकन मे भी परिवर्तन हो चुका है। वह भीतर से मूल्य अकन करने के बजाय आज बाहर से करने लगा है। यदि इस दृष्टि से विनय-नियमो को आज देखा जाय तब तो उनमे से अधिकाश नियमो का अभ्यास ही व्यर्थ है। मज्झिम-निकाय के कीटागिरि सुत्त (२।२।१०) मे हम पढते है कि बुद्ध के कुछ शिष्य भिक्षु अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनयहीन भिक्षुओ से जा कर कहते है, "आवुसो! भगवान् रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करते है। भिक्षु-सघ भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करता है। ऐसा करने से वे आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार अनुभव करते है। आओ आवुसो! तुम भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करो। तुम भी आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार को अनुभव करोगे।" अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनय-भ्रष्ट भिक्षुओ ने उत्तर दिया, "आवुसो! हम तो शाम को भी खाते है, प्रात. भी खाते है, दोपहर भी खाते है और दोपहर बाद भी। साय. प्रात, मध्यान्ह, विकाल (दोपहर बाद) सब समय खाते भी हम आरोग्य, उत्साह बल और सुखपूर्वक विहार करते घूमते है। हम साय भी खायेगे, प्रात भी, दिन मे भी, विकाल मे भी।" जैसा तर्क अश्वजित् और पुनर्वसु ने दिया वैसा आज कोई भी दे सकता है। और आज की परिस्थिति मे वह कुतर्क भी नही लगेगा। आज मनुष्य के मूल्याकन का सारा विधान ही बदल गया है।

---

१. 'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन और बुद्धिस्ट कमांडमेन्ट्स,' शीर्षक, बुद्धिस्टिक स्टडीज, (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ३६५-३८३.

अत. यदि आज के भौतिकवादी जीवनके पूरे स्वीकरण के साथ तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय को निभाना है तो वह अशक्य है। काम-वासना को लक्ष्य मानने वाले जन-समाज के लिए तथागत ने उपदेश नही दिया। कम से कम उसके लिए उसे समझना तो अशक्य ही है। अत: विनय-नियमो को निभाने का काम तो ऐसे महान् साधको का ही हो सकता है जो समाज की मान्यताओसे ऊपर उठने की पूरी शक्ति रखते हो। कम से कम सामाजिक परिस्थितियो के नाम पर आदर्श को गिराना तो हमे नही चाहिए। स्थविरवादी परम्परा ने विनय-नियमो पर उनके पूरे शब्दो और अर्थो के साथ जोर दिया है, इसका यही कारण है। साधन की निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। निष्ठावान् के लिए कभी कुछ असम्भव नही है। वह समाज और परिस्थितियो को अपने अनुकूल कर सकता है, यदि उसे दृढ विश्वास है कि जो कुछ अभ्यास वह करता है उसके पीछे बुद्धो का सारा अनुभव और ज्ञान छिपा हुआ है और उसकी सच्चाई सामाजिक परम्पराओं या परिस्थितियो की अनुमति की अपेक्षा नही रखती। हाँ छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियमो के विषय मे शास्ता ने स्वय ही आश्वासन दे दिया है कि उन्हे आवश्यकतानुसार छोडा जा सकता है। ये छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियम क्या है, इसके विषय मे हम जानते है कि पूर्वकालीन धर्मसगीतिकार भिक्षुओं मे ही बडा विवाद उठ खडा हुआ और केवल अनेक सम्प्रदायो मे बँट जाने के अतिरिक्त वे इसका कोई हल नही निकाल सके। वास्तव मे इसका हल बाहर से हो ही नही सकता। कोई भी बाहरी विधान साधक को यह नही बतला सकता कि यह नियम छोडने योग्य है या नही। इसके लिए तो आन्तरिक साधना से प्राप्त निर्मल विवेक-बुद्धि ही मनुष्य के पास सर्वोत्तम साधन है। केवल उसी के द्वारा यह निर्णय किया जा सकता है कि क्या अ-महत्त्व पूर्ण है और छोड देने योग्य है और क्या महत्वपूर्ण है और जीवन भर अनुल्लघनीय है। इस प्रकार चाहे जो कुछ भी त्याज्य या पालनीय ठहरे, किन्तु यह निश्चित है कि जो त्याज्य होगा वह देश और काल से उद्भूत तत्त्व होगा और जो पालनीय होगा वह सार्वभौम, सार्वकालिक, तत्त्व होगा, जिससे ही तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय अधिकतर भरा हुआ है। 'क्षुद्रानुक्षुद्र' को छोड देने का विधान कर तथागत ने इसी देश-काल-उद्भूत तत्त्व से विमुक्त हो जाने का भिक्षु-सघ को अन्तिम उपदेश दिया था, ऐसा हमारा मन्तव्य है। इस प्रकार विनय-सम्बन्धी नियमो मे न बाहरी कर्मकाड की गन्ध तक है और न वे साधकों के उस स्वबुद्धि-निर्णय के

अधिकार को, जिसे शास्ता ने उन्हें दिया, छीनने का ही उद्योग करते हैं। यह उनकी एक भारी विशेषता है।

विनय की मूल आत्म-संयम है। संयम अर्थात् काया का संयम, वाणी का संयम, मन का संयम। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का समाधान, सम्यक् आधान, ही 'शील' कहलाता है। शील की समापत्ति के लिए ही विनय-नियमों का विधान किया गया है, यद्यपि यह ठीक है कि वहाँ उनके बाहरी रूप को लक्ष्य कर के ही अधिकतर नियम बनाये गए है। फिर भी शास्ता के द्वारा मानसिक संयम पर जो जोर दिया गया है, वह भी उनके मूल में सुरक्षित है ऐसा कहा जा सकता है। केवल किसी कर्म के करने या न करने से ही शील-विशुद्धि नहीं हो जाती। भगवान् ने स्वयं कहा भी है "मागन्दिय ! न दृष्टि से, न अनुभव से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि कहता हूँ। अदृष्टि, अ-श्रुति, अ-ज्ञान, अ-शील, अ-व्रत से भी नहीं।" निश्चय ही किसी कर्म के करने या न करने पर सदाचार उतना निर्भर नहीं है जितना उस कर्म-व्यापार के अन्दर रहने वाली मानसिक प्रवृत्ति पर। इसीलिए चेतना पर भगवान् ने सर्वाधिक जोर दिया है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के संयम का अर्थ यह नहीं है कि इन भौतिक या मानसिक इन्द्रियों में अपने आप में संयम जैसी कोई वस्तु होती है, बल्कि केवल यही है कि जिन जिन वस्तुओं की अनुभूति इनके द्वारा होती है उनके प्रति मानवीय व्यवहार में संयम पैदा होना चाहिए। 'चक्षु-इन्द्रिय में संयम को प्राप्त होता है' (चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जति) इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक भौतिक चक्षु को संयमित करता है,या चक्षु और रूप के संयोग को ही निरुद्ध करता है। यदि ऐसा होता तो आँख मीचने वाला सर्वोत्तम संयमी होता। अतः चक्षुरिन्द्रिय में संयम प्राप्त करने का अर्थ है चक्षु इन्द्रिय मात्र को ही संयमित नहीं करना (यद्यपि है तो वह भी आवश्यक) बल्कि चक्षु के द्वारा देखे हुए रूप के प्रति अपने व्यवहार को संयमित रखना। यही बात श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, जिह्वा और रस, काय और स्पर्श तथा मन और धर्म (मानसिक पदार्थ) के विषय में भी जाननी चाहिए। अभिधम्म की भाषा का प्रयोग करते हुए इस तथ्य का बड़ा विशद निरूपण आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धि-मग्ग' के प्रथम परिच्छेद में किया है। वास्तव में शास्ता का मन्तव्य चित्त को संयमित करने का ही है और उसी उद्देश्य के अनुसार हमें विनय के नियमों की भी व्याख्या करनी चाहिए। जो बातें राग, संग्रह, असन्तोष, अनुद्योगिता और इच्छाओं को बढ़ाने वाली है

ये सभी अकरणीय है और उनके विपरीत करणीय। विनय-पिटक इन्ही का कुछ अनुमापन हमे देता है, जो यद्यपि सब काल और सब देशो के लिए परिपूर्ण नही कहा जा सकता, फिर भी वह सदाचार के उस सार्वभौम आदर्श पर आधारित है जिसे लोक-गुरु (बुद्ध) ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्य-मडल मे सिखाया था। विनय के उपदेश करने मे, जैसा भगवान् ने स्वय कहा है, दस उद्देश्य उनकी दृष्टि मे थे। "भिक्षुओ! दस बातो का विचार कर मै भिक्षुओ के उपकार के लिए विनय-नियमो (शिक्षापदो) का उपदेश करता हूँ (१) सघ की अच्छाई के लिए, (२) सघ की आसानी के लिए, (३) उच्छृखल पुरुषो के निग्रह के लिए, (४) अच्छे भिक्षुओ के सुख-विहार के लिए, (५) इस जन्म के चित्त-मलो के निवारण के लिए, (६) जन्मान्तर के चित्त-मलो के नाश के लिए, (७) अप्रसन्नो को प्रसन्न करने के लिए, (८) प्रसन्नो की प्रसन्नता को बढाने के लिए, (९) सद्धर्म की चिरस्थिति के लिए और (१०) विनय (सयम) की सहायता (अनुग्रह) के लिए[१]।" इन उद्देश्यो पर ध्यानपूर्वक विचार करने से विनय-पिटक के नियमो के रूप और उनके उपयोग की सीमा काफी समझ मे आ सकती है। उपासको और भिक्षुओ के लिए निर्दिष्ट क्रमश पच (हिसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति) और दस (हिसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति एव नृत्य-गीत, माला-गन्ध-विलेपन, ऊँचे पलग, विकाल-भोजन एव रुपये-पैसे के ग्रहण मे भी विरति) शीलो के समान आज तक क्रमश गृहस्थो और प्रव्रजितो के लिए सार्वभौम सदाचार का कोई दूसरा आदर्श नही रक्खा गया है? विनय-पिटक के २५२ नियम इन्ही मे अन्तर्भावित है।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व की मध्य-मडल की सामाजिक परिस्थिति मे तथागत ने भिक्षु-भिक्षुणी और उपासक-उपासिकाओ के लिए सदाचार-सम्बन्धी जिन नियमो का विधान किया, उन्होने बाद मे चल कर कितने देशो और कितने विशाल भूखड मे, भारत-भूमि से कोसो दूर, सन्यासी और गृहस्थ सब के लिए सम्मान्य सदाचार की कसौटी का काम किया, इसे देख कर आश्चर्यान्वित रह जाना पडता है। लका, बरमा और स्याम की बात जाने दे, तो भी चीन तिब्बत और जापान आदि मे जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म गया वहाँ-वहाँ विनय-पिटक सम्बन्धी नियमो का कितना सूक्ष्म अनुशीलन किया गया, यह तत्सम्बन्धी साहित्य से

---

१. विनय-पिटक, पाराजिका १

प्रकट होता है। 'सो-सोर्-थर्-पा' (विनय-पिटक का तिब्बती संस्करण)' 'जुजु-रित्सु', 'शिबुन् रित्सु', 'मक्-सोगि-रित्सु', 'कोन्-पोन्-सेत्स्-इस्से-उबु' और 'गोबुन रित्सु' (विनय-पिटक के विभिन्न चीनी संस्करण) आदि किस तथ्य को प्रकट करते हैं? किस गाथा को वे दुहराते हैं? स्याम, बरमा और लंका में आज भी जो काषाय-वस्त्रों की जीती-जागती ज्योति चमकती है, वहाँ के भिक्षु-संघ के जीवन का जो संचालन शास्ता के द्वारा मध्य-मंडल में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उपदिष्ट नियमों के अनुसार होता है, वह सब किस कहानी को कहता है? चाहे चीन, जापान और तिब्बत की ओर देखें, चाहे लंका, स्याम और बरमा की ओर देखें, चाहे आर्य जातियों की ओर देखें, चाहे आर्येतर मंगोलियन और तूरानी जातियों की ओर, जब उन सब से पूछा जाय 'जिस गुरु से तुमने सदाचार को सीखा है, उसका नाम क्या है?' तो चारों ओर से यही ध्वनि आती है "अयं सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो लोकविदू अनुत्तरो पुरिस-दम्म सारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवाति।" निश्चय ही पूर्ण पुरुष, तथागत, भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध विश्व के एक बड़े भूभाग के सदाचार के उपदेष्टा हैं, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य धम्म के अलावा विनय-पिटक के उन विभिन्न संस्करणों से प्राप्त होता है, जो नाना देशों में पाये गये हैं और जो इस बात के सूचक हैं कि किस गम्भीर मनन और चिन्तन के साथ वहाँ विनय-नियमों की समीक्षा की गई है और उनका जीवन में अनुसरण किया गया है। इस देश में उत्पन्न अग्रजन्माओं से समार के सब देशों के मनुष्य अपने-अपने सदाचार को सीखें, यह तो मनु ने भी कहा था। किन्तु किस भारतीय मनीषी या ऋषि ने यह काम किया? उनमें से अनेक तो चातुर्वर्णी शुद्धि भी नहीं सिखा सके, फिर विश्व का शास्ता बनना तो दूर की बात थी? जिस गौरव की ओर मनु ने स्मरण दिलाया था उसे भारतीय भूमि और संस्कृति को प्रदान करने वालों में भगवान् बुद्ध ही अग्र हैं, श्रेष्ठ हैं। वे सर्वोत्तम अर्थों में लोक-शास्ता हैं, लोक-गुरु हैं, यह विनय-पिटक के नाना देशों में विकास ने भली भाँति प्रकट कर दिया है। न केवल बौद्ध देशों या बौद्ध मतावलम्बियों तक ही यह प्रभाव सीमित है, बल्कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति, उसके बपतिस्मा-नियम तथा चर्च-सम्बन्धी विधान में उन बौद्ध धर्म-प्रचारकों का, जिन्हें अशोक ने पश्चिमी एशिया और यूरोप के देशों में भेजा था, कितना प्रभाव उपलक्षित है, इसमें इतिहासवेत्ताओं के आज दो मत

नही है।[1] अत: विनय-पिटक केवल संघ-सम्बन्धी नियमो का संग्रह न हो कर आज हमारे लिए एक विशेष ऐतिहासिक गौरव का स्मारक है। जिस प्रकार शास्ता का धर्म विश्व-धर्म है, उसी प्रकार उनका विनय भी विश्व का विनय है, इसका अपने नाना रूपो मे वह साक्ष्य देता है। विनय-पिटक का यह महत्त्व भी आज भारतीय विद्या और संस्कृति के उपासकों के लिए कुछ कम नही है।

---

१. देखिये एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द पाँचवी, पृष्ठ ४०१, वहीं जिल्द बारहवीं, पृष्ठ ३१८-३१९; बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डा० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६३१-६३२.

पाँचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्म-पिटक पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का तीसरा मुख्य भाग है। 'अभिधम्म' शब्द का प्रयोग 'अभि-विनय' शब्द के साथ-साथ क्रमश धम्म और विनय सम्बन्धी गभीर उपदेश के अर्थ मे, सुत्त-पिटक मे भी हुआ है।[1] सभवत इसी के आधार पर आचार्य बुद्धघोष ने अभिधम्म का अर्थ किया है—'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म। 'अभिधम्म' मे 'अभि' शब्द को उन्होंने 'अतिरेक' या 'विशेष' का वाचक माना है।[2] वास्तव मे यह 'अतिशयता' या 'विशेषता' धम्म

---

१. देखिये संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ-३।१०); दसुत्तर-सुत्त (दीघ. ३।११); गुलिस्सानि-सुत्तन्त (मज्झिम. २।२।९); किन्ति-सुत्तन्त (मज्झिम-३।१।३)। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने यहां इन शब्दों का अर्थ केवल धर्म-सम्बन्धी (अभिधम्म) और विनय-सम्बन्धी (अभि-विनय) किया है, जो पूरे अर्थ को व्यक्त नहीं करता।

२. अतिरेक-विसेस-त्थदीपको हि एत्थ अभि-सद्दो। अट्ठसालिनी, पृष्ठ २ (पालि टैक्सट सोसायटी का संस्करण); मिलाइये सुमगल विलासिनी, पृष्ठ १८ (पालि टैक्सट सोसायटी का सस्करण); प्रसिद्ध महायानी आचार्य आर्य असंग ने 'अभिधर्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए (१) निर्वाण के अभिमुख उपदेश करने के कारण (अभिमुखतः) (२) धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के कारण (आभीक्ष्ण्यात्) (३) विरोधी सम्प्रदायों का खडन करने के कारण (अभिभवात्) एवं (४) सुत्त-पिटक के सिद्धान्तों का ही अनुगमन करने के कारण (अभिगतितः) 'अभिधर्म' शब्द की सार्थकता दिखलाई है। अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मः। महायानसूत्रालंकार ११।३; आचार्य वसुबन्धु ने उपकारक स्कन्धादि से युक्त, विमल प्रज्ञा को ही अभिधर्म कहा है। प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मः। अभिधर्मकोश १।२

की नहीं है। धम्म तो सर्वत्र एक रस है। किन्तु तीनों पिटकों में, उनके नाना वर्गीकरणों में, वह नाना रूप हो गया है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' जो धम्म सुत्त-पिटक में उपदेश-रूप है, विनय में जो संयम-रूप है, वही अभिधम्म में तत्व-रूप है। इसका कारण अधिकारियों का तारतम्य ही है। प्रस्थान-भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो गया है। किन्तु यह भेद सिर्फ शैली का है, आदेशना-विधि का है। सुत्त सबके लिए सुगम है, क्योंकि वहाँ बुद्ध-वचन अपने यथार्थ स्वरूप में रक्खे हुए हैं। अभिधम्म पिटक में बुद्ध-मन्तव्यों का वर्गीकरण और विश्लेषण किया गया है, तात्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से उन्हें गणनाबद्ध किया गया है। अतः जब कि सुत्त-पिटक का निरूपण जन-साधारण के लिए उपयोगी है, अभिधम्म पिटक की सूचियों और परिभाषाओं में वही चुने हुए व्यक्ति रुचि ले सकते हैं जिन्होंने बौद्ध तत्त्व-दर्शन को अपने अध्ययन का विशेष विषय बनाया है। इसी अर्थ में अभिधर्म्म पिटक को 'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म कहा गया है।

अभिधम्म-पिटक धम्म की अधिक गहराई में उतरता है और अधिक साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही उसका प्रणयन हुआ है, ऐसा बौद्ध परम्परा आरम्भ से ही मानती आई है। कहा गया है कि देव और मनुष्यों के शास्ता ने 'अभिधम्म' का उपदेश सर्व प्रथम त्रायस्त्रिंश लोक में अपनी माता देवी महामाया और अन्य देवताओं को दिया था। बाद में उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने अपने महाप्राज्ञ शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के प्रति की थी। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने ही उसे अन्य ५०० भिक्षुओं को सिखाया। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही सारि-पुत्र के सहित ५०१ भिक्षु अभिधम्म के ज्ञाता थे।[1] इस प्रकार प्राप्त 'अभिधम्म' का ही संगायन, इस परम्परा के अनुसार, प्रथम दो संगीतियों में हुआ।[2] तीसरी संगीति में भी इसी की पुनरावृत्ति की गई, किन्तु इसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौद्गलिपुत्र तिष्य) ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को भी जिसकी मोटी रूपरेखा भगवान् बुद्ध भविष्य में उत्पन्न होने वाले मिथ्या मत-वादों का ज्ञान प्राप्त कर उनके निराकरणार्थ पूर्व ही निश्चित कर गये थे, पूर्णता देकर 'अभिधम्म'

---

१. अट्ठसालिनी की निदान-कथा; मिलाइये धम्मपदट्ठकथा ४।२, बुद्धचर्या पृष्ठ ८३-९० में अनुवादित।

२. देखिये दूसरे अध्याय में प्रथम दो संगीतियों का विवरण।

में सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार यह स्थविरवादी बौद्ध परम्परा अभिधम्म पिटक को भी सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान ही बुद्ध-वचन मानने की पक्षपातिनी है।

रचना-काल

उपर्युक्त अनुश्रुति अभिधम्म-पिटक की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। वास्तव में उसी हद तक वह ठीक भी है। वैसे तो उसने भी यह स्वीकार कर ही लिया है कि अभिधम्म-पिटक का कम से कम एक ग्रन्थ 'कथावत्थु' अशोक-कालीन रचना है और उसका वर्तमान रूप स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का दिया हुआ है। बुद्ध के प्रारंभिक उपदेशों में धम्म और विनय की ही प्रधानता है। ऐसा लगता है कि उन्हीं के आधार पर सग्रथित अभिधम्म को भी उन्हीं के समान प्रमाणवत्ता देने के लिए स्थविरों ने उपर्युक्त अर्थवाद की सृष्टि की है। आधुनिक विद्यार्थी के लिए सबसे अधिक कठिन समस्या तो यह है कि आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, वह कहाँ तक सीधा बुद्ध-वचन है अथवा उसका प्रणयन-किन-किन काल-श्रेणियों में बुद्ध-वचनों के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, उसकी प्रमाण-वत्ता सुत्त और विनय की अपेक्षा निश्चयतः कम रह जाती है और उसका प्रणयन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक उसके बाद का ठहरता है।

'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों के साथ दो प्रश्न आचार्य बुद्धघोष ने बड़े महत्त्व के किये हैं। पहला प्रश्न है—'अभिधम्म पिटक किसका वचन है' ? दूसरा प्रश्न है—'किसने इसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है ?' पहले प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा है 'पूर्ण पुरुष, तथागत भगवान् सम्यकसम्बुद्ध का' और दूसरे के उत्तर में कहा है 'उपदेशकों की न टूटने वाली परम्परा ने'। इसी परम्परा का उल्लेख करते हुए वहाँ कहा गया है "तृतीय संगीति तक सारिपुत्र, भद्दजि, सोभित, पियजालि, पियपाल, पियदस्सि, कसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, विसुदत्त, धम्मिय, दासक, सोनक, रेवत, आदि स्थविरों की परम्परा ने अभिधम्म-पिटक का उपदेश दिया। उसके बाद उनकी शिष्य-परम्परा ने इस काम को अपने हाथ में लिया। इस प्रकार भारतवर्ष (जम्बुद्वीप) में उपदेशकों की अविच्छिन्न परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अभिधम्म को पहुँचाती रही। इसके अनन्तर सिंहल द्वीप में भिक्षु महिन्द, इद्धिय, उतिय, भद्दनाम और सम्बल आये। यही महामनीषी भिक्षु अभिधम्म-पिटक को भी

भारत से लंका द्वीप में अपने साथ लाये। तब से आज तक गुरु-शिष्य परम्परा से यह अभिधम्म पिटक उसी रूप में चलता आ रहा है"। आचार्य बुद्धघोष का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। महिन्द के लंका में अभिधम्म पिटक के ले जाने के बाद से उसके स्वरूप में कुछ भी परिवर्तन हुआ हो, इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता। उसके बाद अभिधम्म-पिटक का स्वरूप निश्चित और स्थिर हो गया, ऐसा हम मान सकते हैं, यद्यपि लेखबद्ध होने का कार्य तो अभिधम्म-पिटक का भी संपूर्ण त्रिपिटक के साथ ही लगभग २५ ई० पूर्व वट्टगामणि अभय के समय में सम्पादित किया गया। आन्तरिक या बाह्य साक्ष्य के आधार पर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर अभिधम्म-पिटक के स्वरूप में तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक किए गए किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन का अनुमान किया जा सके। निश्चय ही यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने सुदीर्घ काल तक लंका में मौखिक परम्परा में चलते रहने पर भी अभिधम्म-पिटक में कहीं भी ऐसे एक शब्द तक का भी निर्देश नहीं दिखाया जा सकता जिससे सिंहली प्रभाव की कल्पना की जा सके[1]। कुछ विद्वानों ने 'कथावत्थु' की अट्ठकथा के आधार पर यह अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'कथावत्थु' में कुछ ऐसे सम्प्रदायों के सिद्धांतों का भी निराकरण है जो अशोक के काल के बाद प्रादुर्भूत हुए थे। चूँकि 'कथावत्थु' में केवल सिद्धांतों का खंडन है, सम्प्रदायों का नामोल्लेख वहाँ नहीं है। अतः बहुत संभव है कि विशिष्ट संप्रदायों के साथ कालान्तर में इन सिद्धांतों का संबंध हो जाने के कारण 'अट्ठकथा' (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) में उनका उल्लेख कर दिया गया हो, किन्तु अशोक के काल में केवल स्फुट रूप में ही इन सिद्धांतों की विद्यमानता पाई जाती हो। अतः 'कथावत्थु' में निराकृत उन सिद्धांतों को भी, जिनकी मान्यता बाद के उत्पन्न कुछ विशिष्ट संप्रदायों में चल पड़ी, जिसका साक्ष्य उसकी 'अट्ठकथा' ने दिया है, अनिवार्यतः अशोक के उत्तरकालीन मानना ठीक नहीं है। इस विषय का अधिक विशद विवेचन हम 'कथावत्थु' के विवेचन पर आते समय करेंगे। स्थविरवादी भिक्षुओं की परम्परा ने आरम्भ से ही बुद्ध-वचनों को उनके मौलिक

---

१. फिर भी आश्चर्य है कि सर चार्ल्स इलियट जैसे विद्वान् ने भी अभिधम्म-पिटक के लंका में रचित होने की सम्भावना को प्रश्रय दिया। देखिये उनका 'हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म' जिल्द पहली, पृष्ठ २७६, पदसंकेत १ तथा पृष्ठ २९१। यह भरपूर अज्ञान है!

रूप मे सुरक्षित रखने का जो आग्रह दिखलाया है उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि लका मे महिन्द आदि भिक्षुओ के द्वारा ले जाये जाने के बाद से अभिधम्म वहाँ उसी विशुद्धतम स्वरूप मे सुरक्षित बना रहा जिसमें वे उसे वहाँ ले गये थे। अब प्रश्न यही रह जाता है कि क्या महिन्द आदि भिक्षु जिस अभिधम्म को तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व लका मे ले गये थे क्या वह वही बुद्ध-वचन था जिसका उपदेश स्वय शास्ता ने मध्य-मडल मे दिया था ? कम से कम स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उसे इसी रूप मे उस समय से मानती आई है और भिक्षु-सघ ने भी उसे बडे प्रयत्न से उसके मौलिक रूप मे सुरक्षित रखना अपना कर्तव्य माना है। किन्तु दूसरे सप्रदायवालो (विशेषत सर्वास्तिवादियो) ने उसके इस दावे को वैशाली की सगीति के समय से ही नही माना था, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। उपर्युक्त कथन से कम से कम एक बात निश्चित रूप से हमे मिल जाती है, और वह है अभिधम्म-पिटक के उस रूप के प्रणयन की, जिसमे वह अतिम रूप से निश्चित और स्थिर हो गया था, निचली काल-सीमा। पाटलिपुत्र की सगीति २५३ ई० पू० मे हुई। उसके समाप्त होने पर ही महिन्द आदि भिक्षु लका को भेजे गये। अत यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि लगभग २५० ई० पू० तक अभिधम्म-पिटक अपने उस रूप मे, जिसमे वह आज उपलब्ध है, पूर्णत स्थिर हो चुका था। बाद मे मिलिन्दपञ्ह (१०० ई० पू०) मे तो अभिधम्म पिटक के सातो ग्रन्थो का, उनकी पूरी वर्गीकरण-शैली के सक्षिप्त निर्देश के साथ, उल्लेख हुआ है।[1] जिस आदर के साथ अभिधम्म-पिटक का उल्लेख यहाँ किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध-वचनो के रूप मे उसकी ख्याति बौद्ध परम्परा मे उस समय तक दृढ प्रतिष्ठा पा चुकी थी। यदि कम से कम सौ-डेढ सौ वर्ष का काल भी इस परम्परा के निर्माण मे लगा हो तो भी हम आसानी से अशोक-सगीति के समय तक पहुँच जाते है जब कि तेपिटक बुद्ध-वचनो का अतिम रूप से सस्करण हुआ था। अत अशोक-सगीति या तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व का मध्याश अभिधम्म-पिटक के रचना-काल की निचली काल-सीमा है जिसे बहुत खीचतान कर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक अर्थात् उसके सिहल में लेखबद्ध होने अथवा मिलिन्दपञ्ह में उसके उद्धृत होने तक के समय तक भी घटाकर लाया जा सकता है। अब हमें उसके रचना-काल की उपरली काल-सीमा का निर्णय करना है। विनय-पिटक—चुल्लवग्ग के

---

१ मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ १३-१४ (**बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण**)

प्रथम संगीति के वर्णन में हमने देखा है कि वहाँ धम्म और विनय के ही संगायन की बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की कोई सूचना वहाँ नहीं मिलती। किन्तु अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी एवं समन्तपासादिका) के वर्णन में, जैसा हम पहले देख चुके हैं अभिधम्म-पिटक के सातों ग्रन्थों के भी संगायन किये जाने का उल्लेख है। चूंकि त्रिपिटक के साक्ष्य के सामने उसकी अट्ठकथा के साक्ष्य का कोई प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, अतः 'समन्तपासादिका' का साक्ष्य यहाँ अपने आप प्रमाण की सीमा के बाहर हो जाता है। जैसा भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने कहा है 'विनय और धर्म के साथ अभिधम्म का भी पारायण इसी (प्रथम) संगीति में हुआ, यह जो समन्तपासादिका का कहना है, यह तो स्पष्ट-रूप से गलत है।'[1] किन्तु 'समन्तपासादिका' के साक्ष्य को स्पष्ट रूप से गलत मानते हुए भी उससे इतना निष्कर्ष तो हम निकाल ही सकते हैं कि अधिक से अधिक प्रथम संगीति के समय ही अभिधम्म-पिटक का विकास होना आरम्भ हो गया था। तभी हम वैशाली की संगीति के अवसर पर इस विषय संबंधी सर्वास्तिवादियों और स्थविरवादियों के विरोध और विवाद को समझ सकते हैं। यदि आज प्राप्त पालि विनय-पिटक का संकलन वैशाली की संगीति के अवसर पर ही हुआ हो तो उसमें जिस प्रकार अलौकिक ढंग से अभिधम्म को साक्षात् बुद्ध-वचन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उसका ऐतिहासिक रहस्य भी आसानी से समझा जा सकता है। दूसरे सम्प्रदायवालों द्वारा अभिधम्म की प्रामाणिकता का निषेध कर देने पर ही उन्हें इस प्रकार के विधान की आवश्यकता पड़ी। प्रथम संगीति के पहले हम पारिभाषिक अर्थों में अभिधम्म-पिटक के वर्तमान होने की स्थापना किसी आधार पर नहीं कर सकते। उससे पहले सिर्फ 'मातिकाओं' (मात्रिकाओं) का वर्णन मिलता है। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार भी 'मात्रिकाओं' (अभिधर्म) का संगायन प्रथम संगीति के अवसर पर आर्य महाकाश्यप ने किया था। कुछ भी हो, इन 'मातिकाओं' के आधार पर ही अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। अभिधम्म-पिटक के सर्वप्रथम ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' का प्रारंभ एक 'मातिका' से ही होता है। श्रीमती रायस डेविड्स ने इसी को अभिधम्म-पिटक का मूल स्रोत माना है।[2]

---

१. महावंश, पृष्ठ ११ (परिचय)

२. ए बुद्धिस्ट मेन्युअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अंग्रेजी अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३ (भूमिका)

उसम निर्दिष्ट २२ त्रिको और १०० द्विको के वर्गीकरण पर ही अभिधम्म का सपूर्ण धम्म विवेचन आधारित है। पुग्गलपञ्ञत्ति और धातुकथा का भी आरभ इसी प्रकार मातिकाओ से होता है। वास्तव में सपूर्ण अभिधम्म ग्रन्थो की शैली ही पहले मातिका या उद्देस देकर बाद में उनके निद्देस (व्याख्या) देने की है। पहले दिखाया जा चुका है कि पिटक-साहित्य मे जहाँ मातिकाओ का उल्लेख हुआ (धम्मधरो विनयधरो मातिकाधरो पडितो—विनय पिटक—चुल्लवग्ग) वहाँ उनसे किन्ही विशिष्ट ग्रन्थो का बोध न होकर केवल सिद्धान्तात्मक सचिया का ही होता है जिनका उपयोग भिक्षु लोग स्मरण करने की सुगमता के लिए करते थे। इसी प्रकार दीघ निकाय के सगीति-परियायसुत्त और दसुत्तर-सुत्त मज्झिम निकाय के सळायतनविभग-सुत्त और धातुविभगसुत्त, एव अगुत्तर निकाय के अनेक सख्याबद्ध सुत्त अभिधम्म पिटक के वर्गीकरणो के मूल स्रोत मान जा सकते है।[1] इन्ही के आधार पर अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि महायानी परम्परा के सस्कृत बौद्ध ग्रन्थो मे 'अभिधर्म' के लिए मात्रिका शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[2] अत समन्तपासादिका के वर्णन को अक्षरश सत्य न मानकर हम उससे इतना निष्कर्ष तो निकाल ही सकते है कि मातिकाओ और ऊपर निर्दिष्ट सुत्त पिटक के अशो से अभिधम्म-पिटक के निर्माण का काय प्रथम सगीति के समय ही आरम्भ हो गया था और दूसरी सगीति के समय तक आते आते उसने ऐसा निश्चित (अन्तिम नही) रूप प्राप्त कर लिया था जिसके आधार पर दूसरे सप्रदायवालो के लिये उसे बुद्ध-वचन मानने या न मानने का महत्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता था। अत पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व अभिधम्म पिटक के प्रणयन की उपरली काल-सीमा और २५० ई० पू० (जिसे अधिक सन्देहवादी विवेचक घटा कर प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक भी ला सकते

---

१ अभिधम्म-पिटक के अगुत्तर-निकाय सम्बन्धी आधार के लिये मिलाइये ई० हार्डी अगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ९ (प्रस्तावना) (पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण)

२ देखिये श्रीमती रायस डेविड्स ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसगणि का अनुवाद) द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३, ओल्डनबर्ग और रायस डेविड्स सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द १३, पृष्ठ २७३, कर्न मेनुअल ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ३, १०४।

हें) निचली काल-सीमा ठहरती है। इन्ही के बीच अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। विशेषतः द्वितीय और तृतीय संगीतियो के बीच का समय अभिधम्म पिटक के संग्रह और रचना का काल माना जा सकता है।

उपर्युक्त काल-सीमाएँ निर्धारित करने से अधिक अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थो के प्रणयन के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। उनकी निश्चित तिथियाँ स्थापित नही की जा सकती। कब कौन सा ग्रन्थ निश्चित रूप प्राप्त कर प्रकाश मे आया, इसका निर्णय नही किया जा सकता। हाँ, कुछ सिद्धातो के आधार पर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थो के काल-क्रम मे तारतम्य अवश्य स्थापित किया जा सकता है। परम्परा से अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों का उल्लेख जिस क्रम मे हमे मिलता है, वह यह है (१) धम्मसगणि, (२) विभग (३) कथावत्थु, (४) पुग्गलपञ्ञत्ति ,(५) धातुकथा, (६) यमक और (७) पट्ठान। मिलिन्दपञ्ह (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) मे इसी क्रम मे इन ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है।[१] 'सुमंगलविलासिनी' की निदान-कथा मे अवश्य बुद्धघोष ने कुछ परिवर्तन के साथ एक दूसरे क्रम का अनुसरण किया है,[२] किन्तु वह छन्द की आवश्यकता के लिए भी हो सकता है, अतः महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। विटरनित्ज, गायगर, ज्ञानातिलोक, भिक्षु जगदीश काश्यप एव लाहा आदि विद्वानो ने अभिधम्म-पिटक के अपने विवेचनों मे उपर्युक्त क्रम का ही अनुसरण किया है। विषय की दृष्टि से इससे अधिक स्वाभाविक क्रम हो भी नही सकता। किन्तु काल-क्रम की दृष्टि से इस क्रम को ठीक मानना हमारे लिए अशक्य हो जाता है। केसियस ए० पिगेरा का मत है कि आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर धम्मसंगणि, विभंग और पट्ठान प्राचीनतम ग्रन्थ है और उनका संगायन, अपने वर्तमान रूप मे, सभवतः द्वितीय संगीति के अवसर पर ही हुआ था। इस प्रकार इन तीन ग्रन्थो ने अपना निश्चित और अंतिम स्वरूप चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व के प्रथम चतुर्थांश या उसके पूर्व ही प्राप्त कर लिया था, ऐसा उनका मत है। धातुकथा, यमक और पट्ठान को भी उन्होंने पूर्व-अशोक-कालीन रचनाएँ माना है और कहा है कि उनका भी संगायन अपने अंतिम रूप में तृतीय संगीति के अवसर पर हुआ था। 'कथावत्थु' की रचना की निश्चित तिथि तृतीय संगीति है ही[३]। 'कथावत्थु' काल-क्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक की

१. पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)
२. दूसरे अध्याय में प्रथम संगीति के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत।
३. महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक' के प्राक्कथन में।

अन्तिम रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। किन्तु अन्य ग्रन्थों के तारतम्य के विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। डा० लाहा ने 'पुग्गलपञ्ञत्ति' को काल-क्रम की दृष्टि से अभिधम्म पिटक का प्राचीनतम ग्रन्थ माना है। उनका कहना है कि चूँकि अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर आधारित है, अत: जिस हद तक अभि-धम्म पिटक का कोई ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सुत्त-पिटक पर कम या अधिक अवलंबित है, उसी हद तक उसकी आपेक्षिक प्राचीनता भी कम या अधिक है।[1] इसी सिद्धांत को आधार मानकर विवेचन करते हुए उन्होंने दिखाया है कि अन्य सब ग्रन्थों की अपेक्षा 'पुग्गलपञ्ञत्ति' ही सुत्त-पिटक पर अधिक अवलबित है। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की पृष्ठभूमि में दीघ, सयुत्त और अगुत्तर निकायो के पुग्गलो के प्रकार और विश्लेषण पूरी तरह निहित है। उदाहरणत 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के तयो पुग्गला, चत्तारो पुग्गला, पञ्च पुग्गला आदि भाग अगुत्तर निकाय के क्रमश तिक-निपात चतुक्क-निपात और पच-निपात आदि के समान हो हैं। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के कुछ अशो और दीघ निकाय के सगीतिपरियाय-सुत्त मे भी अनेक समानताएँ हैं। ''पुग्गलपञ्ञत्ति' केपालि टैक्सट् सोसायटी के सस्करण के संपादक डा० मॉरिस ने पुग्गलपञ्ञत्ति और सुत्त-पिटक के ग्रन्थों की इन सब समानताओ को सोद्धरण दिखाया है।[2] इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि पुग्गलपञ्ञत्ति की समानता, शैली और विषय दोनों की दृष्टि से, अभिधम्म-पिटक की अपेक्षा सुत्त पिटक से अधिक है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने तो यहाँ तक कहा है कि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के विवेचन को निकाल देने पर भी अभिधम्म-दर्शन की पूर्णता मे कोई कमी नही आती।[3] 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की प्रथम मातिका में अवश्य अभिधम्म-शैली का अनुसरण किया गया है, अन्यथा वह सुत्त-पिटक का ही ग्रन्थ जान पडता है। अत. पुग्गलपञ्ञत्ति की निश्चित तिथि चाहे जो कुछ हो, वह अभिधम्म पिटक के ग्रन्थो मे काल-क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन है, ऐसा डा० लाहा ने माना है।[4] पुग्गलपञ्ञत्ति' के समान ही डा० लाहा ने 'विभंग' की भी अभिधम्म-पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। 'विभग' के सच्च-विभंग, सतिपट्ठान-विभग और धातु-विभग, मज्झिम-निकाय

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २२
२. पुग्गलपञ्ञत्ति, पृष्ठ १०-११ (भूमिका)
३. अभिधम्म फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५
४. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २३

के क्रमशः सच्चविभंग सुत्त, सतिपट्ठान सुत्त और धातुविभंग सुत्त पर आधारित है। इसी प्रकार 'विभंग' के अनेक अंश खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ 'पटिसम्भिदामग्ग' पर भी अवलंबित हैं। इसलिए कालक्रम की दृष्टि से 'विभंग' को डा० लाहा नें 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के बाद दूसरा ग्रन्थ माना है। 'विभंग' को उन्होने अभिधम्म-साहित्य के विकास की उस स्थिति का सूचक माना है जब कि अभिधम्म की शैली पूर्णत: निश्चित नही हुई थी और वह सुत्तन्त की शैली से मिश्रित थी। चूंकि 'धम्मसंगणि' मे अभिधम्म-शैली का विकसित रूप मिलता है, इसलिए परम्परागत अनुश्रुति के विपरीत उन्होंने 'धम्मसगणि' को विभग के बाद का ग्रन्थ माना है। 'धम्मसगणि' का ही पूरक ग्रन्थ 'धातुकथा' है। अत. 'विभग' के बाद 'धम्मसंगणि' और उसके बाद 'धातुकथा', यह क्रम डा० लाहा ने स्वीकार किया है। 'विभग' ही 'यमक' की भी पृष्ठभूमि है। 'विभग' के एक भाग 'पच्चयाकार विभंग' का ही विस्तृत निरूपण बाद में 'पट्ठान' मे मिलता है। अत: धम्मसंगणि, धातुकथा यमक और पट्ठान ये चारो ग्रथ विभग पर ही आधारित है और काल-क्रम मे उनसे बाद के है, ऐसा डा० लाहा का मत है। इन सबसे बाद की रचना 'कथावत्थु' है। इस प्रकार 'पुग्गलपञ्ञत्ति' सबसे पूर्व की रचना, 'कथावत्थु' सबसे अन्तिम रचना, इन दोनो के बीच मे 'विभग' जिस पर ही आधारित 'धम्मसंगणि', 'धातुकथा', 'यमक' और 'पट्ठान' यही अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों के काल-क्रम के विषय में डा० लाहा का निष्कर्ष है। इसे डा० लाहा ने इस प्रकार दिखाया है।[1]

१ पुग्गलपञ्ञत्ति

२ विभग— (अ) धम्मसगणि—धातुकथा
(आ) यमक
(इ) पट्ठान

३ कथावत्थु

डा० लाहा का काल-क्रम-निश्चय अंशतः ठीक जान पड़ता है। किसी भी पालि साहित्य के विद्यार्थी को इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि 'कथावत्थु' अभिधम्म पिटक की अन्तिम रचना है। अतः अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों का परम्परागत परि-

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २६

गणन जिसमे 'कथावत्थु' को सातवें स्थान के बजाय पाँचवाँ स्थान प्राप्त है, काल-क्रम की दृष्टि से ठीक नही हो सकता, ऐसा तो अन्तत मानना ही पड़ेगा। अतः 'कथावत्थु' को अभिधम्म-पिटक का अन्तिम ग्रथ मानना ठीक ही जान पड़ता है। इसी प्रकार विषय और शैली दोनो की ही दृष्टि से 'पुग्गलपञ्ञत्ति' को भी कालक्रमानुसार प्रथम ग्रथ माना जा सकता है। यहाँ तक डा० लाहा के निष्कर्ष ठीक जान पडते है। किन्तु 'विभग' को 'धम्मसगणि' से पूर्व की रचना मानना युक्तियुक्त नही जान पडता। यहाँ डा० लाहा ने विषय-वस्तु की अपेक्षा शैली को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर यह निष्कर्ष निकाल डाला है। विशेषत. 'विभग' को 'धम्मसगणि' से पूर्व की रचना मानने के लिये उन्होने दो कारण दिये है (१) विभग के प्रत्येक भाग में सुत्तन्तभाजनिय (सुत्तन्त-भाग) और अभिधम्मभाजनिय (अभि-धम्म-भाग) दो स्पष्ट भाग है, जिनमे सुत्तन्तभाजनिय पर ही आधारित अभि-धम्मभाजनिय है। इससे डा० लाहा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'विभग' अभि-धम्म-पिटक के विकास की उस अवस्था का सूचक है, जिसमे सुत्तन्त और अभिधम्म का भेद सुनिश्चित नही हुआ था। इसके विपरीत 'धम्मसगणि' मे अभिधम्म-शैली का पूरा अनुसरण मिलता है। अत 'धम्मसंगणि' 'विभग' से बाद की रचना ही हो सकती है। (२) उद्देस (साधारण कथन) के बाद निद्देस (शब्दो के अर्थो का विस्तृत विवेचन) देने की अभिधम्म की प्रणाली है। विभग के 'रूपक्खन्धविभग' मे 'रूप' का मात्र 'उद्देस' ही मिलता है। उसका निद्देस सिर्फ धम्मसंगणि मे ही मिलता है। अत 'धम्मसगणि' 'विभग' के बाद की ही रचना होनी चाहिये।[1] डा० लाहा ने यहाँ समष्टि रूप से दोनों ग्रथो की विषय-वस्तु पर विचार नही किया है। केवल शैली की दृष्टि से विचार किया है और वह भी अपूर्ण है। जहाँ तक अध्यायो के 'सुत्त-विभाग' और 'अभिधम्म-विभाग' इन दो विभागो का सम्बन्ध है, वे तो विभंग के समान धम्मसगणि मे भी मिलते है।[2] अतः इस दृष्टि से दोनो मे भेद करना अनुचित है। विषय के स्वरूप की दृष्टि से शैली मे भी अन्तर हो सकता है। धम्म-सगणि का धम्म-विश्लेषण विभग मे प्राप्त उसके वर्गीकृत स्वरूप का पूर्वगामी ही हो सकता है। फिर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो विषय का पूर्वापर सबध

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २४-२५

२. देखिये स्वयं विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३०६

है, जिसके आधार पर हम अधिक निश्चित रूप से दो ग्रंथों का या एक ही ग्रंथ के दो अंगों के पूर्वापर भाव का अधिक निश्चय के साथ निर्णय कर सकते हैं। यह एक सर्व-विदित तथ्य है कि विभंग के प्रथम खंड में ही लेखक की धम्मसंगणि में विवेचित धम्मों की गणना से अभिज्ञता प्रकट हो जाती है, जिसमें उसने कुछ नये धम्मों का और समावेश कर दिया है।[1] विभंग ने धम्मसंगणि की 'मातिका' में निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों की विवरण-प्रणाली को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। विभंग के प्रथम तीन खण्ड स्कन्ध, आयतन और धातुओं का विवेचन करते हैं, अतः अंशतः धम्मसंगणि के प्रति उनका भी परकत्व सुनिश्चित है।[2] 'धम्मसंगणि' की शैली विश्लेषणात्मक अधिक है, जब कि विभंग की संश्लेषणात्मक अधिक है।[3] इस तथ्य से भी विभंग धम्मसंगणि के बाद की ही रचना जान पड़ती है। धम्म-संगणि में विभंग की ओर विकास-क्रम सामान्य से विशेष की ओर विकास क्रम है। अतः धम्मसंगणि को ही विभंग से पूर्व की रचना मानना अधिक युक्तिसंगत है। श्रीमती रायस डेविड्स ने भी माना है कि विभंग अपने पूर्व धम्मसंगणि की अपेक्षा रखती है।[4] गायगर[5] और विंटरनित्ज़[6] ने भी उसे धम्मसंगणि का पूरक रूप ही माना है। अभिधम्म-साहित्य के प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप भी विभंग की विषय वस्तु को धम्मसंगणि की पूरक स्वरूप ही मानते हैं।[7] अतः 'धम्मसंगणि' को ही 'विभंग' की अपेक्षा पूर्वकालीन रचना मानने की ओर विद्वानों की प्रवणता अधिक है। 'विभंग' के 'रूपक्खन्ध विभंग' का अधिक विस्तृत विवेचन 'धम्मसंगणि' में पाया जाना 'धम्मसंगणि' के बाद की रचना होने का ही सूचक नहीं माना जा सकता। बल्कि यह तथ्य केवल यही दिखाता है कि धम्मसंगणि में इसका सांगोपांग विवेचन हो जाने के बाद विभंग में उसके इतने विस्तार में जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इतनी अधिक दृष्टियों से

---

१. विन्टरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७
२. ञाणतिलोकः गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १७
३. उपर्युक्त के समान ही।
४. विभंग, भूमिका, पृष्ठ १३ (पालि टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)
५. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७
६. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७
७. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०४

अभिधम्म-पिटक मे धम्मो के विश्लेषण और विवेचन किये गये हैं और इतनी अधिक अवस्थाओं पर उसके संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन निर्भर करते है कि एक दो उदाहरणों से हम किन्हीं दो ग्रन्थो की पूर्वापरता का कोई निश्चित निर्णय नही कर सकते। धम्मसगणि वास्तव मे सपूर्ण अभिधम्म-पिटक का आधारभूत ग्रन्थ है और विषय-वस्तु की दृष्टि से उसी पर आधारित 'विभग' है। 'विभंग' 'धम्मसगणि' का पूरक है और स्वयं 'धातुकथा' के लिए आधारस्वरूप है।[1] इस प्रकार 'धम्मसगणि और धातुकथा के बीच वह मध्यस्थता करता है। 'यमक' और पट्ठान के विषय मे जो कुछ पहले कहा जा चुका है, वह ठीक है। अत हमारे प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थो का अधिक ठीक काल-क्रम यह होना चाहिए—पुग्गलपञ्ञत्ति, धम्मसगणि, विभग, धातुकथा, यमक, पट्ठान, और कथावत्थु। इसे यो भी दिखाया जा सकता है—

१ पुग्गलपञ्ञत्ति

२. धम्मसगणि

३ विभग — { अ धातुकथा, आ· यमक, इ पट्ठान }

४ कथावत्थु

अभिधम्म पिटक का विषय

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थो के काल-क्रम के विषय में जो विवेचन किया गया है, उससे उसकी विषय-वस्तु पर भी काफी प्रकाश पडता है। अभिधम्म-पिटक के विषय में सुत्त-पिटक की अपेक्षा कुछ नवीनता नही है। जैसा डा० रायस डेविड्स ने कहा है, अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक का ही परिशिष्ट है।[2] आचार्य बुद्धघोष ने उसे 'धम्म' का अतिरेक या अतिरिक्त रूप कहा है।[3] उसका भी यही अर्थ है। सुत्त-पिटक मे निहित बुद्ध-मन्तव्यो को ही अभिधम्म-पिटक में अधिक सूक्ष्म विस्तार के साथ समझाया गया है। पारिभाषिक शब्दावली कहीं कुछ नई

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७

२. अमेरिकन लेक्चर्स ऑन बुद्धिज्म : इट्स हिस्ट्री एंड लिटरेचर, पृष्ठ ६२

३· देखिये पृष्ठ ३३४, पद संकेत २

अवश्य है, किन्तु सिद्धांतो का मूल आधार सुत्तन्त ही है । अभिधम्म के सिद्धांतों, वर्गीकरणो और विभागो के मूल स्रोतो को सुत्तन्त मे खोज निकालना अध्ययन का एक अच्छा विषय हो सकता है । उससे दोनो का तुलनात्मक अध्ययन होने के अतिरिक्त स्वय अभिधम्म-पिटक के दुरूह सिद्धातों का समझना भी सुगम हो जाता है । प्रथम बार भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया है ।[1] उनके मतानुसार विभज्यवाद जिस प्रकार सुत्तन्त का दर्शन है उसी प्रकार वह अभिधम्म का भी दर्शन है । 'विभज्यवाद' का अर्थ है मानसिक और भौतिक जगत् की सपूर्ण अवस्थाओ का विश्लेषण कर चुकने पर भी उनमे कही 'अत्ता' (आत्मा) का नही मिलना । पहिये, धुरा, जुआ आदि सभी भागो से व्यतिरिक्त 'रथ' की सत्ता नही है । इसी प्रकार व्यक्ति भी रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान रूपी पाँच स्कंधो की समष्टि के अलावा और कुछ नही है । ये सभी स्कन्ध अनित्य,अनात्म और दु ख है । इनमें अपनापन खोजना दु ख का ही कारण हो सकता है । यही बुद्ध का दर्शन है, जो सुत्त-पिटक में अनेक बार प्रस्फुटित हुआ है । उदाहरणत सयुत्त-निकाय के इस बुद्ध-वचन को लीजिये, "हे गृहपति ! यहा अश्रुतवान्, आर्यों के दर्शन से अनभिज्ञ, अज्ञानी मनुष्य, रूप को आत्मा के रूप मे देखता है, अथवा आत्मा को रूपवान् समझता है, या आत्मा मे रूप को देखता है या रूप मे आत्मा को देखता है । वह समझता है—मै रूप हूँ और रूप मेरा है । इस प्रकार 'मै रूप हूँ और रूप मेरा है' समझते हुए उसके रूप मे परिवर्तन होता है, विपरिणाम होता है, कुछ का कुछ हो जाता है । गृहपति ! इसी से उत्पन्न होते है शोक, परिदेव (रोना-धोना) दु ख, दौर्मनस्य और मानसिक कष्ट" ।[2] वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान को लेकर भी इसी प्रकार दु ख-समुदय का क्रम दिखाया गया है । व्यक्ति के उपर्युक्त पाँच

---

१. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-३१

२. इध गहपति, अस्सुतवा पुथुज्जनो अरियानं अदस्सावी रूपं अत्ततो समनुपस्सति, रूपवन्तं वा अत्तानं, अत्तनि वा रूपं, रूपस्मिं वा अत्तानं । अहं रूपं, मम रूपं ति परियुट्ठट्ठायी होति । तस्स अहं रूपं मम रूपं ति परियुट्ठट्ठतो तं रूपं परिणमति अञ्ञथा होति, तस्स रूपविपरिणामञ्ञथाभावा उप्पज्जन्ति सोक-परिदेव-दुक्ख-दोमनस्सूपायासा । अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २० में उद्धृत ।

स्कन्धो में विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विश्लेषण भी सुत्तन्त में किये गये है । उनमें दो मुख्य है । पहले व्यक्ति के साथ बाह्य ससार के सबंध की व्याख्या करने के लिए १२ आयतनो का विवेचन किया गया है,[१] जो इस प्रकार है:—

१ चक्षु (चक्खु)	४ जिह्वा	७. रूप	१०. रस
२ श्रोत्र (सोत)	५ काय	८. शब्द (सद्द)	११. स्पृष्टव्य (फोटठब्ब)
३ घ्राण (घाण)	६ मन	९ गन्ध	१२ धम्म

इनमे व्यक्ति (द्रष्टा) का विश्लेषण प्रथम छ आयतनो के रूप मे किया गया है, जो आध्यात्मिक आयतन (अभौतिक आयतन) कहलाते है। बाहय ससार (दृश्य) का विश्लेपण बाद के छ. आयतनो के रूप मे किया गया है, जो बाहय-आयतन (बाहिर आयतन) कहलाते है । द्रष्टा और दृश्य के सबध और उनके उपादान से उत्पन्न होने वाली चेतना को ध्यान मे रखकर आन्तरिक और बाह्य ससार का १८ धातुओ मे भी विश्लेषण किया गया है,[२] जो इस प्रकार है:—

१ चक्षु (चक्खु)	७ रूप	१३ चक्षु-विज्ञान (चक्खु-विञ्ञाण)
२ श्रोत्र (सोत)	८ शब्द (सद्द)	१४ श्रोत्र-विज्ञान (सोत-विञ्ञाण)
३ घ्राण (घाण)	९. गन्ध	१५ घ्राण-विज्ञान (घाण-विञ्ञाण)
४ जिह्वा	१० रस	१६ जिह्वा-विज्ञान (जिह्वा-विञ्ञाण)
५ काय	११. स्पृष्टव्य (फोट्ठब्ब)	१७ काय-विज्ञान (काय-विञ्ञाण)
६ मन	१२ धर्म (धम्म)	१८ मनो-विज्ञान (मनो-विञ्ञाण)

उपर्युक्त तीनो प्रकार के विश्लेषण सुत्त-पिटक मे सामान्यतया मिलते है । सयुत्त-निकाय मे पूरे सयुत्तों के नाम इनके विवेचन के आधार पर ही रक्खे गये है, जैसे खन्ध-सयुत्त, आयतन-सयुत्त, धातु-सयुत्त । स्कन्ध आयतन और धातुओ का उपदेश भगवान् बुद्ध का मूल उपदेश था, इसका सर्वोत्तम

---

१. देखिये विशेषतः आयतन-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)
२. देखिये विशेषतः धातु-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

-साक्ष्य हम बुद्धकालीन भिक्षुणियों के इन लगातार उद्गारों में पाते हैं, जिनमें वे अपनी उपदेश करने वाली बहिनों से इस संबंधी उपदेश को पाकर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती हैं "सा मे धम्ममदेसेसि खन्धायतनधातुयो"[१] (उसने मुझे स्कन्ध, आयतन और धातुओ का उपदेश दिया)। इस प्रकार सुत्तन्त मे स्कन्ध, आयतन और धातुओ का उपदेश मिलता है, किन्तु वहाँ इसका उद्देश्य केवल अनात्मवाद का उपदेश देना है, अलग-अलग सबका विश्लेषण करना नही। यह काम अभिधम्म में किया गया है। अभिधम्म मे, जैसा हम उसकी विषय-वस्तु का विश्लेषण करते समय अभी देखेंगे, रूप-स्कन्ध का २८ अगो मे विश्लेषण किया गया है, इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का पाँच, संस्कार-स्कन्ध का ५० और विज्ञान स्कन्ध का ८९ अगो मे विश्लेषण किया गया है। इन सबका आधार जैसा हम पहले कह चुके हैं, सुत्त-पिटक ही है। उदाहरणतः, रूप का विश्लेषण सुत्तन्त में केवल दो भागो में किया गया है, "भिक्षुओ ! क्या है रूप ? चार महाभूत और चार महाभूतो के उपादान से उत्पन्न हुआ रूप, भिक्षुओ ! यही कहलाता है रूप।"[२] रूप के इस द्विविध विभाग पर ही अभिधम्म का सारा रूप-विश्लेषण निर्भर है। इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का ५ भागो में विश्लेषण भी सुत्तन्त से ही लिया गया है, जहाँ सुख-वेदना, दुःख-वेदना सौमनस्य, दौर्मनस्य, और उपेक्षा का स्पष्टतः उल्लेख है।[३] इसी प्रकार अभिधम्म के विज्ञान-स्कन्ध के १२१ विभागो मे से अनेक सुत्तन्त मे मिलते हैं और उनके आधार पर ही दूसरे अधिक सूक्ष्म विश्लेषण कर लिये गये हैं।[४] साराश यह कि अभिधम्म के विश्लेषण सुत्तन्त पर ही आधारित है।

शैली

अभिधम्म का आधार सुत्तन्त होने पर भी उसकी शैली में विभिन्नता है। सुत्तन्त मे उदाहरण दे देकर, अनेक पर्यायो से और अनेक उपमाओ से, धम्म को

---

१. थेरीगाथा, गाथाएँ ४३ एवं ६९ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)
२. "कतमं च भिक्खवे रूपं ? चत्तारो च महाभूता चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं, इदं वुच्चति भिक्खवे रूपं" संयुत्त-निकाय, अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३ में उद्धृत
३. देखिये अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५
४. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २७-३१

समझाया गया है। किन्तु अभिधम्म 'निप्परियाय देसना' है, अर्थात् वहाँ बिना उपमाएँ और उदाहरण दिये हुए धम्म को समझाया गया है। इसका कारण यह है कि अभिधम्म का प्रणयन साधारण जनता के लिए नही हुआ है। वह देव-मनुष्यो के लिए उपदेश किया हुआ बुद्ध-वचन है। त्रायस्त्रिश-लोक मे अभिधम्म के उपदेश करने सबधी गाथा का यही मानवीय रहस्य है। अभिधम्म-पिटक में साधारण जन-समाज की भाषा का प्रयोग नही किया गया है। वह अज्ञान पर आश्रित है। 'वृक्ष' 'मनुष्य' 'पशु' की वास्तविक सत्ता कहाँ है ? फिर भी हम व्यवहार मे इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। इसी को पालि-बौद्ध धर्म मे सम्मुति सच्च (सवृति सत्य) कहा गया है। सुत्त-पिटक इसी भाषा में लिखा गया है। यहा यह कहना अप्रासगिक नही होगा कि बौद्धो ने जिसे 'सम्मुति सच्च' कहा है, वही शकर का व्यवहार-सत्य है, जिसे उन्होने 'अविद्यावद्विषय' कहा है। इसके विपरीत 'परमार्थ-सत्य' (पालि परमत्थ-सच्च) है, जहाँ माता माता नही है, पिता पिता नही है, मनुष्य मनुष्य नही है। इसी भाषा में अभिधम्म लिखा हुआ है। अत उसमे वह प्राण-प्रतिष्ठा नही है, जो सुत्तन्त मे है। एक मे जीवन चारो ओर हिलोरें ले रहा है, दूसरे मे वह सर्वथा अनुपस्थित है। अभिधम्म-पिटक की शैली की एक बडी विशेषता उसकी परि-प्रश्नात्मक (पञ्हपरिपुच्छक) प्रणाली है प्रश्न और उत्तर के रूप मे विषय को समझाया गया है। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—इसका बडा अच्छा निर्वाह सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक दोनो मे ही दिखाया गया है। 'परि-प्रश्न' की बात तो अभिधम्म ने अपने आप पूरी कर दी है, वह हमसे 'प्रणिपात' और 'सेवा' की भी पूरी अपेक्षा रखता है। 'अट्ठसालिनी' की 'निदान-कथा' मे आचार्य बुद्धघोष ने एक मार्मिक प्रश्न किया है, "अभिधम्म का उदय किस स्रोत से हुआ है" ? उत्तर दिया है, "श्रद्धा से !" श्रद्धा के साथ हम अभिधम्म की लम्बी सेवा करे (जैसी वर्तमान समय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने की)[1] तो उससे हम बहुत कुछ पा सकते है। उसके बिना तो हम कुछ यूरोपीय विद्वानो की तरह सिर्फ उकता ही जायेंगे और कहेंगे कि यहाँ गम्भीर दर्शन कुछ नहीं

---

१. देखिये 'अभिधम्मत्थ संगह' पर उनकी स्वरचित 'नवनीत टीका' का प्राक्कथन (महाबोधि सभा १९४१); देखिये धर्मदूत, सितम्बर ४८ में डा० बापट का "आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी शीर्षक लेख भी (पृष्ठ ८९-९५)

है।[1] श्रीमती रायस डेविड्स[2], ज्ञानातिलोक[3], धम्मानन्द कोसम्बी[4] और भिक्षु जगदीश काश्यप[5] की प्रणाली पर यदि अभिधम्म के अध्ययन को विकसित किया जाय तो उससे बौद्ध नैतिक मनोविज्ञान का मार्ग हमारे लिए अधिक प्रशस्त हो सकता है और हम अभिधम्म को उसकी वास्तविक विभूति में देख सकते हैं। अभिधम्म-पिटक की उद्देस (संक्षिप्त कथन) के बाद निद्देस (विस्तृत विवेचन) की वर्णन-प्रणाली, पर्यायवाची शब्दो और परिभाषाओ की अधिकता आदि प्रवृत्तियो के विषय मे हम पहले कह ही चुके है।

महत्त्व

अभिधम्म-पिटक के महत्व पर हमे दो दृष्टियो से विचार करना है, (१) स्थविरवाद परम्परा की दृष्टि से (२) अन्य बौद्ध सप्रदायो की दृष्टि से। जहाँ तक स्थविरवाद परम्परा का सबध है, अभिधम्म-पिटक को आरभ से ही सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान बुद्ध-वचन माना जाता है, यह हम पहले दिखा चुके है। बरमा मे अभिधम्म-पिटक का कितना अधिक आदर है, यह तत्सबधी उस विस्तृत अध्ययन से ही स्पष्ट होता है जो उस देश मे किया गया है। आठवे अध्याय मे हम इस अध्ययन का विवेचन करेगे। सिहल भी अभिधम्म की पूजा में बरमा से पीछे नही रहा है। 'महावश' मे हम बार-बार पढते है कि किस प्रकार विद्वान् सिहली राजाओ ने अभिधम्म का आदरपूर्वक श्रवण किया और कुछ ने स्वय उसका उपदेश भी किया। काश्यप प्रथम (९२९ ईसवी) ने तो सपूर्ण अभिधम्म को सोने के पत्रो पर खुदवाया और विशेषत: 'धम्मसगणि' को बहुमूल्य रत्नो से मडित किया। इसी प्रकार ग्यारहवी शताब्दी मे लंका का राजा विजयबाहु

---

१. जैसा विंटरनित्ज़ ने कह डाला है, देखिये उनकी हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५-६६।

२. ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) की मननशील लेखिका।

३. गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक के लेखक और प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक।

४. विदेश में जाकर अनेक कठिनाइयों के उपरान्त अभिधम्म का अध्ययन करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान्।

५. अभिधम्म-फिलॉसफी (जिल्द १,२) के लेखक, मनस्वी बौद्ध दार्शनिक और साधक।

अभिधम्म का बडा मननशील अध्येता था और उसने 'धम्मसगणि' का सिहली भाषा में अनुवाद भी किया । अत: स्थविरवाद परम्परा में अभिधम्म-पिटक का सदा से बहुत सम्मान रहा है । स्थविरवाद-परम्परा से भिन्न बौद्ध संप्रदायों में अभिधम्म-पिटक को उतना प्रामाणिक बुद्ध-वचन नहीं माना गया है । हम जानते हैं कि स्वय उत्तरकालीन हीनयानी सप्रदाय मे सौत्रान्तिक नाम का एक वर्ग था जो अभिधम्म पिटक को प्रामाणिक नही मानता था । उसके लिए केवल सुत्त-पिटक ही प्रामाणिक बुद्धवचन था । इतना ही नही, अत्यत पूर्वकाल मे ही हम स्थविरवादियो के अन्दर ही भिक्षुओ के एक ऐसे वर्ग की सूचना पाते हैं जो अभिधम्म-पिटक की प्रामाणिकता को नही मानता था और केवल सुत्त-पिटक में ही अधिक विश्वास करता था । 'अट्ठसालिनी' ने दो भिक्षुओ का सलाप दिया हुआ है, जिससे यह बात स्पष्ट होती है—

"भन्ते ! आप ऐसी लम्बी पक्ति को उदधृत कर रहे है, जैसे कि मानो आप सुमेरु को ही परिवेष्टित करना चाहते हो । भन्ते ! यह किसकी पक्ति है ?"

"आवुस ! यह अभिधम्म की पक्ति है ।"

"भन्ते ! आप अभिधम्म की पंक्ति का क्यो उद्धरण देते है ? क्या आपको यह उचित नही कि आप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट किन्ही दूसरी पक्तियो का उद्धरण दे ।"

"आवुस ! अभिधम्म का उपदेश किसका है ?"

"निश्चय ही बुद्ध का नही है ।"

"पर आवुस ! क्या तुमने विनय-पिटक को पढा है ?"

"नही भन्ते । मैने उसे नही पढा है ।" आदि, आदि

पुन 'दीपवस' के वर्णन मे ही हम देखते है कि वैशाली की संगीति के अवसर पर ही 'महासगीतिक' भिक्षुओ ने अन्य ग्रन्थो के साथ अभिधम्म-पिटक की भी प्रमाणवत्ता स्वीकार नही की थी ।[1] इससे हमारा संदेह अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता के विषय मे अवश्य बढ जाता है । काल-क्रम और महत्ता में अवश्य अभिधम्म-पिटक को सुत्त और विनय पिटक के बाद मानना पडेगा, इसे प्राय: सभी निष्पक्ष बौद्ध विद्वान आज भी स्वीकार करते है । किन्तु चूँकि अभिधम्म-पिटक का अर्वाचीनतम ग्रन्थ (कथावत्थु) भी ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी की रचना है और उसके अलावा अन्य किसी ग्रन्थ के साथ किसी रचयिता का नाम जोडा नही गया है,

---

१. दीपवंस ५।३५-३७ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)

अतः अर्थवाद की दृष्टि से उसे बुद्धवचन भी कहा जा सकता है, इतना अवकाश हमें स्थविरवाद-परम्परा को भी अवश्य देना ही होगा। अन्ततः अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर ही तो अवलंबित है।

पालि अभिधम्म-पिटक की सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक से तुलना

स्थविरवादियों और सर्वास्तिवादियों के दो पिटकों-सुत्त और विनय––की तुलना हम पहले कर चुके हैं। सर्वास्तिवादी सप्रदाय के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थ चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। उनके मूल संस्कृत में थे, किन्तु आज वे प्राप्य नहीं। स्थविरवादियों के समान सर्वास्तिवादियों का भी यह दावा है कि उनका अभिधर्म पिटक बुद्ध-वचनों (सूत्र-पिटक) पर आधारित है। किन्तु जब कि स्थविरवादी (कथा-वत्थु को छोड़कर) अभिधम्म के ग्रन्थों को मनुष्यों की रचनाएँ नहीं मानते, सर्वास्तिवादियों की परम्परा में उनका अभिधर्म-पिटक विशिष्ट विचारों की रचना माना जाता है। चीनी भाषा में सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक का नाम 'शास्त्र-संग्रह' है। स्थविरवादी अभिधम्म पिटक के समान सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक में भी सात ग्रन्थ हैं, जिनके नाम उनके रचयिताओं के साथ, इस प्रकार हैं––

सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थों के नाम	उनके रचयिता
१. ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र	आर्य कात्यायन
२. प्रकरण-पाद	स्थविर वसुमित्र
३. विज्ञान-काय-पाद	स्थविर देवशर्मा
४. धर्म-स्कन्ध-पाद	आर्य शारिपुत्र
५. प्रज्ञप्ति शास्त्र-पाद	आर्य मौद्गल्यायन
६. धातुकाय-पाद	पूर्ण (या वसुमित्र)
७. संगीति-पर्याय-पाद	महाकौष्ठिल (या शारिपुत्र)

पालि अभिधम्म पिटक के साथ इनकी तुलना करने पर ज्ञात होगा कि इनके नामों में पर्याप्त साम्य है, यथा––

पालि अभिधम्म-पिटक	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक
१. धम्मसगणि	(४) धर्मस्कन्धपाद
२. विभग	(३) विज्ञानकायपाद
३. पुग्गलपञ्ञत्ति	(५) प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	(६) धातुकायपाद
५. पट्ठान	(१) ज्ञान-प्रस्थान
६. यमक	(७) सगीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुप्पकरण	(२) प्रकरणपाद

नामो की इतनी समानता होते हुए भी विषय की समानता नही है।[१] फिर भी जिन विषयो का निरूपण एक पिटक मे किसी ग्रन्थ मे पाया जाता है दूसरे पिटक मे उन्ही का या उनके कुछ अशो का निरूपण किसी दूसरे ग्रन्थ मे पाया जाता है। चूंकि दोनो के ही अभिधर्म-पिटक अपने अपने सूत्रो पर अवलबित है जिनमे, जैसा हम पहले देख चुके है, अधिक अन्तर नही है, अत दोनो मे कुछ न कुछ समानताओ का पाया जाना नितात स्वाभाविक है। हा, उनके क्रम मे अन्तर अवश्य है। सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थो की विषय-वस्तु के सक्षिप्त परिचय और पालि अभिधम्म के साथ उसकी तुलना से यह स्पष्ट होगा। पहले ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र को ही ले। यह सर्वास्तिवादी अभिधम्म-पिटक का सबसे प्रधान ग्रंथ है। शेष छ: ग्रथ इसी के पाद या उपग्रंथ कहलाते हैं। उनके साथ इसका वही सबन्ध है जो वेद का उसके छ: अगो के साथ।[२] ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की रचना सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आर्य कात्यायनीपुत्र ने की। आर्य कात्यायनीपुत्र काश्मीर के रहने वाले थे। इनका समय बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद है। ज्ञान-प्रस्थानशास्त्र का प्रथम चीनी अनुवाद काश्मीरी भिक्षु गौतम सघदेव ने ३८३ ईसवी मे किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद सन् ६५७-६० ई० में यूआन्-चूआङ के द्वारा किया गया। इसी महाग्रथ

---

१. देखिये डा० तकाकुसु का 'दि अभिधर्म लिटरेचर' शीर्षक निबन्ध, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०५, पृष्ठ १६१

२. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्सट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ ७४ में डा० तकाकुसु का अभिधर्म-साहित्य सम्बन्धी निबन्ध

पर कनिष्क के काल में आचार्य वसुबन्धु और अश्वघोष की अध्यक्षता में 'विभाषा' नामक एक महाभाष्य लिखा गया, जिसका अनुसरण करने के कारण 'वैभाषिक' नामक बौद्ध सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। ज्ञान-प्रस्थान शास्त्र एक बृहत् ग्रंथ है। इसमें आठ परिच्छेद हैं, जिनमें कुल मिलाकर श्लोकों की संख्या १५०७२ है।[१] जैसा पहले कहा जा चुका है, मूल सस्कृत तो मिलता ही नहीं, इस सम्पूर्ण ग्रंथ का अभी अग्रेजी अवाद भी नु प्रकाशित नहीं हुआ है। अतः चीनी-भाषा से अनभिज्ञोंके लिये अभी तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग पराश्रित ही हो सकता है। प्रो० तकाकुसु द्वारा प्रदत्त सूचना के अनुसार ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के ८ परिच्छेदों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. **प्रकीर्णक**—लोकोत्तर धर्म, ज्ञान पुद्गल, अरूप, अनात्म आदि स्फुट विषय
२. **संयोजन**—अकुशलमूल, सकृदागामी, मनुष्य, दस-द्वार आदि
३. **ज्ञान**—आठ क्षैक्ष्य-अक्षैक्ष्य भूमियाँ, पाँच दृष्टियाँ, पर-चित्त-ज्ञान, आर्य-प्रज्ञा आदि
४. **कर्म**—अकुशल कर्म, असम्यक् वाणी, विहिंसा, व्याकृत, अव्याकृत आदि
५. **चार महाभूत**—इन्द्रिय, सस्कृत, दृष्ट, सत्य, अध्यात्म आदि
६. **इन्द्रियाँ**—२२ इन्द्रियाँ, भव, स्पर्श आदि
७. **समाधि**—अतीतावस्था, प्रत्यय, विमुक्ति आदि
८. **स्मृत्युपस्थान**—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना, तृष्णा, सज्ञा, ज्ञान-समय आदि

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की विषय-वस्तु इतनी विस्तृत है कि उसमें पालि अभिधम्म-पिटक के कई ग्रन्थों के अंशतः विवरण उपस्थित दिखाये जा सकते हैं। विशेषतः खुद्दक-निकाय के 'पटिसम्भिदामग्ग' से इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु की अधिक समानता है, ऐसा मत स्वर्गीय डा० बेणीमाधव बाडआ ने प्रकाशित किया है, जो ठीक कहा जा सकता है। (२) प्रकरण-पाद स्थविर वसुमित्र की रचना कही जाती है। यह वसुमित्र कनिष्क-कालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य आर्य वसुमित्र से भिन्न और उनसे पूर्वकालीन है। इनका काल बुद्ध-

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १९०४-०५ पृष्ठ १२४ (डा० तकाकुसु का 'दि सर्वास्तिवादिन् अभिधर्म बुक्स' शीर्षक निबन्ध)

परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद माना जाता है। अतः ये आर्य कात्यायनीपुत्र के समकालीन थे, ऐसा कहा जाता है। प्रकरण-पाद में आठ वर्ग हैं, जिनमें धर्म, ज्ञान, आयतन आदि का विवेचन है। यद्यपि 'प्रकरण-पाद' के नाम का साम्य 'कथा-वत्थुप्पकरण' से है, किन्तु दोनो की विषय वस्तु या शैली मे कोई समानता नही है। विषय-वस्तु की दृष्टि से डा० लाहा ने इस ग्रन्थ की तुलना 'विभंग' से की है।[१] किन्तु 'विभग' की समानता धर्मस्कन्ध से अधिक है. यह हम अभी देखेंगे। 'प्रकरण-पाद' का पहला चीनी अनुवाद गुणभद्र तथा बुद्धयश ने ४३५-४३ ई० मे किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद ६५९ ई० मे युआन्-चुआङ के द्वारा किया गया। (३) विज्ञान-काय-पाद स्थविर देवशर्मा की रचना कही जाती है। एक परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना बुद्ध-परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद और एक दूसरी परम्परा के अनुसार ३०० वर्ष बाद हुई। दूसरी परम्परा ही अधिक ठीक हो सकती है। इस ग्रन्थ में ६ स्कन्ध है, जिनमे पुद्‌गल, हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय आदि विषयो के विवेचन है। विषय-वस्तु अभिधम्म पिटक के 'पुग्गलपञ्ञत्ति' और 'पट्ठान' मे जहाँ-तहा बहुत कुछ मिलती-जुलती है, फिर भी किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ से उसकी तुलना नही की जा सकती। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद युआन्-चुआङ ने ६४९ ई० मे किया। (४) धर्मस्कन्धपाद सर्वास्तिवादी अभिधर्म- पिटक का ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के बाद सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके कुछ अशों को संगीति-पर्याय-पाद मे भी प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया गया है। चीनी परम्परा के अनुसार धर्मस्कन्ध-पाद आर्य महामौद्‌गल्यायन की रचना है। किन्तु यशोमित्र के मतानुसार यह आर्य शारिपुत्र की रचना है। यह निश्चित है कि ये आर्य शारिपुत्र और महामौद्‌गल्यायन बुद्ध के इस नाम के प्रधान शिष्य नही हो सकते। इस ग्रन्थ मे २१ अध्याय हैं जिनमे चार आर्य-सत्य, समाधि, बोध्यंग, इन्द्रिय, आयतन, स्कन्ध, प्रतीत्य समुत्पाद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ६५९ ई० मे युआन्-चुआङ् ने किया। इस ग्रन्थ की समता विषय-वस्तु की दृष्टि से 'विभग' से सर्वाधिक है, यह निष्कर्ष महास्थविर ज्ञानातिलोक ने दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद निकाला है।[२] विभग मे १८ अध्याय है, धर्मस्कन्ध में २१ हैं। इनमे १४ एक दूसरे के बिलकुल समान हैं। यह समानता इस प्रकार है—

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४०
२. गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)

विभंग—	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८
धर्मस्कन्ध—	१९,	१८,	२०,	१०,	१७,	२१,	९,	७,	८,	१५,	–	११,	१२,	१	–	–	१६	–

खाली छोड़ी हुई जगहों का तात्पर्य यह है कि विभग के ११, १५, १६, और १८ वे अध्याय (विभंग) धर्मस्कन्ध मे नही मिलते।[1] (५) प्रज्ञप्ति-पाद या प्रज्ञप्ति-शास्त्र आर्य मौद्गल्यायन की रचना कही जाती है, जो निश्चयत इस नाम के बुद्ध के शिष्य नहीं हो सकते। प्रज्ञप्ति-पाद का चीनी अनुवाद धर्म-रक्ष ने ग्यारहवी शताब्दी मे किया। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ् ने नही किया, इसलिये इसकी प्राचीनता मे सन्देह किया जाता है। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध है। इसमें १४ वर्ग हैं। 'प्रज्ञप्ति-पाद' का पालि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' मे केवल नाम का ही साम्य है। विषय मे कोई समानता नही है। इस ग्रन्थ की कुछ समानता दीघ-निकाय के लक्खण-सुत्त से दिखाई गई है। (६) धातुकाय-पाद चीनी परम्परा के अनुसार कनिष्क के समकालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य वसुमित्र की रचना बतलाई जाती है। किन्तु यशो-मित्र (अभिधर्मकोश के व्याख्याकार) ने इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम पूर्ण लिखा है। यशोमित्र का मत ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ का भी चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ् ने ६६३ ई० मे किया। इस ग्रन्थ की पालि 'धातुकथा' से कोई समानता नही है। हाँ, सयुत्तनिकाय के धातु-सयुत्त से इसको विषय-वस्तु बहुत कुछ मिलती-जुलती है। (७) सगीति-पर्याय-पाद के रचयिता चीनी परम्परा के अनुसार आर्य शारिपुत्र और यशोमित्र के वर्णनानुसार प्रसिद्ध सर्वा-स्तिवादी आचार्य महाकौष्ठिल थे। यूआन्-चूआङ ने इस ग्रन्थ का चीनी अनु-वाद सातवी शताब्दी के मध्य भाग मे किया था। प्रोफेसर तकाकुसु ने इस ग्रन्थ के विषय और शैली की समानता सब से अधिक दीघ-निकाय के सगीति-परियाय-सुत्त से दिखाई है।[2] इस ग्रन्थ में १२ वर्ग है। इसका भी अनुवाद यूआन्-चूआङ के द्वारा किया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि उसमे प्राचीन परम्पराएँ निहित है और पालि अभिधम्म-पिटक के कई अशो से उसको आश्चर्यजनक समानताएँ भी हैं, फिर भी सुत्त और विनय की अपेक्षा यहाँ समानताएँ कम है। इसका एक प्रधान कारण लम्बी परम्पराओं का एक देश से दूसरे देश मे जाना और भाषा-माध्यमों की

१. गाइड टू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)
२. जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ ९९

अनिवार्य कठिनताएँ है। जब तक मूल संस्कृत उपलब्ध न हो तब तक बिना उसके स्वरूप पर विचार किए पालि अभिधम्म के साथ उसके आपेक्षिक महत्त्व और प्रामाण्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में पालि अभिधम्म के सामने उसकी प्रमाणवत्ता अल्प अवश्य रह जाती है। वह स्पष्टतः आचार्यों की रचना है, जब कि केवल 'कथावत्थुप्पकरण' को छोडकर शेष पालि अभिधम्म-पिटक बुद्ध-वचन के रूप में ही स्थविरवाद-परम्परा मे प्रतिष्ठित है। हाँ, सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक की तुलना से यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि सुत्त और विनय की अपेक्षा पालि अभिधम्म की प्रमाणवत्ता निश्चयतः कम और संकलन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक कुछ बाद का है, जिसका विवेचन हम पहले कर आये हैं।

अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण—धम्म संगणि[1]

पालि अभिधम्म-पिटक का सब से प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' है। वास्तव मे यह सम्पूर्ण अभिधम्म-साहित्य की प्रतिष्ठा ही है। 'धम्मसंगणि' में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओ का सकलन किया गया है, गणनात्मक और परिप्रश्नात्मक शैली के आधार पर।[2] धम्मो (पदार्थों) की कामावचर, रूपावचर आदि के रूप मे सगणना और सक्षिप्त व्याख्या करने के कारण ही इस ग्रन्थ का यह नाम है।[3] 'धम्मसगणि' के सकलन और विश्ले-

---

१. नागरी लिपि में प्रोफेसर बापट ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है (भांडारकर ओरियन्टल सीरीज, पूना ४); रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित (लन्दन, १८८५), एडवर्ड मुलर द्वारा सम्पादित, संस्करण प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के बरमी, सिहली और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में श्रीमती रायस डेविड्स ने 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' (लन्दन, १९००) शीर्षक से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई अनुवाद नहीं निकला है।

२. 'संगणि' शब्द में ही यह भाव निहित है, देखिये प्रो. बापट द्वारा सम्पादित 'धम्म-संगणि' का देवनागरी-संस्करण, पृष्ठ १२ (भूमिका)

३ कामावचररूपावचरादिधम्मे संगह्य संखिपित्वा वा गणयति संख्याति

षण की सब से बडी विशेषता है भीतर और बाहर के सारे जगत् की नैतिक व्याख्या। नैतिक व्याख्या से तात्पर्य है कर्म के शुभ (कुशल) अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से व्यतिरिक्त एवं अ-व्याख्येय (अव्याकृत) विपाको के रूप मे व्याख्या। ग्रन्थ के मुख्य भाग में चित्त और उससे संयुक्त अवस्थाओं (चेतसिक) का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण किया गया है। अतः इसे बौद्ध मनोविज्ञान की नैतिक व्याख्या ही कहा जा सकता है, या दूसरे शब्दो मे बौद्ध नीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी। ग्रन्थकार (या संकलनकार) ने दोनो के लिये ही पर्याप्त अवकाश दे दिया है। धम्मसगणि के आरम्भ मे 'मातिका' या विषय-सूची दी हुई है। उसमे नैतिकवाद की दृष्टि से वर्गीकरण है, किन्तु ग्रन्थ मे जो विवेचन किया गया है, उसका काण्ड-विभाग चित्त और रूप की दृष्टि से है और फिर उसे 'कुसलत्तिक', (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) के रूप मे विभाजित किया गया है। वास्तव में 'धम्मसगणि' ने मन की अवस्थाओं की कर्म के शुभ, अशुभ आदि स्वरूपो के साथ व्याख्या करनी चाही है, जो एक दूसरे से घनिष्ठ और अनिरुक्त रूप मे सम्बन्धित है। इसीलिये 'धम्मसगणि' के विवेचनों में इतनी दुरूहता आ गई है।

फिर भी धम्मसगणि की 'मातिका' उसकी सारी दुरूह विषय-वस्तु को समझने के लिये एक अच्छी कुजी है। भौतिक और मानसिक जगत् की व्याख्या धम्मसगणि में जिस ढग से की गई है, उसका वह हमे पूरा दिग्दर्शन करा देती है। वह एक प्रकार की विषय-सूची है, जो उन शीर्षकों का उल्लेख कर देती है जिनमें भौतिक और मानसिक जगत् के नाना, पदार्थों (धम्मों) का विश्लेषण सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्दर किया गया है। 'मातिका' में कुल मिलाकर १२२ वर्गीकरण है, जिनमें २२ ऐसे वर्गीकरण है जो तीन-तीन शीर्षको में विभक्त है। ये 'तिक' कहलाते है। शेष १०० ऐसे वर्गीकरण है जो दो-दो शीर्षको में विभक्त है। ये 'दुक' कहलाते है। २२ 'तिको' और १०० 'दुकों' मे ही सारे धम्मो का विश्लेषण 'धम्मसगणि' मे किया गया है अभिधम्म-पिटक के अन्य ग्रन्थो में भी इस वर्गीकरण-प्रणाली का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। यहाँ 'मातिका' के अनुसार इन 'तिको' और 'दुको' का विवरण देना अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा। इनकी गणना इस प्रकार है—

एत्थाति धम्मसंगणि। अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा); मिलाइये चाइल्डर्स : पालि डिक्शनरी, पृष्ठ ४४७

२२ तिक

१. अ. जो धम्म कुशल हैं (कुसला)
आ. जो धम्म कुशल नही है (अकुसला)
इ जो धम्म अव्याकृत है (अव्याकता)

२. अ. जो धम्म सुख की वेदना से युक्त है (सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म दुख की वेदना से युक्त है (दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
इ. जो धम्म न सुख न दुख की वेदना से युक्त है (अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)

३ अ जो धम्म चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओ के स्वय परिणाम है (विपाका)
आ. जो धम्म स्वय चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओ के परिणामो को पैदा करने वाले है (विपाकधम्मधम्मा)
इ जो धम्म न किसी के स्वय परिणाम है और न परिणाम पैदा करने वाले है (नेव-विपाक-न-विपाक-धम्मधम्मा)

४. अ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त किये गये हैं और जो स्वय भविष्य मे ऐसे ही धम्मो को पैदा करने वाले है (उपादिन्नुपादानिया)
आ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप तो प्राप्त नही किये गये है किन्तु जो भविष्य मे धम्मो को पैदा करने वाले है (अनुपादिन्नुपादानिया)
इ. जो धम्म न तो पूर्व कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त ही किये गये है और न जो भविष्य मे धम्मो को पैदा करने वाले है (अनुपादिन्नानुपादानिया)

५ अ. जो धम्म स्वय अपवित्र है और अपवित्रता के आलम्बन भी बनते है (संकिलिट्ठ-संकिलेसिका)
आ. जो धम्म स्वयं अपवित्र नही हैं किंतु अपवित्रता के आलम्बन बनते है (असकिलिट्ठ-सकिलेसिका)
इ. जो धम्म न स्वयं अपवित्र है और न अपवित्रता के आलम्बन ही बनते है (असकिलिट्ठ-असंकिलेसिका)

६. अ. जो धम्म वितर्क और विचार से युक्त है (सवितक्क-सविचारा)

आ जो धम्म वितर्क से तो नही किन्तु
विचार से युक्त है (अवितक्क-विचारमत्ता)

इ जो धम्म न वितर्क और न विचार से ही युक्त है (अवितक्क-अविचारा)

७ अ जो धम्म प्रीति की भावना से युक्त है (पीतिसहगता)

आ. जो धम्म सुख की भावना से युक्त है (सुखसहगता)

इ जो धम्म उपेक्षा की भावना से युक्त है (उपेक्खासहगता)

८ अ. दर्शन के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (दस्सनेन पहातब्बा)

आ. अभ्यास के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है (भावनाय पहातब्बा)

इ जो न दर्शन और न अभ्यास से ही नष्ट किये
जा सकते है (नेव दस्सनन न भावनाय पहातब्बा)

९. अ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश दर्शन से
किया जा सकता है (दस्सनेन पहातब्बहेतुका)

आ वे धम्म जिनके हेतु का विनाश अभ्यास
से किया जा सकता है (भावनाय पहातब्बहेतुका)

इ वे धम्म जिनके हेतु का विनाश न दर्शन से
और न अभ्यास से ही किया जा सकता है
(नेव दस्सनेन न भावनाय पहातब्बहेतुका)

१० अ वे धम्म जो कर्म-सचय के कारण बनते है (आचयगामिनो)

आ. वे धम्म जो कर्म-सचय के विनाश के
कारण बनते है (अपचयगामिनो)

इ वे धम्म जो न कर्म-सचय और न उसके विनाश के
कारण बनते है (नेव आचयगामिनो न अपचयगामिनो)

११. अ वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी है (सेक्खा)
(लोकोत्तर मार्ग की सात अवस्थाएँ)

आ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी नही है, अर्थात् जिन्होंने
अर्हत्त्व की पूर्णता प्राप्त करली है (अर्हत्व-फल) (असेक्खा)

इ. वे धम्म जो उपर्युक्त दोनों प्रकारों से विभिन्न है
(अर्थात् उपर्युक्त आठ को छोड़कर बाकी सब) (नेव सेक्खा न असेक्खा)

१२. अ. वे धम्म जो अल्प आकार वाले है (परित्ता)

आ. वे धम्म जो महान् आकार वाले हैं (महग्गता)
इ. वे धम्म जो अपरिमेय आकार वाले हैं (अप्पमाणा)

१३. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आ- लम्बन अल्प आकार वाला है (परित्तारम्मणा)
आ वे धम्म (मन की अवस्थाएँ जिनका आल- म्बन महान् आकार वाला है (महग्गतारम्मणा)
इ॰ वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आल- म्बन अपरिमेय आकारवाला है (अप्पमाणारम्मणा)

१४. अ. हीन धम्म (मन की अवस्थाएँ) (हीना)
आ. मध्यम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (मज्झिमा)
इ उत्तम धम्म (मन की अवस्थाएँ) (पणीता)

१५. अ. जो निश्चयपूर्वक बुरे है (मिच्छत्तनियता)
आ. जो निश्चयपूर्वक अच्छे हैं (सम्मंत्तनियता)
इ. जिनका स्वरूप अनिश्चित है (अनियता)

१६. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन मार्ग है (मग्गारम्मणा)
आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका हेतु मार्ग है (मग्गहेतुका)
इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका मुख्य उद्देश्य ही मार्ग है (मग्गाधिपतिनो)

१७. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो उत्पन्न हो चुकी हं (उप्पन्ना)
आ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी उत्पन्न नही हुई है (अनुप्पन्ना)
इ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य मे पैदा होनेवाली है (उप्पादिनो)

१८. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो बीत गईं (अतीता)
आ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा होंगी (अनागता)
इ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी हाल पैदा हुई है और अभी वर्तमान हैं (पच्चुप्पन्ना)

१९. अ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई अतीत की वस्तु है (अतीतारम्मणा)

आ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई भविष्य की वस्तु है (अनागतारम्मणा)

इ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई वर्तमान की वस्तु है (पच्चुपन्नारम्मणा)

२०. अ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर अवस्थित है (अज्झत्ता)

आ. जो धम्म किसी व्यक्ति के बाहर अवस्थित है (बहिद्धा)

इ जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर और बाहर दोनो जगह अवस्थित है (अज्झत्त-बहिद्धा)

२१ अ वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई आन्तरिक वस्तु है (अज्झत्तारम्मणा)

आ वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई बाहरी वस्तु है (बहिद्धारम्मणा)

इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन दोनोआन्तरिकऔर बाहरी वस्तुएँहै (अज्झत्त-बहिद्धारम्मणा)

२२ अ वे धम्म जो दृश्य है और इन्द्रिय और उसके विषय के सनिकर्ष मे उत्पन्न होने वाले है (सनिद्दस्सन-सप्पटिघा)

आ. वे धम्म जो दृश्य तो नही किन्तु इन्द्रिय और उसके सनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले है (अनिद्दसन-अप्पटिघा)

इ वे धम्म जो न तो दृश्य है औ न इन्द्रिय और उसके विषय के सनिकर्ष से उत्पन्न होने वाले है (अनिद्दसन-अप्पटिघा)

१०० दुक

(हेतु-वर्ग)

१. अ. जो दूसरो के हेतु है—(हेतू)

आ. जो दूसरो के हेतु नही है—(न हेतू)

२. अ. जो हेतुओं से युक्त हैं—(सहेतुका)
आ जो हेतुओं से युक्त नहीं है—(अहेतुका)
३. अ जिनसे हेतु सलग्न है—(हेतुसम्पयुत्ता)
आ जिनमे हेतु सलग्न नही है—(हेतुविप्पयुत्ता)
४. अ जो स्वय हेतु है और हेतुओ से युक्त भी है—(हेतू चेव सहेतुका च)
आ जो स्वय हेतु नही है किंतु हेतुओ से युक्त है—(सहेतुका चेव न च हेतू)
५. अ. जो स्वय हेतु है और जिनसे हेतु सलग्न भी है—(हेतू चेव हेतुसम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वय हेतु नही है, किन्तु जिनसे हेतु सलग्न है—(हेतुसम्पयुत्ता चेव न च हेतू)
६ अ. जो स्वय हेतु नही है किन्तु जो हेतुओ से युक्त है—(न-हेतू सहेतुका)
आ. जो न स्वय हेतु है और न हेतुओ से युक्त है—(न-हेतू अहेतुका)

(सक्षिप्त मध्यवर्गीय दुक)

७. अ. जिनके प्रत्यय है—(सप्पच्चया)
आ. जिनके प्रत्यय नही है—(अप्पच्चया)
८ अ सस्कृत—(सखता)
आ. असस्कृत—(असखता)
९. अ दृश्य—(सनिदस्सना)
आ अदृश्य—(अनिदस्सना)
१० अ. इन्द्रिय और विषय के सनिकर्ष से युक्त—(सप्पटिघा)
आ. इन्द्रिय और विषय के सनिकर्ष से वियुक्त—(अप्पतिघा)
११ अ. जो रूप-युक्त है—(रूपिनो)
आ जो रूप-युक्त नही है—(अरूपिनो)
१२ अ लौकिक—(लोकिया)
आ अलौकिक—(लोकुत्तरा)
१३ अ जो कुछ के द्वारा विज्ञेय है—(केनचि विञ्ञेय्या)
आ. जो कुछ न के द्वारा विज्ञेय नही है—(केनचि न विञ्ञेय्या)

(३ आस्रव-वर्ग)

१४. अ. जो चित्त-मल है—(आसवा)
आ जो चित्त-मल नही है —(नो आसवा)

१५. अ. जो चित्त-मल से युक्त हैं—(सासवा)
आ जो चित्त-मल से युक्त नही है—(अनासवा)

१६. अ. जिनसे चित्त-मल सलग्न है—(आसवसम्पयुत्ता)
आ जिनसे चित्त-मल सलग्न नही है—(आसवविप्पयुत्ता)

१७ अ जो स्वय चित्त-मल है और चित्त-मलो से युक्त भी है—(आसवा चेव सासवा चा)
आ. जो स्वय चित्त-मल नही है किन्तु चित्त-मलो से युक्त है—(सासवा चेव नो च आसवा)

१८ अ जो स्वय चित्त-मल है और जिनसे चित्त-मल सलग्न भी है—(आसवा चेव आसवसम्पयुत्ता च)
आ जो स्वय चित्त-मल नही है किन्तु जिनसे चित्त-मल सलग्न है—(आसवसम्पयुत्ता चेव नो च आसवा)

१९ अ जो चित्त-मलों से सलग्न न रहने पर भी उनके आधार है—(आसव-विप्पयुत्ता सासवा)
अ जो चित्तमलों से सलग्न भी नही है और उनके आधार भी नहीं है—(आसवविप्पयुत्ता अनासवा)

(४—सयोजन-वर्ग)

२० अ जो चित्त के बन्धन है—(सयोजना)
आ जो चित्त के बन्धन नही हैं—(नो सयोजना)

२१ अ जो चित्त-बन्धनो की ओर ले जाने वाले हैं —(संयोजनिया)
आ जो चित्त-बन्धनो की ओर नही ले जाने वाले है—(असयोजनिया)

२२ अ जिनमे चित्त-बन्धन सलग्न है—(सयोजन-सम्पयुत्ता)
आ. जिनमे चित्त-बधन असलग्न है—(सयोजन-विप्पयुत्ता)

२३ अ जो स्वयं चित्त-बन्धन है और चित्त-बन्धनो की ओर ले जाने वाले भी है—(सयोजना चेव सयोजनिया च)
आ जो स्वय चित्त-बन्धन नही है किन्तु जो चित्तबन्धनो की ओर ले जाने वाले है—(सयोजनिया चेव नो च सयोजना)

२४. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन है और जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न भी है—(सयोजना चेव संयोजनसंपयुत्ता च)

आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं है, किन्तु जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न है—
(संयोजनसम्पयुत्ता चेव नो च सयोजना)

२५ अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न तो नही है किन्तु जो चित्त-बन्धनो की ओर ले जाने वाले है—(सयोजनविप्पयुत्ता सयोजनिया)

आ. जिनसे न तो चित्त-बन्धन सलग्न ही है और न जो चित्त-बन्धनो की ओर ले जाने वाले है—(सयोजनविप्पयुत्ता असंयोजनिया)

(५—ग्रन्थ-वर्ग)

२६ अ. जो चित्त की गाँठे है—(गन्था)

आ जो चित्त की गाँठे नही है—(नो गन्था)

२७. अ. जो चित्त की गाँठो की ओर ले जाने वाली है—(गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठो की ओर नही ले जाने वाली है—(अगन्थनिया)

२८. अ. जो चित्त की गाँठो की सहचर है—(गन्थ-सम्पयुत्ता)

आ. जो चित्त की गाँठो की सहचर नही है—(गन्थ-विप्पयुत्ता)

२९ अ जो स्वय चित्त की गाँठे है और चित्त की गाँठो की ओर ले जाने वाली भी है—(गन्था चेव गन्थनिया च)

आ. जो स्वय चित्त की गाँठे नही है ओर न चित्त की गाँठो की ओर ले जाने वाली है (गन्थनिया चेव नो च गन्था)

३० अ. जो स्वय चित्त की गाठे है और चित्त की गाँठो की सहचर भी है—
(गन्था चेव गन्थसपयुत्ता च)

आ. जो स्वय चित्त की गाँठे नही है किन्तु चित्त की गाँठो की सहचर है—
(ग्रन्थसम्पयुत्ता चेव नो च गन्था)

३१ अ. जो चित्त की गाँठो की सहचर नही है, किन्तु
उनको भविष्य मे पैदा करने वाली है—(गन्थविप्पयुत्ता गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठो की सहचर भी नही है और न
उन्हे भविष्य मे पैदा करने वाली ही है—(गन्थविप्पयुत्ता अगन्थनिया)

(६—ओघ वर्ग)

३२-३७—ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'ओघ' (बाढ) का प्रयोग है। (ओघ चार है, काम-ओघ, भव-ओघ, (आत्म-) दृष्टि-ओघ और अविद्या-ओघ।

(७—योग-वर्ग)

३८-४३—ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'योग' (आसक्ति) का प्रयोग है। (योग भी चार माने गये है, यथा काम-योग, भव-योग, (आत्म-) दृष्टि-योग, एवं अविद्या-योग)

(८—नीवरण-वर्ग)

४४. अ. जो ध्यान के विघ्न है —(नीवरणा)
आ. जो ध्यान के विघ्न नही है —(नो नीवरणा)

४५. अ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नो को पैदा करने वाले है —(नीवरणिया)
आ. जो भविष्य मे ध्यान के विघ्नो को पैदा करने वाले नही है —(अनीवरणिया)

४६. अ. जो ध्यान के विघ्नो के सहचर है —(नीवरणसम्पयुत्ता)
आ. जो ध्यान के विघ्नो के सहचर नही है—(नीवरणविप्पयुत्ता)

४७. अ. जो स्वय ध्यान के विघ्न है और ध्यान के विघ्नो को पैदा करने वाले भी है—(नीवरणा चेव नीवरणिया च)
आ. जो स्वय ध्यान के विघ्न नही है किन्तु जो ध्यान के विघ्नो को पैदा करने वाले है— (नीवरणिया चेव नो च नीवरणा)

४८ अ. जो स्वय ध्यान के विघ्न है और ध्यान के विघ्नो के सहचर भी है—(नीवरणा चेव नीवरण-सम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वय ध्यान के विघ्न नही है किन्तु ध्यान के विघ्नो के सहचर है—(नीवरणसम्पयुत्ता चेव नो च नीवरणा)

४९. अ. जो स्वय ध्यान के विघ्नो के सहकर नही है किन्तु उन्हे पैदा करने वाले है—(नीवरणविप्पयुत्ता नीवरणिया)
आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नो के सहचर भी नही है और न उन्हें पैदा करने वाले ही है—(नीवरणविप्पयुत्ता अनीवरणिया)

(९—परामर्श-वर्ग)

५०. अ. जो मिथ्या धारणाये है—(परामासा)
आ. जो मिथ्या धारणाएँ नही है —(नो परामासा)

५१. अ. जो (चित्त की अवस्थाएँ) मिथ्या धारणाओं को
पैदा करने वाली है—(परामट्ठा)
आ. जो मिथ्या धारणाओ को पैदा करने वाली नही है—(अपरामट्ठा)

५२. अ. जो मिथ्या धारणाओं की सहचर है—(परामाससम्पयुत्ता)
आ. जो मिथ्या धारणाओ की सहचर नही है—(परामासविप्पयुत्ता)

५३. अ. जो स्वय मिथ्या धारणाये है और मिथ्या धारणाओ—
को पैदा करने वाली भी है—(परामासा चेव परामट्ठा च)
आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाएँ नही है किन्तु
मिथ्या धारणाओ को पैदा करने वाली
है— (परामट्ठा चेव नो च परामासा)

५४ अ जो स्वय मिथ्या धारणाओ से विमुक्त है
किन्तु उन्हे पैदा करने वाली है—(परामासविप्पयुत्ता परामट्ठा)
आ. जो स्वय मिथ्या धारणाओ से विमुक्त है और
उन्हे पैदा करने वाली भी नही है—(परामासविप्पयुत्ता अपरामट्ठा)

(१०—विस्तृत मध्यम दुक)

५५ अ जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर पैदा होते है—(सारम्मणा)
आ जो धम्म किसी आलम्बनका सहारा लेकर नही पैदा होते—(अनारम्मणा)

५६ अ जो चेतना-स्वरूप है—(चित्ता)
आ जो चेतना-स्वरूप नही है—(नो चित्ता)

५७. अ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ है—(चेतसिका)
आ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ नही है—(अचेतसिका)

५८. अ. जो चेतना से युक्त है—(चित्तसम्पयुत्ता)
आ जो चेतना से युक्त नही है—(चित्तविप्पयुत्ता)

५९. अ. जो चेतना से ससृष्ट है—(चित्तससट्ठा)
आ. जो चेतना मे ससृष्ट नही है—(चित्तविससट्ठा)

६०. अ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न किये जाते है—(चित्तसमुट्ठाना)
आ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न नही किये जाते—(नो चित्तसमुट्ठाना)

६१. अ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले है—(चित्त सहभुनो)
आ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले नही हैं--(नो चित्त सहभुनो)

६२. अ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं--(चित्तानुपरिवत्तनो)
आ जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नही होते--(नो चित्तानुपरिवत्तिनो)

६३ आ जो चेतना मे सयुक्त हैं और उसी के द्वारा पैदा भी होने वाले है--चित्तससट्ठसमुट्ठाना)
आ जो चेतना मे सयुक्त नही हैं किन्तु उसके द्वारा पैदा होने वाले है—(नो-चित्तससट्ठसमुट्ठाना)

६४ अ जो चेतना से युक्त है, उसके द्वारा पैदा होने वाले है और उसके साथ रहने वाले है—(चित्त-ससट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)
आ जो न चेतना से युक्त है न उसके द्वारा पैदा होने वाले है और न उसके साथ रहने वाले हैं—
(नो चित्त-ससट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)

६५ अ. जो चेतना मे युक्त है, उसके द्वारा पैदा किये जाते है और उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते है—
(चित्त-ससट्ठ-समुट्ठानानुपरिवत्तिनो)
आ जो न चेतना से युक्त है, न उसके द्वारा पैदा किये किये जाते है और न उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते है--(नो-चित्त-ससट्ठ-समुट्ठानानुपरिवत्तिनो)

६६. अ. जो किसी व्यक्ति के अन्दर स्थित हैं—(अज्झत्तिका)
आ. जो उसके बाहर स्थित है—(बाहिरा)

६७. अ. जो पूर्व-कर्मो के परिणाम-स्वरूप अर्जित हैं—(उपादा)
आ. जो पूर्व-कर्मों के परिणाम-स्वरूप अर्जित नही है--(नो उपादा)

६८. अ. पूर्ववत्— (उपादिन्ना)
आ. " (अनुपादिन्ना)

(११—उपादान-वर्ग)

६९. अ. जो धम्म उपादान (इन्द्रिय द्वारा ग्रहण-स्वरूप) है––(उपादाना)
आ. जो धम्म उपादान नहीं है––(नो-उपादाना)

७०. अ. जो धम्म उपादान को पैदा करने वाले है––(उपादानिया)
आ जो धम्म उपादान को नही पैदा करने वाले है––अनुपादानिया)

७१. अ जो धम्म उपादान से सलग्न है––(उपादानसम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म उपादान से अलग है––(उपादानविप्पयुत्ता)

७२ अ. जो धम्म स्वयं उपादान है और उपादान को
पैदा करने वाले भी है––(उपादाना चेव उपादानिया च)
आ. जो धम्म स्वय उपादान नही है किन्तु उपादान
को पैदा करने वाले है––(उपादानिया चेव नो च उपादाना)

७३. अ. जो धम्म स्वयं उपादान है और अन्य उपादानों
से संलग्न भी है––(उपादाना चेव उपादानसम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म स्वयं उपादान नही है किन्तु अन्य उपादानों से सलग्न है–– (उपादानसम्पयुत्ता चेव नो च उपादाना)

७४. अ. जो धम्म स्वय उपादानो से अलग है
किन्तु उन्हे पैदा करने वाले है––(उपादानविप्पयुत्ता उपादानिया)
आ. जो धम्म उपादानों से अलग है और उन्हे
पैदा करने वाले भी नही है––(उपादानविप्पयुत्ता अनुपादानिया)

(१२—क्लेश-वर्ग)

७५ अ. जो धम्म क्लेश (चित्त-मल––राग, द्वेष, मोहादि)-स्वरूप है––(किलेसा)
आ जो धम्म क्लेश-स्वरूप नही है––(नो किलेसा)

७६ अ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले है––(सकिलेसिका)
आ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले नही है––(असकिलेसिका)

७७ अ. जो धम्म क्लेशो से युक्त है––(संकिलिट्ठा)
आ. जो धम्म क्लेशो से युक्त नही है––(असकिलिट्ठा)

७८. अ, जो धम्म क्लेशो से सलग्न है––(किलेससम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म क्लेशो से संलग्न नही है––(किलेसविप्पयुत्ता)

७९. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और क्लेशों को पैदा
करने वाले भी हैं—(किलेसा चेव संकिलेसिका)
आ. जो स्वय क्लेश-रूप नही हैं किन्तु क्लेशों को
पैदा करने वाले हैं—(सकिलेसिका चेव नो च किलेसा)
८०. अ. जो स्वय क्लेश-रूप हैं और अन्य क्लेशो
से युक्त भी है—(किलेसा चेव सकिलिट्ठा च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नही है किन्तु
अन्य क्लेशों से युक्त हैं—(संकिलिट्ठा चेव नो च किलेसा)
८१. अ. जो स्वय क्लेश-रूप है और अन्य क्लेशो से
संलग्न भी है—(किलेसा चेव किलेससम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नही है किन्तु अन्य
क्लेशों से संलग्न हैं—किलेससम्पयुत्ता चेव नो च किलेसा)
८२. अ. जो स्वय क्लेश से अलग हैं किन्तु क्लेशों
को पैदा करने वाले हैं—(किलेसविप्पयुत्ता संकिलेसिका)
आ जो स्वय क्लेश से अलग हैं और क्लेशों को
पैदा करने वाले भी नही हैं—(किलेसविप्पयुत्ता असंकिलेसिका)
८३. आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा हटाये या नष्ट किये
जा सकते हैं—(दस्सने न पहातब्बा)
आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा नही हटाये या नष्ट
किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्बा)
८४. अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—
(भावनाय पहातब्बा)
अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये
या नष्ट नही किये जा सकते—(न भावनाय पहातब्बा)
८५. अ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट
किये जा सकते हैं—(दस्सनेन पहातब्ब-हेतुका)
आ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट नहीं
किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्ब-हेतुका)
८६. अ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा
नष्ट किये जा सकते हैं—(भावनाय पहातब्बहेतुका)

आ. जिन धम्मो के हेतु 'भावना' के द्वारा नष्ट
नही किये जा सकते ।—(न भावनाय पहातब्ब हेतुका)

८७. अ जिन धम्मो के साथ 'वितर्क' सलग्न है—(सवितक्का)
आ. जिन धम्मो के साथ 'वितर्क' सलग्न नही है—(अवितक्का)

८८. अ. जिन धम्मो के साथ 'विचार' सलग्न है (सविचारा)
आ. जिन धम्मो के साथ 'विचार' सलग्न नही है—(अविचारा)

८९. आ. जिन धम्मो के साथ 'प्रीति' सलग्न है—(सप्पीतिका)
आ. जिन धम्मो के साथ 'प्रीति' सलग्न नही है—(अप्पीतिका)

९० अ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर है—(पीतिसहगता)
आ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर नही है—(न-पीतिसहगता)

९१. अ. जो धम्म 'सुख' के सहचर है—(सुखसहगता)
आ. जो धम्म 'सुख' के सहचर नही है—(न सुखसहगता)

९२. अ. जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर है—(उपेक्खासहचरा)
आ जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर नही है—(न उपेक्खासहचरा)

९३. अ जिन धम्मो का सम्बन्ध कामनाओ के लोक (कामावचर) से है—
(कामावचरा)

आ. जिन धम्मो का सम्बन्ध कामनाओ के
लोक (कामावचर) से नही है —(न-कामावचरा)

९४ अ. जिन धम्मो का सम्बन्ध रूप-लोक
(रूपावचर) से है—(रूपावचरा)

आ. जिन धम्मो का सम्बन्ध रूप-लोक (रूपावचर) से नही है—(न-
रूपावचरा)

९५ अ जिन धम्मो का सम्बन्ध अरूप-लोक से है—(अरूपावचरा)
आ. जिन धम्मो का सम्बन्ध अरूप-लोक से नही है—(न-अरूपावचरा)

९६. अ. जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित है—(परियापन्ना)
आ जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित नहीं है—(अपरियापन्ना)

९७ अ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले हैं—(निय्यानिका)
आ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले नही है—(अनिय्यानिका)

९८ अ. जिन धम्मो के परिणाम सुनिश्चित है—(नियता)
आ. जिन धम्मों के परिणाम सुनिश्चित नहीं है—(अनियता)

९९. अ. जिनके आगे बढ़कर भी कुछ धम्म है—(स-उत्तरा)
आ. जिनसे आगे बढकर और कोई धम्म नहीं है—(अनुत्तरा)
१००. अ. जो धम्म दु.खदायी पाप-कर्मों से युक्त है—(सरणा)
आ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त नही है—(अरणा)

उपर्युक्त १२२ वर्गीकरणों में धम्मो का विश्लेषण 'धम्मसगणि' मे किया गया है । वास्तव में इन वर्गीकरणो मे भी प्रथम वर्गीकरण (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) ही नैतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है । अत. धम्म-संगणि मे मानसिक और भौतिक जगत् के सारे तत्वो को प्रधानतः इन्ही तीन शीर्षकों मे पहले विभक्त किया गया है । वहाँ पहले उपर्युक्त तत्वो का विश्लेषण कर यही जिज्ञासा की गई है कि इनमे से कौन से धम्म कुशल है, अकुशल है, या अव्याकृत है। शेष १२१ वर्गो मे धम्मो के विश्लेषण को तो अन्त मे प्रश्न और उत्तर के रूप मे ही सक्षेप में समझा दिया गया है । अतः धम्मसगणि का मुख्य विषय है धम्मो का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण । धम्मसंगणि की विषय वस्तु चार कांडो मे विभाजित की गई है, (१) चित्तुप्पाद-कड (२) रूपकड (३) निक्खेपकड और (४) अत्थुद्धार कड । पहले दो काडों मे मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओ का कुशल ,अकुशल और अव्याकृत के रूप मे विश्लेषण है । पहले कांड मे कुशल, अकुशल और अंशतः अव्याकृत का विवेचन है और दूसरे कांड मे अव्याकृत के अधूरे विवेचन को पूरा किया गया है । तीसरे और चौथे काडो में इनका संक्षेप है और शेष १२१ वर्गों के स्वरूप को प्रश्नोत्तर के रूप मे समझाया गया है । चूकि धम्मो की गणना कुशल, अकुशल आदि वर्गो मे करने के अतिरिक्त स्वय उनके स्वरूप का भी विश्लेषण धम्मसंगणि मे किया गया है, अत इस दृष्टि से उनके चार काडो को चित्त, चेतसिक और रूप (जिन तीन वर्गों में उसने धम्मो को उनके स्वरूप भेद की दृष्टि से विभक्त किया है) इन तीन शीर्षको मे भी विभक्त किया जा सकता है । इस दृष्टि से प्रथम काड चित्त ,चेतसिक और उनके नाना उपविभागो का एवं दूसरे काड मे रूप (भौतिक जगत् का समष्टि-गत रूप) का वर्णन है । तीसरे और चौथे कांडों में यहाँ भी संक्षेप ही है । धम्मसंगणि के इस द्विविध विभाग के कारण ही उसके विवेचन में इतनी दुरूहता आ गई है । पहले हम

चित्त और उसकी सहगत अवस्थाओं (चेतसिक) के विश्लेषण और कुशल ,अकुशल आदि के रूप में उसके विभाजन को ,जो पहले कांड में किया गया है, लेते है। चित्त का अर्थ है चेतना । चेतना को बौद्ध दर्शन में बडे व्यापक अर्थ मे लिया गया है । भगवान् ने स्वयं कहा है "चेतानाहं भिक्खवे कम्म वदामि" अर्थात् "भिक्षुओ ! चेतना को ही मैं कर्म कहता हूँ ।" इस बुद्ध-वचन से ही समझा जा सकता है कि अभिधम्म में चेतना का इतना सूक्ष्म विश्लेषण क्यो किया गया है । कर्म के शुभ, अशुभ स्वरूपो का चेतना से घनिष्ठ संबंध है, अत उसका विश्लेषण प्रत्येक पूर्ण आचरण-दर्शन के लिए आवश्यक है । धम्मसगणि के निर्देशानुसार चित्त की चार भूमियाँ है, जिन पर अग्रसर होता हुआ वह इस बहिर्जगत् की चचल-ताओ से ऊपर उठकर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है । इन चार भूमियो के नाम है, कामावचर-भूमि, रूपावचर-भूमि, अरूपावचर-भूमि और लोकोत्तर-भूमि ।जिस जीवन और जगत् मे हमारा सामान्य-जीवन-प्रवाह चलता है वह काम-नाओ का लोक है । यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक हम कामनाओ की पूर्ति में ही लगे रहते हैं । एक कामना दूसरी कामना को जन्म देती है और अन्त में अतृप्त कामनाओ के सम्बल को लेकर ही हम दूसरे जन्म मे प्रवेश कर जाते हैं । चित्त की समता यहाँ नही मिलती । यही चित्त की कामावचर (कामनाओं में विचरण करने वाली) भूमि है। चित्त की दूसरी भूमि रूपावचर है। रूपावचर-भूमि से तात्पर्य है ध्यान-भूमि पर स्थित चित्त । रूपावचर शब्द ध्यान के अर्थ मे पालि-साहित्य मे रूढ हो गया है। चित्त की इस अवस्था में ध्यान का विषय या 'कर्मस्थान' रूपवान् पदार्थ या बाह्य जगत् का कोई दृश्य पदार्थ ही होता है, अत इसे रूप-संबंधी चित्त का ध्यान ही कहना चाहिए । चित्त की तीसरी अवस्था में बाह्य दृश्य -पदार्थ के चिन्तन से हटकर चित्त आन्तरिक और किसी रूप-रहित आलम्बन (कर्मस्थान) का चिन्तन करने लगता है, जैसे आकाश की अनन्तता, ज्ञान की अनन्तता, अकिंचनता की अनन्तता या अन्त में ऐसी सूक्ष्म अवस्था जिसमें चेतना के भी होने या न होने का निर्धारण न किया जा सके । यही चित्त की अरूपावचर भूमि है, अर्थात् अरूप-सबंधी चित्त का ध्यान । यहां रूप का सर्वथा अस्तंगमन हो जाता

है । चित्त की चौथी अवस्था का नाम है लोकोत्तर-भूमि । यहाँ आते-आते योगी अनित्य, दुख और अनात्म का चिन्तन करते-करते निर्वाण रूपी आलम्बन पर ध्यान करने लगता है, जिससे उसकी सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती है । एक-एक करके वह अपने सारे बन्धनो को नष्ट कर डालता है और उसका चित्त उस सर्वोत्तम भूमि मे पहुँच जाता है, जो लोकोत्तर है । इस भूमि का सबध चार आर्य-मार्गों और उनके फलो (स्रोत आपत्ति आदि) से है । यहाँ पहुँचकर फिर तृष्णा या अविद्या के फन्दे मे पडना नही होता । चित्त फिर लोभ, द्वेष और मोह की ओर नही लौट सकता । इसीलिए यह भूमि लोकोत्तर है । चित्त की इन चार भूमियो को समझ लेने के बाद हमे चित्त के कुशल, अकुशल और अव्याकृत स्वरूप को कुछ और अधिक समझ लेना चाहिए । फिर चित्त के भेदो को समझना हमारे लिए आसान हो जायगा । कुशल चित्त वह है जो लोभ, द्वेष ,मोह आदि से रहित हो । अकुशल चित्त इनसे युक्त होता है । अव्याकृत चित्त वह है जो इच्छा से रहित होता है । या तो यह अन्यत स्वाभाविक रूप से पूर्व-जन्म के कर्मों के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होता है जिसमे इच्छा करने या न करने का कोई सवाल ही नही होता और इस जन्म के कर्मों से सबद्ध न होने कारण जिसका स्वरूप भी अस्पष्ट और अव्याख्येय (अव्याकृत) होता है, या यह विगत-तृष्ण उस पूर्ण पुरुष (अर्हत्) की चित्तावस्था का सूचकहोता है जिसके इस जन्म के कुशल कर्म भी वास्तव में हेतु या इच्छा से रहित होते है और जो आगे के लिए विपाक भी पैदा नही करते । इसलिए वे भी अव्याकृत या अव्याख्येय होते है । इस दृष्टि से अव्याकृत चित्त के दो भाग किये गये है (१) विपाक-चित्त, जो पूर्वजन्म के कुशल और अकुशल दोनो प्रकार के चित्तो के परिणाम-स्वरूप हो सकते है और (२) क्रिया-चित्त, जो अर्हत् की चित्त-अवस्था के सूचक है और जिनमे अर्हत् के चित्त की क्रिया-मात्र ही रहती है, पर वास्तव में जो 'निष्क्रिय' होते हैं । पूर्णता-प्राप्त ज्ञानी पुरुष (अर्हत्) का चित्त सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी वह कर्म-विपाक की दृष्टि से निष्क्रिय होता है । चूंकि अर्हत् के सभी कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर दिये गये होते है, अत. उसका चित्त 'क्रिया' भर करता है, उसका आगे के लिए कोई विपाक या परिणाम नही बनता । चित्त की उपर्युक्त

चार भूमियों और उसके तीन स्वरूपों मे उसकी उन ८९ अवस्थाओ का वर्गीकरण जो धम्मसंगणि मे किया गया है बडी अच्छी प्रकार समझ में आ सकता है। चित्त की अवस्थाएँ कुल मिलाकर ८९ है, जिनमे भूमियो की दृष्टि से ५४ कामावचर-भूमि से सबधित है, १५ रूपावचर भूमि से सबधित है, १२ अरूपावचर भूमि से सबधित है और ८ लोकोत्तर भूमि से संबंधित है। कुशल-चित्त की दृष्टि मे इन ८९ चित्त की अवस्थाओ मे से २१ अवस्थाएँ कुशल-चित्त से सबधित हैं, १२ अवस्थाएँ अकुशल-चित्त से संबधित है और ५६ अवस्थाएँ (३६ विपाक-चित्त + २० क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त से सबधित हैं। इनका भी अधिक विश्लेषण करे तो ५४ कामावचर-भूमि की चित्त-अवस्थाओ में मे ८ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ है, १२ अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ है और ३४ (२३ विपाक चित्त + ११ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ है। १५ रूपावचर-चित्त की अवस्थाओ मे से ५ कुशल-चित्त संबंधी अवस्थाएँ है और १० (५ विपाक चित्त + ५ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त सबधी अवस्थाएँ है। रूपावचर-चित्त-भूमि मे अकुशल-चित्त की अवस्थाएं सम्भव नही होती। १२ अरूपावचर-भूमि की अवस्थाओ में ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ है और ८ (४ विपाक-चित्त + ४ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ है। ८ लोकोत्तर-भूमि की अवस्थाओ मे से ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ है और ४ अव्याकृत चित्त (केवल विपाक-चित्त) की अवस्थाएँ है। अरूपावचर और लोकोत्तर भूमियो मे भी अकुशल-चित्त का होना सभव नही। कुशल-त्रिक की दृष्टि से भी इसी प्रकार का विस्तृत विश्लेषण करे तो २१ कुशल-चित्तो मे से ८ कामावचर-भूमि के है, ५ रूपावचर भूमि के है, ४ अरूपावचर भूमि के है और ४ ही लोकोत्तर भूमि के है। १२ अकुशल-चित्तो मे कुल कामावचर भूमि के ही है, क्योकि अन्य उच्च भूमियो पर अकुशल -चित्त का होना सभव ही नही। ५६ अव्याकृत-चित्त की अवस्थाओ मे से ३४ (२३ विपाक-चित्त + ११ क्रिया-चित्त) कामावचर-भूमि की है, १० (५ + विपाक-चित्त + ५ क्रिया-चित्त) रूपावचर-भूमि की है, ८ (४ विपाक-चित्त + ४ क्रिया-चित्त) अरूपावचर-भूमि की हैं और ४ लोकोत्तर-भूमि (केवल विपाक-चित्त) की है। अभी यह गणना सुबोध नहीं जान पड़ेगी, किन्तु आगे के विवरण से साफ हो जायगी। धम्म-

संगणि में चूंकि चित्त के उपर्युक्त ८९ प्रकारों का विश्लेषण उसके कुशल अकुशल और अव्याकृत रूपों का मूलाधार लेकर ही किया गया है, अतः उसकी पद्धति का ही अनुसरण करते हुए हम इस विषय को स्पष्ट करेंगे। धम्मसंगणि मे सर्वप्रथम जिज्ञासा की गई है 'कतमे धम्मा कुसला ?' अर्थात् कौन से धर्म कुशल हैं ?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. कुसला धम्मा

(क) कामावचर-भूमि के ८ कुसल-चित्त।

कामनाओ के लोक मे विचरण करता हुआ मनुष्य भी अपने चित्त को कुशल बना सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह धीरे धीरे अपने चित्त को लोभ, द्वेष और मोह से विमुक्त करे। इसके बिना उसका चित्त कुशल या सात्विक नही हो सकता। जब कोई साधक शुभ कर्म करता है जिससे उसका चित्त सात्विक बनता है तो कभी तो वह ऐसा अपने मन मे ठानकर ज्ञान-पूर्वक करता है, अर्थात् वह ऐसा विचार-पूर्वक, सोचकर करता है कि ऐसा ऐसा करने से भविष्य के जीवन मे मेरे कर्मो का विपाक कुशल बनेगा। इस प्रकार की उसकी चित्त-अवस्था ज्ञान-सप्रयुक्त या ज्ञानयुक्त कहलाती है। उदाहरणत, एक मनुष्य बुद्ध-वन्दना करता है और सोचता है कि ऐसा करने से उसका शुभ कर्म-विपाक बनेगा तो उसका चित्त उस समय ज्ञान-सप्रयुक्त है। किन्तु यदि एक बालक इसी काम को दूसरे के अनुकरण पर करता है तो उसके इस काम मे इस ज्ञान की भावना नही है कि यह कर्म उसके लिए शुभ कर्म-विपाक का प्रसवकारी बनेगा। अत. उसका चित्त 'ज्ञान-विप्रयुक्त' या ज्ञान से रहित है। इसी प्रकार यदि कोई कर्म दूसरे की प्रेरणा पर और झिझकपूर्वक किया जाता है तो वह 'ससांस्कारिक' (ससंखारिक) है और यदि वह अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा और बिना हिचकिचाहट के किया जाता है तो वह 'असास्कारिक' (असखारिक) है। इसी प्रकार कोई कर्म सौमनस्य की भावना से युक्त (सोमनस्स-सहगत) हो सकता है और कोई उपेक्षा

की भावना से युक्त (उपेक्खा-सहगत)। इतना समझ लेने पर अब धम्म-संगणि में निर्दिष्ट निम्नलिखित आठ कामावचर-कुशल-चित्तों को देखिए—) यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त, असास्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त, ससास्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असास्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससास्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त, असास्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त, ससास्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असास्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससास्कारिक

(ख) रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्त—कामावचर-भूमि से आगे बढ़कर योगी पृथ्वी, जल, तेज आदि २६ रूपवान् पदार्थों को आलम्बन (कर्मस्थान) मानकर ध्यान करता है। इस ध्यान की पाँच क्रमिक अवस्थाएँ होती है, जिनका मनोवैज्ञानिक स्वरूप इस प्रकार है—

१	वितर्क,	विचार,	प्रीति,	सुख	एकाग्रता वाला	प्रथम ध्यान
२.		,,	,,	,,	,,	द्वितीय ध्यान
३			,,	,,	,,	तृतीय ध्यान
४				,,	,,	चतुर्थ ध्यान
५.				उपेक्षा (समचित्तत्व)	,,	पञ्चम ध्यान

(ग) अ-रूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्त (रूपावचर-ध्यान से आगे बढ़कर योगी रूपवान कर्मस्थानों को छोड़ देता है और रूप-रहित वस्तुओं का ध्यान करने लगता है, जिनकी चार क्रमिक अवस्थाएँ इस प्रकार है (१) अनन्त आकाश का ध्यान (२) अनन्त विज्ञान का ध्यान (३) अनन्त आकिंचन्य (शून्यता) का ध्यान और (४) **नैव-संज्ञा-नासंज्ञा** (चित्त की वह सूक्ष्म अवस्था जिसमें न यह कहा जा सके कि संज्ञा है और न यह

कहा जा सके कि संज्ञा नहीं है) का ध्यान। ध्यान की यही चार अवस्थाएँ अरूपावचर कहलाती हे। अतः इन संबंधी चार कुशल-चित्तो के नाम है—)

१. आकाशानन्त्यायतन कुशल-चित्त
२. विज्ञानानत्यायतन कुशल-चित्त
३. आकिञ्चन्यायतन कुशल-चित्त
४. नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतन कुशल-चित्त

(घ) लोकोत्तर-भूमि के चार कुशल-चित्त (अरूप-समाधि से उठकर योगी फिर अविद्या के प्रभाव में आ सकता है। इससे बचने के लिए उसे आगे ध्यान-साधना करनी होनी है। वह धीरे-धीरे चित्त के बन्धनो को हटाता है और अनित्य, दुःख और अनात्म की भावना करता है। ऐसा करते-करते वह चित्त की लोकोत्तर अवस्था मे प्रवेश कर जाता है, जिसकी निम्नलिखित चार अवस्थाएं है—

१. स्रोत आपत्ति-मार्ग-चित्त (जो निर्वाण-गामी स्रोत मे पड गया है)
२ सकृदागामि-मार्ग-चित्त (जिसे एक बार और जन्म लेना है)
३. अनागामि-मार्ग-चित्त (जिसे अब लौटना नही है—अर्थात् जो इसी जन्म मे निर्वाणका साक्षात्कार कर लेगा)
४ अर्हत्-मार्ग-चित्त (जिसने निर्वाण का पूर्ण साक्षात्कार कर लिया है)

२—अकुसला धम्मा

धम्मसगणि की दूसरी मुख्य जिज्ञासा है, 'कतमे धम्मा अकुसला ?' अर्थात् कोन से धम्म अकुशल है ?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष यह है—

(क) लोभ-मूलक आठ अकुशल-चित्त (लोभ के कारण मनुष्य अशुभ कर्म करता है। कभी ऐसा करने मे उसे चित्त की प्रसन्नता भी होती है और कभी मात्र उपेक्षा की भावना सी भी रहती है। ये दोनो क्रियाएँ, क्रमश. सौमनस्य से युक्त (सोमनस्ससहगत) और उपेक्षा-युक्त (उपेक्खासहगत) कहलाती है, जैसा हम कुशल चित्त के विषय मे भी देख चुके हे। इसी प्रकार लोभ-मूलक कोई बुरा काम किसी मिथ्या-धारणा

का सहारा लेकर किया जा सकता है, जैसे यह तो मेरा कर्तव्य ही है आदि (यद्यपि भावना तो उसमें लोभ की ही रहती है) तो उस दशा मे यह दृष्टिगत-युक्त (दिट्ठिगत-सम्पयुत्त) कहलायेगा । यदि इस प्रकार की मिथ्या-धारणा का सहारा नही लिया गया है तो वह दृष्टिगत-विप्रयुक्त या मिथ्या-धारणा से मुक्त (दिट्ठिगत-विप्पयुत्त) कहलायगा । इसी प्रकार दूसरे की प्रेरणा से, झिझक पूर्वक किये हुए लोभमूलक दुष्कृत्य को 'ससास्कारिक' (ससखारिक) कहेगे और बिना किसी दूसरे की प्रेरणा के और बिना झिझक के साथ किये हुए कर्म को 'असास्कारिक (असखारिक) कहेगे, जैसा हम कुशल-चित्त के विवेचन मे भी पहले देख चुके है । यह कहने की आवश्यकता नही कि लोभ-मूलक अकुशल-चित्त कामनाओ के लोक (कामावचर-भूमि) मे ही हो सकते है । इससे आगे उनकी पहुच नही। आठ प्रकार के लोभ-मूलक अकुशल-चित्तो के स्वरूप का परिचय देखिए—

१. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक
२ सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, ससास्कारिक
३ सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, असास्कारिक
४. सौमनस्य के साथ, मिथ्याधारणा से रहित, ससास्कारिक
५. उपेक्षा के साथ, मिथ्याधारणा से युक्त, असांस्कारिक
६ उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, ससास्कारिक
७. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असास्कारिक
८. उपेक्षा के साथ, मिथ्या-धारणा से रहित, ससास्कारिक

(ख) द्वेष-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, असास्कारिक
२. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, ससास्कारिक

{ चित्तकी द्वेषमयी अवस्था में सौमनस्य या उपेक्षा नही रह सकती। द्वेष की चंचलतापूर्ण अवस्था में धारणाओं का भी कोई विचरण नही होता।

(ग) मोह-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. (अज्ञानमय) उपेक्षा के साथ, सन्देह-युक्त २. उपेक्षा के साथ ,उद्धतता से युक्त	मनकी मोह-युक्त अवस्था में असास्कारिक या ससास्कारिक होने का सवाल ही नही उठता ।

३. अव्याकता धम्मा

धम्मसगणि की तीसरी मुख्य जिज्ञासा है "कतमे धम्मा अव्याकता" अर्थात् कौन से धर्म्म अव्याकृत हैं ? इसके उत्तर का निष्कर्ष प्रकार है—

अ—विपाक-चित्त

(क) आठ कुशल विपाक-चित्त—अव्याकृत चित्त के दो भेद है, विपाक-चित्त और क्रिया-चित्त, यह हम पहले देख चुके हैं । विपाक-चित्त पूर्व जन्म के कर्मो के परिणाम-स्वरूप होते है । पूर्व-जन्म के शुभ या अशुभ-कर्मो के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके कुशल-विपाक-चित्त और अकुशल-विपाक-चित्त ये दो स्वरूप होते हैं । आठ कुशल विपाक-चित्त, जो अनुकूल पदार्थो के साथ इन्द्रियो के सनिकर्ष होने के कारण उन्पन्न होते हैं, ये है—

१ चक्षु-विज्ञान	उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) से युक्त
२ श्रोत्र-विज्ञान	,,
३ घ्राण-विज्ञान	,,
४. जिह्वा-विज्ञान	,,
५. काय-विज्ञान	सुख या सौमनस्य से युक्त
६. मनोधातु	उपेक्षा से युक्त
७ मनो विज्ञान-धातु	उपेक्षा से युक्त
८. मनो-विज्ञान-धातु	सुख या सौमनस्य से युक्त

सख्या ६, ७, ८ के कुशल विपाक चित्तो को क्रमशः 'सम्पटिच्छन्न' और 'सन्तीरण' (७, ८) 'अभिधम्मत्थ' सगह में कहा गया है । सम्पटिच्छन्न (सम्प्रतिच्छन्न) का अर्थ है ग्रहणात्मक विज्ञान और 'सन्तीरण' (सन्तीर्ण) का अर्थ है अनुसन्धानात्मक विज्ञान । चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ उनके विषयो

का संनिकर्ष होने पर चक्षु-विज्ञान आदि उत्पन्न हो जाते हैं। उसके बाद चित्त को किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता की अनुभूति होती है और वह उसे ग्रहण करने के लिए उत्सुक होता है। यही चित्त की अवस्था 'सम्पटिच्छन्न' कहलाती है। जब उसे ग्रहण करने के लिए वह अनुसन्धान करने लगता है तो यही अवस्था 'सन्तीरण' कहलाती है। इन सब व्यापारों में द्रष्टा को अपने आप की चेतना नही होती। ये सब व्यापार सुषुप्त चेतना या अर्द्धचेतना की अवस्था मे होते हैं। अत इन विज्ञानो का कोई हेतु नही होता। वे पूर्व जन्मो के शुभ या अशुभ कर्मों के परिणाम-स्वरूप ही उद्‌भूत होते हैं। इस आरम्भिक अवस्था मे उनमे सुख या दुःख की वेदना का भी सवाल नही उठता। वे उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) की वेदना से युक्त होते हैं। काय-विज्ञान अवश्य सुख या दुःख की वेदना से युक्त होता है।

(ख) आठ कामावचर विपाक-चित्त (पूर्वजन्म के कुशल-चित्तो के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले विपाक-चित्त भी उनके समान ही सख्या मे आठ है, यथा——

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त असास्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-सप्रयुक्त, ससास्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असास्कारिक
४ सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससास्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-सप्रयुक्त, असास्कारिक
६ उपेक्षा से युकुत, ज्ञान-सप्रयुक्त, ससास्कारिक
७ उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असास्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससास्कारिक

(ग) सात अकुशल विपाक-चित्त (पूर्व जन्म के अशुभ-कर्मों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न)

१. चक्षु-विज्ञान	उपेक्षा (न-दुःख-न-सुख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान	,,
३ घ्राण-विज्ञान	,,

४. जिह्वा-विज्ञान	,,
५. काय-विज्ञान––	दुख या दौर्मनस्य से युक्त
६ मनोधातु (सम्पटिच्छन्न)	उपेक्षा से युक्त
७. मनोविज्ञान-धातु (सन्तीरण)	,,

(घ)पाँच रुपावचर विपाक चित्त––रूपावचर-भूमि के पाँच कुशल-चित्तों के परिणाम-(विपाक)स्वरूप ही दूसरे जन्म मे पाँच विपाक-चित्त उत्पन्न होते है। अत उनका स्वरूप भी पूर्वोक्त कुशल-चित्तो के अनुरूप ही है यथा––

१	वितर्क,	विचार,	प्रीति	सुख और	एकाग्रता से युक्त	प्रथम विपाक-चित्त
२	,,	,,	,,		,,	द्वितीय विपाक-चित्त
३.		,,	,,		,,	तृतीय विपाक-चित्त
४.			,,		,,	चतुर्थ विपाक-चित्त
५			उपेक्षा		,,	पचम विपाक-चित्त

(ङ) चार अरूपावचर विपाक-चित्त––अरूपावचर-भूमि के चार कुशल-चित्तों के विपाक-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके समान ही है यथा––

१ आकाशानन्त्यायतन विपाक-चित्त
२ विज्ञानानन्त्यायतन विपाक-चित्त
३. आकिचन्यायतन विपाक-चित्त
४· नैवसज्ञानासज्ञायनन विपाक-चित्त

(च) चार लोकोत्तर विपाक-चित्त––लोकोत्तर-भूमिकेचार मार्ग-चित्तो के परिणामस्वरूप दूसरे जन्म मे चार फल-चित्त उत्पन्न होते हैं, जो इस प्रकार है––

१. स्रोत आपत्ति-फल-चित्त (स्रोत आपत्ति के फल को प्राप्त करने की चेतना)
२. सकृदागामि-फल-चित्त (सकृदागामि-फल को प्राप्त करने की चेतना)
३ अनागामि-फल-चित्त (इसी जन्म मे निर्वाण के साक्षात्कार रूपी फल को प्राप्त करने की चेतना)
४. अर्हत्व-फल-चित्त (अर्हत्व-फल प्राप्ति की चेतना)

आ—क्रिया-चित्त

(क) तीन अहेतुक क्रिया-चित्त

क्रिया-चित्त उसे कहते हैं जो न स्वयं पूर्व जन्मो के कर्मों का विपाक होता है और न भविष्य के कर्मो का विपाक बनता है। उसमे केवल 'क्रिया-मात्र' (करण-मत्त) रहती है। वास्तव मे तो वह 'निष्क्रिय' ही होता है, क्योंकि उसका कोई विपाक नही बनता। वह इतना स्वाभाविक होता है कि उसका कोई हेतु भी नहीं दिखाया जा सकता। उदाहरणत पूर्णता-प्राप्त मनुष्य (अर्हत्) की हँसी। इसी लिए उसे अहेतुक भी कहते हैं। इसके तीन प्रकार है जैसे—

१ मनोधातु—उपेक्षा से युक्त।

२. मनोविज्ञान धातु—उपेक्षा से युक्त (सभी प्राणियों मे पाया जाता है)

३ मनो विज्ञान धातु—सुख या सौमनस्य से युक्त (केवल अर्हत् मे पाया जाता है)

'अभिधम्मत्थसह' मे इन तीन क्रिया-चित्तों को क्रमश पचद्वारावज्जन चित्त (इन्द्रिय रूपी पाँच द्वारो की ओर प्रवण होने वाला, बाहरी पदार्थ से उनका सनिकर्ष होने पर), मनोद्वारावज्जन चित्त (मन के द्वार की ओर प्रवण होने वाला) और हसितुप्पाद-चित्त (अर्हत् के हँसने की क्रियावाला चित्त) कहा है। अर्हत् का हँसना नितान्त स्वाभाविक अर्थात् अहेतुक होता है। न वह स्वय किसी का विपाक होता है और न उसका आगे कोई विपाक बनता है।

(ख) कामावचर-भूमि के ८ क्रिया-चित्त

कामावचर-भूमि के ८ कुशलचित्तो का उल्लेख पहले हो चुका है। साधारण अवस्था मे उनका विपाक भी दूसरे जन्म मे होता है। किन्तु अर्हत् की जीवन-क्रियाएँ तो किसी विपाक को पैदा करती नही। उनमे वासना या तृष्णा का सर्वथा अभाव रहता है। अत ये क्रियाएँ जैसे दग्ध हो जाती है। अत पूर्वोक्त ८ कुशल-चित्त ही अर्हत् की जीवन-दशा से सम्बन्धित होकर आठ क्रिया-चित्त बन जाते है, अर्थात् वे अपने विपाक बनने के स्वभाव को छोड देते है। उनका बाहरी स्वरूप तो यहा भी पहले जैसा ही है, यथा—

१ सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असास्कारिक

२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससास्कारिक

३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असास्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससास्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-सप्रयुक्त, असास्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-सप्रयुक्त, ससास्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असास्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससास्कारिक

ग रूपावचर-भूमि के पाँच क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्तो और विपाक-चित्तो के समान हैं, अन्तर केवल इतना है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था मे ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अत भविष्य मे विपाक पैदा नही करते। अर्हत् भी इन पाँच ध्यान की अवस्थाओ को प्राप्त करता है किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नहीं करती। इनका उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अत यहाँ अनावश्यक है।

घ. अरूपावचर-भूमि के चार क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त अरूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्तो और विपाक-चित्तो के समान हैं। अन्तर भी यही है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था मे ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अत. भविष्य मे विपाक पैदा नही करते। अर्हत् अरूप-लोक की इन चार अवस्थाओ को प्राप्त करता है किन्तु ये उसके लिये विपाक पैदा नही करती। इनका भी उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अत. यहाँ पुनरावृत्ति करना निरर्थक है।

उपर्युक्त प्रकार चित्त के ८९ प्रकारो का कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्तो के रूप मे उनकी उपर्युक्त ४ भूमियो पर विश्लेषण 'धम्मसगणि' मे किया गया है। अधिक सुगम बनाने के लिये इनका इस तालिका के द्वारा अध्ययन किया जा सकता है—

चित्त-विभेदो का कुशल, अकुशल आदि शीर्षकों मे विश्लेषण करने के साथ-साथ 'धम्मसंगणि' मे चित्त की उन अवस्थाओं (चेतसिक) का भी विश्लेषण किया गया है, जो किसी विशेष प्रकार के चित्त के साथ ही उत्पन्न और निरुद्ध होती रहती है और जिनकेआलम्बन और इन्द्रिय भी उसके समान ही होते हैं। इन्हे 'चेतसिक' कहते हैं। 'चेतसिक' सख्या में कुल ५२ है, जिनमे १३ ऐसे है जो सामान्य ('अन्य-समान') है अर्थात् जो सभी प्रकार के चित्तो मे पाये जाते है। इन तेरह में भी ७ तो अनिवार्यत· सब चित्तों मे पाये जाते हैं, और ६ प्रकीर्ण है, अर्थात् वे कभी पाये जाते है, कभी नही। २५ चेतसिको का एक वर्ग 'शोभन चेतसिक' कहलाता है, जिनमे १९ चेतसिक ऐसे है जो सभी कुशल-चित्तों मे पाये है और ६ ऐसे है जो सब मे नही पाये जाते। १४ चेतसिक 'अकुशल' है, अर्थात् वे केवल अकुशल-चित्त मे ही पाये जाते हैं। उनमे भी ४ मूलभूत अकुशल चेतसिक है, जो सभी अकुशल चित्तो मे पाये जाते हैं। बाकी १० अकुशल चेतसिक ऐसे है जो सब अकुशल-चित्तो मे नही पाये जाते। इनका वर्गीकरण इस प्रकार आसानी से समझा जा सकता है—

५२ चेतसिक या चित्त की सहगत अवस्थाएँ

१—१३ अन्य-समान (सभी चित्तो मे सामान्यत पाये जाने वाले) चेतसिक

अ-७ सर्व-चित्त-साधारण अर्थात् अनिवार्यत सब चित्तो मे पाये जाने वाले, जैसे कि

१ स्पर्श (फस्सो)
२ वेदना (वेदना)
३. सञ्ज्ञा (सञ्ञा)
४. चेतना (चेतना)
५. एकाग्रता (एकग्गता)
६ जीवितेन्द्रिय (जीवितिन्द्रिय)
७. मनसिकार (मनसिकारो)

आ. ६ प्रकीर्णक अर्थात् जो किसी चित्त मे पाये जाते है, किसी में नही, जैसे कि

८. वितर्क (वितक्को)
९. विचार (विचारो)

(अव्याकृत)

...त	क्रिया-चित्त	
...ाक) ...ा और काय के विज्ञान	७० मनोधातु-उपेक्षा के साथ ७१ मनोविज्ञानधातु - उपेक्षाके साथ ७२ मनोविज्ञानधातु - सुख या सौमनस्य के साथ	
...पाक) ...ा और काय के विज्ञान	७३–८० = (१–८)	
	८१ ८२ ८३ = (९–१३) ८४ ८५	केवल अर्हत् की चित्त-दशा
	८६ ८७ (१४–१७) ८८ ८९	
...न	×	

१०. अधिमोक्ष (निश्चय) (अधिमोक्खो)

११. वीर्य (वीरिय)

१२. प्रीति (पीति)

१३. छन्द (इच्छा) (छन्दो)

२. २५ शोभन चेतसिक, जो सामान्यतः कुशल-चित्त और उनके अनुरूप अव्याकृत-चित्तों मे पाये जाते हैं—

अ. १९ 'शोभन-चित्त-साधारण' अर्थात् सभी कुशल-चित्तों मे पाई जाने वाली चित्त की अवस्थाएँ

१४ श्रद्धा (सद्धा)

१५. स्मृति (सति)

१६. ह्री (हिरी—नैतिक लज्जा, पाप-संकोच)

१७. अवत्रपा (ओतप्पो—पाप-भय)

१८ अलोभ (अलोभो)

१९ अद्वेष (अदोसो)

२०. तत्रमध्यस्थता (तत्र मज्झत्तता-समचित्तत्व)

२१. काय-प्रश्रब्धि (कायप्पस्सद्धि—काया की शान्ति)

२२. चित्त-प्रश्रब्धि (चित्तप्पस्सद्धि—चित्त की शान्ति)

२३. कायलघुता (कायलहुता—शरीर का हल्कापन)

२४ चित्त-लघुता (चित्तलहुता—चित्त का हल्कापन)

२५ कायमृदुता (कायमुदुता)

२६ चित्तमृदुता (चित्तमुदुता)

२७ कायकर्मज्ञता (कायमम्मञ्ञता)

२८ चित्तकर्मज्ञता (चित्तकम्मञ्ञता)

२९. कायप्रागुण्यता (कायुपागुञ्ञता)

३० चित्त प्रागुण्यता (चित्तपागुञ्ञता)

३१. काय-ऋजुता (कायुजुकता—काया की सरलता)

३२. चित्त-ऋजुता (चित्तुजुकता—चित्त की सरलता)

आ. ६ शोभन-चेतसिक जो किन्ही कुशल-चित्तों मे पाये जाते है किन्ही में नहीं, यथा

३३. सम्यक् वाणी (सम्मावाचा-वाचिक दुश्चरितो से विरति)
३४. सम्यक् कर्मान्त (सम्माकम्मन्तो-कायिकदुश्चरितोसेविरति)
३५. सम्यक् आजीव (सम्मा आजीवो-जीविका सबधी दुश्चरितो से विरति)
} इन तीनों को विरति कहते है

३६. करुणा
३७ मुदिता
} इन दोनों को अ-परिमाण (परिमाण-रहित) कहते हैं क्योकि इन्हे किसी हद तक बढ़ाया ना सकता है ।

३८. प्रज्ञा-इन्द्रिय (पञ्ञिन्द्रिय—अमोह)

३. १४ अकुशल चेतसिक जो सामान्यत. अकुशल-चित्तो मे पाये जाते है, जिनमें

अ. ४ मूल-भूत अकुशल चेतसिक जो सभी अकुशल-चित्तो मे अनिवार्यतः पाये जाते है । यथा

३९ मोह (मोहो)

४० अ-ह्री (अहिरीक-दुश्चरितो से लज्जा न करना)

४१. अन्-अवत्रपा (अनोत्तप्प—कुकर्मों से त्रास न मानना)

४२. उद्धतता (उद्धच्च-चचलता)

आ १० अकुशल-चेतसिक जो किन्ही अकुशल-चित्तो मे पाये जाते है, किन्ही में नही, यथा

४३. द्वेष (दोसो)

४४. ईर्ष्या (इस्सा)

४५. मात्सर्य (मच्छरिय-कृपणता)

४६ कौकृत्य (कुक्कुच्च-दुश्चरित के बाद सन्ताप)

४७. लोभ (लोभो)

४८. मिथ्याधारणा (दिट्ठि-दृष्टि)

४९. मान (मानो-गर्व)

५०. कायिक-आलस्य (थीन-स्त्यान)

५१. मानसिक आलस्य (मिद्ध, मृद्ध)

५२ विचिकित्सा (विचिकिच्छा-सन्देह)

चित्त के ८९ विभेदों में से प्रत्येक मे कौन कौन से चेतसिक उपस्थित रहते हैं, इसका विस्तृत विवेचन, अनेक पुनरुक्तियों के साथ, 'धम्मसंगणि' में किया गया

है। उसकी शैली को समझने के लिये चेतसिकों की इस विस्तृत सूची को देखिये, जिसे 'धम्मसगणि' ने कामावचर-भूमि के कुशल-चित्त के प्रथम भेद (देखिये ऊपर चित्त-विभेद की तालिका) से ही सम्बन्धित किया है। प्रथम प्रकार के चित्त को लक्ष्य कर 'धम्मसगणि' कहती है "जिस समय कामावचर-लोक से सम्बन्धित कुशल चित्त उत्पन्न होता है, ज्ञान और सौमनस्य से सम्प्रयुक्त, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श या धम्म के आलम्बन (विषय) को लेकर, तो उस समय[1]

१. (१) फस्सो होति, (२) वेदना होति (३) सञ्ञा होति (४) चेतना होति (५) चित्त होति ।

२. (६) वितक्को होति (७) विचारो होति (८) पीति होति (९) सुखं होति (१०) चित्तस्सेकाग्गता (चित्त की एकाग्रता) होति ।

३. (११) सद्धिन्द्रिय (श्रद्धा-इन्द्रिय) होति (१२) विरियिन्द्रिय (वीर्य-इन्द्रिय) होति (१३) सतिन्द्रिय (स्मृति-इन्द्रिय) होति (१४) समाधिन्द्रियं होति (१५) पञ्ञिन्द्रिय (प्रज्ञा-इन्द्रिय) होति (१६) मनिन्द्रियं (मन-इन्द्रिय) होति (१७) सोमनस्सिन्द्रियं (सौमनस्य-इन्द्रिय) होति (१८) जीवितिन्द्रिय होति ।

४ (१९) सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि) होति (२०) सम्मासकप्पो (सम्यक संकल्प) होति (२१) सम्मा वायायो (सम्यक् व्यायाम) होति (२२) सम्मासति (सम्यक् स्मृति) होति (२३) सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि) होति।

५. (२४) सद्धा-बल (श्रद्धा रूपी बल) होति (२५) विरिय-बलं (वीर्य रूपी बल) होति, (२६) सति-बल (स्मृति रूपी बल) होति (२७) समाधि-बल होति (२८) पञ्ञा-बल (प्रज्ञा रूपी बल) होति (२९) हिरिबलं (नैतिक लज्जा रूपी बल) होति (३०) ओतप्पबलं (पाप-भय रूपी बल) होति

६. (३१) अलोभो होति (३२) अदोसो होति (३३) अमोहो होति (३४)

---

१. यस्मिं समये कामावचरं कुसलं चित्तं उप्पन्नं होति सोमनस्स सहगतं ञाण-सम्पयुत्तं रूपारम्मणं वा सद्दारम्मणं वा गन्धारम्मणं वा रसारम्मणं वा फोट्ठब्बारम्मणं वा धम्मारम्मणं वा तस्मिं समये..... ...

अनभिज्जा (अद्रोह) होति (३५) अब्यापादो (अ-वैर) होति (३६) सम्मादिट्ठि होति ।

७ (३७) हिरि (ह्री-नैतिक लज्जा) होति (३८) ओतप्प (पाप-भय) होति

८ (३९) काय-पस्सद्धि (काय-प्रश्रब्धि-काया की शान्ति) होति ।
(४०) चित्त-पस्सद्धि होति (४१) काय-लहुता (काया का हल्कापन) होति
(४२) चित्त-लहुता होति (४३) काय-मुदिता (काया की प्रफुल्लता) होति
(४४) चित्त-मुदिता होति (४५) काय-कम्मञ्ञता (काया के कर्मो का ज्ञान) होति । (४६) चित्त-कम्मञ्ञता होति (४०) कायुज्जुकता (काया की सरलता) होति (५०) चित्तुज्जुकता होति ।

९. (५१) सति होति (५२) सम्पज्ञाण (सम्प्रज्ञान) होति ।

१० (५३) समथो (शमथ, शान्ति) होति (५४) विपस्सना (विपश्यना-विदर्शना-अन्तर्ज्ञान) होति ।

११. (५५) पग्गहो (निश्चय) होति (५६) अविक्खेपो (चित्त-शान्ति का भग न होना) होति ।

उपर्युक्त ५६ चित्त-अवस्थाओ में बहुत पुनरुक्ति की गई है । २, ९ और १७, ५ और १६, ६ और २०, १० १४, २३ २७, ५३ और ५६, ११ और १४; १२. २१, २५ और ५५, १३, २२, २६ और ५१, १५, १९. २८, ३३, ३६, ५२ और ५४, २९ और ३७, ३१ और ३४ तथा ३२ और ३५ सख्याओ की अवस्थाएँ समान ही है । अत समान अवस्थाओ को निकाल देने पर शेष ३१ रह जाती है। 'धम्मसंगणि' में इस प्रकार के विस्तार बहुत अधिक है और उनकी सगति केवल विभिन्न दृष्टियो से किये गये वर्गीकरणो के आधार पर ही लगाई जा सकती है । कुशल-चित्त के प्रथम भेद के अलावा उसके शेष २० भेदों की महगत-अवस्थाओ की भी गणना उसी के आधार पर की गई है । यही पद्धति बाद में कामावचर-भूमि के अकुशल-चित्त के १२ भेदो के विषय मे तथा उसके बाद विपाक-चित्त की चारो भूमियो के ३६ भेदो के विषय मे और अन्त मे क्रिया-चित्त की तीन भूमियों (कामावचर, रूपावचर, और अरूपावचर) के २० भेदो के विषय में प्रयुक्त की गई है । इन सबका विस्तृत विवरण अभिधम्म के पूरे दर्शन को समझने के लिये आवश्यक है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास

में तो इनका अपेक्षाकृत गौण स्थान ही हो सकता है। अतः यहाँ केवल मोटी रूप-रेखा उपस्थित कर 'धम्मसंगणि' में जिस शैली में उनका निरूपण किया गया है, उसका दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है।[1] सक्षेप में चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध का स्वरूप इस नीचे दी हुई तालिका से समझ में आ सकता है—

अ—कुशल-चित्त

चित्तों की क्रम संख्या (पहले दी हुई तालिका के अनुसार)	चेतसिकों की संख्या जो उनके अन्दर पाये जाते हैं	
१ एवं २	१३ अन्य समान + २५ शोभन	= ३८
३ एवं ४	उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान को घटाकर	= ३७
५ एवं ६	उपर्युक्त ३८ में से प्रीति को घटाकर	= ३७
७ एवं ८	उपर्युक्त ३८ में से ज्ञान और प्रीति दोनों को घटाकर	= ३६
९	उपर्युक्त ३८ में से ३ विरतियों (सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव) को घटाकर	= ३५
१०	उपर्युक्त ३५ में से वितर्क को घटाकर	= ३४
११	उपर्युक्त ३४ में से विचार को घटाकर	= ३३
१२	उपर्युक्त ३३ में से प्रीति को घटाकर	= ३२
१३	उपर्युक्त ३२ में से करुणा और मुदिता (दो अ-प्रमाण) को घटाकर	= ३०
१४-१७	उपर्युक्त के समान ही	= ३०

१. चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध के विस्तृत और क्रमबद्ध निरूपण के लिए देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द, पहली, पृष्ठ ६८-११०; जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६८-८७; महास्थविर ज्ञानातिलोक (गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ६-१३) ने विशेषतः निरूपण-शैली की दृष्टि से ही विवरण दिया है, अतः वह पूर्ण और क्रम-बद्ध नहीं है, किन्तु उनकी दी हुई सूचियाँ और तालिकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

१८-२१	प्रथम ३८ मे से करुणा और मुदिता को घटाकर	=३६

आ—अकुशल—चित्त

लोभ-मूलक	२२	१३ अन्य-समान+४ मूलभूत अकुशल+लोभ+मिथ्या दृष्टि	=१९
	२३	उपर्युक्त १९+स्त्यान और मृद्ध (कायिक और मानसिक आलस्य)	=२१
	२४	उपर्युक्त १९+मान—मिथ्या-दृष्टि	=१९
	२५	उपर्युक्त २१+मान—मिथ्या-दृष्टि	=२१
	२६	उपर्युक्त सख्या २२ के १९—प्रीति	=१८
	२७	उपर्युक्त १९—प्रीति—मिथ्यादृष्टि+मान	=१८
	२८	उपर्युक्त १९—प्रीति-मिथ्या-दृष्टि +मान	=१८
	२९	उपर्युक्त १९—प्रीति—स्त्यान+मृद्ध	=२०
द्वेष-मूलक	३०	उपर्युक्त १९—प्रीति—लोभ—मिथ्या-दृष्टि +द्वेष+ईर्ष्या+मात्सर्य+कौकृत्य (चिन्ता)	=२०
	३१	उपर्युक्त २०+स्त्यान+मृद्ध	=२२
मोह-मूलक	३२	१० अन्य-समान (प्रीति, अधिमोक्ष, छन्द ये तीन कुल सख्या मे से छोड दी गई है)+मोह+अहीरिक+अनोत्तप्प+उद्धच्च +विचिकिच्छा	=१५
	३३	उपर्युक्त १५—विचिकिच्छा+ अधिमोक्खो	=१५

इ-अव्याकृत-चित्त

(क) कर्म-विपाक

३४-३८ एवं ५०-५४ भी	७ सर्वचित्त-साधारण	= ७
३९ एव ५५ एव ४१ और ५६ भी	” उपर्युक्त ७+वितर्क+विचार+ अधिमोक्ष	= १०
४०	१३ अन्य समान मे से छन्द और प्रीति को घटाकर	= ११

४२-४९ = १-८, किन्तु—करुणा—मुदिता—सम्यक्वाणी—सम्यक् कर्म—सम्यक् कर्म—सम्यक् आजीव

५७-६९ = ९-२१

(ख) क्रिया-चित्त

७० = ३९

७१-७२ १३ में से छन्द और प्रीति को घटाकर = ११

७३-८० = १-८, किन्तु सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म एव सम्यक् आजीव को घटाकर

८१-८९ = ९-१७[१]

'धम्मसगणि' के प्रथम अध्याय या कांड (चित्तुप्पादकड) की विषय-वस्तु और शैली का परिचय ऊपर दिया गया है। वास्तव मे 'धम्मसगणि' का यही भाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दूसरा अध्याय 'रूप-कड' एक प्रकार इसी का पूरक है। प्रथम काड मे कुशल, अकुशल और अव्याकृत का वर्णन है। रूप भी अव्याकृत के अन्दर ही आता है। इसका वर्णन इस दूसरे कांड मे किया गया है। रूप का अर्थ है चार महाभूत और उनमे निर्मित सारा वस्तुजगत्। 'धम्मसगणि' मे कहा गया है 'चत्तारो च महाभूता चतुन्नच महाभूतान उपादाय रूप, इदं वुच्चति सब्ब रूप' अर्थात् चार महाभूत और चार महाभूतो के उपादानसे उत्पन्न सारा दृश्य रूपात्मक जगत्, यही कहलाता है रूप। इस प्रकार निर्दिष्ट रूप का वर्गीकरण ही इस कांड का प्रधान विषय है। १०४ प्रकार के दुक, १०३ प्रकार के त्रिक, २२ प्रकार के चतुष्क और इसी प्रकार ग्यारह तक अन्य अनेक प्रकार के वर्गीकरणों में दृश्य जगत् को यहाँ बाँटा गया है।[२] इन वर्गीकरणों में कुछ ऐसी प्रभावशीलता या मौलिकता नही है, जिसके लिए यहाँ इनका उद्धरण आवश्यक हो। शैली प्रायः वैसी ही है जैसी प्रथम कांड में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'धम्मसंगणि' के तीसरे और चौथे कांडों में पूर्व विवेचित वस्तु के ही संक्षेप है और अधिकतर प्रश्नोत्तर के रूप

१. देखिये ञाणतिलोक: गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १२ के सामने दी हुई तालिका

२. देखिये अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९०-९४

मे धम्मो के स्वरूप को उन वर्गीकरणो मे भी, जिनको पहले नही लिया जा सका है, समझा दिया गया है। तीसरे कांड (निक्खेप कड) और चौथे काड (अत्थुद्धारकड) में शेष २१ त्रिको और १०० द्विकों मे धम्मो का क्या स्वरूप होगा, इसी को प्रश्नोत्तर के द्वारा समझाया गया है। 'निक्खेप-कड' के कुछ प्रश्नोत्तरो को लीजिये--

(१) कतमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ?

यस्मि समये कामावचर कुसल चित्त उप्पन्न होति सोमनस्ससहगत ञाणसम्प-युत्त रूपारम्मण वा सद्दारम्मण वा गन्धारम्मण वा रसारम्मण वा फोट्ठब्बा-रम्मण वा धम्मारम्मण वा ये वा पन तस्मि समये अञ्ञेपि पटिच्चसमुप्पन्ना अरूपिनो धम्मा ठपेत्वा वेदनाक्खन्ध, इमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता।[1]

(२) कतमे धम्मा कुसला ?

तीणि कुसलमूलानि--अलोभो, अदोसो, अमोहो, तसम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, सखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, तसमुट्ठान कायकम्म, वचीकम्म, मनोकम्म, इमे धम्मा कुसला।[2]

(३) कतमे धम्मा सप्पच्चया ?

पचक्खन्धा, रूपक्खन्धो, वेदनाखन्धो सञ्ञाक्खन्धो, सखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, इमे धम्मा सप्पच्चया।[3]

---

१. कौन से धर्म (पदार्थ) सुख की संवेदना से युक्त हैं ? जिस समय कामावचर-भूमि में कुशल-चित्त उत्पन्न होता है, सौमनस्य और ज्ञान से युक्त, एवं रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म का आलम्बन ले कर, तो उस समय वह और अन्य भी प्रतीत्यसमुत्पन्न अरूपवान् पदार्थ, वेदना-स्कन्ध को छोड़ कर, जो उस समय पैदा होते हैं, वे सभी सुख की संवेदना से युक्त धर्म (पदार्थ) हैं। पालि-पाठ, अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५ में उद्धृत।

२. कौन से धर्म कुशल हैं ? तीन कुशल-मूल, यथा अलोभ, अद्वेष, अमोह, इनसे युक्त तीन स्कन्ध, यथा वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, इनसे उत्पन्न तीन प्रकार के कर्म यथा कायिक कर्म, वाचिक कर्म, मानसिक कर्म, यही सब धर्म कुशल हैं।

३. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले हैं ? पाँच स्कन्ध, जैसे कि रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, विज्ञान-स्कन्ध, यही धर्म प्रत्ययों वाले हैं।

(४) कतमे धम्मा अप्पच्चया ?

असखता धातु । इमे धम्मा अप्पच्चया[1] ।

'अत्थुद्धार-कंड' के भी कुछ उदाहरण देखिये—

(१) कतमे धम्मा हेतू चेव सहेतुका च ?

यत्थद्वे तयो हेतू एकतो उप्पज्जन्ति, इमे धम्मा हेतू चेव सहेतुका च[2] ।

नि सन्देह 'धम्मसगणि' की गणनात्मक शैली इतनी विचित्र है कि साहित्य का सामान्य विद्यार्थी उसमे रुचि नही ले सकता । उसमे तो 'कर्म' और 'अकर्म' के स्वरूप का गवेषी और उसके तत्वों को गूढ चेतना की तह और उसकी सारी भूमियो मे ढूंढने को उद्यत कोई साहित्यिक भिक्षु ही प्रवेश कर सकता है । क्या कुशल है और क्या अकुशल है, इनमे से किसी को भी स्वीकार कर लेने पर चित्त की क्या प्रगतियाँ अथवा अधोगतियाँ होती है, उनके क्या मानसिक निदान और लक्षण होते है, क्या प्रतिकार होते हैं, उनमें से क्या हेय है या क्या ग्राह्य है, इन सब की निष्पक्ष और मनोवैज्ञानिक गवेषणा मनुष्य को किसी भावी नैतिक चेतना-प्रधानयुग मे जब अभिप्रेत होगी तो 'धम्मसगणि' की पक्तियों के आलवालों मे फिर मणियो और मौतियो के थाले बनेगे । अभी तो हमने जहाँ कही से चुने हुए कुछ पुष्पो से उसकी अर्चना की है, जो भी इस किं-कुशल-गवेषणा-विहीन युग में कही अधिक है ।

विभंग[3]

विभंग अभिधम्म-पिटक का दूसरा ग्रन्थ है । 'विभग' का अर्थ है विस्तृत रूप मे विभाजन या विवरण । इसी अर्थ में यह शब्द भद्देकरत्त-सुत्तन्त (मज्झिम

---

१. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं ? असंस्कृत धातु। यही धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं।

२. कौन से धर्म स्वयं हेतु भी है और अन्य हेतुओं से युक्त भी है ? जहाँ दो-तीन हेतु एक जगह उत्पन्न होते है, तो यही धर्म स्वयं हेतु भी है और अन्य हेतुओं से युक्त भी है।

उपर्युक्त तथा अन्य पालि उद्धरणों के लिए देखिये भिक्षु जगदीशकाश्यप: अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५-१०३

३. श्रीमती रायस डेविड्स ने इस ग्रन्थ का सम्पादन रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट्

३।४।१) मे प्रयुक्त किया गया है । "भिक्षुओ ! तुम्हे भद्देकरत्त (भद्दैकरक्त) के उद्देग (नाम-कथन) और विभग (विभाग) का उपदेश करता हूँ, उसे सुनो, अच्छी तरह मन मे करो ।" विभंग मे धम्मसगणि के ही बृहद् विश्लेषण को वर्ग-बद्ध किया गया है, अतः यह उसका पूरक ग्रन्थ ही माना जा सकता है । धम्मसंगणि मे, जैसा हम अभी देख चुके हैं, धम्मो का अनेक द्विको और त्रिको में विश्लेषण किया गया है और यही उसका प्रधान विषय है । किन्तु धम्मों के स्वरूप को स्पष्टरूप से समझाने के लिए वहाँ इस प्रकार के भी प्रश्न किये गये है, जैसे किन-किन धम्मो मे कौन कौन से स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय आदि सनिविष्ट हैं । इस प्रकार के प्रश्नो का उद्देश्य वहाँ स्कन्ध आयतन और धातु आदि के सबध के साथ धम्मो के स्वरूप को समझाना ही है, न कि स्वय स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के स्वरूप का विनिश्चय करना । यह दूसरा काम विभग में किया गया है । धम्मसगणि का प्रधान विषय धम्मो का विश्लेषण मात्र कर देना है, उनका स्कन्ध, आयतन, और धातु आदि के रूप मे सश्लिष्ट वर्गीकरण करना विभग का विषय है । यद्यपि धम्मसगणि ने धम्मो का विश्लेषण करने के बाद अपूर्ण ढग से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनमे कौन कौन से स्कन्ध, आयतन और धातु आदि सनिविष्ट हैं, किन्तु विभग ने यही से उसके सूत्र को पकडकर उसके सारे गन्तव्य मार्ग को ही जैसे उल्टा मोड दिया है । विभंग मे इन स्कन्ध, आयतन और धातु आदि को ही प्रस्थान बिन्दु मानकर यह दिखाया गया है कि स्वयं इनमें कौन कौन से धम्म संनिविष्ट हैं । अत. वस्तु पूरक होते हुए भी वस्तु का विन्यास यहाँ धम्मसगणि के ठीक विपरीत है । यहाँ यह कह देना भी अप्रासगिक न होगा कि धम्मसगणि की १०० द्विकों और २२ त्रिको वाली वर्गीकरण की प्रणाली को भी, जिसका निर्देश उसकी 'मातिका' और निर्वाह सारे ग्रन्थ मे हुआ है. विभग ने आवश्यकतानुसार ज्यों का त्यो ले लिया है । अतः

सोसायटी, लंदन के लिए किया है, जिसे उक्त सोसायटी ने सन् १९०४ ई० में प्रकाशित किया है । इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं । सिंहली लिपि में हेवावितरणे-संस्करण अधिक ध्यान देने योग्य है । हिन्दी में कोई संस्करण या अनुवाद उपलब्ध नहीं ।

इस दृष्टि से भी वह उस पर अवलंबित है। इन्ही सब कारणों से विभंग का अध्ययन-क्रम बौद्ध परम्परा में सदा धम्मसंगणि के बाद ही माना जाता है।

विभग की विषय-वस्तु १८ विभागो या विभंगों में विभक्त की गई हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण है। विभग के १८ विभागो या विभगों के नाम इस प्रकार हैं--

(१) खन्ध-विभग---(स्कन्ध-विभग)
(२) आयतन-विभग---(आयतन-विभंग)
(३) धातु-विभग---(धातु विभग)
(४) सच्च-विभग---(सत्य-विभग)
(५) इन्द्रिय-विभग---(इन्द्रिय-विभग)
(६) पच्चयाकार-विभंग---(प्रत्ययाकार-विभग)
(७) सतिपट्ठान-विभग---(स्मृतिप्रस्थान-विभंग)
(८) सम्मप्पधान-विभग---(सम्यक्-प्रधान-विभग)
(९) इद्धिपाद-विभग---(ऋद्धिपाद-विभग)
(१०) बोज्झंग-विभंग---(बोध्यंग-विभंग)
(११) मग्ग-विभग---(मार्ग-विभंग)
(१२) झान-विभग---(ध्यान-विभग)
(१३) अप्पमञ्ञा-विभंग---(अ-परिमाण-विभग)
(१४) सिक्खापद-विभग---(शिक्षापद-विभग)
(१५) पटिसम्भिदा-विभग---(प्रतिसम्विद्-विभग)
(१६) ञाण-विभग---(ज्ञान-विभग)
(१७) खुद्दक-वत्थु-विभग---(क्षुद्रक-वस्तु-विभग)
(१८) धम्म-हृदय-विभंग---(धर्म-हृदय-विभंग)

प्रत्येक विभग का नाम उसकी विषय-वस्तु के स्वरूप का सूचक है। प्रायः प्रत्येक ही विभग तीन अगो में विभक्त है, (१) सुत्तन्तभाजनिय, (२) अभिधम्म-भाजनिय, (३) पञ्ह-पुच्छकं। सुत्तन्त-भाजनिय में विभक्त की जाने वाली

विषय-वस्तु का सुतन्त आधार दिखलाया गया है, अर्थात् जिस विषय का वर्णन करना है वह किस सीमा तक या किस स्वरूप मे सुत्त-पिटक में पाया जाता है, इसका निर्देश किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय मे उसकी अभिधम्म या उसके आधार-स्वरूप 'मातिका' के अनुसार व्याख्या है। 'पञ्ह-पुच्छक' मे 'द्विक' 'त्रिक' आदि शीर्षको के रूप मे प्रश्नोत्तर हैं, जिनमे सपूर्ण निरूपित विषय का सिहावलोकन एव सक्षेप है। अब हम प्रत्येक विभग की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण देगे।

१—खन्ध-विभंग

(पाँच स्कन्धों का विवरण)

जिसे हम व्यक्तिगत सत्ता (जीवात्मा, पुद्गल) कहते है, वह रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान की समष्टि के सिवा और कुछ नही है, ऐमी बौद्ध दर्शन की मान्यता है। रूप स्वय सपूर्ण भौतिक विकारो और अवस्थाओ की समष्टि है। वेदना सपूर्ण सवेदनो की समष्टि है। सज्ञा सपूर्ण सजानन या जानने की क्रिया की, वस्तु और इन्द्रिय के सयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था की, जिसमे उसे वस्तु की सत्ता की सूचना मिलती है, दूसरे शब्दो मे समग्र प्रत्यक्षो की, समष्टि है। इसी प्रकार सस्कार बाहय और आन्तरिक स्पर्शों (इन्द्रिय-विषय-सनिकर्षों) के कारण से उत्पन्न समग्र मानसिक सस्करणो की और विज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियो के, तत्सबधी रूपादि विषयो या आलम्बनो-आयतनो के साथ सयुक्त होने पर उत्पन्न, चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानो पर आधारित समग्र चित्त-भेदो की समष्टि है। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान का ही सामूहिक नाम 'पच-स्कन्ध' है। इन पाँचो स्कन्धो मे ही सपूर्ण नाम-रूप-मय जगत् के मूल तत्व निहित है, ऐसा बौद्ध दर्शन मानता है। 'पञ्च-स्कन्ध' के विषय को उपन्यस्त करते हुए विभंग के आरभ मे ही कहा गया है—पञ्चक्खन्धा . रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, सखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो। इन पञ्चस्कन्धों का सुत्तन्त आधार दिखाते हुए सुत्तन्त-भाजनिय मे उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है, जिसमे इन पाँच स्कन्धों मे से प्रत्येक के विषय में यह साधारण कथन किया गया

है कि वह भूत, वर्तमान या भविष्य का भी हो सकता है, व्यक्ति के बाहर या भीतर का भी हो सकता है, स्थूल या सूक्ष्म भी हो सकता है, शुभ या अशुभ भी हो सकता है, दूर का या समीप का भी हो सकता है । रूप-विषयक उद्धरण यह है, "जो कुछ भी रूप है, भूत (अतीत) का, या वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) का, या भविष्यत् (अनागत) का, व्यक्ति के बाहर का (बहिद्धा) या भीतर (अज्झत्तं) का, स्थूल (ओळारिक), या सूक्ष्म (सुखुम), शुभ (कुशल), या अशुभ (अकुशल), दूर का (दूरे), या समीप का (सन्तिके), उस सब की समष्टि ही रूप-स्कन्ध है ।" वेदनादि स्कन्धो के विषय मे भी कुछ थोडे-बहुत अन्तर से इसी क्रम का अनुसरण किया गया है । अभिधम्म-भाजनिय में पञ्च-स्कन्ध की व्याख्या है । रूप के विवेचन में २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर अक्षरश: वही प्रणाली बरती गई है जो धम्मसंगणि में । अत उसमें कुछ नवीनता नही है । शेष चार स्कन्धो के विवरणों मे भी यद्यपि विषय और शैली की दृष्टि से कुछ नवीनता नही है, किन्तु इनके अलग अलग विवरण धम्मसगणि की विषय-वस्तु को अधिक स्पष्ट कर देते है । वेदना के विषय में बताया गया है कि वह सदा स्पर्श (फस्सो-इन्द्रिय-विषय सनिकर्ष) पर आधारित है । वह लौकिक भी हो सकती है और अलौकिक भी, वितर्कादि से युक्त भी और उनसे रहित भी, सुख से युक्त भी, दु:ख से युक्त भी, न-सुख न-दुःख से युक्त भी । कामावचर-भूमि या अरू-पावचर-भूमि की भी हो सकती है, चक्षु-सस्पर्श से भी युक्त हो सकती है, श्रोत्र-सस्पर्श से भी, आदि, आदि । एक सख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणो मे वेदना-स्कन्ध का विस्तृत विवरण इस प्रकार किया गया है--

१--वेदना-स्कन्ध

२. (१) सहेतुक (२) अहेतुक

३. (१) कुशल (२) अकुशल (३) अव्याकृत

४. (१) कामावचर (२) रूपावचर (३) अरूपावचर (४) अपरिया-पन्न (व्यक्तिगत जीवन-सत्ता से असम्बन्धित)

५. (१) सुखेन्द्रिय (२) दु.खेन्द्रिय (३) सौमनस्येन्द्रिय (४) दौर्मनस्ये-न्द्रिय (५) उपेक्षेन्द्रिय

६. (१) चक्षु-सस्पर्शजा (२) श्रोत्र-सस्पर्शजा (३) घ्राण-सस्पर्शजा (४) जिह्वा-सस्पर्शजा (५) काय-सस्पर्शजा (६) मनो-सस्पर्शजा

७. (१) चक्षु-सस्पर्शजा, (२) श्रोत्र-सस्पर्शजा (३) घ्राण-सस्पर्शजा (४) जिह्वा-सस्पर्शजा, (५) काय-सस्पर्शजा (६) मनोधातु-सम्पर्शजा (७) मनोविज्ञानधातु-सस्पर्शजा

८. (१) चक्षु-सस्पर्शजा (२) श्रोत्र-सस्पर्शजा (३) घ्राण-सस्पर्शजा (४) जिह्वा-सस्पर्शजा (५) सुखाकाय-समस्पर्शजा (६) दु.खकाय-सस्पर्शजा (७) मनोधातु-सस्पर्शजा (८) मनोविज्ञानधातु-सस्पशजा

९. (१) चक्षु-सस्पर्शजा (२) श्रोत्र-सर्स्पर्शजा (३) घ्राण-सस्पर्शजा (४) जिह्वासस्पर्शजा (५) काय-सस्पर्शजा (६) मनोधातु-सस्पर्शजा (७) कुशला मनोविज्ञानधातुसंस्पर्शजा (८) अकुशला मनोविज्ञानधातुसस्पर्शजा (९) अव्याकृता मनोविज्ञानधातुसस्पर्शजा

१०. (१) चक्षु-सस्पर्शजा (२) श्रोत्र-सस्पर्शजा (३) घ्राण-सस्पर्शजा (४) जिह्वा-सस्पर्शजा (५) काय-सस्पर्शजा (६) सुखा मनोधातु सस्पर्शजा (७) दु खा मनोधातु सस्पर्शजा (८) कुशला मनोविज्ञानधातु सस्पर्शजा (९) अकुशला मनोविज्ञानधातु सस्पर्शजा (१०) अव्याकृता मनोविज्ञानधातु सस्पर्शजा ।

उपर्युक्त सूचो मे कई सख्याएँ अनेक बार सगृहीत है । अभिधम्म के परिगणनों मे यह बात नई नही है । गणनाओं के पीछे पड जाने की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है । सज्ञा, सस्कार, और विज्ञान स्कन्धो का विवरण भी जहाँ-तहाँ अल्प परिवर्तनो के साथ वेदना-स्कन्ध के समान ही दिया गया है । पञ्ह-पुच्छक विभाग मे प्रश्न है, जैसे पञ्चान खन्धान कति कुसला ? कति अकुसला ? कति अव्याकता ? अर्थात् पाँच स्कन्धो मे से कितने कुशल है ? कितने अकुशल ? कितने अव्याकृत ? इसी प्रकार कति सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? अर्थात् कितने सुख की

वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त हैं, और कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं ? इनके फिर उत्तर दिये गये हैं। उदाहरणतः ऊपर उद्धृत प्रथम त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर दिया गया है--रूपक्खन्धो अब्याकतो। चत्तारो खन्धा सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अकुसला, सिया अब्याकता, अर्थात् रूप-स्कन्ध अव्याकृत है। शेष चार स्कन्ध (वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी। ऊपर उद्धृत द्वितीय त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर इस प्रकार दिया गया है--द्वे खन्धा न वत्तब्बा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि. दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि। तयो खन्धा सिया सुखाय, दुक्खाय अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता। इसका अर्थ यह है--दो स्कन्धों (रूप और वेदना) के विषय में तो न तो ऐसा ही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं और न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं। शेष तीन स्कन्ध (संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं, दुःख की वेदना से भी और-न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। ये उदाहरण सिर्फ शैली का दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए दिये गये हैं। अन्यथा इस प्रश्नोत्तरी में एक-एक करके वे सभी २२ त्रिक और १०० द्विक के वर्गीकरण सन्निहित हैं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। उत्तरों की यह विशेषता है कि वे संक्षिप्त होने के साथ-साथ स्कन्धों का नाम ले ले कर निर्देश नहीं करते, बल्कि उनकी केवल संख्या गिना देते हैं।

२--आयतन-विभंग

(१२ आयतनों या आधारों का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में १२ आयतनों का उल्लेख है, जैसे कि

१. चक्षु-आयतन	७. जिह्वा-आयतन
२. रूप-आयतन	८. रस-आयतन
३. श्रोत्र-आयतन	९. काय-आयतन
४. शब्द-आयतन	१०. स्पृष्टव्य-आयतन
५. घ्राण-आयतन	११. मन-आयतन
६. गन्ध-आयतन	१२. धर्म-आयतन

ये सब आयतन अनित्य, दुःख और अनात्म है, इतना ही कहकर सुत्तन्त-भाजनिय समाप्त हो जाता है। अभिधम्म भाजनिय में उपर्युक्त १२ आयतनों के स्वरूप की व्याख्या की गई है। "क्या है चक्षु-आयतन ? यह चक्षु, जो चार महाभूतो से उत्पन्न, व्यक्तिगत सत्ता से अभिन्न रूप से सबधित, अनुभूति (पसाद) रूपी स्वभाववाली, प्रत्यक्ष का अविषय (अनिदस्स—क्योंकि प्रत्यक्ष तो केवल रग, प्रकाश आदि के अनुभवो का होता है) किन्तु साथ ही इन्द्रिय अनुभवो पर प्रतिक्रिया करनेवाली (सप्पटिघ) है—यही अदृश्य चक्षु, जिसकी इन्द्रिय अनुभवो पर प्रतिक्रिया के कारण व्यक्ति अनुभव करता है कि उसने किसी दृश्य पदार्थ को देखा है, देखता है, या देखेगा, यही कहलाता है चक्षु-आयतन।" इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण जिह्वा और काय-सबधी आयतनो की भी व्याख्या की गई है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय सबधी विज्ञानो, मनोधातु और मनोविज्ञानधातु के समष्टिगत स्वरूप को ही 'मन-आयतन' कहा गया है। चार महाभूतो से उत्पन्न सपूर्ण भौतिक व्यापार, जो रंग आदि के रूप मे दिखाई पड़ता है, 'रूपायतन' कहा गया है। बारह आयतनो मे से पाँच इन्द्रिय आयतनो (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) और पाँच विषय-आयतनो (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य), इन दस आयतनो को भौतिक कहा गया है और मन-आयतन को मानसिक। धर्म-आयतन भौतिक भी हो सकता है और मानसिक भी, अतीत का भी, वर्तमान का भी, और भविष्यत् का भी, वास्तविक भी, और काल्पनिक भी। 'पञ्ह पुच्छक' मे स्कन्ध-विभग के नमूने पर ही प्रश्न है, यथा (१) दादसायतनानं कति कुसला ? कति अकुसला ? कति अव्याकता ? अर्थात् १२ आयतनो मे से कितने कुशल है, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत ? (२) कति सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति दुक्खाय वेदनाय सम्मयुत्ता ? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? अर्थात् कितने सुख की वेदना से युक्त है ? कितने दुःख की वेदना से युक्त है ? कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त है ? आदि, आदि। इनके उत्तर भी क्रमश देखिए, (१) दस आयतन (चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय, स्पृष्टव्य) अव्याकृत है। दो आयतन (मन और धर्म) कुशल भी हो सकते है, अकुशल भी और अव्याकृत भी—"सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता।" (२) दस आयतनो के विषय मे न तो निश्चयपूर्वक

यही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं और न यही कि वे न सुख-दुःख की वेदना से युक्त हैं। मन-आयतन सुख की वेदना से युक्त भी हो सकता है, दुःख की वेदना से युक्त भी और न-सुख-न-दुख की वेदना से युक्त भी। इसी प्रकार धर्म आयतन सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से ही, आदि।

३—धातु-विभंग

(१८ धातुओं का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में छह-छह के तीन वर्गीकरणों में १८ धातुओं का विवरण इस प्रकार किया गया है—

(अ) पृथ्वी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु, आकाश-धातु, विज्ञान-धातु

(आ) सुख-धातु, दुःख-धातु, सौमनस्य-धातु, दौर्मनस्य-धातु, उपेक्षा-धातु, अविद्या-धातु

(इ) काम-धातु, व्यापाद-धातु, विहिंसा-धातु, निष्कामता-धातु, अव्यापाद-धातु, अ-विहिंसा धातु।

अभिधम्म-भाजनिय में १८ धातुओं की गणना दूसरे प्रकार से की गई है, जो इस प्रकार है—

१. चक्षु	७. घ्राण	१३. काय
२. रूप	८. गन्ध	१४. स्पृष्टव्य
३. चक्षु-विज्ञान	९. घ्राण-विज्ञान	१५. काय-विज्ञान
४. श्रोत्र	१०. जिह्वा	१६. मन
५. शब्द	११. रस	१७. धर्म
६. श्रोत्र-विज्ञान	१२. जिह्वा-विज्ञान	१८. मनोविज्ञान

इन अठारह धातुओं मे चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय और स्प्रष्टव्य, ये दस धातुएँ भौतिक हैं। अत वे रूपस्कन्ध मे सम्मिलित हैं। चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन, और मनो विज्ञान, ये सात धातुएँ मानसिक हैं। धर्म-धातु अशत मानसिक और अशतः भौतिक है। चक्षु और रूप के सयोग से उत्पन्न चित्त की अवस्था का नाम चक्षु-विज्ञान है। इसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान आदि के विषय मे भी नियम है। मनो-धातु, चक्षु-विज्ञान आदि विज्ञानो के बाद, द्रष्टा और दृश्य के सयोग के ठीक अनन्तर, उत्पन्न हुई चित्त की अवस्था का नाम है। मनोविज्ञान-धातु मन और धर्मों के संयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था का नाम है, जो मनो-धातु के बाद उत्पन्न होती है। 'पञ्हपुच्छक' मे फिर उसी क्रम से प्रश्न है, जैसे प्रथम दो विभगों में, यथा (१) १८ धातुओ मे से कितनी कुशल हैं, कितनी अकुशल और कितनी अव्याकृत ? (२) कितनी सुख की वेदना से युक्त है ? कितनी दुःख की वेदना से युक्त है ? कितनी न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त ? आदि, आदि। इनके उत्तर भी ध्यान देने योग्य है (१) १६ धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान को छोड कर शेष सब) अव्याकृत है। दो धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान) कुशल भी हो सकती है, अकुशल भी, और अकुशल भी 'सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता'। (२) दस धातुओ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य) के विषय मे निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि वे सुख की वेदना से युक्त है, या दुःख की वेदना से युक्त है या न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त है। पाँच धातुएँ (चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन) न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त है। काय-विज्ञान-धातु सुख की वेदना से भी युक्त हो सकती है और दुःख की वेदना से भी। मनोविज्ञान-धातु सुख, दुःख और न-सुख-न-दुःख, इन तीनो वेदनाओ मे किसी से भी युक्त हो सकती है। इसी प्रकार धर्म-धातु भी इन तीनों वेदनाओं मे से किसी से युक्त हो सकती और उसके विषय मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि या तो वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से या न-सुख-न-दुःख की वेदना से, आदि, आदि।

४—सच्च-विभंग

(चार आर्य-सत्यों का विवरण)

पहले, सुत्तन्त-भाजनिय में सुत्तों (विशेषतः दीघ-निकाय के महासति-पट्ठान-सुत्त एवं इस प्रकार के अन्य बुद्ध-वचनों) की भाषा में चार आर्य-सत्यों की प्रस्तावना करते हुए कहा गया है—'चत्तारि अरिय-सच्चानि : दुक्खं अरिय-सच्च, दुक्खसमुदय अरियसच्च, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्च' अर्थात् ये चार आर्य-सत्य हैं—दु.ख आर्य-सत्य, दु.ख-समुदय आर्य-सत्य, दु.ख-निरोध आर्य-सत्य, दु.ख-निरोध-गामी मार्ग आर्य-सत्य। अभिधम्म-भाजनिय मे इनकी अभिधम्म के अनुसार व्याख्या है। तृष्णा और चित्त-मलों को दु.ख-समुदय का प्रधान कारण माना गया है और इनके निरोध को दु.ख-निरोध का भी प्रधान कारण। दु.ख-निरोधी-गामी मार्ग की व्याख्या निर्वाण-सम्बन्धी ध्यान के रूप मे की गयी है, जिसकी भूमियों का निरूपण 'धम्म सगणि' मे हो चुका है। 'पञ्हपुच्छक' मे चार आर्य सत्यो के विषय में उसी प्रकार के प्रश्न किये गये है, जैसे पूर्व के विभंगो मे, यथा (१) चार आर्य सत्यो मे कितने कुशल है ? कितने अकुशल ? कितने अव्याकृत ? (२) कितने सुख की वेदना मे युक्त हैं, कितने दु.ख की वेदना से युक्त , कितने न-सुख-न-दु.ख की वेदना से युक्त ? इनके उत्तर इस प्रकार हैं (१) समुदय-सत्य अकुशल है। मार्ग-सत्य कुशल है। निरोध-सत्य अव्याकृत है। दु.ख-सत्य, कुशल भी हो सकता है, अकुशल भी और अव्याकृत भी। (२) दो सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते है और न-सुख-न-दु.ख की वेदना से युक्त भी। निरोध-सत्य के विषय मे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह तीनों प्रकार की वेदनाओ मे से किसमे युक्त है। दु.ख-सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दु.ख की वेदना से भी और न-सुख-न-दु.ख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से युक्त है, या दुःख की वेदना से या न-सुख-न-दु.ख की वेदना से। दुःख-सत्य को सुख की वेदना से भी युक्त मानकर 'विभंग' ने उसको वह विस्तृत अर्थ दिया है जिसकी स्मृति भगवान् बुद्ध के साथ-साथ महर्षि पतञ्जलि ने भी दिलाई है "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)

५—इन्द्रिय-विभंग

(२२ इन्द्रियों का विवरण)

इस विभग मे २२ इन्द्रियों का सुत्तन्त के आधार पर विवरण है जिनकी संख्या इस प्रकार है—

१. चक्षु
२. श्रोत्र
३ घ्राण
४. जिह्वा
५ काय
६ मन
} छह इन्द्रिय

७. स्त्रीत्व

८. पुरुषत्व

९ जीवित-इन्द्रिय

१०. सुख (शारीरिक)
११ दुःख (मानसिक)
१२ चित्त की प्रसन्नता (सौमनस्य)
१३ चित्त की खिन्नता (दौर्मनस्य)
१४ उपेक्षा,
} पाँच प्रकार की वेदनाएँ

१५. श्रद्धा
१६ वीर्य
१७. स्मृति
१८. समाधि
१९. प्रज्ञा
} पाँच नैतिक इन्द्रियाँ

२० "मैं अज्ञात को जानगा" यह सकल्प (अनञ्ञात ञस्सामीतिन्द्रिय)
२१ परिपूर्ण ज्ञान (अञ्ञा)
२२. "जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया" तत्सम्बन्धी इन्द्रिय (अञ्ञाताविन्द्रिय)
} तीन लोकोत्तर इन्द्रिय

उपर्युक्त २२ इन्द्रियों की व्याख्या और अन्त मे (पञ्हपुच्छकं) प्रश्नोत्तरों के रूप मे उनका कुशल, अकुशल और अव्याकृत आदि के रूप मे विभाजन, इतना ही इस विभग का विषय है ।

६—पच्चयाकार-विभंग

(प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण)

इस विभंग में प्रतीत्य समुत्पाद का वर्णन है। सुत्तन्त-भाजनिय मे पहले सुत्तन्त का यह उद्धरण है "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार-चेतना की उत्पत्ति, संस्कार-चेतना के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप की उत्पत्ति, नाम और रूप के प्रत्यय से छ आयतनों की उत्पत्ति, छः आयतनो के प्रत्यय से स्पर्श की उत्पत्ति, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना की उत्पत्ति, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा की उत्पत्ति, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान की उत्पत्ति, उपादान के प्रत्यय से भव की उत्पत्ति, भव के प्रत्यय से जन्म की उत्पत्ति, जन्म के प्रत्यय से जरा-मरण, दुःख, शोक आदि की उत्पत्ति" प्रतीत्य समुत्पाद मे प्रयुक्त १२ निदानो की व्याख्या यहाँ निदान-संयुत्त के समान ही की गई है। अभिधम्म-भाजनिय में से उन २४ प्रत्ययो का उल्लेख है, जिनके आधार पर भौतिक और मानसिक जगत् मे उत्पत्ति और निरोध का व्यापार चलता है। इन प्रत्ययो का विस्तृत विवेचन आगे चल कर पूरे ग्रन्थ 'पट्ठान-प्रकरण' मे किया गया है। इस विभंग के अन्त मे प्रश्नोत्तर रूप में प्रतीत्य समुत्पाद के विभिन्न अगो में कौन कुशल, अकुशल आदि है, इसका विवेचन पूर्ववत् ही किया गया है।

७—सतिपट्ठान-विभंग

(चार स्मृति-प्रस्थानों का विवरण)

काया में कायानुपश्यी होना, वेदना में वेदनानुपश्यी होना, चित्त मे चित्तानु-पश्यी होना और धर्मो में धर्मानुपश्यी होना, यही चार स्मृति-प्रस्थान है, जिनका विस्तृत उपदेश सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०) जैसे सुत्तन्त के अगो में दिया गया है। इस विभंग के सुत्तन्त-भाजनिय में इसी का संक्षेप कर दिया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखाया गया है कि इनकी भावना लोको-त्तर ध्यान में किस प्रकार होती है। 'पञ्ह पुच्छकं' में इनका विभाजन कुशल, अकुशल आदि के रूप में किया गया है। इनमें अकुशल कोई नहीं है। चारो स्मृति-प्रस्थान या तो कुशल होते है या अव्याकृत। अर्हत् की चित्त-अवस्था में आगे के

लिये कर्म-विपाक नही बनते। अत. उस हालत मे वे बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में 'किरिया' (क्रिया-मात्र) होते हैं।

८—सम्मप्पधान-विभंग

(चार सम्यक् प्रधानों का विवरण)

(१) अकुशल अवस्थाओ से बचना (२) उन पर विजय प्राप्त करना (३) कुशल अवस्थाओ का विकास करना (४) विकसित कुशल अवस्थाओ को बनाये रखना, यही चार सम्यक् प्रधान हैं। सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम-१।१।१०) के आधार पर इनका वर्णन किया गया है और अभिधम्म-भाजनिय मे केवल यह अधिक दिखला दिया गया है कि लोकोत्तर-ध्यान की अवस्था मे ये किस प्रकार विद्यमान रहते हैं।

९—इद्धिपाद-विभंग

(४ ऋद्धियों का विवरण)

चार ऋद्धियाँ हैं, दृढ सकल्प की एकाग्रता (छन्द-समाधि), वीर्य की एकाग्रता (विरिय-समाधि), चित्त की एकाग्रता (चित्त-समाधि) और गवेषणा की एकाग्रता (वीमसा-समाधि)। यहाँ यह भी दिखाया गया है कि चार ऋद्धियों का चार सम्यक्-प्रधानो से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है।

१०—बोज्झङ्ग-विभंग

(बोधि के सात अगो का विवरण)

बोधि के सात अग है, स्मृति (सति), धर्म की गवेषणा (धम्म-विचय), वीर्य (विरिय), प्रीति (पीति), चित्त-शान्ति या प्रश्रब्धि (पस्सद्धि), समाधि और उपेक्षा (उपेक्खा)। मज्झिम-निकाय के आनापान-सति-सुत्त के समान ही इनका यहाँ निर्देश है। अभिधम्म-भाजनिय मे अवश्य इन विभिन्न अंगो की अभिधम्म की शब्दावली मे व्याख्या की गई है और बाद मे कुशल आदि के रूप म उनका विभाजन किया गया है।

११—मग्ग-विभंग

(आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विवरण)

आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विवरण यहाँ सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम. १।१।१०) के अनुसार ही है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का निर्देश करने के बाद प्रत्येक की व्याख्या की गई है और फिर अन्त में प्रश्नोत्तर के रूप में उन्हें कुशलादि के वर्गीकरणो मे बाँटा गया है।

१२—झान-विभंग

(चार ध्यानो का विवरण)

सर्व-प्रथम सुत्तन्त-भाजनिय मे चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।७) के उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है जिसमे चार ध्यानो का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण हम उसे यहाँ उद्धृत करेंगे। 'भिक्षुओ! भिक्षु इस आर्य-सदाचार से युक्त हो, इस आर्य इन्द्रिय-सयम से युक्त हो, स्मृति और ज्ञान से युक्त हो, किसी एकान्त-स्थान में रहता है जैसे अरण्य, वृक्ष की छाया, पर्वत, कन्दरा, गुफा, श्मशान, जगल, खुले आकाश के नीचे या पुआल के ढेर पर। वह पिडपात से लौट भोजन कर चुकने के बाद आसनी मार शरीर को सीधा रख स्मृति को सामने कर बैठता है . . . .वह चित्त के उपक्लेश, प्रज्ञा को दुर्बल करने वाले, पाँच बन्धनो को छोड़, काम-वितर्क से रहित हो, बुरे विचारो से रहित होकर, प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विचरता है। इस ध्यान मे वितर्क और विचार रहते है। एकान्त-वास से यह ध्यान उत्पन्न होता है। इसमे प्रीति और सुख भी रहते है. . फिर भिक्षुओ! भिक्षु वितर्क और विचारो के उपशमन से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता रूपी द्वितीय -ध्यान को प्राप्त करता है। इसमे न वितर्क होते हैं, न विचार। यह समाधि से उत्पन्न होता है। इसमे प्रीति और सुख रहते है।..... फिर भिक्षुओ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो, उपेक्षावान् बन कर विचरता है। वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से सुख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पडित जन 'उपेक्षावान्, स्मृतिमान् सुखपूर्वक विहार करने वाला' कहते है।

फिर भिक्षुओ ! भिक्षु दुख और सुख-दोनो के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य दोनो के पहले से ही अस्त हुए रहने से, चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त करता है। इसमे न दुख होता है न सुख। केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि यहाँ होती है।" इसी बुद्ध-वचन के आधार पर अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखलाया गया है कि प्रथम ध्यान के पाँच अवयव होते है, यथा, वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि। द्वितीय ध्यान के तीन, यथा प्रीति, सुख और समाधि। तृतीय ध्यान मे केवल दो रह जाते है, सुख और समाधि और चौथे मे भी केवल दो, उपेक्षा और समाधि। 'पञ्ह-पुच्छक' में यही दिखलाया गया है कि ध्यान कुशल भी हो सकते है और अव्याकृत भी। चार स्मृति-प्रस्थानों की तरह ये भी अर्हत् के चित्त के लिये भविष्य का कर्म-विपाक बनाने वाले नहीं होते। दूसरे शब्दो मे वे उसके लिये 'किरिया-चित्त' होते है।

१३—अप्पमञ्ञ-विभंग

(चार अ-परिमाण अवस्थाओ का विवेचन)

मैत्री (मेत्ता), करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इनको अपरिमाण वाली अवस्थाए कहा गया है। इसका कारण यह है कि इन्हे कहाँ तक बढाया जा सकता है, इसकी कोई हद नही। इन्ही को 'ब्रह्म-विहार' भी कहते है। पतंजलि की भाषा मे इन्हे 'सार्वभौम महाव्रत' भी कहा जा सकता है। पातञ्जल योग-दर्शन (१।३३) मे इन चार अवस्थाओ के विकास का उपदेश दिया गया है। इस विभग में इन चार अवस्थाओ का विवरण और चार ध्यानो के साथ उनका सम्बन्ध दिखलाया गया है।

१४—सिक्खापद-विभंग

(पाँच शिक्षापदों का विवरण)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य और मद्यपान, इनमे विरत रहना ही सदाचार के पाँच सार्वजनीन नियम हैं, जिनका यहाँ विवरण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१५—पटिसम्भिदा-विभंग

(चार प्रतिसंविदों का विवरण)

चार प्रतिसंविदो या विश्लेषणात्मक ज्ञानो का इस विभग में वर्णन किया गया है, यथा (१) अर्थ-सम्बन्धी ज्ञान (अत्थ पटिसम्भिदा) (२) धर्म-सम्बन्धी ज्ञान (धम्म पटिसम्भिदा) (३) शब्द-व्याख्या-सम्बन्धी ज्ञान (निरुत्ति पटिसम्भिदा) और (४) ज्ञान-दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान (पटिभान पटिसम्भिदा)।

१६—ञाण-विभंग

(नाना प्रकार के ज्ञानो का विवरण)

इस विभग मे नाना प्रकार के ज्ञानो का विवरण है, यथा लौकिक ज्ञान, अलौकिक ज्ञान, आदि, आदि। इस विभग का तीन प्रकार का ज्ञान-विवरण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्रज्ञा की यहाँ तीन क्रमिक अवस्थाएँ बतलायी गयी है, यथा श्रुतमयी प्रज्ञा (सुतमया पञ्ञा) चिन्ता-मयी प्रज्ञा (चिन्तामयापञ्ञा) और भावना-मयी प्रज्ञा (भावनामया पञ्ञा)। शास्त्रादि ग्रन्थो के श्रवण या पठनादि से उत्पन्न ज्ञान 'श्रुतमयी प्रज्ञा' है। वह सुना हुआ है, स्वयं का अनुभव या चिन्तन उसमे नहीं है। इसके बाद चिन्ता-मयी प्रज्ञा है, जिसमे अपनी बुद्धि का चिन्तन सम्मिलित है। किन्तु इससे भी ऊंचा एक ज्ञान है, जिसका नाम है 'भावना-मयी प्रज्ञा'। यह प्रज्ञा न केवल शास्त्रीय या बौद्धिक आधारो पर प्रतिष्ठित है, बल्कि इसमे सम्पूर्ण सदाचार-समूह के पालन से उत्पन्न चित्त की उस समाधि की गम्भीरता भी सन्निहित है, जो कुशल चित्त मे ही प्राप्त की जा सकती है। यह तीन प्रकार का ज्ञान-वर्गीकरण निश्चय ही बड़ा मार्मिक है।

१७—खुद्दक-वत्थु-विभंग

(छोटी-छोटी बातो का विवरण)

इस विभंग मे आस्रवों (चित्त-मलों) आदि के अनेक प्रकारो का वर्णन किया गया है।

१८—धम्म-हदय-विभंग

(धर्म के हृदय का विवरण)

अब तक के विभंगो में जो कुछ वर्णन किया जा चुका है, उसी का प्रश्नोत्तर

के रूप में यहाँ सिंहावलोकन है। चूंकि इसमें धर्म के सब तत्व अपने आप आ गये हैं, इसलिये इसे 'धर्म का हृदय' कहा गया है। कुछ प्रश्नों की बानगी देखिये— कितने धर्म काम-धातु में प्राप्त होते हैं ? कितने रूप-धातु में ? कितने अरूप-धातु में ? कितने कामावचर हैं ? कितने रूपावचर ? कितने अरूपावचर ? कितने छोड़ने योग्य ? कितने भावना करने योग्य ? आदि, आदि। गीतोक्त भगवान् की विभूतियों की तरह इनका कहीं अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिये इनका संक्षेप देने का भी यहाँ प्रयत्न नहीं किया गया।

धातुकथा[1]

विभंग के १८ विभंगों में से स्कन्ध, आयतन और धातु, इन प्रथम तीन विभंगों को चुनकर उनका विशेष अध्ययन धातुकथा में किया गया है। स्कन्ध आयतन और धातु, यही धातुकथा के विषय हैं। अतः उसका पूरा नाम ही, जैसा महास्थविर ज्ञानातिलोक ने कहा है, 'खन्ध-आयतन-धातु-कथा' होना चाहिये। धातुकथा के विषय-प्रतिपादन की एक विशेष शैली यह है कि यहाँ स्कन्ध, आयतन और धातुओं का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखलाया गया है। इन धर्मों की संख्या उसकी 'मातिका' के अनुसार १२५ है, जो इस प्रकार है, ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातुएँ, ४ सत्य, २२ इन्द्रिय, प्रतीत्य समुत्पाद, ४ स्मृति-प्रस्थान ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ आर्य-मार्ग के अंग, स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनसिकार। किस-किस स्कन्ध, आयतन या विभंग में कौन-कौन धर्म सम्मिलित (संगहित), अ-सम्मिलित (असंगहित), संयुक्त (सम्प्रयुक्त) या वियुक्त (विप्पयुत्त) आदि हैं, इसी का विवेचन १४ अध्यायों में प्रश्नोत्तर ढंग से किया गया है, जिसकी रूपरेखा इस प्रकार है—

---

१. ई० आर० गुणरत्न द्वारा अट्ठकथा-सहित पालि टैक्सट् सोसायटी के लिए सम्पादित। उक्त सोसायटी द्वारा सन् १८९२ में रोमन लिपि में प्रकाशित। इस ग्रन्थ के सिंहली, बर्मी एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। हिन्दी में न संस्करण है और न अनुवाद।

१. सम्मिलन और अ-सम्मिलन (संगहो असंगहो) : इस अध्याय में यह दिख-लाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे कौन-कौन से धर्म सम्मिलित है या अ-सम्मिलित है।

२. सम्मिलित और अ-सम्मिलित (सगहितेन असंगहित) : यहाँ यह दिख-लाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं मे वे धर्म असम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ समान स्कन्ध मे सम्मिलित है, किन्तु समान धातु और आयतन मे सम्मिलित नही है।

३ अ-सम्मिलित और सम्मिलित (असगहितेन संगहित) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे वे धर्म सम्मिलित है, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ समान स्कन्ध मे सम्मिलित नही है, किन्तु समान आयतन और समान धातु मे सम्मिलित है।

४ सम्मिलित और सम्मिलित (सगहितेन सगहित) : कितने स्कन्ध आयतन और धातुओ मे वे धर्म सम्मिलित है, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे सम्मिलित है जो पुन. अन्य धर्म या धर्मों के साथ उनमे (स्कन्ध आयतन और धातुओ मे) सम्मिलित है।

५ अ-सम्मिलित और अ-सम्मिलित (असगहितेन असगहितं) . कितने स्कन्ध आयतन और धातुओ मे वे धर्म अ-सम्मिलित है जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों या धर्मों के साथ उन्ही स्कन्ध आयतन और धातुओ में असम्मिलित हैं जो पुनः अन्य धर्म या धर्मों के साथ उनमे (स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे) असम्मिलित है। यह अध्याय चौथे अध्याय का ठीक विपरीत है।

६. संयोग और वियोग (सम्पयोगो विप्पयोगो) · कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं के साथ धर्म सयुक्त है, या कितने के साथ वे वियुक्त है।

७. संयुक्त से वियुक्त (सम्पयुत्तेन विप्पयुत्त) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओ से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ सयुक्त हैं, वियुक्त है।

८ वियुक्त से संयुक्त (विप्पयुत्तेन सम्पयुत्त) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म सयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, संयुक्त हैं।

९. सयुक्त से संयुक्त (सम्पयुत्तेन सम्पयुत्त) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओ से वे धर्म सयुक्त है, जो उन धर्मों से जो अन्य धर्मों से संयुक्त है, सयुक्त है।

१०. वियुक्त से वियुक्त (विप्पयुत्तेन विप्पयुत्त) · कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त है, जो उन धर्मों से जो अन्य धर्मों से वियुक्त है, वियुक्त हैं।

११. सम्मिलित मे सयुक्त और वियुक्त (सगहितेन सम्पयुत्त विप्पयुत्त) (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म सयुक्त है जो समान स्कन्ध मे सम्मिलित नही, किन्तु समान आयतन और धातु मे कुछ अन्य धर्मो के साथ सम्मिलित है, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे वे धर्म वियुक्त है जो समान स्कन्ध मे सम्मिलित नहीं किन्तु समान आयतन और धातु मे कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित है।

१२ सयुक्त मे सम्मिलित और असम्मिलित (सम्पयुत्तेन सगहित असगहित) (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं मे वे धर्म सम्मिलित है जो कुछ अन्य धर्मों से सयुक्त है (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं मे वे धर्म असम्मिलित है जो कुछ अन्य धर्मो से सयुक्त है।

१३ असम्मिलित मे सयुक्त और वियुक्त (असगहितेन सम्पयुत्त विप्पयुत्त) (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे वे धर्म सयुक्त है, जो किन्ही अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे सम्मिलित नही है (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे वे धर्म वियुक्त है जो किन्ही अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नही है।

१४. वियुक्त मे सम्मिलित और असम्मिलित (विप्पयुत्तेन सगहितं असगहित) · कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त है, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों से वे धर्म सम्मिलित नही है, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त है।

उपर्युक्त अध्यायो के विषय और शैली को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए प्रत्येक में से एक-एक दो-दो प्रश्नोत्तरो को भी दे देना उपयुक्त होगा । अत: क्रमश:,

(१) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनों और धातुओ में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है ? १ स्कन्ध, ११ आयतन और ११ धातुओ में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है ।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनो और धातुओ में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नही है ? चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओ मे रूप-स्कन्ध सम्मिलित नही है ।

(इ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओ मे वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है ? एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु मे वेदना-स्कन्ध सम्मिलित है ।

(ई) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओं मे वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नही है ? चार स्कन्ध, ग्यारह आयतन और १७ धातुओ मे वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नही है । आदि, आदि

(२) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ मे वे धर्म सम्मिलित नही है, जो चक्षु-आयतन. . . .स्पृष्टव्यायतन और चक्षु-धातु. . . . स्पृष्टव्य-धातु धर्मो के साथ समान स्कन्ध मे सम्मिलित है, किन्तु समान धातु और आयतन में सम्मिलित नही है ?

चार स्कन्धो, दो आयतनो और आठ धातुओं में वे सम्मिलित नही है ।

(३) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनों और धातुओ में वे धर्म सम्मिलित है, जो वेदना-स्कन्ध, सञ्ज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मो के साथ समान स्कन्ध मे सम्मिलित नही है, किन्तु समान आयतन और समान धातु मे सम्मिलित है ?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और एक धातु मे वे सम्मिलित है, निर्वाण को छोडकर !

(४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओ में वे धर्म सम्मिलित है, जो समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मो के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित है जो पुनः समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं ।

एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु मे वे सम्मिलित है ।

(५) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ मे वे धर्म सम्मिलित नही है जो अन्य धर्मो के साथ उन्ही स्कन्ध, आयतन और धातुओ में अ-सम्मिलित हैं जो पुनः उन्ही धर्मो के साथ उनमे (स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे) असम्मिलित है ?

एक स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओ मे वे अ-सम्मिलित है ।

(६) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ के साथ रूप-स्कन्ध सयुक्त है ?

किसी के साथ नही (क्योकि स्वय अपने साथ वह सयुक्त हो नही सकता और अन्य धर्म मानसिक है)

(आ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ के साथ रूप-स्कन्ध सयुक्त नही है ?

चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओ के साथ वह सयुक्त नही है

(७) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ मे वे धर्म वियुक्त है, जो उन धर्मो से, जो अन्य धर्मो के साथ सयुक्त है, वियुक्त है ?

चार स्कन्धो, एक आयतन और सात धातुओ मे वे वियुक्त है, अशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(८) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ से वे धर्म सयुक्त है, जो उन धर्मो से जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त है, सयुक्त है ?

किसी से नही ।

(९) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ से वे धर्म सयुक्त है, जो उन धर्मो से जो वेदना-स्कन्ध, सज्ञा-स्कन्ध, सस्कार-स्कन्ध से सयुक्त है, सयुक्त है ?

तीन स्कन्धो, एक आयतन और सात धातुओं से वे सयुक्त है, अशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१०) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ से वे धर्म वियुक्त है, जो उन धर्मो से जो रूप स्कन्ध से वियुक्त है, वियुक्त है ?

चार स्कन्धो, एक आयतन और सात धातुओ से वे वियुक्त है, अशत. एक आयतन और एक धातु से भी ।

(११) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनो और धातुओं से वे धर्म संयुक्त है जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नही हैं किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और धातुओ मे सम्मिलित है ?

तीन स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओ से वे संयुक्त है, अशतः एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु से भी ।

(आ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ से वे धर्म वियुक्त हैं जो समान स्कन्ध मे सम्मिलित नही किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और समान धातुओ मे सम्मिलित हैं ? एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं मे वे वियुक्त हैं, अशत. एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१२) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ मे वे धर्म सम्मिलित हैं जो वेदनास्कन्ध, सज्ञा-स्कन्ध और सस्कार-स्कन्ध से सयुक्त हैं ?

तीन स्कन्धो, दो आयतनो और आठ धातुओ मे वे सम्मिलित हैं ।

(आ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ में वे धर्म सम्मिलित नही हैं जो वेदना-स्कन्ध से सयुक्त हैं ?

दो स्कन्धों, दस आयतनो और दस धातुओ मे वे सम्मिलित नही हैं ।

(१३) (अ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओ से वे धर्म सयुक्त हैं जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओ मे सम्मिलित नही हैं ?

तीन स्कन्धो और अंशत. एक आयतन और एक धातु से वे सयुक्त हैं ।

(आ) कितने स्कन्धो, आयतनों और धातुओ से वे धर्म वियुक्त हैं जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओ में सम्मिलित नही हैं ?

एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओ से वे वियुक्त हैं, अशतः एक आयतन और एक धातु से भी ।

(१४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, दो आयतनो और धातुओं में वे सम्मिलित हैं ।

(आ) कितने स्कन्धो, आयतनो और धातुओं मे वे धर्म सम्मिलित नही हैं जो रूप स्कन्ध से वियुक्त हैं ?

एक स्कन्ध, दस आयतनो और दस धातुओ मे वे सम्मिलित नही है।

पुग्गलपञ्ञत्ति [1]—

'पुग्गलपञ्ञत्ति' (पुद्गल-प्रज्ञप्ति) शब्द का अर्थ है पुद्गलों या व्यक्तियों सबधी ज्ञान या उनकी पहचान। 'पुग्गल-पञ्ञत्ति' में व्यक्तियो के नाना प्रकारो का वर्णन किया गया है। विषय या वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अभिधम्म की अपेक्षा सुत्तन्त से अधिक घनिष्ठ संबध है। व्यक्तियों का निर्देश यहाँ धम्मो के साथ उनके सबध की दृष्टि से नही किया गया है, जो अभिधम्म का विषय है। बल्कि अगुत्तर-निकाय की शैली पर, बुद्ध-वचनो का आश्रय लेकर, या कहीं उनको अधिक स्पष्ट करनेकी दृष्टि से, या उनकी व्याख्या-स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव के विभाग के अनुसार व्यक्तियो के नाना स्वरूपो को वर्गबद्ध किया गया है, जो मूल बुद्ध-धर्म के नैतिक दृष्टिकोण को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। संपूर्ण ग्रन्थ मे दस अध्याय है, जिनमें प्रथम मे एक-एक प्रकार के व्यक्तियो का निर्देश है, दूसरे में दो-दो प्रकार के और इसी प्रकार क्रमश बढते हुए दसवे अध्याय मे दस-दस प्रकार के व्यक्तियो का निर्देश है। चार आर्य-श्रावक, पृथग्जन, सम्यक् सम्बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य, स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी अर्हत्, आदि के रूप मे व्यक्तियों का विभाजन, जो सुत्तो मे जीवन-शुद्धि के स्वरूप और उसके विकास को दिखाने के लिए किया गया है, यहाँ क्रमिक गणनाबद्ध रूप में सगृहीत कर दिया गया है। कुछ-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

---

१. डा० मॉरिस द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी (१८८३) द्वारा प्रकाशित। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'दि डैज़िगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स' शीर्षक से डा० विमलाचरण लाहा ने कियाहै, जो पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन (१९२३) द्वारा प्रकाशित किया गया है। नागरी-संस्करण और हिन्दी अनुवाद अभी होने बाकी है। इस ग्रंथ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। महास्थविर ज्ञानातिलोक ने इस ग्रन्थ का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है, ब्रेसलो, १९१०।

एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१ कौनसा व्यक्ति 'पृथग्जन' (पुथुज्जनो–प्राकृत मनुष्य–सांसारिक मनुष्य) है ?

जिसके प्रथम तीन सयोजन (मानसिक बन्धन) प्रहीण नही हुए और न जो उनके प्रहीण करने के मार्ग मे ही सलग्न है, वही व्यक्ति 'पृथग्जन' है ।

२. कौन सा व्यक्ति अनागामी है ?

जो व्यक्ति प्रथम पाँच सयोजनो का विनाश करने के बाद किसी उच्चतर लोक मे जन्म लेता है जहाँ उसकी निर्वाण-प्राप्ति निश्चित हो जाती है और जहाँ से वह लौटकर फिर इस लोक मे नहीं होता, वही व्यक्ति अनागामी है ।

दो-दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन सा व्यक्ति भीतरी सयोजनो से बँधा हुआ है ?

जिसके प्रथम पाँच सयोजन अभी नष्ट नही हुए, वही व्यक्ति भीतरी सयोजनो मे बँधा हुआ है ।

२ कौन सा व्यक्ति बाहरी सयोजनो से बँधा हुआ है ?

जिसके अतिम पाँच सयोजन अभी नष्ट नही हुए, वही व्यक्ति बाहरी सयोजनो मे बधा हुआ है ।

तीन-तीन प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१ कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना सबधी आसक्ति से विमुक्त नही है ?

स्रोत आपन्न और सकृदागामी, ये दो व्यक्ति काम-वासना सबधी आसक्ति और भव-वासना सबधी आसक्ति से विमुक्त नही हैं ।

२ कौन सा व्यक्ति काम-वासना सबधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना सबधी आसक्ति से विमुक्त नही है ?

अनागामी—यह व्यक्ति काम-वासना सबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ।

३. कौन सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति, इन दोनो प्रकार की आसक्तियो से विमुक्त है ?

अर्हत्—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना-संबंधी आसक्ति इन दोनो आसक्तियो से विमुक्त है ।

चार-चार प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१ कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नही ?

जो कहता बहुत है पर करता कुछ नही—यही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नही ।

२ कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है, पर गरजता नही ?

जो करता है, पर कहता नही, ऐसा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है पर गरजता नही ।

३. कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है ?

जो कहता भी है और करता भी है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है ।

४ कौन सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नही ?

जो न कहता है और न करता है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नही और बरसता भी नही ।

इसी वर्गीकरण का एक और सुन्दर उपमा के द्वारा व्यक्तियो के चार प्रकार का विभाजन देखिए—

१. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपने बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमे रहता नही ?

जो व्यक्ति सुत्त, गाथा, उदान, जातक आदि ग्रन्थों का अभ्यास तो करता है किन्तु चार आर्य सत्यो का स्वय साक्षात्कार नहीं करता, वही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपना बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमे रहता नही।

२. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल मे रहता है किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास तो नही करता, किन्तु चार आर्य सत्यो का साक्षात्कार कर लेता है वही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल मे तो रहता है, किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता।

३. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल को स्वय खोदकर तैयार भी करता है और उसमें रहता भी है ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास भी करता है और चार आर्य सत्यो को साक्षात्कार भी करता है।

४. कौन सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो न बिल को खोदता है न उसमें रहता है ?

जो न सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास करता है और न चार आर्य-सत्यो का सा-साक्षात्कार ही करता है।

इसी प्रकार आगे के अध्यायों मे क्रमश पाँच-पाँच, छै-छै, सात-सात, आठ-आठ, नौ-नौ और दस-दस के वर्गीकरणो मे व्यक्तियो का वर्णन किया गया है। यद्यपि सुत्त-पिटक से नवीन या मौलिक तो यहाँ कुछ नही है, फिर भी उपमाएँ कही-कही बडी सुन्दर हुई है। सख्याबद्ध वर्गीकरणो की ऊपरी कृत्रिमता होते हुए भी 'पुग्गल- पञ्ञत्ति' के विवरण नैतिक तत्वो की भित्ति पर आश्रित है, अत. वे आधुनिक विद्यार्थी के लिए भी अध्ययन के अच्छे विषय है।

कथावत्थु[1]

जैसा दूसरे अध्याय मे दिखाया जा चुका है, अशोक के समय (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व) तक आते-आते मूल बुद्ध-धर्म १८ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या निकायो मे बट चुका था। अशोक ने लगभग २४६ ई० पू० जब पाटलिपुत्र की सभा को

---

१. ए० सी० टेलर द्वारा सम्पादित एवं पालि टेक्स्ट् सोसायटी, लंदन, द्वारा सन् १८९४ एवं १८९७ में रोमन लिपि में प्रकाशित। 'पॉइन्ट्स ऑव कन्ट्रोवर्सी और सबजेक्ट्स ऑव डिस्कोर्स' शीर्षक से डॉ जैन आँग एवं श्रीमती रायस

बुलाया तो उसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इन्ही १८ सम्प्रदायों मे से एक (थेरवाद-स्थविरवाद) को मूल बुद्ध-धर्म मान कर बाकी १७ के दार्श-निक सिद्धातों का निराकरण किया और अपने समाधानो को 'कथावत्थु-पकरण' नामक ग्रथ में रख दिया जो उसी समय से अभिधम्म-पिटक का एक अङ्ग माना जाने लगा। कथावत्थु मे केवल दार्शनिक सिद्धातों का खडन है। किन-किन सम्प्र-दायों के वे दार्शनिक सिद्धान्त थे, इसका उल्लेख वहाँ नही किया गया है। यह कमी उसकी अट्ठकथा (पाँचवी शताब्दी) ने पूरी कर दी है। इस अट्ठकथा के वर्णना-नुसार भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १००वर्ष बाद वज्जिपुत्तक भिक्षुओ ने सघ के अनुशासन को भग कर 'महासघिक' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसी सम्प्रदाय की पाच शाखाये बाद मे और हो गई। इस प्रकार कुल मिलाकर महासघिको के ६ सम्प्रदाय हो गए, जिनके नाम थे, महासघिक, एकब्बोहारिक, गोकुलिक, पञ्ञत्तिवादी, बाहुलिक और चेतियवादी। प्रथम सगीत मे स्थविरो (वृद्ध भिक्षुओ) ने मूल बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप को स्वीकार किया था उसका नाम 'थेरवाद' (स्थविरवाद) पड गया था और इस थेरवाद के भी अशोक के समय तक आते-आते कुल मिलाकर १२ सम्प्रदाय हो गये थे, जो इस प्रकार थे, थेरवादी, महिसासक, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थवादी, धम्मगुत्तिक, धम्मुत्तरिय, छन्नागरिक, भद्रयानिक, सामितिय, कस्सपिक, सकन्तिक, और सुत्तवादी। कथावत्थु-अट्ठकथा के अनुसार यह शाखा-भेद इस प्रकार दिखाया जा सकता है[1] —

डेविड्स् द्वारा अग्रेजी में अनुवादित एवं पालि टैक्सट् सोसायटी (लंदन, १९१५) द्वारा प्रकाशित। बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी में न संस्करण है और न अनुवाद!

१. देखिये ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३६; राहुल सांकृत्यायन : विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद) भूमिका, पृष्ठ १, उन्हीं की पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२१; 'दीपवंस' के अनुसार और 'महावंस' ५।२-११ के अनुसार भी बिलकुल यही विभाग है, देखिये राहुल सांकृत्यायन द्वारा द्वारा सम्पादित अभिधर्म-कोश, भूमिका, पृष्ठ ४; देखिये जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १८९१, तथा जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी (१९०४-०५) (दि सेक्ट्स् ऑव दि बुद्धिस्ट्स्)

सर्वास्तिवादी परम्परा में इन सम्प्रदायों का विकास कुछ विभिन्न ढंग से दिखाया गया है। उदाहरणतः वसुमित्र-प्रणीत 'अष्टादश-निकाय-शास्त्र' के अनुसार १८ सम्प्रदायों का विभागीकरण इस प्रकार है[१]—

१. देखिये राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'अभिधर्मकोश', भूमिका, पृष्ठ ५, एवं उन्हीं का विनय-पिटक (हिन्दी-अनुवाद), भूमिका, पृष्ठ १-२; नागार्जुन के माध्यमिक सूत्रों के भाष्यकार, चन्द्रकीर्ति के पूर्वगामी, आचार्य भव्य के वर्णनानुसार भी १८ सम्प्रदायों के विकास का यही क्रम है। केवल उन्होंने
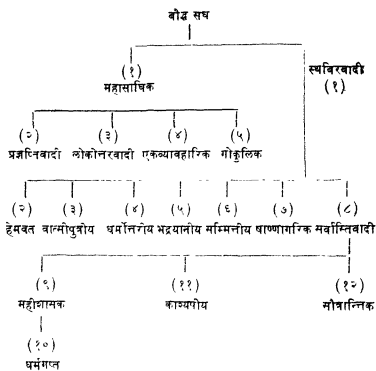
उपर्युक्त दोनो परम्पराओं की विभिन्नताएं वास्तव मे इन सम्प्रदायों के अनिश्चित इतिहास के कारण है। यदि कथावत्थु मे इन सम्प्रदायो के विषय मे भी कुछ कह दिया जाता तो बौद्ध धर्म के इतिहास-जिज्ञासुओं का काम सरल हो जाता। किन्तु धम्मवादी स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इसके लिए अवकाश नही दिया।

गोकुलिक (कुक्कुलिक) शाखा को महासांघिकों से तथा षाण्णागारिक (छन्नागारिक) शाखा को स्थविरवादियों की परम्परा से वियुक्त कर दिया है। देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ८३१-३२; 'महावंस', 'कथावत्थु', वसुमित्र और भव्य इन चारों स्रोतों के आधार पर १८ सम्प्रदायों के शाखा-भेद के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ८२७ पर दी हुई महत्त्वपूर्ण तालिका।

उनके लिए विचार व्यक्तियों या सम्प्रदायों से अधिक महत्वपूर्ण थे। भारतीय ज्ञानियों की परम्परा के यह अनुकूल ही है। किन्तु इस अभाव के कारण इन सम्प्रदायों का इतिहास भी अनिश्चित ही रह गया है। स्थविरवादी परम्परा की मान्यता, जैसा उपर दिखाया जा चुका है, कथावत्थु की अट्ठकथा पर आश्रित है जो स्वयं पाँचवी शताब्दी ईसवी की रचना होने के कारण उतनी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। फिर भी जो वस्तु निश्चित मानी जा सकती है वह यह है कि अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के समय उपर्युक्त अठारह सम्प्रदाय विद्यमान थे। अशोक के द्वारा पूजित किये जाने पर ये और भी बढ़ने लगे। शास्ता का वास्तविक उपदेश क्या था, यह कुछ भी जान न पड़ने लगा। परिणामत पाटलिपुत्र में एक संगीति बुलाई गई। इस सभा के सभापति थे स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स। उन्होने उपर्युक्त सम्प्रदायो में से केवल विशुद्ध स्थविरवाद को तो बुद्ध का मन्तव्य अथवा 'विभज्जवाद' माना और शेष को बुद्ध के मत से बाहर माना। इसी समय से सर्वास्तिवाद आदि सम्प्रदाय, जो अब तक स्थविरवादियो की ही शाखा माने जाते थे, अब अलग हो गये। अत हम कह सकते है कि अशोक के समय तक बुद्ध-मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' जिस नाम से व्यवहृत होता रहा, वह और उसकी परम्परा 'स्थविरवाद' में निहित है। इसी स्थविरवाद के समर्थन की दृष्टि से शेष १७ सम्प्रदायों के मन्तव्यों का खडन 'कथावत्थु' में किया गया है।

'कथावत्थु' में विरोधी १७ सम्प्रदायों के सिद्धान्तो को प्रश्नात्मक ढग से पहले पूर्वपक्ष के रूप मे उपस्थित किया गया है, फिर स्थविरवादी दृष्टिकोण से उनका खडन किया गया है। सिद्धान्तो के पूर्वापर -सम्बन्धी निर्वाचन में किसी निश्चित नियम का पालन नहीं किया गया। सिद्धान्तो को मानने वाले सम्प्रदायो का तो उसमे नामोल्लेख भी नहीं है, यह हम पहले ही कह चुके है। कुल मिलाकर 'कथावत्थु' में विरोधी सम्प्रदायो के २१६ सिद्धान्तो का खंडन है, जो २३ अध्यायो में विभक्त किये गये हैं। कुछ विद्वानो का कथन है कि इस ग्रथ में न केवल अशोक-कालीन सिद्धान्तो का ही खंडन है, बल्कि कुछ बाद के सम्प्रदायो और सिद्धान्तो का भी खडन सम्मिलित है। अत: उनके मत में इस ग्रंथ में कई अश ईसा की पहली शताब्दी तक जोडे जाते रहे[१]। इस ग्रथ मे प्राचीन अर्थात् अशोक के समय में प्रच-

---

१. देखिये राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०; ज्ञानातिलोक; गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७-३८

लित सिद्धान्तो में से तो आठ का खडन प्रस्तुत किया गया है, जिनमे से दो तो महा-साघियो के सम्प्रदाय है, यथा (१) महासाघिक (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) तथा गोकुलिक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) और छह सम्प्रदाय स्वय स्थविरवादियों के हैं, यथा (१) भद्रयानिक (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व) (२) महीशासक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (३) वात्सीपुत्रीय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (४) सर्वास्तिवादी (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) (५) साम्मित्तिय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व, तथा (६) वज्जिपुत्तक (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व)[१]। इनके अलावा कुछ अर्वाचीन सिद्धान्तो का भी खडन कथावत्थु में मिलता है। ये सम्प्रदाय भी आठ है, यथा, (१) अन्धक (२) अपरशैलीय (३) पूर्वशैलीय (४) राज-गिरिक (५) सिद्धार्थक (६) वैपुल्य (वेतुल्ल) (७) उत्तरापथक और (८) हेतुवादी[२]। यदि स्वय कथावत्थु मे इन सम्प्रदायो का नामोल्लेख होता तब तो यह माना जा सकता था कि उसके जो अश इन अर्वाचीन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खडन करते है वे अशोक के काल के बाद की रचना है। किन्तु वहाँ तो सिर्फ सिद्धान्तो का खडन है, सिद्धान्तो को निश्चित सम्प्रदायो के साथ वहाँ नही जोडा गया है। यह काम तो पाँचवी शताब्दी मे लिखी जाने वाली उसकी अट्ठकथा ने ही किया है। अत इससे यही निश्चित निष्कर्ष निकल सकता है कि जब कथावत्थु के विचारक ने विरोधी सिद्धान्तो का खडन किया था तब वे बौद्ध वायु-मडल मे विच्छिन्न शङ्काओ के रूप में प्रवाहित अवश्य हो रहे थे, किन्तु निश्चित सम्प्रदायों के साथ उनका अभी सबध स्थापित नही हुआ था। सभव है कही कहीं व्यक्ति इनका उपदेश दे रहे हो या शकाओ के रूप मे उपस्थित कर रहे हो। बाद में चलकर इन्ही मे से निश्चित सप्रदायो का अविर्भाव हो गया, जैसा धर्म और दर्शन के इतिहास मे अक्सर होता है। जिस समय कथावत्थु की अट्ठकथा लिखीगई

---

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८; राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०

२. महावंस ५।१२-१३ में भी हैमवत, राजगृहिक, सिद्धार्थक, पूर्वशैलीय, अपर-शैलीय और वाजिरीय, इन छः सम्प्रदायों को अशोक के उत्तरकालीन माना गया है। अतः ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८ एवं राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२०, का इनको उत्तरकालीन ठहराना युक्ति-युक्त ही जान पड़ता है।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी) उस समय तक इन संप्रदायों का स्वरूप निश्चित हो चुका था और वे बौद्ध परम्परा में प्रतिष्ठा पा चुके थे। यही कारण है कि अट्ठकथाकार (महास्थविर बुद्धघोष) ने कथावत्थु में खंडन के लिए प्रस्तुत जिन जिन सिद्धांतों की समता अपने काल में प्रचलित या परम्परा से प्राप्त संप्रदायों की मान्यताओं के साथ देखी, उन्हें उनके साथ संबंधित कर दिया है। अत हम उन विद्वानों (विशेषत राहुल सांकृत्यायन और ज्ञानातिलोक) के मत मे सहमत नहीं हैं जो कथावत्थु के कतिपय अंशों को अशोक के काल मे बाद की रचना मानते हैं। जैसा हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं, सिद्धान्त सम्प्रदायों की उपेक्षा अधिक प्राचीन हैं और सम्प्रदायों का नामोल्लेख कथावत्थु में है नहीं। अतः वह निश्चय ही अपने संपूर्ण रूप में अशोककालीन रचना है और उस काल के भिक्षु-संघ में स्फुट रूप से प्रचलित नाना मिथ्या धारणाओं और शंकाओं के निराकरण के द्वारा मूल बुद्ध-धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का वह प्रयत्न करती है। बाद में इन्हीं (स्थविरवादी दृष्टिकोण से) मिथ्या धारणाओं और शंकाओं ने विकसित होकर विभिन्न निश्चित सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों का रूप धारण कर लिया, जिनका साक्ष्य उसकी अट्ठकथा देती है।

'कथावत्थु' के २१६ शंका-समाधान २३ अध्यायों में विभक्त हैं, यह अभी कहा जा चुका है। इनमें से कई समाधान दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। बुद्ध के दर्शन की मनमानी व्याख्या पहले के युगों में भी बहुत की जा चुकी है और आज भी बहुत की जाती है। तथाकथित ब्राह्मण-दार्शनिक यदि इस दिशा में मार्ग-भ्रष्ट हुए हैं तो उनसे कम बौद्ध दार्शनिक भी नहीं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही सर राधाकृष्णन् के उस प्रयत्न की हँसी उड़ाई है और उसे 'बाल-धर्म' (भारी मूर्खता) निश्चित कर दिया है जो उन्होंने बुद्ध को उपनिषद् के आत्मवाद का प्रचारक सिद्ध करने के लिए किया है।[१] यदि मनीषी राधाकृष्णन् कथावत्थु के प्रथम अध्याय के प्रथम शंका-समाधान में ही स्पष्ट इस विषयक स्थविरवादी दृष्टिकोण की सम्यक् अवधारणा कर लेते तो वे मूल बुद्ध-दर्शन के साथ आत्मवाद या अन्य ऐसी किसी

---

१. देखिये महापंडित राहुल सांकृत्यायन का दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३०-३२

चीज को इस प्रकार अनधिकृत रूप से मिलाने का प्रयत्न नहीं करते । इसी प्रकार यदि मनीषी महापडित भी इस बात की सम्यक् अनुभूति कर लेते कि 'महाशून्यवादी' वेतुल्यको (वंपुल्यको) की स्थविरवादियों ने 'कथावत्थु' में क्या खबर ली है, तो वे नागार्जुन आदि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिको को, जिन्होने निषेधात्मक दिशा मे ही अधिक पदार्पण किया है, बुद्ध-मन्तव्यो के एकमात्र सच्चे व्याख्याता होने का श्रेय प्रदान नहीं करते । बुद्ध-मत सभी अतियो से बाहर जाता है, सभी मत-वादो मे ऊपर उठता है। आत्मवाद और अनात्मवाद, ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद, भौतिकवाद और विज्ञानवाद, शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद सभी इन अतियो और मतवादो के ही स्वरूप है । बुद्ध की दार्शनिक परिस्थिति सबधी हमारी बहुत सी शकाओ का निर्मूलन स्वय बुद्ध-वचनो के बाद 'कथावत्थु' मे बडे अच्छे ढग से होता है। बाद मे मिलिन्द-पञ्ह (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) मे भी इस प्रकार का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसका महत्व 'कथावत्थु' के बाद ही है । अब हम कथावत्थु मे निरुक्त विषय-वस्तु का सक्षेप मे दिग्दर्शन करेंगे ।

कथावत्थु में निराकृत सिद्धान्तों की सूची

पहला अध्याय

१ क्या जीव, सत्व या आत्मा की परमार्थ-सत्ता है ? वज्जिपुत्तक और सम्मितिय भिक्षुओ का विश्वास था कि 'है' । स्थविरवादी दृष्टिकोण से इसका विस्तृत खडन किया गया है ।

२ क्या अर्हत्व की अवस्था मे अर्हत् का पतन सभव है ? सम्मितिय, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थिवादी और कुछ महासघिक भिक्षुओ का विश्वास था कि यह संभव है । स्थविरवादियों ने स्रोत आपन्न, सकृदागामी और अनागामी के विषय मे तो यह माना है कि वे अपनी-अपनी अवस्थाओ से पतित होकर फिर सामारिक बन सकते है, किन्तु अर्हत् का पतन तो असभव है ।

३. क्या देवताओ मे ब्रह्मचर्य की प्राप्ति सभव है ? सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि 'नही' । स्थविरवादी दृष्टिकोण से कहा गया है कि सम्मितिय भिक्षुओं

को ब्रह्मचर्य का अर्थ समझने में ही भ्रम हो गया है। भिक्षु-जीवन (ब्रह्मचर्य) के स्वर्ग मे न होते हुए भी पवित्र-जीवन (ब्रह्मचर्य) का अभ्यास करने में तो देवता स्वतन्त्र ही है। अत: स्थविरवादियो के अनुसार देवताओ मे भी ब्रह्मचर्य की प्राप्ति सभव है।

४. क्या चित्त-सयोजनो (मानसिक-बन्धनो) का विनाश विभागश. होता है ? सम्मितियों का विश्वास था कि स्रोत आपन्न व्यक्ति दु:ख और दु:ख-समुदय का ज्ञान प्राप्त कर, प्रथम तीन चित्त-बन्धनों के केवल कुछ अंशो को उच्छिन्न करता है और बाकी अशो को अधिक ऊँची अवस्थाओ को प्राप्त करने के बाद उच्छिन्न करता है। स्थविरवादियो का इसके विपरीत तर्क यह है कि इस प्रकार एक ही व्यक्ति को विभागश स्रोत आपन्न और बिभागश. स्रोत आपन्न नही भी मानना पड़ेगा। सम्मतियो ने अपनी स्थिति के समर्थन के लिए बुद्ध-वचन को उद्धृत किया है, किन्तु स्थविरवादियो ने दूसरा बुद्ध-वचन उद्धृत कर उनकी स्थिति को स्वीकार नही किया है।

५. क्या संसार मे रहते हुए भी कोई मनुष्य राग और द्वेष से मुक्त हो सकता है ? सम्मतियो का विश्वास था कि हो सकता है। स्थविरो ने इसे स्वीकार नही किया।

६. क्या सब कुछ है ? (सब्ब अत्थि ?) सब्बत्थिवादियों (सर्वास्तिवादियो) का विश्वास था कि भूत , वर्तमान और भविष्यत् के सभी भौतिक और मानसिक धर्मों की सत्ता है। स्थविरवादियो के मतानुसार अतीत समाप्त हो चुका, भविष्यत् अभी उत्पन्न नही हुआ, केवल वर्तमान ही की सत्ता है।

७. सिद्धान्त छह का ही पूरक है।

८. क्या यह सत्य है कि भूत, और भविष्यत् की कुछ वस्तुओ का अस्तित्व है और कुछ का नही ? कस्सपिक भिक्षु कहते थे कि अतीत भी अंशत: वर्तमान मे विद्यमान है और जिन भविष्य के पदार्थों के होने का हम दृढ निश्चय कर सकते है उनकी भी सत्ता मान सकते है। स्थविरो ने इसे स्वीकार नही किया है।

९. क्या सभी पदार्थ स्मृति के आलम्बन है ? अन्धको का ऐसा विश्वास था, किन्तु स्थविरों ने इसका खंडन किया है।

१०. क्या भूत, वर्तमान और भविष्यत् के पदार्थों का अस्तित्व एक प्रकार से है और दूसरे प्रकार से नही ? अन्धको का ऐसा विश्वास, किन्तु स्थविरो द्वारा खडन ।

दूसरा अध्याय

११ क्या अर्हत् का वीर्य-पतन सम्भव है ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओ का विश्वास था कि भोजन-पान के कारण यह सम्भव है । स्थविरो ने इसे नही माना है ।

१२-१४ क्या अर्हत के अज्ञान और सशय हो सकते है और दूसरो से वह पराजित किया जा सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ का विश्वास था कि लौकिक ज्ञान के विषय में यह सर्वथा सम्भव है । स्थविरो ने इसका विरोध नही किया, किन्तु अर्हत् को कभी भी अविद्या या विचिकित्सा हो सकती है इसे उन्होने नही माना ।

१५. क्या ध्यानावस्था मे वाणी-व्यापार भी सम्भव है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ का ऐसा विश्वास, किन्तु उसका निराकरण ।

१६ क्या 'दुःख' 'दुःख' कहने से स्रोत आपत्ति आदि चार ब्रह्मचर्य की अवस्थाओ की प्राप्ति हो सकती है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ के इस मिथ्या विश्वास का निराकरण ।

१७ क्या कोई चित्त-अवस्था सम्पूर्ण दिन भर रह सकती है ? अन्धको के इस विश्वास का निराकरण ।

१८ क्या सभी सस्कार तप्त, दहकते हुए अगारो के समान है ? भगवान् के एक वचन के अनुसार गोकुलिक भिक्षु सभी सस्कारो को दुःख-मय ही मानते थे । स्थविरवादियो ने क्षणिक सुखमय सस्कारो की भी सत्ता मानी है ।

१९ क्या ब्रह्मचर्य की चार अवस्थाओ (स्रोत आपत्ति आदि) का साक्षात्कार विभागशः होता है । अन्धक, सब्बत्थिवादी सम्मितिय और भद्रयानिक भिक्षुओ का ऐसा ही विश्वास । स्थविरवादियो का मत सिद्धान्त-सख्या ४ के समान ।

२०. क्या बुद्ध का लोकोत्तर व्यवहार (वोहार-वाणी) जैसी कोई चीज है ? अन्धक भिक्षु मज्झिम-निकाय के एक वचन के आधार पर ऐसा ही मानते थे। स्थविरवादी मतानुसार ब्रह्मचर्य-सलग्न चित्त और निर्वाण ही लोकोत्तर हैं।

२१. क्या दुःख-विमुक्ति भी दो है और निर्वाण भी दो ? महीशासक और अन्धक भिक्षु कहते थे कि ऐसा ही है। एक दुःख-विमुक्ति है चिन्तन या प्रतिसख्यान (पटिसखा) के द्वारा प्राप्त की हुई। और दूसरी उसके बिना। इसी प्रकार एक निर्वाण है प्रतिसख्यान के द्वारा प्राप्त किया हुआ और दूसरा उसके बिना। इसका निराकरण किया गया है।

तीसरा अध्याय

२२-२३. क्या तथागत के दस बल उनके शिष्यों को भी प्राप्त हो सकते हैं ? अन्धकों की मान्यता इसके पक्ष में।

२४. क्या विमुक्त होता हुआ मन लोभ-ग्रस्त होता है ? अन्धकों का विश्वास था कि अर्हत्त्व प्राप्त कर लेने पर ही लोभ से पूर्णत विमुक्ति मिलती है।

२५. क्या विमुक्ति क्रमशः क्रिया के रूप में होने वाली वस्तु है।

२६. क्या स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन नष्ट हुआ रहता है। अन्धक और सम्मितियों की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादी मत मध्यमार्गीय दृष्टिकोण ले लेता है अर्थात् उसकी मान्यता है कि स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन टूटने लगता है किन्तु पूर्णत टूट चुका हुआ नहीं होता।

२७. क्या स्रोतापन्न को श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियों (जीवन-शक्तियों) की प्राप्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

२८-२९. क्या चर्म-चक्षु दिव्य-चक्षुओं में परिवर्तित हो सकते हैं, यदि उनका आधार कोई मानसिक धर्म हो। अन्धकों की ऐसी ही मान्यता।

३०. क्या दिव्य-चक्षु प्राप्त कर लेना कर्म के स्वरूप को समझ लेना ही है ?

३१. क्या देवताओं में संयम पाया जाता है ?

३२. क्या अचेतन प्राणी (असञ्ञ-सत्ता) भी विज्ञान (चित्त) से युक्त होते हैं ?

अन्धको का विश्वास था कि बिना चित्त के पुनर्जन्म नही होता। अतः कम से कम मृत्यु और पुनर्जन्म के क्षण में अचेतन प्राणियो के भी विज्ञान होता है।

३३. क्या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन मे विज्ञान उपस्थित नही रहता ? अन्धको का विश्वास कि नही रहता।

चौथा अध्याय

३४. क्या गृहस्थ भी अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का विश्वास। स्थविरवादी मतानुसार अर्हत् होने पर मनुष्य गृहस्थाश्रम मे नही रह सकता।

३५. क्या जन्म के अवसर पर ही कोई अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का भ्रम।

३६. क्या अर्हत् की प्रत्येक उपयोग-सामग्री भी पवित्र (अनास्रव---मल-रहित) है ? उत्तरापथको का मत।

३७. क्या अर्हत् होने के बाद भी मनुष्य को चार मार्ग-फलो की प्राप्ति बनी हुई रहती है ? उत्तरापथको का विश्वास।

३८. क्या ६ प्रकार की उपेक्षाओ को अर्हत् एक ही क्षण मे एक ही साथ धारण कर सकता है ? किस सम्प्रदाय की यह मान्यता थी, इसका उल्लेख नहीं है। स्थविरवादी मतानुसार ऐसी अवस्था सम्भव नही है।

३९. क्या बोधि-मात्र से बुद्ध हो जाता है ? उत्तरापथको का भ्रमात्मक विश्वास, 'बोधि' का अर्थ न समझने के कारण।

४०. क्या ३२ महापुरुष-लक्षणो से युक्त प्रत्येक मनुष्य बोधिसत्व है ? उत्तरापथको का विश्वास।

४१. क्या बोधिसत्व को बुद्ध काश्यप की शिष्यता मे ही सम्यक् मार्ग की प्राप्ति हो गई थी ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

४२. ३७ के समान।

४३. क्या सयोजनो (चित्त-बन्धनो) के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने का नाम ही अर्हत्त्व है ? अन्धकों का विश्वास।

पांचवां अध्याय

४४. क्या विमुक्ति और विमुक्ति-ज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं ? अन्धको की यही मान्यता ।

४५. क्या शैक्ष्य (जिसे अभी सीखना बाकी है, या जिसने अर्हत्व की अवस्था अभी प्राप्त नहीं की है) को अशैक्ष्य (अर्हत्)-सम्बन्धी ज्ञान भी उपस्थित रहता है ? उत्तरापथको का विश्वास ।

४६. पृथ्वी-कृत्स्न के द्वारा ध्यान करने वाले का ज्ञान क्या मिथ्या-ज्ञान ही है ? अन्धको का विश्वास ।

४७. क्या 'अ-नियत' (चार आर्य-मार्गों मे जो प्रतिष्ठित नही हुआ है) को 'नियाम' (आर्य-मार्ग की चार अवस्थाएँ, यथा स्रोत आपत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्व) सम्बन्धी ज्ञान उपस्थित रहता है ? उत्तरापथको का ऐसा ही विश्वास ।

४८ क्या सभी ज्ञान प्रतिसम्भिदा-ज्ञान है ? अन्धको का विश्वास ।

४९. क्या यह सत्य है कि संवृति-ज्ञान (सम्मुति ञाण-व्यावहारिक ज्ञान जिसके अनुसार हम मनुष्य, वृक्ष आदि जैसी बातें कहते है जिनका परमार्थतः कोई अस्तित्व नही) का विषय भी सत्य ही है ? अन्धको का ऐसा ही विश्वास ।

५०. क्या परचित्त-ज्ञान का आधार चेतना ही है ? अन्धको का ऐसा ही मत ।

५१. क्या सम्पूर्ण भविष्य का ज्ञान सम्भव है ? अन्धको के अनुसार सम्भव था ।

५२. क्या एक साथ सम्पूर्ण वर्तमान का ज्ञान सम्भव है ? अन्धको के अनुसार सम्भव था ।

५३ क्या साधक को दूसरो की मार्ग-प्राप्ति का भी ज्ञान हो सकता है ? अन्धक कहते थे 'हाँ' !

छठा अध्याय

५४. क्या चार मार्गों के द्वारा आश्वासन मिल सकता है ? अन्धको का विश्वास ।

५५. क्या प्रतीत्य समुत्पाद अ-संस्कृत (अ-कृत) और शाश्वत है । पूर्वशैलीय और महीशासक भिक्षुओ का ऐसा ही विश्वास था ।

५६. क्या चार आर्य-सत्य अ-संस्कृत और शाश्वत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ का यही मत ।

५७. क्या आकाशानन्त्यायतन (आकाश अनन्त है, ऐसे आयतन की भावना) अ-संस्कृत है ?

५८. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि, जिसमे चित्त की वृत्तियो का पूर्णत. निरोध हो जाता है) अ-सस्कृत है ? अन्धको और उत्तरापथको की मान्यता ।

५९. क्या आकाश अ-सस्कृत है ? उत्तरापथक और महीशासको की मान्यता ।

६०-६१. क्या आकाश, चार महाभूत, पाँच इन्द्रिय और कायिक कर्म दृश्य है ? अन्धको की मान्यता ।

सातवाँ अध्याय

६२. क्या कुछ वस्तुओ का दूसरी वस्तुओ के साथ वर्गीकरण करना असम्भव है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओ का ऐसा ही मत था ।

६३ क्या ऐसे चेतसिक धर्म नही है, जो दूसरे चेतसिक धर्मो के साथ सयुक्त हो ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु कहते कि नही है ।

६४. क्या 'चेतसिक' नाम की कोई वस्तु-ही नही है ? 'नही है' यह भी कहते थे राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु ही ।

६५. क्या दान देना भी चित्त की एक अवस्था का ही नाम है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओ का ऐसा ही विश्वास ।

६६ क्या दान-उपभोग के साथ दान का पुण्य भी बढता है ? राजगृहिक, सिद्धार्थक और सम्मितिय भिक्षुओ का विश्वास ।

६७ क्या यहाँ दिया हुआ दान अन्यत्र (पितरो के द्वारा) उपभोग किया जा सकता है ? यह प्रश्न बडा महत्वपूर्ण था जिस पर बौद्धो को भी उस युग मे सोचना पडा । 'पेतवत्थु' और 'खुद्दक-पाठ' के विवेचनो मे हम पहले इसका कुछ निर्देश कर चुके है । राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षुओं का विश्वास था कि यहाँ दिये हुए भोजन का उपभोग पितर अपने लोक मे करते हैं । स्थविरवादियो के अनुसार भोजन का साक्षात् उपभोग तो उनके लिये सम्भव नही है, किन्तु यहाँ दिये हुए दान के कारण प्रेतो के मन पर अच्छा प्रभाव अवश्य पड़ता है और वह उनके कल्याण के लिये होता है ।

६८. क्या पृथ्वी भी कर्म-विपाक है ? अन्धको का विश्वास ।

६९ क्या जरा और मृत्यु कर्म-विपाक हैं ? अन्धको का विश्वास ।

७०. क्या चार आर्य-मार्गों से सयुक्त चित्त की अवस्थाएँ कर्म-विपाक पैदा नही करती ? अन्धको का विश्वास ।

७१. क्या एक कर्म-विपाक दूसरे कर्म-विपाक को पैदा करता है ? अन्धको का ऐसा ही विश्वास ।

आठवाँ अध्याय

७२. क्या जीवन के छह लोक है ? अन्धक और उत्तरापथको की मान्यता। स्थविरवादी केवल पाँच लोक मानते थे, मनुष्य-लोक, पशु-लोक नरक-लोक, यक्ष-लोक, और देवलोक । अन्धक और उत्तरापथक एक छठे लोक, असुर-लोक, को भी मानते थे ।

७३. क्या दो जन्मो के बीच मे कुछ व्यवधान होता है ? पूर्वशैलीय और सम्मि-त्तिय भिक्षुओ के अनुसार होता था ।

७४ क्या काम-धातु का अर्थ केवल काम-वासना-सम्बन्धी पाँच विषयो का उप-भोग ही है ? पूर्वशैलीय भिक्षु मानते थे कि काम-धातु से तात्पर्य केवल पाँच इन्द्रियो (चक्षु-, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) सम्बन्धी विषय भोगो से है । स्थविरवादी परम्परा में इसका विस्तृत अर्थ लिया गया है, अर्थात् कामनाओं से प्रवर्तित होने वाला सारा जीवन-लोक, इच्छाओ की दौड-धूप में लगा हुआ सारा जीव-जगत् ।

७५. क्या 'काम' का अर्थ है इन्द्रिय-चेतना का आधार ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत ।

७६-७७. क्या रूप-धातु का तात्पर्य है केवल रूप वाले पदार्थ (रूपिनो धम्मा) ? और अ-रूप धातु का अर्थ है केवल अ-रूप वाले पदार्थ ? अन्धको का मत ।

७८. क्या रूप-लोक का प्राणी ६ इन्द्रियो वाला होता है ? अन्धकों और सम्मि-तियों की मान्यता ।

७९ क्या अरूप-लोक मे भी रूप है ? अन्धकों का विश्वास ।

८०. कुशल चित्त से संयुक्त कायिक-कर्म भी क्या कुशल है ? महीशासक और सम्मितियों का मत।

८१. क्या 'रूप-जीवितेन्द्रिय' (रूप-जीवितिन्द्रिय) जैसी कोई वस्तु नहीं ? 'नही' कहते थे पूर्व शैलीय और सम्मितिय भिक्षु !

८२. क्या पूर्व के बुरे कर्म के कारण अर्हत् का भी पतन हो सकता है ? पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि यह सम्भव है ।

नवाँ अध्याय

८३. क्या दस सयोजनो से विमुक्ति बिना धर्मों के अनित्य, दु:ख और अनात्म स्वरूप को चिन्तन किये भी प्राप्त हो सकती है ? अन्धकों की मिथ्या-धारणा ।

८४. क्या निर्वाण का चिन्तन भी एक मानसिक बन्धन है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ का ऐसा ही मत ।

८५. क्या रूप आलम्बन-युक्त है ? उत्तरापयको का 'आलम्बन' का ठीक अर्थ न जानने के कारण यह भ्रम ।

८६. क्या सात अनुशयो (चित्त-मलो) के मानसिक आधार नही होते ? अन्धको और कुछ उत्तरापथको का यही मत ।

८७. क्या अन्तर्ज्ञान का भी मानसिक आधार नही होता ? अन्धको का यही मत ।

८८. क्या भूत या भविष्यत्‌की चेतना का भी कोई मानसिक आधार नहीं होता ? उत्तरापथक भिक्षुओ का ऐसा मत ।

८९. क्या प्रत्येक चित्त की अवस्था मे वितर्क रहता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं की यही मान्यता ।

९०. क्या शब्द भी केवल वितर्क का ही बाहरी विस्तार (विप्फार) है । पूर्व-शैलीय भिक्षुओ की यही मान्यता ।

९१. क्या वाणी सदा चित्त से सम्बन्धित नही है ? 'नही है' कहते थे पूर्वशैलीय, क्यो कि भूल में हमारे मुह से कभी-कभी ऐसी बातें निकल जाती हैं जिन्हें हम कहना नही चाहते ।

९२. क्या कायिक-कर्म सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का उपर्युक्त के समान मत ।

९३. क्या भूत और भविष्यत् की भी प्राप्तियाँ सम्भव हे ? अन्धक कहते थे 'हाँ' ।

दसवाँ अध्याय

९४. क्या पुनर्जन्म को प्राप्त कराने वाले स्कन्धों के निरोध से पूर्व ही पंचस्कन्धों की उत्पत्ति हो जाती है ? अन्धको का ऐसा ही मत ।

९५. क्या आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का अभ्यास करते समय व्यक्ति का रूप उसमें सन्निविष्ट रहता है ? सम्मितिय, महीशासक और महासांघिको का ऐसा ही विश्वास ।

९६. क्या पाँच इन्द्रिय-चेतनाओ (जैसे देखना, सुनना आदि) का उपयोग करते हुए मार्ग की भावना की जा सकती है ? महीशासको का यही विश्वास ।

९७. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ कुशल हे ? महीशासको की मान्यता ।

९८ क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ अ-कुशल भी हे ? उपर्युक्त के समान ही ।

९९. का आर्य-अष्टाङ्गिक-मार्ग का अभ्यास करने वाला व्यक्ति दो प्रकार के शील (लौकिक और अलौकिक) का आचरण कर रहा है ? महासाघिको का यही मत ।

१००. क्या शील कभी-कभी अ-चेतसिक भी होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

१०१ क्या शील चित्त से सम्बन्धित नही है ? ९१, ९२ के समान

१०२. क्या मात्र ग्रहण करने से शील का विकास होता है? महासांघिको का ऐसा ही विश्वास ।

१०३. क्या केवल शरीर या वाणी से विज्ञप्ति कर देना भी शील है ? महीशासक और सम्मितियो का ऐसा ही मत ।

१०४. क्या नैतिक उद्देश्य की अविज्ञप्ति अकुशल है ? महासाघिको का यही मत ।

ग्यारहवाँ अध्याय

१०५. क्या सात अनुशय अव्याकृत हं ? महासांघिकों की यह मान्यता थी ।

१०६. क्या ज्ञान से असंयुक्त चित्त की अवस्था मे भी किसी को अविद्या से विमुक्त

और विद्या से युक्त कहा जा सकता है ? महासांघिक कहते थे, 'कहा जा सकता है' ।

१०७. क्या अन्तर्ज्ञान चित्त से अयुक्त भी हो सकता है । पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि हो सकता है ।

१०८. क्या दुःख आर्य-सत्य का ज्ञान मात्र यह कहने से हो जाता है 'यह दुःख है' ? अन्धको का ऐसा ही विश्वास था ।

१०९. क्या योग की विभूतियो से युक्त मनुष्य कल्प भर तक रह सकता है ? महासांघिक भिक्षु-कहते थे 'हाँ' ।

११०. क्या चित्त-प्रवाह (चित्त-सन्तति) समाधि मे भी रहता है ? सर्वास्तिवादी और उत्तरापथको का विश्वास ।

१११ क्या पदार्थो का नियमित स्वरूप स्वय निष्पन्न (निष्फन्न) है ? अन्धको का विश्वास ।

११२. क्या अनित्यता स्वय निष्पन्न है, जैसे अनित्य पदार्थ ? यह मत भी अन्धकों का था ।

बारहवाँ अध्याय

११३ क्या केवल सयम और अ-सयम ही कुशल और अकुशल कर्मो की उत्पत्ति करने वाले है ? महासांघिको का ऐसा ही विश्वास ।

११४ क्या प्रत्येक कर्म का विपाक अवश्य होता है ? महासांघिको का ऐसा ही विश्वास था । स्थविरवादियो के मत के अनुसार अव्याकृत कर्म का विपाक नही होता ।

११५-११६ क्या वाणी और शरीर की इन्द्रियाँ भी पूर्व-जन्म के कर्म के परिणाम स्वरूप है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था ।

११७ क्या वे स्रोत आपन्न व्यक्ति जो अधिक से अधिक सात बार आवागमन में घूमने के बाद निर्वाण प्राप्त करते है (सत्तक्खत्तु-परम), उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते है ? उत्तरापथको का ऐसा ही मत ।

११८. क्या वे स्रोतापन्न व्यक्ति जो एक कुल से दूसरे कुल में जन्म लेने के बाद (कोलंकोल) या सिर्फ एक ही बार और जन्म लेने के बाद (एकबीजी)

निर्वाण प्राप्त करते हैं, उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं ? उत्तरापथकों का ही मत।

११९. क्या सम्यक् दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति जान-बूझ कर हत्या कर सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि ऐसा मनुष्य अभी क्रोध-मुक्त नही हुआ, अतः क्रोध के आवेश में उसके लिये ऐसा करना असम्भव नही है।

१२०. क्या सम्यक्-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति दुर्गतियो से विमुक्त हो जाता है ? उत्तरापथको का यह मत था। स्थविरवादियो के मतानुसार दुर्गति के दो अर्थ है, पशु-योनि आदि दुर्गतियाँ और इच्छा-आसक्ति आदि दुर्गतिया। उपर्युक्त व्यक्ति उनके मतानुसार केवल प्रथम दुर्गति मे विमुक्त हो जाता है।

१२१. क्या स्रोत आपन्न व्यक्ति अपने सातवे जन्म में दुर्गतियो से विमुक्त हो जाता है ? उपर्युक्त के समान।

तेरहवाँ अध्याय

१२२. क्या जीवन-काल (कल्प-कप्प) के लिये दडित व्यक्ति युग-काल (कल्प-कप्प) तक दड भोगेगा ? 'कप्प' का अर्थ न समझने के कारण राज-गृहिक भिक्षुओं का यह भ्रम था।

१२३. क्या नरक मे यातना पाता हुआ प्राणी कुशल-चित्त की भावना नही कर सकता ? 'नही कर सकता' कहते थे उत्तरापथिक। स्थविरवादियों के अनुसार वह उस अवस्था मे भी कुछ कुशल कर्म कर सकता है।

१२४. क्या पितृ-वध आदि दुष्कृत्यो को करने वाला भी कभी आगे चल कर शुभ कर्म-पथ पर आ सकता है। उत्तरापथक कहते थे 'आ सकता है'। स्थविरवादियो के अनुसार वह उसी अवस्था मे आ सकता है जब कि विना निश्चय किये हुए और दूसरे की आज्ञानुसार उसने ऐसा किया हो।

१२५. क्या व्यक्ति का भाग्य उसके लिये पहले से ही निश्चित (नियत) है ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओ का ऐसा ही विश्वास था।

१२६-२७. क्या ५ नीवरणों (चित्त के आवरणो) और १० सयोजनो (चित्त-बन्धनो) को जीतते समय भी व्यक्ति इनसे युक्त हो सकता है ? उत्तरा-पथक भिक्षुओ का विश्वास था कि हो सकता है।

१२८. क्या ध्यान के अन्दर ध्यान का आस्वाद होता है और ध्यान की इच्छा ही उसका आलम्बन (विषय) है ? अन्धको का ऐसा ही विश्वास।

१२९. क्या अ-सुखकर वस्तु के लिये भी आसक्ति हो सकती है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास।

१३०. क्या मन के विषयो की तृष्णा (धम्म-तण्हा) अव्याकृत है, और

१३१. क्या वह दु:ख का कारण नही है ? ये दोनों मत पूर्वशैलीय भिक्षुओं के थे।

चौदहवाँ अध्याय

१३२. क्या कुशल-मूल (अ-लोभ, अ-द्वेष, अ-मोह) अ-कुशल मूलो (लोभ, द्वेष, मोह) के बाद पैदा होते है ? महासाघिको का मिथ्या विश्वास था।

१३३ माता के पेट मे गर्भ-मे आते समय क्या ६ इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) साथ-साथ ही उत्पन्न होती है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१३४ क्या एक विज्ञान (चक्षु-विज्ञान आदि) किसी दूसरे विज्ञान के बाद उत्पन्न हो सकता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१३५. क्या वाणी और शरीर का पवित्र भौतिक कार्य चार महाभूतो से ही मे ही उत्पन्न होता है ? उत्तरापथको का यही विश्वास था।

१३६. क्या काम-वासना-सम्बन्धी अनुशय और उसका प्रकाशन दो विभिन्न वस्तुएं है ? अन्धको का यही विश्वास था।

१३७ क्या अनुशयो का प्रकाशन चित्त से असयुक्त (विप्पयुत्त) है ? अन्धकों का यही मत था।

१३८ क्या रूप-राग, रूप-धातु मे ही अन्तर्हित और सम्मिलित है ? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओ का यही विश्वास था।

१३९ क्या मिथ्या मत-वाद अ-व्याकृत है ? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओं का यही मत था। वे 'अव्याकृत' शब्द के ठीक अर्थ को नही समझते थे।

१४० क्या मिथ्या मत-वाद, लौकिक क्षेत्र से असम्बन्धित, साधकों के लोकोत्तर क्षेत्र मे भी पाये जाते है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ का यह मिथ्या विश्वास था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

१४१. क्या 'प्रतीत्य समुत्पाद' का प्रत्येक धर्म (अवस्था) केवल एक ही प्रत्यय का सूचक है ? महासांघिक भिक्षुओ का ऐसा ही मत था ।

१४२. क्या यह कहना गलत है कि 'संस्कारों के प्रत्यय से अविद्या की उत्पत्ति होती है', जैसे कि 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कारो की उत्पत्ति होती है ?' महासाघिकों के मतानुसार यह कहना गलत ही था । स्थविरवादियो ने इसे 'सहजात-प्रत्यय' या 'अन्योन्य-प्रत्यय' के आधार पर व्याख्यात किया है और गलत नही माना ।

१४३ क्या काल परिनिष्पन्न (परिनिप्फन्न) है ?

१४४. क्या काल के सभी क्षण परिनिष्पन्नहै ?

१४५ क्या आस्रव (काम-आस्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव, अविद्यास्रव) दूसरे आस्रवो से असंलग्न है ? हेतुवादी भिक्षुओ का यही मत था ।

१४६. क्या लोकोत्तर भिक्षुओ के जरा और मरण भी लोकोत्तर होते है ? महा-सांघिकों का यह मत था । स्थविरवादियो के मतानुसार इनकी भौतिक या मानसिक सत्ता ही नही है, अत. न ये लौकिक है, न लोकोत्तर ।

१४७. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि) लोकोत्तर है ? हेतुवादियों का मत ।

१४८. क्या वह लौकिक (लोकिय) है ? पूर्वोक्त के समान ।

१४९. क्या निरोध-समाधि की अवस्था मे मृत्यु भी हो सकती है । राजगृहिक कहते थे कि हो सकती है । स्थविरवादी भिक्षुओ के मतानुसार नही हो सकती ।

१५०. क्या निरोध-समाधि के बाद सज्ञा-हीन प्राणियो (असञ्ञासत्त) के लोक में उत्पत्ति होती है ? हेतुवादियो का यही मिथ्या विश्वास था ।

१५१. क्या कर्म और कर्म-सचय दो विभिन्न वस्तुएँ है ? अन्धक और सम्मितियों का ऐसा ही विश्वास ।

सोलहवाँ अध्याय

१५२. क्या कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन को नैतिक रूप से शिक्षित कर सकता है या उसे सहायता पहुँचा सकता है ? महासाघिओ का यह मत था ।

१५४. क्या एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन में सुख उत्पन्न कर सकता है ? हेतुवादियों का ऐसा विश्वास था।

१५५. क्या एक ही समय अनेक वस्तुओ की ओर हम ध्यान दे सकते हैं ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओ के मतानुसार यह सम्भव था।

१५६-५७. क्या रूप भी एक हेतु है ? क्या यह हेतुओ से युक्त है ? ये दोनो मत उत्तरापथको के थे ।

१५८ क्या रूप कुशल या अकुशल हो सकता है ? महीशासक और सम्मितिय भिक्षुओं का यह विश्वास था।

१५९ क्या रूप कर्म-विपाक है ? अन्धक और सम्मितियो की मान्यता ।

१६० क्या रूपावचर और अरूपावचर लोको मे भी रूप है ? अन्धको का ऐसा ही विश्वास था।

१६१ क्या रूप-राग और अरूप-राग, क्रमश रूप-धातु और अरूप-धातु में सम्मिलित है ? अन्धको की यही मान्यता थी।

सत्रहवाँ अध्याय

१६२ क्या अर्हत् भी पुण्यो का सचय करता है ? अन्धको की मान्यता।

१६३ क्या अर्हत् की अकाल मृत्यु नही हो सकती ? नही हो सकती, ऐसा राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु मानते थे ।

१६४ क्या हर वस्तु कर्मो के कारण है ? राजगृहिक और सिद्धार्थक भिक्षु ऐसा ही विश्वास रखते थे ।

१६५. क्या दुःख छः इन्द्रिय-अनुभूतियो तक ही सीमित है ? हेतुवादियो की यह मान्यता थी।

१६६. क्या आर्य-मार्ग को छोड़कर सभी वस्तुएं और सस्कार, दुःख (कृत) हैं ? हेतुवादियो का ऐसा ही विश्वास था।

१६७ क्या यह कहना गलत है कि सघ दान ग्रहण करता है। यह मत वैतुल्यक नामक महाशून्यतावादियो का था। सघ की चार आर्य-मार्गों और उनके फलो के रूप मे व्याख्या करना इनका मुख्य सिद्धान्त था। इनके सिद्धान्तो में हम महायान-धर्म के बीज पाते हैं ।

१६८-७१. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान को पवित्र करता है, या स्वयं उसे खाता, पीता है, या संघ को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है, या बुद्ध को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है ? ये सब सिद्धान्त वैतुल्यक नामक महाशून्यता-वादियों के थे। इन्हीं से बाद में महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ।[१]

१७२. क्या दान देने वाले के द्वारा ही पवित्र किया जाता है, ग्रहण करने वाले के द्वारा नहीं ? उत्तरापथको का यही विश्वास था।

अठारहवाँ अध्याय

१७३-७४ क्या यह कहना गलत है कि बुद्ध मनुष्यों के लोक में रहे ? क्या यह भी गलत है कि उन्होंने उपदेश दिया ? 'हाँ गलत ही है' ऐसा वेतुल्यक (वैपुल्यक) कहते थे। बाद में चल कर महायान-धर्म ने भी यही कहा "भगवान् तथागत मौन है। भगवान् बुद्ध ने कभी किसी को कुछ नहीं सिखाया" (मौना हि भगवन्तस्तथागता. ।न मौनैस्तथागतैर्भाषितम्) इस सब के बीज हम यहीं पाते हैं।

१७५ क्या बुद्ध को करुणा उत्पन्न नहीं हुई ? 'नहीं हुई', कहते थे उत्तरापथक, क्योंकि करुणा को भी वे आसक्ति का ही रूप मानते थे।

१७६ क्या यह सत्य है कि भगवान् बुद्ध के मल में से भी अद्वितीय सुगन्ध आती थी ? अन्धक और उत्तरापथको का यही मत था।

---

१. मिलाइये, ज्ञानातिलोक "According to my opinion वैतुल्य is a distortion of वैपुल्य and the वैपुल्य sutras of the Mahayana refer to the above-mentioned heretics (Vetulyakas known as महाशून्यतावादिन् s) whose ideas, too, appear to be perfectly Mahayanistic." गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ६०; राहुल सांकृत्यायन : "वैपुल्य ही वह नाम है जिससे महायान आरम्भिक काल में प्रसिद्ध हुआ" पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३१। 'शून्यता' (सुञ्ञता) के विचार का निर्देश संयुत्त-निकाय के ओपम्म-वग्ग में तथा अंगुत्तर-निकाय के अनागतभय-सूत्रों (चतुक्क और पंचक निपात) में हुआ है। इस विषय सम्बन्धी अधिक निरूपण के लिए देखिये श्रीमती रायस डेविड्स् : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद) पृष्ठ ४२ (भूमिका)

१७७. क्या केवल एक आर्य-मार्ग के अभ्यास से चारो आर्य-मार्गों (स्रोतापत्ति आदि) के फलों को प्राप्त किया जा सकता है ?

१७८. क्या एक ध्यान के ठीक बाद दूसरे ध्यान में साधक प्रवेश कर जाता है ? महीशासको का ऐसा ही विश्वास था।

१७९. ध्यानों के पचविध विभाजन मे जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है वह क्या केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की अवस्था है ? सम्मितिय और कुछ अन्धको का ऐसा ही विश्वास था।

१८० क्या साधक ध्यान मे शब्दो को सुन सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ की यही मान्यता थी ?

१८१. क्या दृश्य पदार्थ आँखो से ही देखे जाते है ? महासांघिको के मतानुसार (पमाद-चक्खु) जो केवल भौतिक विकार है, देखती है। स्थविरवादियों के मतानुसार वह केवल देखने का आधार या आयतन है और है जो देखता है वह तो वास्तव मे चक्षु-विज्ञान है।

१८२ क्या हम भूत, वर्तमान और भविष्यत् के मानसिक क्लेशो पर विजय प्राप्त कर सकते है ? उत्तरापथको के अनुसार कर सकते हैं।

१८३ क्या शून्यता सस्कार-स्कन्ध मे सम्मिलित है ? अन्धको के अनुसार सम्मिलित है।

१८४ क्या मार्ग-फल अ-सस्कृत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत।

१८५ क्या किसी वस्तु की प्राप्ति स्वय अ-संस्कृत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओ का मत।

१८६ क्या 'तथता' (वस्तुओ का निश्चित स्वरूप) अ-संस्कृत है ? उत्तरापथकों मे से कुछ का यह विश्वास था। बाद मे चल कर अश्वघोष के 'भूततथता' के सिद्धान्त का यहां बीज पाया जाता है। यह सिद्धान्त उपनिषदो के ध्रुव आत्मवाद के अधिक समीप पहुँच जाता है।

१८७ क्या निर्वाण-धातु कुशल है ? अन्धको का मत। कुशल को सामान्यतः 'निर्दोष' या 'पवित्र' मानकर वे निर्वाण को भी 'कुशल' कहते थे।

१८८ क्या सासारिक मनुष्य (पृथग्जन) में भी अत्यन्त नियमवत्ता (अच्चन्त-नियामता) हो सकती है ? उत्तरापथको मे से कुछ के मतानुसार हो सकती थी।

१८९. क्या ऐसी श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ नही है जो लौकिक हों और जिन्हे

साधारण आदमी (पृथग्जन) भी प्राप्त कर सके ? नही है, ऐसा महीशासक और हेतुवादी भिक्षु कहते थे।

बीसवाँ अध्याय

१९०. क्या बिना जान-बूझ कर किये हुए पितृ-वध आदि अपराधों के कारण भी नरक में जन्म लेना पड़ता है ? उत्तरापथक ऐसा मानते थे।

१९१. क्या साधारण सासारिक मनुष्य (पृथग्जन) को सम्यक् ज्ञान नही हो सकता ? नही हो सकता, कहते थे हेतुवादी।

१९२ क्या नरक मे फाँसी लगाने वाले या चौकीदार नही है। 'नही है' कहते थे अन्धक।

१९३. क्या देवताओ के पशु भी होते है ? अन्धको के अनुसार होते थे।

१९४. क्या आर्य अष्टागिक मार्ग वास्तव मे पाँच अगो वाला ही है ? महीशासक ऐसा ही मानते थे। सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को वे मानसिक दशा न मान कर उनका अन्तर्भाव केवल सम्यक् व्यायाम मे कर देते थे।

१९५ क्या चतुरार्य सत्य-सम्बन्धी १२ प्रकार के ज्ञान लोकोत्तर है ? पूर्वशैलीय भिक्षु उन्हे ऐसा ही मानते थे।

इक्कीसवाँ अध्याय

१९६ क्या बुद्ध-उपदेशो मे कोई सस्कार किया गया है ? क्या उनमे फिर सस्कार किया जा सकता है ? इन दोनो बातो की सम्भावना उत्तरापथक भिक्षु मानते थे। स्थविरवादियो ने दोनो बातो का विरोध किया है। बुद्ध की शिक्षाओ का सस्कार या सुधार सम्भव नही है।

१९७. क्या सांसारिक मनुष्य की पहुँच एक ही क्षण मे काम -लोक, रूप-लोक और अ-रूप-लोक की वस्तुओं में हो सकती है ? हो सकती है, ऐसा कुछ विरोधी सम्प्रदाय के लोग मानते थे, किन्तु उनके नाम का निर्देश अट्ठकथा मे नही किया गया है।

१९८. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किए भी अर्हत्त्व प्राप्ति हो सकती है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था।

१९९. क्या बुद्ध और उनके कुछ शिष्यों को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्धमे योग की शक्तियाँ प्राप्त हुई रहती है। अन्धको का विश्वास।

२००. क्या विभिन्न बुद्धो मे भी कुछ श्रेणी का तारतम्य है ? अन्धक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

२०१ क्या ससार के चारो भागो मे बुद्धो का निवास है। महासाघिको का यह विश्वास था। बाद के महायानी ग्रथ 'सुखावती व्यूह' मे इसी विश्वास का प्रतिपादन किया गया है। 'सुखावती' व्यूह' मे प्रत्येक भाग मे रहने वाले बुद्ध का नाम भी दिया हुआ है, जैसे पच्छिमी भाग मे भगवान् अमिताभ बुद्ध रहते हैं, पूर्वी भाग मे अमितायु आदि। महासाघिको को अभी इसका पता नही है।

२०२.-३ क्या सभी वस्तुएँ और कर्म नियत है ? अन्धक और कुछ उत्तरापथक भिक्षुओ का ऐसा ही विश्वास था।

बाईसवाँ अध्याय

२०४ क्या बिना कुछ सयोजनो का विनाश किए भी निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। अन्धको का विश्वास था कि हो सकती है। यह मत १९८ के प्राय. समान ही है।

२०५. क्या अर्हत् के शरीर त्याग करते समय उसका चित्त 'कुशल' रहता है। अन्धको का यह भ्रमात्मक कथन था। 'कुशल' के दार्शनिक अर्थ को वे ठीक-ठीक न समझते थे।

२०६ क्या निश्चल (आनेञ्ज) ध्यान की अवस्था में भी बुद्ध या किसी अर्हत् की मृत्यु हो सकती है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की यही मिथ्या धारणा थी।

२०७-८. क्या गर्भ की अवस्था मे या स्वप्न की अवस्था मे सत्य का अन्तर्ज्ञान (धम्माभिसमय) या अर्हत्त्व की प्राप्ति सम्भव है ? उत्तरापथक भिक्षु इसकी सम्भावना मानते थे।

२०९. क्या स्वप्न की अवस्था मे चित्त 'अव्याकृत' रहता है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादियो के मतानुसार कुशल और अकुशल अवस्थाएँ भी उत्पन्न हो सकती है।

२१० क्या शुभ और अशुभ मानसिक अवस्थाओ की पुनरावृत्ति सम्भव नही है। ऐसी मान्यता उत्तरापथक भिक्षुओ की थी।

२११. क्या सभी पदार्थ (धर्म) एक क्षण तक ही रहते हैं। ऐसी मान्यता पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं की थी।

२१२. क्या (पुरुष और स्त्री के) सयुक्त विचार के साथ मैथुन-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? यह बात वेतुल्यकों ने उठाई है, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि उनका तात्पर्य भिक्षुओं से है या गृहस्थों से। स्थविरवादियों ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया है।

२१३. क्या ऐसे अ-मानुषी जीव हैं जो भिक्षुओं का रूप धारण कर मैथुन सेवन करते हैं? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी मान्यता थी।

२१४. क्या बुद्ध ने अपनी शक्ति और इच्छा से ही बोधिसत्व होने समय पशु आदि योनियों में प्रवेश किया, कड़ी तपस्याएँ की और एक दूसरे उपदेशक के लिए तपस्या की? अन्धकों की यह मान्यता थी।

२१५. क्या ऐसी वस्तु है जो स्वयं काम नहीं, किन्तु कामके समान है। (दया, महानुभूति, आदि)। इसी प्रकार घृणा नहीं, किन्तु घृणा के समान है, (ईर्ष्या, मात्सर्य) आदि। अन्धकों की ये मान्यताएँ थी।

२१६. क्या यह कहना ठीक है कि पच-स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु और २२ इन्द्रियाँ, 'असस्कृत' है और केवल दु.ख 'संस्कृत' या परिनिष्पन्न (परिनिष्फन्न) हैं? उत्तरापथक और हेतुवादी भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी।

ऊपर हम कथावत्थु में निराकृत २१६ मतवादों का सक्षिप्त विवरण दे चुके हैं। इनमें से बहुत कुछ अल्प महत्त्व के हैं, परन्तु अधिकाश मतवाद बड़े महत्त्व के हैं। उनसे बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वास्तव में इसी दृष्टि से उन्हें ऊपर उद्धृत भी किया गया है। कथावत्थु की अट्ठकथा ने जिन सम्प्रदायों के साथ उपर्युक्त मतवादों में से प्रत्येक को संलग्न किया है (कुछ को बिना सलग्न किए भी छोड़ दिया है जैसे २५, ३०, ३१, ३८, १४३, १४४, १७७, और १९७,) उनकी दृष्टि से मतवादों का सकलन करने पर निम्नलिखित सूची बनेगी, जो बौद्ध धर्मके ऐतिहासिक विकास के विद्यार्थी के लिए बड़ी आवश्यक हो सकती है—

सिद्धत्थिक (सिद्धार्थिक) ६२-६७, १६३-१६४

वेतुल्यक १७३-७४, २१२

महाशून्यतावादी वैतुल्यक १६७–७१[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास को समझने के लिए 'कथावत्थु' की समीक्षाओं का कितना अधिक महत्त्व है। किन्तु ये समीक्षाएँ केवल एक सम्प्रदाय (स्थविरवाद) की है, यह भी हमे नही भूलना चाहिए। जिस प्रकार 'कथावत्थु' मे स्थविरवादी दृष्टिकोण से अन्य विरोधी सिद्धान्तो का खडन किया गया है, उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायो की परम्परा में शेष सम्प्रदायो (जिनमें स्थविरवादी भी सम्मिलित है) का खडन किया गया है। उदाहरणत. वसुमित्र के 'अष्टादश-निकाय शास्त्र' [2] मे सर्वास्तिवादी दृष्टिकोण से शेष १७ सम्प्रदायों का खडन किया गया है। इसी प्रकार तिब्बती और चीनी अनुवादो मे कुछ अन्य सम्प्रदायो की दृष्टियो से भी खडन-मडन मिलते है।[3] चूकि हमारे विषय मे ये सीधे सम्बन्धित नही है, अत इनके तुलनात्मक अध्ययन मे पडना हमारे लिए अप्रासगिक होगा। 'कथावत्थु' की दृष्टि से इतना कह देना ही आवश्यक जान पड़ता है कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायो की परम्पराओ मे प्राप्त सिद्धान्तो के विवरणो से उसके विवरणो की विभिन्नता नही है। केवल समालोचना-दृष्टि का भेद अवश्य है, जो सम्प्रदाय-विभेद के कारण आवश्यक हो गया है। जहाँ तक आपेक्षिक प्रामाण्य का सवाल है निश्चय ही 'कथावत्थु' का परम्परा प्राचीन है और उसी का अनुवर्तन बाद मे 'दीपवस' और 'महावस' में भी मिलता है। वसुमित्र और भव्य के वर्णन अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। सस्कृत बौद्ध धर्म की परम्परा का उसके मूल स्रोत से कई बार ऐतिहासिक उलट-पुलटों के कारण विच्छेद भी हो

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८

२. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं है। केवल चीनी अनुवाद मिलता है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् प्रो० मसूदा ने किया है। वसुमित्र द्वारा दिये गये कुछ सम्प्रदायों के परिचय के लिये देखिये बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ८२८-३१।

३. देखिये जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१०, पृष्ठ ४१३

चुका है। अत पालि वर्णन ही अधिक प्रामाणिक और समाश्रयणीय है। अतः 'कथावत्थु' के नाना सम्प्रदायो के सिद्धान्त-विवरण प्रामाणिक माने जा सकते है और बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक विकास के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने के लिए आज भी उनका पर्याप्त महत्व है, इसमे सन्देह नही।

यमक[1]

'यमक' का शाब्दिक अर्थ है जोडा या जुड़वाँ पदार्थ। 'यमक पकरण' में प्रश्नों को जोडो के रूप मे रक्खा गया है, यथा (१) क्या सभी कुशल-धर्म कुशल-मूल है ? क्या सभी कुशल-मूल कुशल-धर्म है ? (२) क्या सभी रूप रूप-स्कन्ध है ? क्या सभी रूप-स्कन्ध रूप है ? (३) क्या सभी अ-रूप अ-रूप-स्कन्ध है ? क्या सभी अ-रूप-स्कन्ध अ-रूप है ? आदि, आदि। प्रश्नो के अनुकूल और विपरीत स्वरूपो का यह जोडा बनाना इस ग्रन्थ मे आदि से अन्त तक देखा जाता है। इसीलिए इसका नाम 'यमक' पडा है। 'यमक' का मुख्य विषय है अभिधम्म मे प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या। अत उसका अभिधम्म-दर्शन के लिए वही महत्व और उपयोग है, जो एक निश्चित पारिभाषिक-शब्द-कोश का किसी पूर्ण दर्शन-प्रणाली के लिए। उसकी बहुत कुछ शुष्कता का भी यही कारण है। 'यमक' दस अध्यायो मे विभक्त है, जिनमें निर्दिष्ट विषयों के साथ धम्मो के सबधो को दिखाना ही उसका लक्ष्य है ? अध्यायों के विषय उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाते है, यथा

(१) मूल यमक—कुशल, अकुशल और अव्याकृत, ये तीन 'मूल' धर्म या पदार्थ।
(२) खन्ध-यमक—पञ्च-स्कन्ध।
(३) आयतन-यमक—१८ आयतन।
(४) धातु-यमक—१८ धातुएँ।
(५) सच्च-यमक—४ सत्य।
(६) सखार-यमक—संस्कार, कायिक, वाचिक और मानसिक।
(७) अनुसय-यमक—७ अनुशय (चित्त के अन्दर सुषुप्त बुराइयाँ)।

---

१. श्रीमती रायस डेविड्स एवं अन्य तीन सहायक सम्पादकों द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट् सोसायटी (लन्दन, १९११ एवं १९१३) द्वारा दो जिल्दों में प्रकाशित।

(८) चित्त-यमक—चित्त-संबंधी प्रश्नोत्तर।
(९) धम्म-यमक—धर्मों संबंधी प्रश्नोत्तर।
(१०) इन्द्रिय-यमक—२२इन्द्रियाँ।

प्रत्येक अध्याय की विषय-प्रतिपादन शैली प्रायः समान है। प्राय. प्रत्येक अध्याय तीन भागों में विभक्त है (१) पञ्ञत्ति-वार (शब्द-प्रज्ञापन-विभाग) (२) पवत्ति-वार (प्रक्रिया-विभाग) और (३) परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-विभाग)। प्रथम भाग के भी दो उपविभाग हैं (अ) 'उद्देस-वार (प्रश्न-कथन) और निद्देस-वार (व्याख्या-खण्ड)। 'उद्देसवार' में प्रश्नों का कथन जोड़े के रूप में किया गया है, यथा क्या सभी रूप को रूप-स्कन्ध कहा जा सकता है? क्या सभी रूप-स्कन्ध को रूप कहा जा सकता है? आदि। 'निद्देस-वार' में इसकी व्याख्या की गई है। द्वितीय मुख्य भाग 'पवत्ति-वार' के तीन भाग हैं, यथा (अ) उप्पाद-वार (उत्पत्ति-विभाग) (अ) निरोध-वार (विनाश-विभाग) और उप्पाद-निरोध-वार (उत्पत्ति और विनाश संबंधी विभाग) 'उप्पाद-विभाग' में यह दिखाया गया है कि भिन्न भिन्न धर्मों की किस प्रकार उत्पत्ति होती है? प्रश्नों का ढंग तो वही जुड़वाँ नमूने का है, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है जिसको रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है? क्या रूप-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है जिसको वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है जिसमें रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है? क्या रूप स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है जिसमें वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है? आदि, आदि। 'निरोध-वार' में इसी प्रकार धर्मों के विनाश या अस्तगमन संबंधी प्रश्न किये गये हैं, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध का निरोध हो जाता है? क्या रूप-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध का निरोध हो जाता है?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है जिस जीवन-भूमि में रूप-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है जिस जीवन-भूमि में वेदना-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है?' आदि, आदि। 'उप्पाद-निरोध-वार' में इस क्रम को उल्टा कर दिया गया है। उसके प्रश्न इस प्रकार के हैं—'क्या वेदना-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है? क्या रूप-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है'? 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-

भूमि मे निरुद्ध हो जाता है जिस भूमि में रूप-स्कन्ध पैदा होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन भूमि में वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?" आदि, आदि। तृतीय मुख्य भाग 'परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-भाग) मे प्रश्नोत्तर के रूप मे यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि धम्मो का अन्तर्ज्ञान किस प्रकार पैदा होता है। इसके प्रश्न इस प्रकार हैं — 'क्या जिसने रूप-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे वेदना-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ? क्या जिसने वेदना-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे रूप-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ?' आदि, आदि।

इससे अधिक 'यमक' की वीथियो मे भ्रमण करना "सूखी हड्डियो की घाटी" मे भ्रमण करना ही होगा, जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने उसे कहा है[1]। वास्तव मे यह किसी भी पारिभाषिक शब्द-कोश के लिए कहा जा सकता है। 'यमक' भी अभिधम्म का शब्द-कोश ही है। अत उसका सूखापन भी अभिधम्म के विद्यार्थियो के लिए एक सतत उपयोग और महत्व की वस्तु है।

पट्ठान [2]

अभिधम्म-दर्शन धम्मो (पदार्थो-अवस्थाओं) का एक परिपूर्ण दर्शन है। धम्म-सगणि मे धम्मो का विश्लेषण, विभग मे उनका वर्गीकरण, धातुकथा मे उस वर्गीकरण के कुछ शीर्षको पर अधिक प्रकाश, पुग्गलपञ्ञत्ति मे इस धम्म-दर्शन की पृष्ट-भूमि मे व्यक्तियो के प्रकारो का निरूपण, कथावत्थु मे अभिधम्म-दर्शन सबधी मिथ्या

---

१. इस ग्रन्थ की क्लिष्ट शैली और दुरूह विषय-वस्तु के कारण श्रीमती रायस डेविड्स् जैसी महाप्राज्ञा एवं अभिधम्म-दर्शन की मननशीला अध्येत्री को भी अनेक विप्रतिपत्तियों में पड़ जाना पड़ा। उनकी कठिनाइयों और सन्देहों का निवारण प्रसिद्ध बर्मी बौद्ध विद्वान् स्थविर लेदि सदाव ने किया था। लेदि सदाव के विचार एक पालि निबन्ध के रूप में 'यमक' के पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट में निहित हैं। ऐतिहासिक गौरव को प्राप्त यह निबन्ध पालि-साहित्य के विद्यार्थियों द्वारा द्रष्टव्य है।

२. श्रीमती रायस डेविड्स् ने इस ग्रंथ का अंशतः सम्पादन पालि टैक्स्ट् सोसायटी के लिए किया है। दुक-पट्ठान, भाग प्रथम (१९०६) एवं तिक-पट्ठान, भाग १-३ (१९२१-२३)। इस ग्रंथ के बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। हिन्दी में न अनुवाद हैं, न मूल संस्करण।

धारणाओं के निरसन के द्वारा उसके विमल, मौलिक स्वरूप का प्रकाशन, यमक में अभिधम्म-गृहीत पारिभाषिक शब्दावली की सदा के लिए भ्रम निवारण करने वाली निश्चित व्याख्या, अभिधम्म-दर्शन का इतना विकास अभी हम उनके छह ग्रन्थो मे देख चुके है। सातवें ग्रन्थ (पट्ठान) में अब हम अभिधम्म-दर्शन की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमि पर आते है। यही वह भूमि है जहाँ से वह नित्य, ध्रुव पदार्थ के गवेषक अन्य भारतीय दर्शनो का साथ छोड देता है। कम से कम उनकी सी गवेषणा मे तो वह प्रवृत्त नही होता। निरन्तर परिणामी 'धर्मों' का विश्लेषण करने के बाद उनकी तह में किसी अ-परिणामी 'धर्मी' को भी क्या अभिधम्म ने देखा है ? ऐसी जिज्ञासा हम अमरता के लालची अवश्य करेगे। किन्तु लालच (तृष्णा) को अवकाश तथागत ने कब दिया, फिर चाहे वह अमरता का ही क्यो न हो ? हमारा प्रश्न ही गलत है, ऐसा ही उत्तर यहाँ तो हम पायेगे। अतः बुद्ध-अनुगामी स्थविरो ने भी धम्मो या पदार्थों की अवस्थाओं का ही अध्ययन किया है, प्रवाहो और घटनाओ (जिनमे ही सपूर्ण नाम (विज्ञान-तत्व) और रूप (भौतिक-तत्व) सनिहित है, के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप पर ही जोर दिया है। उनमे अन्तर्हित किसी कूटस्थ, नित्य, ध्रुव पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि पर उन्होने जोर नही दिया। क्यो ? क्योकि उनके शास्ता के शब्दो मे "यह न ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है और न निर्वेद, शान्ति, परमज्ञान ओर निर्वाण के लिए ही आवश्यक है।" इस उद्देश्य को समझ ले तो पालि बुद्ध-दर्शन ने अपनी जिज्ञासाओ की जो मर्यादा बाँधली है, उसको हृदयगम करना आसान हो जाता है। फिर भी अनात्मवादी बुद्ध-मत भौतिकतावादी नही है।

जहाँ तक दार्शनिक परिस्थिति की पूर्णता का सवाल है, उसके लिए भी तथागत ने पर्याप्त अवकाश और आश्वासन दिया है। जिसे उन्होने 'अनत्ता' (अनात्मा) के रूप मे निषिद्ध किया है, उसे ही उन्होने 'निब्बाण' (निर्वाण) के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। सभी भौतिक और मानसिक अवस्थाएँ अनित्य, दुःख और अनात्म है, सापेक्ष है, कार्य और कारण की शृखला से बद्ध है। किन्तु निर्वाण असंस्कृता धातु है। वह कार्य-कारण भाव से बद्ध नहीं है। वह उससे ऊपर है। अनपेक्ष है, परमार्थ है। किन्तु दुःख-निवृत्ति की साधना तो भव-प्रवाह मे ही करनी है, जो कार्य-कारणभाव से सचालित है। अतः उसी की गवेषणा प्रधान रूप से करनी इष्ट है। भगवान् बुद्ध ने समग्र मानसिक और भौतिक जगत् में यदि किसी

नियामक को नहीं तो नियम को तो अवश्य ही देखा है, यदि किसी ऋत-धारी वरुण को नहीं तो स्वयं ऋत को तो अवश्य देखा ही है। त्रसरेणु से भी सहस्रांश छोटे पदार्थों से लेकर महापिंड नीहारिकाओं तक और दृश्य इन्द्रिय-व्यापारों से लेकर सूक्ष्म अन्तश्चेतना की गहरी अनुभूतियों तक, इस सारे संसार-चक्र को तथागत ने नियम और ऋत से बँधा हुआ अवश्य देखा है। भगवान् को इस सत्य का ज्ञान सम्यक्-सम्बोधि-प्राप्ति के समय ही हुआ था, इसके लिए त्रिपिटक में प्रभूत प्रमाण हैं।[२] क्या है वह ऋत, क्या है वह नियम, जिसका ज्ञान भगवान् बुद्ध ने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय ही किया ? यही है वह गम्भीर[३] प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुप्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। यह कोई कोरा दार्शनिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि यह है सम्यक् सम्बुद्ध की प्रत्यक्षतम अनुभूति। यदि यह कोरा दार्शनिक सिद्धांत होता तो तथागत के लिए उसका उपदेश करना ही अनावश्यक होता। उस हालत में तथागत भी अफलातूं, अरस्तू, शंकर या नागार्जुन की समकोटि के ही दार्शनिक होते। वे 'करुणा के देव' किस प्रकार होते, जिस रूप में मानवता को उनका एकमात्र सहारा मिला है ? वास्तव में प्रतीत्य समुत्पाद भगवान् की करुणा का ही ज्ञानमय परिणाम है। भगवान् ने अशेष जीव-जगत् को दुःख की चक्की में पिसते देखा। जहाँ बुद्ध-नेत्रों से देखा, अखिल लोक में जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, दौर्मनस्य और उपायासों का ही अखंड साम्राज्य देखा। जिज्ञासा हुई यह किसके कारण ? स्थूल कारण अनेक थे जिन्हें साधारण आदमी आज भी देखते हैं और कुछ उन्हीं पर अधिक जोर भी देते हैं। किन्तु बुद्ध-नेत्रों से देखा गया कि जन्म ही इन दुःखों का मूल कारण है। जन्म का कारण क्या ? भव। भव का कारण क्या ? उपादान। उपादान का कारण क्या ? तृष्णा ! तृष्णा का कारण क्या ? वेदना ! वेदना का कारण क्या ? स्पर्श। स्पर्श का कारण क्या ? षडायतन ! षडायतन का कारण क्या ? नाम-रूप। नाम-रूप का कारण क्या ? विज्ञान। विज्ञान का कारण क्या ? संस्कार। संस्कार का कारण क्या ? अविद्या। "भिक्षुओ ! अविद्या और तृष्णा से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ

---

२. देखिये विशेषतः विनय-पिटक—महावग्ग १, उदान, प्रथम (बोधि) वर्ग।
३. महानिदान-सुत्त (दीघ. २।२) में भगवान् ने स्वयं इसकी गम्भीरता का वर्णन सारिपुत्र के प्रति किया है।

का पता नहीं चलता।" आवागमन के चक्र को अविद्या ही गति प्रदान करती है। यदि अविद्या का निरोध कर दिया जाय तो संस्कारों का निरोध। संस्कारों का निरोध कर दिया जाय तो विज्ञान का निरोध। विज्ञान का निरोध कर दिया जाय तो नाम-रूप का निरोध। नाम-रूप का निरोध कर दिया जाय तो छह आयतनों का निरोध। छह आयतनों का निरोध कर दिया जाय तो स्पर्श का निरोध। . . वेदना का निरोध। तृष्णा का निरोध। उपादान का निरोध। . भव का निरोध। . जन्म का निरोध। जरा, मरणशोक, रोदन-विलाप, दुःख, मानसिक कष्ट एवं सारे दुःख-पुंज का निरोध। यही बुद्धोक्त प्रतीत्य समुत्पाद है, जिसे दुःख के आगमन और अस्तगमन को हेतु-पूर्वक दिखाने के लिए भगवान् ने करुणापूर्वक उपदेश किया।[1]

इस प्रतीत्य समुत्पाद का ही पूरे विस्तार के साथ विवेचन 'पट्ठान' में में किया गया है। किन्तु सुत्तन्त की अपेक्षा पट्ठान की विवेचन-पद्धति की एक विशेषता है। जैसा प्रतीत्य समुत्पाद के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है, प्रतीत्य समुत्पाद का कारण-कार्य परम्परा में १२ कड़ियाँ हैं, जो एक दूसरे से प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हुई हैं। सुत्तन्त में अधिकांश इन कड़ियों की व्याख्या मिलती है। पट्ठान में इन कड़ियों की व्याख्या पर जोर न देकर उन प्रत्ययों पर जोर दिया गया है, जिनके आश्रय से वे पैदा होती और निरुद्ध होती रहती है। पट्ठान में इस प्रकार के २४ प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। यही उसकी एक-मात्र विषय-वस्तु है। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'पट्ठान' (पच्चय+ठान) वास्तव में प्रत्ययों का स्थान ही है।

आकार और महत्त्व की दृष्टि से पट्ठान अभिधम्म-पिटक का एक महाग्रन्थ है। महत्त्व में उसका स्थान धम्मसंगणि के बाद ही है। स्यामी संस्करण की ६ जिल्दों में ३१२० पृष्ठ हैं। यह हालत तब है जब ग्रन्थ के चार मुख्य भागों में से अन्तिम तीन अत्यंत संक्षिप्त कर दिये गये हैं। यदि उनका भी विवरण प्रथम भाग के समान ही किया जाता तो महास्थविर ञानातिलोक का यह अनुमान ठीक है कि कुल ग्रन्थ का आकार १४००० पृष्ठ से कम न होता। जैसा अभी कहा जा चुका है, संपूर्ण ग्रन्थ चार बड़े भागों में विभक्त है, यथा

---

१. देखिये विशेषतः महानिदान-सुत्त (दीघ. २।१५), महाहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम. १।३।८) आदि

(१) अनुलोम-पट्ठान—धम्मो के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधो का विधानात्मक अध्ययन ।

(२) पच्चनिय-पट्ठान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक अध्ययन ।

(३) अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान–धम्मो के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक और निषेधात्मक अध्ययन ।

(४) पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान—धम्मो के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधो का निषेधात्मक और विधानात्मक अध्ययन।

ग्रन्थ के आरम्भ मे एक भूमिका है, जिसका नाम 'पच्चय-निद्देस' (प्रत्यय निर्देश) है। इसमे उन २४ प्रत्ययो का उल्लेख और सक्षिप्त विवरण है, जिनके आधार पर धम्मो का उदय और अस्तगमन सारे ग्रन्थ मे दिखाया गया है। स्यामी सस्करण की पहली जिल्द मे यह भूमिका-भाग ही आया है। मूल ग्रन्थ के उपर्युक्त ४ भागो मे से प्रत्येक की विषय-प्रतिपादन शैली समान ही है। केवल प्रथम भाग के आधार पर शेष तीन मे विषय-विवरण सक्षिप्त अवश्य दिया गया है। स्यामी सस्करण की २, ३, ४, और ५ जिल्दो मे केवल प्रथम भाग आया है। शेष तीन भाग छठी जिल्द मे है। प्रथम भाग की अध्याय-सख्या इस प्रकार है—२२+८९+१३२+९४+४२+४८=३२७। इससे पट्ठान के वृहत् आकार की कुछ कल्पना की जा सकती है।

उपर्युक्त चार भागो मे विधानात्मक आदि अध्ययन-क्रम से २४ प्रत्ययो का सबध धम्मो के साथ दिखाया है। प्रत्येक भाग मे यह अध्ययन-क्रम छह प्रकार से प्रयुक्त किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इन चार भागो मे से प्रत्येक छह-छह उपविभागो मे और भी बटा हुआ है, जैसे कि

(१) तिक-पट्ठान—धम्मसगणि मे प्रयुक्त २२ त्रिको के वर्गीकरण को लेकर धम्मो के साथ २४ प्रत्ययो का सबध-निरुपण ।

(२) दुक-पट्ठान—धम्मसगणि मे प्रयुक्त १०० द्विको के वर्गीकरण को लेकर धम्मो के साथ २४ प्रत्ययो का सबध-निरुपण ।

(३) दुक-तिक-पट्ठान—उपर्युक्त १०० द्विको और २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन ।

(४) तिक-दुक-पट्ठान—उपर्युक्त २२ त्रिको और १०० द्विको को लेकर पूर्ववत् अध्ययन ।

(५) तिक-तिक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(६) दुक-दुक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित १०० द्विको को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

इस प्रकार सपूर्ण महाग्रन्थ चौबीस भागो मे बटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक 'पट्ठान' कहलाता है। इसीलिए 'पट्ठान' की अट्ठकथा में कहा गया है—चतुवीसति-समन्त-पट्ठान-समोधान-पट्ठान-महाप्पकरण नामाति। अर्थात् 'पट्ठान' महाप्रकरण मे कुल मिलाकर २४ 'पट्ठान' या प्रत्यय-स्थान है।

'पट्ठान' के दीर्घ आकार को देखते हुए उसके विषय या शैली का लघु से लघु सक्षेप देना भी कितना कठिन है, यह आसानी से समझा जा सकता है। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, उसकी भूमिका (पच्चय-निद्देस) में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और सक्षिप्त विवेचन है, जिसके आधार पर सपूर्ण ग्रन्थ मे प्रतीत्य समुत्पाद को समझाया गया है। प्रत्यय-दर्शन का विवेचन पट्ठान की एक मुख्य विशेषता है। जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने कहा है, सपूर्ण अभिधम्म दर्शन सम्बन्धी ज्ञान के लिये वह एक महत्व पूर्ण रचनात्मक दान है।[१] हमारा उद्देश्य यहाँ इन २४ प्रत्ययो का सक्षिप्त विवरण देना ही है। इनके नाम इस प्रकार है—

१. हेतु-प्रत्यय	८. निश्रय-प्रत्यय
२ आलम्बन-प्रत्यय	९. उपनिश्रय-प्रत्यय
३. अधिपति-प्रत्यय	१०. पूर्वजात-प्रत्यय
४. अनन्तर-प्रत्यय	११ पश्चात्जात-प्रत्यय
५. समनन्तर-प्रत्यय	१२. आसेवन-प्रत्यय
६. सहजात-प्रत्यय	१३ कर्म-प्रत्यय
७. अन्योन्य-प्रत्यय	१४. विपाक-प्रत्यय

---

१. देखिये तिक-पट्ठान, प्रथम भाग (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी से प्रकाशित, लन्दन १९२१-२३) पृष्ठ ५ (भूमिका) एवं तिक-पट्ठान, द्वितीय भाग को सम्पादकीय टिप्पणी।

१५. आहार-प्रत्यय	२०. विप्रयुक्त-प्रत्यय
१६. इन्द्रिय-प्रत्यय	२१. अस्ति-प्रत्यय
१७. ध्यान-प्रत्यय	२२. नास्ति-प्रत्यय
१८. मार्ग-प्रत्यय	२३. विगत-प्रत्यय
१९. सम्प्रयुक्त-प्रत्यय	२४. अविगत-प्रत्यय[1]

प्रत्येक प्रत्यय का क्या अर्थ है और किस प्रकार उसका आश्रय लेकर किसी एक धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध किसी दूसरे धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध-पर आधारित है, इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक होगा ।

१ **हेतु-प्रत्यय (हेतु पच्चयो)**--हेतु का अर्थ है मूल कारण या आधार। अभिधम्म-दर्शन मे लोभ, द्वेष, मोह एवं उनके विपक्षी अलोभ, अद्वेष और अमोह को मूल कारण या हेतु कहा गया है । इनमें से पहले तीन कर्म-विपाक की दृष्टि से अकुशल है और बाद के तीन कुशल है । और कहीं कहीं (जैसे कि अर्हत् के संबंध में) अव्याकृत अर्थात् अनिश्चित (नितान्त स्वाभाविक या कर्म-विपाक उत्पन्न करने मे निष्क्रिय) भी । जितनी भी कुशल या अकुशल अवस्थाएँ मानसिक या भौतिक जगत् मे हो सकती है, उनके मूल आधार या हेतु क्रमश उपर्युक्त कुशल या अकुशल धम्म ही है । इन मूल आधारों या हेतुओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर ही अनिवार्यत सब कुशल और अकुशल धम्मों की उपस्थिति या अनुपस्थिति निर्भर है। पट्ठान की भाषा मे, "हेतुओं से संयुक्त धम्म और इन्हीं से उत्पन्न होने वाली भौतिक जगत की सारी अवस्थाएँ, हेतुओं पर हेतु-प्रत्यय के रूप मे अवलम्बित है।" उत्पन्न होनेवाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न--प्रत्ययोत्पन्न) तो यहाँ धम्म और भौतिक जगत् की अवस्थाएँ है । जिनमे

---

१. **इन चौबीस प्रत्ययों में अनेक एक दूसरे में सम्मिलित है। अभिधम्मत्थसंगह में इनको चार मुख्य भागो में विभक्त कर दिया गया है, यथा आलम्बन, उपनिःश्रय, कर्म और अस्ति। आरम्मणूपनिस्सयकम्मत्थिपच्चयेसु च सब्बेपि पच्चया समोधानं गच्छन्ति। पृष्ठ १५१ (धम्मानन्द कोसम्बी का संस्करण, नवनीत टीका सहित)**

वे उत्पन्न होती हैं (पच्चय-धम्म) वे 'हेतु' या कुशलादि मूल धम्म हैं। जिस प्रत्यय (पच्चय) से वे पैदा होती हैं, वह हेतु-प्रत्यय (हेतु-पच्चय) है। शेष प्रत्ययों में भी क्रमानुसार हम इन तीन बातों का उल्लेख करेंगे यथा (१) उत्पन्न होने वाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न) क्या है ? (२) जिस वस्तु से वह उत्पन्न होती है (पच्चय-धम्म) वह क्या है ? (३) प्रत्यय क्या है ?

२. आलम्बन प्रत्यय (आरम्मण पच्चयो)—आलम्बन का अर्थ है विषय या आधार। जिस वस्तु के आधार से कोई दूसरी वस्तु पैदा होती है तो उस दूसरी वस्तु के प्रति पहली वस्तु का सबंध आलम्बन प्रत्यय का होता है। उदाहरणतः चक्षु-विज्ञान और उससे सयुक्त धर्मों की उत्पत्ति रूप-आयतन पर आधारित है। अतः रूप-आयतन आलम्बन है चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का। दूसरे शब्दों में, रूप आयतन आलम्बन-प्रत्यय के रूप में चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का प्रत्यय है। इसी प्रकार शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन और स्पृष्टव्यायतन क्रमशः श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और उनसे सयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त पाँचों आयतन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) मिलकर मनो-धातु और उससे सयुक्त धर्मों के तथा सब धर्म मिलकर मनो-विज्ञान-धातु और उससे सयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्ययके रूप में प्रत्यय है। सक्षेप में, जो जो धर्म चित्त और चैतसिक धर्मों के आलम्बन हैं वे सभी उनके प्रति आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। यहाँ (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) जिह्वा और (५) काय-सबधी विज्ञान एवं उनसे सयुक्त धर्म तथा (६) मनोधातु और (७) मनो-विज्ञान-धातु और इनसे संयुक्त धर्म 'पच्चयुप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं। इनके 'पच्चय-धम्म' अर्थात् वे वस्तुएँ जिनसे ये प्रत्ययों के आधार पर उत्पन्न होती है, क्रमशः ये हैं (१) रूप (२) शब्द (३) गन्ध (४) रस और (५) स्पृष्टव्य संबंधी आयतन और इनसे सयुक्त धर्म तथा (६) इन पाँचों आयतनों का सम्मिलित रूप और (७) संपूर्ण धर्म। जिस प्रत्यय के आधार पर यह उत्पत्ति होती है, वह आलम्बन-प्रत्यय (आरम्मण-पच्चयो) है।

३. अधिपति-प्रत्यय (अधिपति पच्चयो)—किसी वस्तु की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा जब इन चार पदार्थों यथा (१) इच्छा (छन्द) (२) उद्योग (विरिय) (३) चित्त और (४) मीमासा (वीमसा) की सहायता की अधि-कता होती है तो इन चार धर्मो मे से जिस किसी की अधिकता होती है, वही उत्पन्न होने वाली वस्तु के साथ अधिपति-प्रत्यय के सबध से संबधित होता है। उदाहरणत, जो धर्म इच्छा (छन्द) से सयुक्त है या उससे उद्भूत है, वह इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति) के साथ अधिपति-सबध से संबंधित है। इसी प्रकार वीर्य, चित्त और मीमासा अधिपतियो से जो धर्म सयुक्त है, वे क्रमश इनके साथ अधिपति-सबध मे सबधित है। यहाँ इच्छा, वीर्य, चित्त और मीमासा से सयुक्त धर्म, उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ 'पच्चयुप्पन्न' है। क्रमश इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति), वीर्याधिपति (विरियाधिपति), चित्ताधिपति, और मीमासाधिपति (वीमसाधिपति) इनके 'पच्चय-धम्म' है अर्थात् ये वे वस्तुएँ है जिनमे उपर्युक्त धर्म उत्पन्न होते है। प्रत्यय-अधिपति प्रत्यय है।

४ अनन्तर-प्रत्यय (अनन्तर पच्चयो)—यदि कोई वस्तु अपने ठीक पीछे होने वाली वस्तु की उत्पत्ति मे सहायक होती है, तो वह उसके साथ अनन्तर प्रत्यय के सबध से सबधित होती है। 'पट्ठान' मे कहा गया है 'येस येस धम्मान अनन्तरा ये ये धम्मा तेस धम्मान अनन्तरपच्चयेन पच्चयो' अर्थात् जिन जिन धर्मों के अनन्तर जो जो धर्म होते है, तो पूर्व के धर्म पश्चात् के धर्म के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप मे प्रत्यय होते है। उदाहरणत, पाँच विज्ञान-धातुओ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय सबधी विज्ञान-धातुओ) और उनसे सयुक्त धर्मो के अनन्तर मनो-धातु और उससे सयुक्त धर्मों की उत्पत्ति होती है। अत. पाँच विज्ञान-धातु और उनसे सयुक्त धर्म मनो-धातु और उससे सयुक्त धर्मों के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप मे प्रत्यय है। इसी प्रकार मनो-धातु और उससे सयुक्त धर्म मनो-विज्ञान-धातु और उससे सयुक्त धर्मो के लिये, कुशल-धर्म, कुशल और अव्याकृत धर्मों की उत्पत्ति के लिए और अकुशल धर्म, अकुशल और अव्याकृत धर्मो की उत्पत्ति के लिए, अनन्तर-प्रत्यय के रूप मे प्रत्यय होते है। यहाँ मनो-धातु, मनो-विज्ञान-धातु, कुशल और अव्याकृत धर्म, अकुशल और अव्याकृत

धर्म तथा इनमे सयुक्त धर्म 'पच्चयुप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययो के कारण उत्पन्न होने वाले धर्म हैं। जिन धर्मों से इनकी उत्पत्ति होती है, वे हैं क्रमश. (१) पाँच विज्ञान-धातु और उनसे सयुक्त धर्म (२) मनो-धातु और उनमे मयुक्त धर्म (३) कुशल-धर्म (४) अकुशल-धर्म। अत ये प्रत्यय-धर्म हैं। जिस प्रत्यय के कारण उनकी उत्पत्ति होती है, वह है अनन्तर-प्रत्यय।

५. **समनन्तर-प्रत्यय (समनन्तर पच्चयो)**—बिलकुल अनन्तर-प्रत्यय के समान।

६ **सहजात-प्रत्यय—(सहजात पच्चयो)**—जब कोई धर्म किन्ही अन्य धर्मों के साथ-साथ उत्पन्न होते है तो उनके बीच सहजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणत, सञ्ज्ञा, वेदना, सस्कार और विज्ञान एक दूसरे के साथ सहजात-प्रत्यय के रूप मे सम्बन्धित हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

७ **अन्योन्य-प्रत्यय—(अञ्ञमञ्ञ पच्चयो)**—एक दूसरे के आश्रय से उत्पन्न होने वाले धर्म इस प्रत्यय के द्वारा आपस मे सम्बन्धित होते हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण ही दिया जा सकता है, क्योंकि संज्ञा, वेदना, सस्कार और विज्ञान आपस म एक दूसरे के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं।

८ **निःश्रय-प्रत्यय—(निस्सय पच्चयो)**—नि.श्रय का अर्थ है आधार। पृथ्वी वृक्ष का नि श्रय है। इसी प्रकार जिन धर्मों की उत्पत्ति जिन धर्मों के आधार पर होती है, उनके प्रति उनका नि श्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणत: चक्षु-आयतन, श्रोत्र-आयतन, घ्राण-आयतन, जिह्वा-आयतन और काय-आयतन के आधार पर ही क्रमशः चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान और काय-विज्ञान की उत्पत्ति होती है, अत. उनके बीच नि.श्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

९. **उपनिःश्रय-प्रत्यय—(उपनिस्सय पच्चयो)**—उपनि.श्रय का अर्थ है बलवान् आधार। कुशल-धर्मों के दृढ आधार पूर्वगामी कुशल-धर्म ही होते हैं। अतः उनके बीच का सम्बन्ध उपनिःश्रय-प्रत्यय का है। अन्य अनेक उदाहरण भी मूल पालि में दिये हुए हैं।

१०. **पुरेजात-प्रत्यय—(पुरेजात पच्चयो)**—जिस धर्म से किसी धर्म की उत्पत्ति पहले हुई हो तो उनके बीच पुरेजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

उदाहरणतः, चक्षु-विज्ञान-धातु आदि की उत्पत्ति से पहले चक्षु-आयतन आदि की उत्पत्ति हो चुकी होती है। अतः उसके प्रति वह पुरेजात-प्रत्यय से सम्बन्धित है।

११. **पश्चात्-जात-प्रत्यय--(पच्छाजात पच्चयो)**--शरीर की उत्पत्ति पहले हो जाती है। उसके बाद उसमे चित्त और चेतसिक पैदा होते है। अतः दोनों के बीच का सम्बन्ध पश्चात्-जात-प्रत्यय का है।

१२ **आसेवन-प्रत्यय--(आसेवन पच्चयो)**--आसेवन का अर्थ है बार-बार आवृत्ति। किसी धर्म का बार बार अभ्यास जिस किसी दूसरे धर्म को जन्म देने का कारण बनता है, तो उसके साथ उसका आसेवन प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, प्रत्येक कुशल-धर्म की उत्पत्ति किसी पूर्वगामी कुशल धर्म के आसेवन या सतत अभ्यास से होती है। अतः दोनो के बीच आसेवन-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१३ **कर्म-प्रत्यय--(कम्म-पच्चयो)**--किसी भी कर्म-विपाक के पूर्वगामी कुशल या अकुशल धर्म होते है, अतः उनके बीच का सम्बन्ध कर्म-प्रत्यय का होता है।

१४ **विपाक-प्रत्यय--(विपाक पच्चयो)**--वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन चार स्कन्धों की उत्पत्ति पूर्व के वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धो के विपाक-स्वरूप होती है, अतः इनके बीच विपाक-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१५ **आहार-प्रत्यय--(आहार पच्चयो)**--भोजन से यह हमारा शरीर बनता है। अतः शरीर का भोजन के प्रति आहार-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१६. **इन्द्रिय-प्रत्यय--(इन्द्रिय पच्चयो)**--चक्षु-विज्ञान आदि की उत्पत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के प्रति इन्द्रिय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१७. **ध्यान-प्रत्यय--(झान पच्चयो)**--ध्यान से संयुक्त अवस्थाओं (धर्मों) की उत्पत्ति ध्यान के अंगो के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के साथ ध्यान-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१८ **मार्ग-प्रत्यय--(मग्ग पच्चयो)**--उपर्युक्त के समान मार्ग से संयुक्त

अवस्थाओं की भी उत्पत्ति मार्ग के अगो के प्रत्यय से है, अतः उनके बीच मार्ग-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१९. **संयुक्त-प्रत्यय—(सम्मयुत्त पच्चयो)**—पूर्वोक्त के समान ही संज्ञा वेदना, आदि से सयुक्त धर्मो की उत्पत्ति क्रमशः संज्ञा, वेदना आदि के अगो के प्रत्यय से ही है, अतः उनके बीच का सम्बन्ध सयुक्त-प्रत्यय का ही है।

२० **वियुक्त-प्रत्यय—(विप्पयुत्त-पच्चयो)**—भौतिक धर्म मानसिक धर्मो के साथ और मानसिक धर्म भौतिक धर्मो के साथ विप्पयुक्त-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित है, क्योंकि दोनो का स्वभाव एक दूसरे से वियुक्त रहने का है।

२१. **अस्ति-प्रत्यय—(अत्थि पच्चयो)**—जिस धर्म की उपस्थिति या विद्यमानता पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति अनिवार्यत निर्भर होती है तो दोनो के बीच अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है, यथा सम्पूर्ण भौतिक विकारो कीउत्पत्ति के लिये चार महाभूतो की उपस्थिति, अनिवार्यत आवश्यक है, अतः चार महाभूतो के साथ अस्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध के द्वारा सम्पूर्ण भौतिक विकार सम्बन्धित है।

२२ **नास्ति-प्रत्यय—(नत्थि पच्चयो)**—अपनी अनुपस्थिति या अविद्यमानता से ही जो कोई धर्म किसी दूसरे धर्म की उत्पत्ति मे सहायक हो तो वह उत्पन्न होने वाले धर्म के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। जो चित्त और चैतसिक अभी निरुद्ध हो चुके है, वे अपनी अविद्यमानता से ही अभी उत्पन्न होने वाले चित्त और चैतसिक धर्मो के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होते है।

२३. **विगत-प्रत्यय—(विगत पच्चयो)**—उपर्युक्त (२२) के समान।

२४ **अविगत-प्रत्यय—(अविगत-पच्चयो)**—उपर्युक्त (२१) के समान।

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थो के विषय और शैली का सक्षिप्त विवरण दिया गया है। सुत्तन्त मे निहित बुद्ध-वचनो के प्रति उनका वही सम्बन्ध है, जो उत्तरकालीन वेदान्त-ग्रन्थो का उपनिषदो के प्रति। अन्तर्ज्ञान और अपरोक्ष-अनुभूति पर प्रतिष्ठित, जल और वायु के समान सब के लिये सुलभ, बुद्धो (ज्ञानियो) के वचन भी, पंडितवाद और शास्त्रीय विवेचनो के फन्दे में फँसकर कितने सूखे, आकर्षण-विहीन और जन-साधारण के लिये कितने दुरूह हो जाते

है, इसके लिये अभिधम्म-पिटक के समान ही उत्तरकालीन वेदान्तियो एव बौद्ध और वैदिक परम्परा के आचार्यों के प्रज्ञान अच्छे उदाहरण है । चाहे नागार्जुन असंग, वसुबन्धु, दिङ्-नाग और धर्मकीर्ति हो, चाहे वात्स्यायन, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन और श्रीहर्ष हो, सब एक समान ही है । बुद्ध और उपनिषदो के ऋषियो की सरलता, स्वाभाविकता और मार्मिकता एक मे भी नही है । अभिधम्म-पिटक अति प्राचीन होते हुए भी बुद्ध-मन्तव्य को इसी ओर ले गया है। सन्तोष की बात यह है कि वहाँ बुद्ध के मौलिक सिद्धान्तो मे कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन नही किया गया है, सशोधन की तो कोई बात ही नही । अत मूल बुद्ध-दर्शन को जानने के लिये उसका उपयोग बच रहता है । बुद्ध-मन्तव्य स्वय एक विस्मयकारी वस्तु है । यदि उसके कुछ विस्मयोको खोलना है तो अभिधम्म-पिटक का अध्ययन नितान्त आवश्यक है । यदि यह देखना है कि निरन्तर परिवर्तनशील, अनित्य, दु ख और अनात्म धर्मो (पदार्थो) के प्रवर्तमान रहने पर भी ससार के सर्व-श्रेष्ठ साधक और ज्ञानी पुरुष ने चित्त की निश्चल समाधि किस प्रकार सिखाई है, नियामक को न मान कर भी नियम को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, ईश्वर-प्रणिधान न होने पर भी समाधि का विधान किस प्रकार किया है, प्रार्थना न होने पर भी ध्यान को किस पर टिकाया है, 'अत्ता' (आत्मा) न होने पर भी पुनर्जन्म-वाद को किस पर अवलम्बित किया है, परम सत्ता के विषय मे मौन रखकर भी गम्भीर आश्वासन किस प्रकार दिया है, यदि यह सब और इसके साथ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के महान् मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी दान को उसकी पूरी विभूति के साथ, देखना है, तो अभिधम्म की वीथियो मे भ्रमण करना ही होगा । किन्तु बीसवी सदी के मनुष्य के लिये, जो कामावचर-लोक (कामनाओ के लोक) की अभाव पूर्त्तियो के प्रयत्न मे ही अभी सलग्न और सन्तुष्ट है, इतना अवकाश मिल सकेगा, यह कहना सन्देह से खाली नही है !

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग (१००ई० पूर्व से ४०० ई० तक)

तेपिटक बुद्ध-वचनो का अन्तिम सकलन तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व किया गया। तब से उनका रूप पूर्णत निश्चित हो गया। ईसा की चौथी-पाँचवी शताब्दी मे बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल ने उन पर अपनी प्रसिद्ध अट्ठकथाएँ लिखी। पालि-त्रिपिटक के सुनिश्चित रूप धारण कर लेने और इन अट्ठकथाओ के रचना-काल के बीच जिस साहित्य की रचना हुई, उसमें नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह अधिक प्रसिद्ध है। इनका विवरण हम इस परिच्छेद में देगें।

नेत्तिपकरण

'नेत्तिपकरण' का सक्षिप्त नाम 'नेत्ति' भी है। इसी को 'नेत्तिगन्ध' (नेत्ति-ग्रन्थ) भी कहते हे। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'नेत्तिपकरण' सद्धम्म को समझने के लिये नेतृत्व या मार्ग-दर्शन का काम करता है। 'नेत्ति' का अर्थ है मार्ग-दर्शिका। वास्तव मे बुद्ध-वचन इतने सरल और हृदयस्पर्शी है कि उनको समझने के लिये उनसे व्यतिरिक्त अन्य किसी सहायक की आवश्यकता नहीं। एकान्त-चिन्तन हो, बुद्ध-वचन हो, उनके बीच मध्यस्थता करने की किसी को आवश्यकता नही। किन्तु पडितवाद बुद्ध-धर्म मे भी चल पडा। सरल बुद्ध-उपदेशो का वर्गीकरण किया गया, उनके पाठ का नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रीय नियम बनाये गये, उनके मन्तव्यो को भिन्न भिन्न दृष्टियो से सूचीबद्ध किया गया, उनके शब्दो की व्याख्या और उनके तात्पर्य का निर्णय करने के लिये ग्रन्थ-रचना की गई। इस प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण हम अभिधम्म-पिटक मे ही देखते है। उसी का प्रत्यावर्तन हमे 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' जैसे ग्रन्थो मे मिलता है। 'नेत्तिपकरण' का सम्बन्ध एक प्रकार से तेपिटक बुद्ध-वचनों से वही है जो यास्क-कृत निरुक्त का वेदो से। फिर भी निरुक्त की एक विशेष सार्थकता भी है, क्योकि आठवी शताब्दी ईसवी पूर्व ही वेदों की भाषा इतनी प्राचीन हो चुकी थी और

उसमें रहस्यात्मक ज्ञान ('आचरिय-मुट्ठि') भी इतना अधिक रक्खा हुआ बताया जाता था कि उसके उद्घाटन के लिये शब्द-व्युत्पत्ति-परक एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी भी। इसके विपरीत बुद्ध-वचनों की लोकोत्तर सरलता ने किसी भी व्युत्पत्ति-शास्त्र या निरुक्ति-शास्त्र की अपेक्षा प्रारम्भ से ही नहीं रक्खी। यह उनकी एक बड़ी विशेषता है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से जो अट्ठ-कथाएँ भी लिखी गईं, उन्होंने भी विशेषत बुद्ध-वचनों की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को ही पूरा किया है, उत्तरकालीन संस्कृत भाष्यकारों या टीकाकारों की तरह शब्द-क्रीडाएँ नहीं कीं। फलत: बुद्ध-वचनों पर निरुक्ति-परक साहित्य पालि में अधिक नहीं पनप पाया। केवल 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' यही दो ग्रन्थ इस सम्बन्ध में मिलते है और उन्होंने भी बुद्ध-वचनों की मौलिक सरलता को अधिक सरल बना दिया हो, या सद्धम्म को समझने वाले के लिये अधिक मार्ग प्रशस्त कर दिया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा अभी कहा गया, उनका उद्देश्य केवल त्रिपिटक के पाठ और उसके तात्पर्य-निर्णय-सम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन मात्र करना है।

'नेत्तिपकरण' की विषय-वस्तु और शैली बहुत कुछ अभिधम्म-पिटक से मिलती है। सुगमता के लिये उसे इस प्रकार तालिका-बद्ध किया जा सकता है—
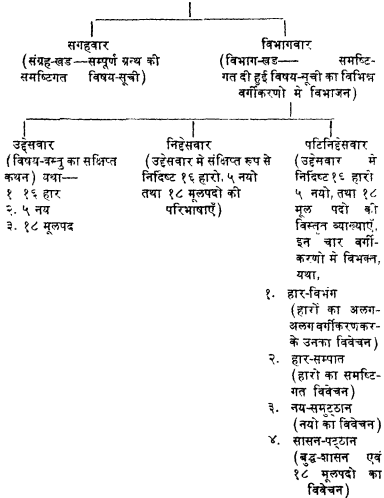
इस तालिका से स्पष्ट है कि नेत्ति-पकरण का विषय १६ हार (गुथे हुए विषयों की मालाएँ), ५ नय (तात्पर्य-निर्णय करने की युक्तियाँ) और १८ मूल पदो (मुख्य नैतिक विषयों) का विवेचन करना ही है । अधिक विस्तार मे न जाकर यहाँ इन तीनों वर्गीकरणों में निर्दिष्ट तत्वों का नाम-परिगणन मात्र कर देना ही

पर्याप्त होगा। नेत्तिपकरण मे विवेचित १६ हार ये हे, (१) देसनाहार-इस हार मे बताया गया है कि बुद्ध-देसना (धर्मोपदेश) की विधि छह प्रकार की होती थी (अ) शील आदि का सुपरिणाम दिखाने वाली (अस्साद) (आ) विषय-भोगो का दुष्परिणाम दिखाने वाली (आदिनवं), (इ) संसार से निकलने का मार्ग दिखाने वाली (निस्सरण), (ई) श्रामण्य के फल का वर्णन करने वाली (फलं), (उ) निर्वाण -प्राप्ति का उपाय बताने वाली (उपाय) और (ऊ) नैतिक उद्देश्य दिखाने वाली (आनत्ति)। यही श्रुतमयी (सुतमयी—अनुश्रव पर आश्रित), चिन्तामयी—बौद्धिक चिन्तन पर आश्रित) और भावनामयी (पवित्र जीवन के विकास पर आश्रित), इन तीन प्रज्ञाओ (ज्ञानो) का भी निर्देश किया गया है। (२) विचय-हार या धर्म-चिन्तन और पर्यवेक्षण (३) युत्तिहार (युक्तिहार) अथवा युक्तियो के द्वारा धर्म-विश्लेषण कर उसके अर्थ को समझना, (४) पदट्ठानहार, मौलिक लक्षणो से पदोकी व्याख्याकरना, (५) लक्खण-हार, लक्षणो से अर्थ को समझना, यथा कही रूप शब्द के आ जाने से ही, वेदना आदि को भी समझना। (६) चतुब्यूह-हार (चतुर्व्यूह-हार) अर्थात् पाठ, शब्द, उद्देश्य और क्रम से अर्थ को समझना, (७) आवत्तहार, 'किस प्रकार बुद्ध-उपदेशो मे सभी विषय किसी न किसी प्रकार अविद्या, चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि जैसे मूल-भूत सिद्धान्तो मे सनिविष्ट हो जाते हैं। वेदान्त-शास्त्र के तात्पर्य-निर्णय मे जिसे 'अभ्यास' कहा गया है, उसकी इससे विशेष समानता है। (८) विभत्तिहार) अर्थात् विभाजन या वर्गीकरण का ढग (९) परिवत्तन-हार) अथवा बुद्ध का अशुभ को शुभ के रूप मे परिवर्तित करने का ढग। (१०) वेवचन-हार अथवा शब्दो के अन्य अनेक समानार्थवाची शब्द देकर अर्थ को स्पष्ट करने का ढग। (११) पञ्ञत्तिहार (प्रज्ञप्तिहार)--एक ही धम्म को अनेक प्रकार से रखने का ढग। (१२) ओतरण-हार अथवा इन्द्रिय, पटिच्च-समुप्पाद, पञ्च स्कन्ध आदि के रूप मे सम्पूर्ण बुद्ध-मन्तव्य का विश्लेषण। (१३) सोधन-हार, प्रश्नो को शुद्ध करने का ढग, जिसे बुद्ध प्रयुक्त करते थे। (१४) अधिट्ठान-हार अथवा सत्य के आधार का निर्णय करना। (१५) परिक्खा-हार अथवा हेतुओ और प्रत्ययों सम्बन्धी ज्ञान। यह 'हार' बिलकुल अभिधम्म-पिटक, विशेषतः पट्ठान, का ही एक अंग जान पड़ता है। (१६) समारोपन-

हार अथवा चार प्रकार से बुद्ध का समझाने का ढग, यथा (अ) मूल-भूत विचारों के द्वारा (आ) समानार्थवाची शब्दो के द्वारा (इ) चिन्तन के द्वारा (ई) अशुभ वृत्तियो के निरोध द्वारा । जिन पाँच नयो का विवेचन 'नेत्तिपकरण' में किया गया है, उनके नाम ये है (१) नन्दियावत्त (२) तीपुक्खल (३) सीहविक्कीलित (४) दिसालोचन, तथा (५) अंकुस । १८ मूल-पद इस प्रकार हैं (१) तण्हा (तृष्णा), (२) अविज्जा, (अविद्या), (३) लोभ, (४) दोस (द्वेष), (५) मोह (६) सुभ सञ्ञा (शुभ-सज्ञा) (७) निच्च सञ्ञा (नित्यसंज्ञा), (८) अत्तसञ्ञा (आत्म संज्ञा), (९) सुक्ख-सञ्ञा (सुख-सज्ञा), तथा इन नौ के क्रमशः विपरीतयथा (१०) समथ (शमथ-आन्तरिक शान्ति) (११) विपस्सना (विपश्यना-विदर्शना), (१२) अ-लोभ (१३) अ-दोस (अ-द्वेष), (१४) अ-मोह (१५) असुभ सञ्ञा (अशुभ-सज्ञा) (१६) अनिच्च सञ्ञा (अनित्य-सज्ञा) (१७) अनत्त-सञ्ञा (अनात्म-सज्ञा), तथा (१८) दुक्ख-सञ्ञा (दुःख-सज्ञा) । विषय की दृष्टि से बुद्ध-उपदेशो को कितने भागो में बाँटा जा सकता है, इसका भी निरूपण 'नेत्ति पकरण' मे किया गया है । इस दृष्टि से विवेचन करते हुए उसने बुद्ध-वचनो को इन मुख्य सोलह भागोमें बाँटा है, यथा (१) सकिलेस-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो चित्त-मलो (सकिलेस) का विवेचन करते हैं (२) वासना-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो वासना या तृष्णा का विवेचन करते हैं (३) निब्बेध-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो धर्म की तह का विवेचन करते है (४) असेख-भागिय, अर्थात् अर्हतो की अवस्था का विवेचन करने वाले (५) सकिलेस-भागिय तथा वासना-भागिय (६) सकिलेस-भागिय तथा निब्बेधभागिय (७) संकिलेस-भागिय तथा असेख-भागिय (८) सकिलेस, असेख तथा निब्बेध-भागिय, (९) सकिलेस-वासना-निब्बेध-भागिय (१०) वासना-निब्बेध भागिय (११) तण्हासकिलेस भागिय (१२) दिट्ठि-सकलेस-भागिय (१३) दुच्चरित-संकिलेस-भागिय (१४) तण्हावोदान-भागिय (तृष्णा की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) (१५) दिट्ठिवोदान भागिय (दृष्टि या मिथ्या मतवादों की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) तथा (१६) दुच्चरित-वोदान-भागिय अर्थात् दुराचरण की शुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन ।

ऊपर विषयों के अनुसार बुद्ध-वचनों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें पहले संक्षिप्त विवेचन कर के फिर उनमें निर्दिष्ट धर्मों को एक दूसरे से मिलाकर कर अन्य अनेक वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। संकिलेस, वासना, तण्हा और असेख के आधार पर ऐसे ही वर्गीकरण ऊपर किये गये हैं। निश्चयतः यह अभिधम्म की प्रणाली है। 'उद्देस' के बाद 'निद्देस' देने की अभिधम्म की निश्चित प्रणाली है, यह हम अभिधम्म-पिटक के विवेचन में देख चुके है। उसी का अनुवर्तन इस ग्रन्थ में किया गया है, जैसा उसकी ऊपर दी हुई विषय-तालिका से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, सिद्धान्तों के विवेचन में भी अभिधम्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, परिक्खार-हार के विवेचन में पट्ठान के हेतुओ और प्रत्ययों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। यहाँ 'नेत्ति' के लेखक ने उसे पूरी तरह न लेकर अपने निरुक्ति सम्बन्धी प्रयोजन के अनुसार ही लिया है। इसीलिये 'हेतु' और 'प्रत्यय' का विभेद यहाँ इतना स्पष्ट नहीं हो पाया। लौकिक और अलौकिक का विभेद भी 'नेत्तिपकरण' में किया गया है। यह भी अभिधम्म के प्रभाव का सूचक है। नेत्तिपकरण और अभिधम्म की शैली के इस पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक अर्थ क्या है? स्पष्टतः यही कि नेत्तिकपरण की रचना अभिधम्म-पिटक के बाद हुई। किन्तु श्रीमती रायस डेविड्स ने इसके विपरीत यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' कम से कम 'पट्ठान' से पूर्व की रचना है।[1] उनके इस मत का मुख्य आधार यही है कि नेत्ति-पकरण में अभी हेतु और प्रत्यय का भेद उतना स्पष्ट नहीं हुआ है जितना 'पट्ठान' में। किन्तु क्या यह 'नेत्तिपकरण' के आवश्यकता के अनुरूप नहीं हो सकता? क्या इस कारण नहीं हो सकता कि 'नेत्तिपकरण' के लेखक को यहाँ अभिधम्म की सूक्ष्मता में न जाकर केवल उसके निरुक्ति-सम्बन्धी प्रयोजन को ग्रहण करना था? अभिधम्म-पिटक के संकलन या प्रणयन के काल के सम्बन्ध में जो विवेचन हम पहले कर चुके हैं, उसकी पृष्ठभूमि में नेत्तिपकरण को उसके बाद

---

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९२५, पृष्ठ १११-११२; विंटरनित्ज़ ने भी उनके इस साक्ष्य को स्वीकार किया है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८३

की रचना ही माना जा सकता है। ई० हार्डीने, जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन पालि टैक्स्ट् सोसायटी के लिए किया है, आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है।[१] गायगर ने इस मत को स्वीकार किया है।[२] श्रीमती रायस डेविड्स के मत की अपेक्षा यही मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'गन्धवंस' के वर्णनानुसार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता भगवान् बुद्ध के परम ऋद्धिमान् शिष्य महाकच्चान या महाकच्चायन (महाकात्यायन) ही थे।[३] स्वयं मज्झिम-निकाय के मधुपिंडक-सुत्त (१।२।८) में महाकच्चान के अर्थ-विभाग की प्रशंसा की गई है "यह आयुष्मान् महाकात्यायन, बुद्ध द्वारा प्रशंसित, सब्रह्मचारियों द्वारा प्रशंसित और शास्ता द्वारा संक्षेप में कहे हुए उपदेश का विस्तार से अर्थ-विभाग करने में समर्थ है।" सम्भवतः इसी आधार पर नेत्तिपकरण' को गौरव देने के लिए उसे इन आर्य महाकात्यायन की रचना बतलाया गया है। किन्तु इन शास्त्रीय विवेचनों में पड़ने की बुद्ध के उन प्रथम शिष्यों को आवश्यकता नहीं थी, यह निश्चित है। यह तो उत्तरकालीन वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रभाव का ही परिणाम था। जिस प्रकार कच्चान और मोग्गल्लान व्याकरणों का सम्बन्ध बुद्ध के प्रथम शिष्यों के साथ किया जाता है, उसी प्रकार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता महाकच्चान के विषय में भी हमें जानना चाहिए। वास्तव में 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है और उसके रचयिता कोई कच्चान नामक भिक्षु थे, जिनके विषय में अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं है। पांचवीं शताब्दी ईसवी में धम्मपाल ने 'नेत्तिपकरण' पर 'नेत्तिप्पकरणस्स अत्थ संवण्णना' (नेत्तिपकरण का अर्थ-विवरण) नाम की एक अट्ठकथा भी लिखी, जिसका निर्देश हम आगे के अध्याय में अट्ठकथा-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। बरमा और सिंहल की भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है, और इसके कई संस्करण भी निकले हैं।

---

१. नेत्तिपकरण (ई० हार्डी द्वारा सम्पादित, लन्दन १९०२), पृष्ठ ८ (भूमिका)
२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २६
३. पृष्ठ ४९

पेटकोपदेस

'पेटकोपदेस' भी 'नेत्तिपकरण' के समान विषय-वस्तु वाली एक दूसरी रचना है। मेबिल बोड ने हमे बताया है कि बरमा मे इन दोनो ग्रन्थों का आदर त्रिपिटक के समान ही होता है।[1] 'पेटकोपदेस' का उद्देश्य त्रिपिटक के विद्यार्थियों को उसी प्रकार का उपदेश या शिक्षा देना है जैसा हम 'नेत्तिपकरण' मे देख आये है। 'नेत्तिपकरण' की ही विषय-वस्तु को यहाँ एक दूसरे ढग से उपन्यस्त कर विवेचित किया गया है। कही जो कुछ बाते 'नेत्तिपकरण में दुरूह रह गई है, उनको यहाँ स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है। 'पेटकोपदेस' की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि यहाँ विषय का विन्यास प्रधानत चार आर्य सत्यो की दृष्टि से किया गया है, जो बुद्ध-शासन के मूल उपादान है। 'पेटकोपदेस' के भी रचयिता 'नेत्तिपकरण' के लेखक महाकच्चान ही माने जाते है। अत उनके काल और वृत्त के सम्बन्ध मे भी वही जानना चाहिए, जो 'नेत्तिपकरण' के रचयिता के सम्बन्ध मे।

मिलिन्दपञ्ह[2]

'मिलिन्द पञ्ह' 'मिलिन्द पञ्हो' या 'मिलिन्दपञ्हा' (क्योकि इन तीनो प्रकार यह ग्रन्थ लिखा जाता है)[3] इस युग की सब से अधिक प्रसिद्ध रचना है। सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य मे इस ग्रन्थ की समता अन्य कोई ग्रन्थ नही कर सकता। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओ मे त्रिपिटक के समान ही आदरणीय

---

१. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४

२. रोमन लिपि मे सन् १८८० में ट्रेंकनर का प्रसिद्ध संस्करण निकला था। आज तो नागरी लिपि में भी सौभाग्यवश इसके मूल पाठ और अनुवाद दोनों उपलब्ध हैं। मिलिन्द-पञ्हो: आर.डी.वदेकर द्वारा सम्पादित, बम्बई विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९४०; भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा हिन्दी में अनुवादित, प्रकाशक भिक्षु उ० कित्तिमा, सारनाथ, बनारस, १९३७। इस ग्रंथ के स्यामी, सिंहली तथा बरमी अनेक संस्करण उपलब्ध हैं।

३. सिंहल में तो विशेषतः मिलिन्दपञ्हो ही कहा जाता है। हिन्दी में 'मिलिन्द-प्रश्न' के आधार पर 'मिलिन्दपञ्ह' ही कहना हमने अधिक उचित समझा है।

मानते हुए उद्धृत किया है,[1] यह उसकी महत्ता का सर्वोत्तम सूचक है। साहित्य और दर्शन दोनो दृष्टियो से 'मिलिन्द पञ्ह' स्थविरवाद बौद्ध धर्म का एक बड़ा गौरव है। पाश्चात्य विद्वान् तक उसके इस गौरव पर इतने अधिक मुग्ध हुए हैं कि उन्हें इस में ग्रीक प्रभाव और विशेषतः अफलातू के सवादो की गन्ध आने लगी है! 'मिलिन्द पञ्ह' (मिलिन्द प्रश्न) जैसा उसके नाम से स्पष्ट है 'मिलिन्द' के 'प्रश्नो' के विवरण के रूप मे लिखा गया है। 'मिलिन्द' शब्द ग्रीक 'मेनान्डर' नाम का भारतीयकरण है। मेनान्डर के प्रश्नो का विवरण मात्र इस ग्रन्थ मे नही है। मेनान्डर के प्रश्नो का समाधान इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। यह समाधान भदन्त नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु ने किया। अत मेनान्डर और भदन्त नागसेन के सवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। मेनान्डर या मिलिन्द और भदन्त नागसेन का यह सवाद ऐतिहासिक तथ्य था, इसके लिए प्रभूत इतिहास-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध है। 'मिलिन्द पञ्ह' मे ही मिलिन्द को यवनक (ग्रीस)–प्रदेश का राजा कहा गया है ('योनकान राजा मिलिन्दो') और उसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) को बतलाया गया है। हम जानते हैं कि दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व भारत का उत्तर-पच्छिमी भाग ग्रीक शासको के हाथ मे चला गया था। ग्रीक शासक मेनान्डर या मेनान्ड्रोस ही 'मिलिन्द पञ्ह' का 'मिलिन्द' है, यह इतिहासवेत्ताओ का निश्चित मत है। किन्तु इस मेनान्ड्रोस के शासन-काल की निश्चित तिथि क्या है, इसके विषय में अभी एक मत नही हो सका है। स्मिथ के अनुसार १५५ ई० पूर्व मेनान्डर ने भारत पर आक्रमण किया।[2] राय चौधरी[3] तथा बार्नेट[4] के मतानुसार मेनान्डर का

---

१. अट्ठसालिनी, पृष्ठ ११२, ११४, ११९, १२०, १२२, १४२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण) मे बुद्धघोष ने 'आयुष्मान् नागसेन' (आयस्मा नागसेन) 'नागसेन स्थविर' (नागसेन थेर) 'आयुष्मान् नागसेन स्थविर' (आयस्मा नागसेन थेर) आदि कह कर मिलिन्द-पञ्ह के लेखक को स्मरण किया है।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ २२७, २३९, २५८

३ पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, १९२३, पृष्ठ २०४

४. कलकत्ता रिव्यू, १९२४, पृष्ठ २५०

शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि ९० वर्ष ईसवी पूर्व से पहले मेनान्डर का समय नही हो सकता।[१] अधिकतर विद्वानो की आज मान्यता है कि मेनान्डर का शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। अत अपने मूल रूप मे 'मिलिन्द पञ्ह' इसी समय लिखा गया, यह निश्चित है। चूकि ग्रीक-शासन मेनान्डर के बाद शीघ्र भारत से लुप्त हो गया था और उसकी कोई स्थायी स्मृति भारतीय इतिहास मे अकित नही है, अत यदि 'मिलिन्द पञ्ह' की रचना को मिलिन्द और नागसेन के सवाद के आधार पर एक बाद के युग मे लिखी हुई भी माने तो भी वह युग बहुत बाद का नही हो सकता। हर हालत मे 'मिलिन्द पञ्ह' की रचना ईसवी सन् के पहले ही हो गई थी[२], और उसका आधार था ग्रीक राजा मेनान्डर और भदन्त नागसेन का ऐतिहासिक सवाद। 'मिलिन्द पञ्ह' की इस विषयक ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिए एक और दृढतर साक्ष्य भी विद्यमान है। भारत के करीब २२ स्थानो मे (विशेषत मथुरा मे) ग्रीक राजा मेनान्डर के सिक्के मिले है, जिन पर खुदा हुआ है "बेसिलियस सोटिरस मेनन्ड्रोस"। एक आश्चर्य की बात यह है कि इन सिक्को पर धर्म-चक्र का निशान बना हुआ है, जो उसके बौद्ध धर्मावलम्बी होने का पक्का प्रमाण देता है। 'मिलिन्द पञ्ह' मे भी हम पढते है कि भदन्त नागसेन के उत्तरो से सन्तुष्ट हो कर राजा मिलिन्द उनसे अपने को उपासक (बौद्ध गृहस्थ-शिष्य) के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करता है "उपासक म भन्ते नागसेन धारेत्थ"।[३] बाद मे हम वही यह भी देखते है कि राजा

---

१. विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७४, पद-संकेत ३ में उद्धृत

२. मिलाइये रायस डेविड्स्—क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्द प्रश्न का अंग्रेजी अनुवाद), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५) पृष्ठ ४५ (भूमिका); विंटरनित्ज हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५

३. पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

मिलिन्द ने बाद में अपने राज्य को अपने पुत्र को देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और विदर्शना-ज्ञान की वृद्धि करते हुए उसने अर्हत्त्व प्राप्त किया।[१] ग्रीक इतिहास-लेखक प्लूटार्क का कहना है कि मेनान्डर के मरने के बाद अनेक भारतीय नगरों में उसकी अस्थियों के ऊपर समाधियाँ बनाई गईं। स्पष्टतः यह मेनान्डर के बौद्ध होने का साक्ष्य देता है और 'मिलिन्द पञ्ह' के वर्णनका समर्थन करता है। भगवान् बुद्ध (महापरिनिब्बाण सुत्त) और अनेक अर्हतों की अस्थियों पर ऐसा ही हुआ था। आचार्य बुद्धघोष के परिनिर्वाण पर इसी प्रकार का वर्णन 'बुद्धघोसुप्पत्ति' पृष्ठ ६६ (जेम्स ग्रे-द्वारा सम्पादित) में मिलता है। अतः पूर्वोक्त विवरण, प्लूटार्क का साक्ष्य और सब से अधिक राजा मेनान्डर के सिक्कों पर धर्म-चक्र के चिह्न का पाया जाना, इन सब बातों के प्रकाश में हम 'मिलिन्द पञ्ह' के इस साक्ष्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि मेनान्डर बौद्ध हो गया था। इतने ठोस प्रमाणों के होते हुए भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार नहीं किया कि मेनान्डर बौद्ध हो गया था।[२] सम्भवतः पाश्चात्य संस्कृति की गौरव-रक्षा के अन्तर्हित भाव ने ही उन्हे इस स्पष्ट सत्य को स्वीकार करने से उन्मुख या उदासीन रक्खा है। ग्रीक राजा मेनान्डर और भदन्त नागसेन के सवाद के रूप में 'मिलिन्द पञ्ह' का लिखा जाना एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी वह किसके द्वारा लिखा गया, किस रूप में लिखा गया, बाद में उसमें क्या परिवर्तन या परिवर्द्धन किए गए, आदि समस्याएँ बाकी ही बच रहती हैं। इन समस्याओं पर आने से पूर्व हमें इतना तो

---

१. पुत्तस्स रज्जं निय्यादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बजित्वा विप्पस्सनं वड्ढेत्वा अरहत्तं पापुणीति। पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

२. मिलाइये रायस डेविड्स : मिलिन्द पञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद (क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५) पृष्ठ १९ (भूमिका); स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ १८७, २२६; गायगर पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २७; ये विद्वान् इतना तक तो स्वीकार करते है कि बौद्धों से उसको सहानुभूति थी। इससे कुछ अधिक विंटरनित्ज ने इंडियनलिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५, पद-संकेत १ में कहा है। परन्तु स्पष्ट साहस तो सत्य बात कहने का वह भी नहीं कर सके।

निश्चयपूर्वक समझ ही लेना चाहिए कि मूल रूप में 'मिलिन्द पञ्ह' का प्रणयन, उत्तर-पश्चिमी भारत में, द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व हुए, भदन्त नागसेन और ग्रीक राजा मेनान्डर के संवाद के आधार पर, उसी समय या कम से कम प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व के निकट, बौद्ध धर्म सम्बन्धी शकाओं के निवारणार्थ हुआ। उसके रचयिता भी भदन्त नागसेन ही माने जा सकते हैं। महा-स्थविर बुद्ध घोषाचार्य की भी यही मान्यता थी। ग्रन्थ के नायक होने के साथ साथ उनके इस ग्रन्थ के रचयिता होने में कोई विरोध नहीं है। ऐसी निर्वैयक्तिकता भारतीय साहित्य में अनेक बार देखी जाती है। कम से कम श्रीमती रायस डेविड्स ने जो 'मिलिन्द पञ्ह' के रचयिता का नाम 'माणव' बतलाया है[1], उसके लिए तो कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता और उसे उनकी कल्पना में प्रसूत ही समझना चाहिए।

अक्सर (विशेषत पश्चिमी विद्वानों द्वारा) यह कहा जाता है कि 'मिलिन्द पञ्ह' एक इकाई-बद्ध रचना नहीं है और उसका प्रणयन भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न युगों में आई है। परिच्छेदों की एक दूसरे से भिन्नरूपता एवं शैली और विषय-वस्तु की भी विभिन्नता के कारण यह मान लिया गया है कि मौलिक रूप में ग्रन्थ बहुत छोटा होगा, सम्भवत. वह मिलिन्द और नागसेन के सवाद के सक्षिप्त विवरण के रूप में था, और बाद में स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से जो विषय महत्त्वपूर्ण थे उनको प्राचीन नमूनों के आधार पर इसमें जोडा जाता रहा। ग्रन्थ का प्रस्तुत रूप इसी परिवर्द्धन का परिणाम है। 'मिलिन्द पञ्ह' के अनेकरूपतामय आन्तरिक साक्ष्य के अलावा एक और प्रभावशाली बाहय साक्ष्य इस मत के प्रतिपादन में दिया गया है कि प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द पञ्ह' एक मौलिक रचना न होकर अनेक परिवर्द्धनों का परिणाम है अथवा स्वय मौलिक रूप से संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थ का पालि रूपान्तर है। वह है इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद, जो सन् ३१७ और ४२० ई० के बीच किया गया। पालि 'मिलिन्द पञ्ह' में ७ अध्याय हैं, यथा (१) बाहिर कथा, (२) लक्खण पञ्हो, (३) विमतिच्छेदन पञ्हो, (४) मेण्डक पञ्हो, (५) अनुमान पञ्ह, (६) धुतग कथा, तथा (७)

१. देखिये उनका मिलिन्द क्विशन्स, लन्दन, १९३०

ओपम्मकथापञ्हं। उपर्युक्त चीनी अनुवाद मे, जिसका नाम वहाँ 'नागसेन सूत्र' दिया गया है, चौथे अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक नही हैं। इससे स्वाभाविक तौर पर विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'मिलिन्द पञ्ह' के पहले तीन अध्याय ही ग्रन्थ के मौलिक स्वरूप के परिचायक हैं और बाकी बाद के परिवर्द्धन मात्र हैं। सेनाँ और बार्थ आदि अनेक विद्वानों के अलावा गायगर[1] और विटरनित्ज़[2] भी इसी मत के मानने वाले है। उन्होंने इसी के समर्थन मे अन्य कारण भी दिये हैं। एक सब से बड़ा कारण तो यही है कि हमारे प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द पञ्ह' मे ही तृतीय अध्याय के अन्त मे लिखा है "मिलिन्दस्स पञ्हान पुच्छाविस्सज्जना निट्ठिता अर्थात् "मिलिन्द के प्रश्नो के उत्तर समाप्त हुए।" इतना ही नही आगे चौथे अध्याय के प्रारम्भ मे जो गाथाएं आती है, वे एक नये ही प्रकार मे विषय की प्रस्तावना करती है। "वक्ता, तर्कप्रिय, अत्यन्त बुद्धि-विशारद (राजा) मिलिन्द ज्ञान-विवेचन के लिए नागसेन के पास आया।"[3] जब पहले मिलिन्द के प्रश्न समाप्त ही कर दिये गए तो फिर इस प्रकार विषय का दुबारा अवतरण करने की क्या आवश्यकता थी? निश्चय ही निष्पक्ष समालोचक को इस चौथे अध्याय के बाद के भाग की मौलिकता और प्रामाणिकता मे सन्देह होने लगता है। यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि आचार्य बुद्धघोष ने भी 'मिलिन्द पञ्ह' के जिन अवतरणो को उद्धृत किया हैं वे प्राय प्रथम तीन अध्यायो से ही हैं। अत. उन्ही को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानना पडता है। जहाँ तक इन प्रथम तीन अध्यायों की भी प्रामाणिकता का सवाल है, उनके विषय में भी कुछ विद्वानो ने सन्देह प्रकट किया है। स्वय विटरनित्ज़ ने प्रथम अध्यायके कुछ अशो को मौलिक नही माना है। उनके मतानुसार ग्रन्थ की मौलिक प्रस्तावना अपेक्षाकृत कुछ छोटी थी।[4] गायगर भी इस मत में उनके साथ सहमत हैं।[5] इसी प्रकार तृतीय अध्याय (विमतिच्छेदन पञ्हो) में भी निरन्तर परिवर्द्धनो की सम्भावना स्वीकार की गई है। इस परिच्छेद

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २७

२. हिस्ट्री ऑब इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६-१७७

३. भस्सप्पवेदी वेतंडी अतिबुद्धिविचक्खणो। मिलिन्दो ञाणभेदाय नागसेनमुपागमि॥

४, ५. ऊपर उद्धृत क्रमशः २ एवं १ पद-संकेतों के समान

में मिलिन्द के सन्देहो का निवारण किया गया है । जो-जो सन्देह स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे उन सब का समाधान-सहित समावेश इस परिच्छेद में कर दिया गया है, ऐसा इन विद्वानों ने मान लिया है। गार्बे और श्रेडर ने तो इस पूरे अध्याय तक को बाद को जोडा हुआ मान लिया है,[१] जो ठीक नही है। पालि 'मिलिन्द पञ्ह' और चीनी भाषा मे प्राप्त 'नागसेन-सूत्र' मे विभिन्नता होने के आधार पर तथा अन्य उपर्युक्त आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह मान लिया गया है कि पालि 'मिलिन्द पञ्ह' के अध्याय ४ से लेकर ७ तक बाद के परिवर्द्धन है। एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकाला गया है कि 'मिलिन्द पञ्ह' के प्रारम्भिक काल से ही अनेक सस्करण या पाठ-भेद थे । जर्मन विद्वान् श्रेडर ने उसके सात पाठ-भेदो का उल्लेख किया है । निश्चय ही ये सब बाते कल्पना पर आश्रित है और केवल चीनी अनुवाद से पालि 'मिलिन्द पञ्ह' की विभिन्नता के आधार पर निकाले हुए अनुमान मात्र है। यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि 'मिलिन्द पञ्ह' के प्रश्न को लेकर डा० गायगर जैसे विद्वान् को भी भ्रम मे पड जाना पड़ा है। उन्होने यह मान लिया है कि पालि 'मिलिन्द पञ्ह' मौलिक रूप मे सस्कृत मे लिखा गया था और ईसवी सन् के करीब उसका अनुवाद पालि मे किया गया। उन्होने यह भी मान लिया है कि यह अनुवाद लका मे किया गया और प्राचीन नमूनो के आधार पर उसमे अनेक परिवर्द्धन भी कर दिये गए, यथा पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि की कथाएँ दीघ-निकाय के सामञ्ञफल-सुत्त के आधार पर और रोहण और नागसेन के सम्बन्ध की कथा महावस ५।१३१ मे निर्दिष्ट सिग्गव और तिस्स की कथा के आधार पर जोड दी गई ।[२] परिवर्द्धनों की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी (यद्यपि पूरण कस्सप और मक्खलि गोसाल आदि को 'मिलिन्द-पञ्ह' मे व्यक्तियो का वाचक न समझ कर उनके सम्प्रदाय के आचार्यों या पदो का सूचक मान कर उन सम्बन्धी विवरणो को बाद का परिवर्द्धन मानने की भी अपेक्षा नही) 'मिलिन्द पञ्ह' का मौलिक सस्कृत से लंका में पालि मे रूपान्तरित किया

---

१. देखिये विंटरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७, पद-संकेत २
२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ २७, पद-संकेत २

जाना स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूंकि यह मत डा० गायगर जैसे विद्वान् की ओर से आया है, इसलिए इसका उल्लेख यहाँ कर दिया गया है। अन्यथा वह इस योग्य भी नहीं है। 'मिलिन्द पञ्ह' निश्चयत. अपने मौलिक पालि रूप में उत्तर-पश्चिमी भारत की प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की रचना है। सम्भव है उसमें बाद में भी परिवर्द्धन हुए हो। किन्तु उसका मौलिक रूप आज का सा सात परिच्छेदो वाला ही रहा हो, इसके लिए भी कम अवकाश नहीं है, क्योकि जैसा डा० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स ने सुझाव रक्खा है सभवत चीनी अनुवादक ने ही अपने अनुवाद में अन्तिम चार अध्यायों को छोड दिया हो।[1] यद्यपि विटरनित्ज ने उनके इस मत को स्वीकार नहीं किया है[2] हमे चौथी शताब्दी ईसवी मे (जिससे पहले चीनी अनुवाद नही हुआ था बुद्धघोष के इस ग्रन्थ के प्रति आदर और श्रद्धा-भाव को देख कर सत्य की इसी ओर प्रवणता दिखाई पडती है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'मिलिन्द पञ्ह' की विषय-वस्तु सात भागो या अध्यायों मे विभक्त है (१) बाहिर कथा, (२) लक्खण पञ्हो, (३) विमतिच्छेदन पञ्हो, (४) मेण्डक पञ्हो, (५) अनुमान पञ्ह, (६) धुतग कथा और (७) ओपम्मकथा पञ्ह। 'बाहिर कथा', 'मिलिन्द पञ्ह' की भूमिका है। सर्व प्रथम लेखक ने नागसेन की इस विचित्र कथा (चित्रा नागसेनकथा) को जो. अभिधर्म, विनय और सुत्तो पर समाश्रित है, और जिसमे विचित्र उपमाएँ और युक्तियाँ प्रकाशित की गई है, सावधान हो कर, ज्ञानपूर्वक, बुद्ध-शासन सम्बन्धी सन्देहों के निवारणार्थ, सुनने को आह्वान किया है---

अभिधम्मविनयोगाळ्हा सुत्तजालसमत्थिता।
नागसेनकथा चित्रा ओपम्मेहि नयेहि च॥
तत्थ ञाणं पणिधाय हासयित्वान मानसं।
सुणाथ निपुणे पञ्हे कङ्खाठानविदालने'ति॥

इसके बाद ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनान्डर) की राजधानी सागल का रमणीय, काव्यमय वर्णन है। "**अथ यं अत्थि योनकानं नानापुटभेदनं सागलं नाम नगरं**

---

१. **ऐन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द आठवीं, पृष्ठ ३६२,**
२. **हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७ पद-संकेत १**

नदीपब्बतसोभितं रमणीयभूमिप्पदेसभागं आरामुय्यानोपवनतडागपोक्खरणी सम्पन्नं नदीपब्बतरामणेय्यकं" आदि। उसके बाद उपर्युक्त सात भागो मे ग्रन्थ की विषय-सूची तथा फिर नागसेन और मिलिन्द के पूर्व-जन्म की कथा है। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि भदन्त नागसेन ने अपने और अपने प्रतिवादी मिलिन्द के पूर्वजन्म (पुब्बयोग, पुब्बकम्म) के वर्णन मे तो इतनी तत्परता दिखाई है, फिर भी अपने वर्तमान जन्म और कर्म के विषय मे अधिक जानने का हमे अवकाश नही दिया। सम्भवत जिसे हम इतना ठोस समझते है वह उनके लिये इतना आवश्यक नही था और जो कुछ हमे अपने विषय मे वह बताना आवश्यक समझते थे उसे उन्होने वहाँ बता भी दिया है। स्थविर नागसेन का जन्म मध्य देश की पूर्वी सीमा पर स्थित, हिमालय पर्वत के समीपवर्ती कजगला नामक प्रसिद्ध कस्बे मे हुआ था। उनके पिता का नाम सोणुत्तर था, जो एक ब्राह्मण थे। तीनो वेदो, इतिहासो और लोकायत शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर नागसेन ने स्थविर रोहण से बुद्ध-शासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की एवं बौद्ध धर्म मे प्रवेश किया। तदनन्तर वे वत्तनिय सेनासन के स्थविर अस्सगुत्त (अश्वगुप्त) के पास गये और उनसे शिक्षा प्राप्त की। यही उनको सोतापन्न (स्रोत आपन्न) फल की प्राप्ति हुई। तदनन्तर उन्हे पाटलिपुत्र भज दिया गया, जहाँ उन्होने स्थविर धर्मरक्षित से बौद्ध धर्म का विशेष अध्ययन किया। यही उन्हे अर्हत्त्व फल की प्राप्ति हुई। इसके बाद वे सागल (सियालकोट) के सखेय्य परिवेण मे गये, जहाँ राजा मिलिन्द से उनकी भेट हुई। मिलिन्द की शिक्षा का वर्णन करते हुए उसे 'श्रुति, स्मृति, सख्यायोग (साख्य योग), नीति, वैशेषिक (विसेसिका) आदि १९ शास्त्रो का मननशील विद्यार्थी बतलाया गया है। वह पूरा तर्कवादी, वितडावादी और वाद-विवाद मे अजेय था, यह भी दिखाया गया है। मिलिन्द को दार्शनिक वाद-विवाद से बड़ा प्रेम था और उसने 'लोकायत' सम्प्रदाय आदि के अनुयायी सभी विचारको को परास्त कर दिया था। उसने बुद्धकालीन ६ प्रधान आचार्यों की गद्दियो पर प्रतिष्ठित उनके ही समान नाम धारण करने वाले छह प्रधान आचार्यों, यथा पूरणकस्सप, मक्खलि गोसाल, निगण्ठ नाटपुत्त, सञ्जय वेलट्ठिपुत्त, अजित केस कम्बली और पकुध-कच्चायन के नाम भी अपने मन्त्रियो से सुन रक्खे थे, और प्रथम दो से वह मिला भी

था,[1] किन्तु उसकी शान्ति उनसे नहीं हुई थी। अन्त में ग्रीक राजा को यह अभिमान होने लगा "**तुच्छो वत भो जम्बुदीपो पलापो वत भो जम्बुदीपो। नत्थि कोचि समणो वा ब्राह्मणो वा यो मया सद्धिं सल्लपितुं सक्कोति कंखं पटिविनोदेतुंति।" "तुच्छ है भारतवर्ष! प्रलाप मात्र है भारतवर्ष! यहाँ कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ, मेरे सन्देहों के निवारणार्थ, संलाप भी कर सके।"** मिलिन्द के इन शब्दों में हम बुद्धिवादी ग्रीक ज्ञान की गौरवमय हुकार देखते हैं। भारतीय राष्ट्र का गौरव भदन्त नागसेन के रूप में अपनी सारी सचित ज्ञान-गरिमा को लिये हुए अन्त में उसे मिल गया। नागसेन के ज्ञान की प्रशसा में कहा गया है कि उन्होंने अपनी अल्पावस्था में ही निघटु आदि के सहित तीनों वेदों को पढ लिया था, और वे इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात थे।[2] उसके बाद प्रव्रजित हो कर उन्होंने अभिधम्म के सात प्रकरणों तथा अन्य तेपिटक बुद्ध-वचनों को अपने गुरु रोहण से पढा था। पहले उन्होंने धर्मरक्षित नामक भिक्षु के साथ पाटलिपुत्र में निवास किया। बाद में आयुपाल नामक भिक्षु के निमत्रण पर वे हिमाचल-प्रदेश के सखेय्य परिवेण नामक विहार में चले गये। वही राजा मिलिन्द उनसे मिलने के लिए गया। '**अथ खो मिलिन्दो राजा येनायस्मा नागसेनो तेनोपसंगमि**' (तदनन्तर राजा मिलिन्द जहाँ आयुष्मान् नागसेन थे, वहाँ गया।)

कुशल-प्रश्न पूछने और परिचय प्राप्त करने में ही दार्शनिक सलाप छिड़ गया। सवाद भी उस प्रश्न पर जो बुद्ध-दर्शन की आधार-भूमि है। अनात्म लक्षण! राजा मिलिन्द नागसेन के पास जा कर बैठ जाता है और उनसे पूछता है—

---

१. **यूरोपीय विद्वानों ने पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि के नाम देख कर ही यह समझ लिया है कि यहाँ 'मिलिन्द पञ्ह' के लेखक ने इन बुद्धकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है। यह एक भ्रम है। देखिये मिलिन्द प्रश्न, (हिन्दी अनुवाद) की बोधिनी में भिक्षु जगदीश काश्यप की इस विषय-सम्बन्धी टिप्पणी**

२. **तीसु वेदेसु सनिघंटुकेटुभेसु साक्खरप्पभेदेसु इतिहासपञ्चमेसु पदको वेय्याकरणो लोकायतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयोअहोसि। पृष्ठ ११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)**

"भन्ते! आप किस नाम से पुकारे जाते है ? आपका नाम क्या है ?"

(किं नामोसि भन्ते'ति)

"महाराज ! मैं 'नागसेन' नाम से पुकारा जाता हूँ। सब्रह्मचारी भिक्षु मुझे यही कह कर बुलाते है। माता-पिता अपने बच्चों के इस प्रकार के नाम रखते है, जैसे 'नागसेन', 'सूरसेन' आदि। लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए है। तात्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति उपलब्ध नही होता।

(न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भतीति)

बस, सप्रश्न और सवाद का पूरा क्षेत्र खुल गया!

"भन्ते! नागसेन! यदि यथार्थ मे कोई व्यक्ति है ही नही तो आपको अपनी आवश्यक वस्तुएँ कौन देता है? उन वस्तुओं का उपभोग कौन करता है? पुण्य कौन करता है? ध्यान कौन लगाता है? आर्य-मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है? . . . भले-बुरे का फिर तो कोई कर्ता ही नही? आपका कोई गुरु भी नही? आप उपसम्पन्न भी नही? आप कहते है आपको लोग 'नागसेन' नाम से पुकारते है। नागसेन है क्या?

"क्या केश नागसेन है?"

"केश किस प्रकार नागसेन हो सकते है?"

"तो क्या नख, दाँत, चमडी, मास, शरीर नागसेन है?"

"राजन्! ये भी नही।"

"तो क्या पञ्च स्कन्धो का सयोग नागसेन है?"

"नही महाराज!"

"तो क्या फिर रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान, इन पाच स्कन्धों से कोई व्यतिरिक्त वस्तु नागसेन है?" **(किं पन भन्ते अञ्ञत्र रूपवेदनासंञ्ञा-संखारविञ्ञाणं नागसेनोति)**

"नही महाराज!" **(नहि महाराजाति)**

मिलिन्द राजा थक जाता है। उसकी बुद्धि आगे संप्रश्न करना नहीं जानती।

"भन्ते! मै पूछते पूछते हार गया, फिर भी मैं यह न जान सका कि 'नागसेन' क्या है? तो क्या 'नागसेन' केवल एक नाम ही है? अन्तत. 'नागसेन' है क्या

वास्तव में ? भन्ते ! आप असत्य बोल रहे हैं कि 'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व यथार्थ में विद्यमान नहीं है !"

वितंडावादी मिलन्द की बुद्धि को परिश्रान्त जानकर भदन्त नागसेन उसे कुछ आसान मार्ग से समझाना चाहते हैं।

"महाराज ! आपका जन्म तो क्षत्रिय-कुल में हुआ है। इसलिए स्वभावतः आप सुकुमार हैं। फिर भी आप इतनी गर्मी में दोपहर को यहाँ चले ही आये। मुझे विश्वास है कि आप जरूर थक गये होंगे। आप पैदल आये हैं या रथ पर ?"

"भन्ते ! मैं पैदल नहीं चलता हूँ। मैं रथ पर आया हूँ।"

"महाराज ! यदि आप रथ पर आये हैं तो कृपया मुझे यह बताइये कि रथ है क्या ?"

"क्या रथ के बाँस रथ है ?"

"नहीं भन्ते ! रथ के बाँस रथ नहीं हो सकते।"

"तो क्या धुरा, पहिये, रस्से, जुआ, पहियों के डंडे, अथवा बैल हाँकने की लाठी, रथ है ?"

"नहीं भन्ते !"

"तो फिर कहिये कि क्या रथ इनसे अलग कोई वस्तु है ?"

"नहीं भन्ते ! यह कैसे हो सकता है !"

"राजन् ! मैं पूछ पूछ कर हार गया। उस पर भी मैं न जान सका कि यथार्थ में रथ क्या है ? तो फिर क्या आपका रथ केवल एक नाममात्र है ? राजन् ! आप असत्य बोल रहे हैं कि आप रथ पर आये हैं। आप इस सारे जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में सब से प्रतापी राजा हैं। तो फिर आप किसके डर से असत्य बोल रहे हैं ?"

"भन्ते ! मैं असत्य नहीं बोल रहा हूँ। रथ के बाँस, पहिये, रथ का ढाँचा, पहियों के डंडे, हाँकने की लकड़ी, इन भिन्न भिन्न हिस्सों पर 'रथ' का अस्तित्व निर्भर है। 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिये है। **"रथोति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तीति ।"**

"ठीक है महाराज ! आपने यथार्थ 'रथ' को समझ लिया। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति की भी हालत है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। 'नागसेन' शब्द केवल व्यवहारमात्र है। यथार्थ में

'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नही है। परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नही होती **"परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति।"**

भदन्त नागसेन की यह अनात्मवाद की व्याख्या बडी महत्त्वपूर्ण है। इसके उद्धरण के बिना मूल बुद्ध-दर्शन सम्बन्धी अनात्मवाद का कोई भी विवेचन पूरा नही माना जा सकता। कहाँ तक भदन्त नागसेन ने बुद्ध-मन्तव्य निषेधात्मक दिशा मे बढाया है, अथवा कहाँ तक उन्होंने उसके यथार्थ रूप का ही दिग्दर्शन किया है, इसके विषय मे विभिन्न मत हो सकते हे। पहले मत का प्रतिपादन योग्यतापूर्वक डा० राधाकृष्णन् ने किया है,[1] जबकि इसी कारण महापंडित राहुल साकृत्यायन ने भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास लिखने की उनकी योग्यता को ही सदेह की दृष्टि से देखा है।[2] इस विवाद मे भाग न लेकर हम इतना ही कह देना अपने प्रस्तुत उद्देश्य के लिये पर्याप्त समझते हैं कि चाहे नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या बुद्ध-मन्तव्य का यथावत् निदर्शन करती हो या चाहे उन्होंने उसे निषेधात्मक दिशा मे बढाया हो, वह अपने आप मे महत्त्वपूर्ण अवश्य है। न केवल स्थविरवादी बौद्ध साहित्य मे ही, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य मे, बुद्ध-वचनो को छोडकर, अनात्मवाद का उससे अधिक सुन्दर, उससे अधिक आकर्षक और उससे अधिक गम्भीर विवेचन कही नही मिल सकता। अत बौद्ध दर्शन और बौद्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिये हर हालत मे उसका जानना आवश्यक है।

अनात्मवाद की उपर्युक्त व्याख्या मान लेने पर पुनर्जन्मवाद के साथ उसकी सगति किस प्रकार लगाई जा सकती है, यह भी समस्या मिलिन्द के सिर में चक्कर लगाती है। वह भदन्त नागसेन से पूछता है

"भन्ते नागसेन कौन उत्पन्न होता है? क्या उत्पन्न होने पर व्यक्ति वही रहता है या अन्य हो जाता है? **यो उप्पज्जति सो एव सो उदाहु अञ्ञो'ति।"**

"न तो वही और न अन्य ही—**न च सो न च अञ्ञो'ति"** स्थविर कहते हैं।

---

१. इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८२-९०; कीथ, श्रीमती रायस डेविड्स और विंटरनित्ज की भी कुछ कुछ इसी प्रकार की मान्यता है, देखिये विंटरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७८, पद-संकेत ३।

२. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३१-५३२।

राजा की समझ में यह उत्तर नहीं आता। स्थविर उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष बच्चा होता है और जब वह तरुण युवा होता है, तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है? नहीं ऐसा नहीं होता। बालक अन्य होता है और वह तरुण युवा अन्य होता है। किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है तो फिर न कोई किसी की माता रहेगी, न कोई किसी का पिता रहेगा, न आचार्य रहेगा .... ! फिर तो ऐसी ही प्रतीति होगी कि यह गर्भ की प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की माता है, यह तीसरी अवस्था की, जो सब आपस में भिन्न भिन्न हैं, अन्य से अन्य हो गये हैं। क्या एक ही व्यक्ति के बालकपन की माँ भिन्न है उसकी युवावस्था की माँ से? **अञ्ञा खुद्दकस्स माता अञ्ञा महन्तस्स माता**! विद्यार्थी जब पाठशाला में पढने जाता है तब क्या वह अन्य ही है? और जब वह विद्याध्ययन समाप्त करता है अन्य ही है? **'अञ्ञो सिप्पं सिक्खति अञ्ञो सिक्खितो भवति**— अन्य ही शिल्प सीखता है, अन्य ही शिक्षित होता है? अन्य ही पाप करता है और अन्य के ही अपराध-स्वरूप हाथ-पैर काटे जाते हैं? राजा घबड़ा जाता है क्योंकि वह पहले स्वयं ही स्वीकार कर चुका है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य। अत: कुछ समझ नहीं सकता कि उसे क्या कहना चाहिए। विवश होकर वह भदन्त नागसेन से कहता है "भन्ते! आप ही मुझे बताइये कि क्या बात है? **त्वं पन भन्ते एवं वुत्ते किं वदेय्यासीति।** भन्ते! ऐसा पूछने पर आप स्वयं क्या कहेंगे? स्थविर उसे समझाते हैं कि "धर्मों के लगातार प्रवाह से, उनके संघात रूप में आजाने से, एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है, और यह सब ऐसे होता है जैसे मानो युगपत्, एक-साथ हो। इसलिए न तो सर्वथा उसी की तरह और न सर्वथा अन्य की तरह, वह जीवन की अन्तिम चेतनावस्था पर आता है।"[1] फिर भी मिलिन्द पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता और वह पूछता है

---

१. एवमेवं खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति, अञ्ञो उप्पज्जति, अञ्ञो निरुज्झति, अपुब्बं अचरिमं विय सन्दहति, तेन न च सो न च अञ्ञो पुरिस-

"भन्ते नागसेन ! पर क्या है वह जो जन्म ग्रहण करता है ? **भन्ते नागसेन को पटिसन्दहति ?**

"हे महाराज ! नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है । **नाम-रूपं खो महाराज पटिसन्दहति ।"**

"क्या यही नाम-रूप[1] जन्म ग्रहण करता है ?" "महाराज ! यह नाम-रूप जन्म ग्रहण नही करता, किन्तु इस नाम-रूप के द्वारा जो शुभ या अशुभ कर्म किये जाते है और उन कर्मों के द्वारा जो अन्य नाम रूप उत्पन्न होता है, वही जन्म ग्रहण करता है, ।"[2] आगे समझाते हुए स्थविर कहते है "हे राजन् ! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है वह एक अन्य होता है । किन्तु द्वितीय (नाम-रूप) प्रथम (नाम-रूप) मे से ही निकलता है[3] . . . . अत हे राजन् ! धर्म-सन्तति ही ससरण करती है, जन्म ग्रहण करती है—**एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति ।"**

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की सगति मिलाने का प्रयत्न किया है, जो बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यत महत्त्वपूर्ण है । द्वितीय परिच्छेद (लक्खण पञ्हो) की मुख्य विषय-वस्तु इतनी ही है ।

तृतीय परिच्छेद (विमतिच्छेदन पञ्हो) मे राजा के सन्देहो (विमति) का, जो उसे अनेक छोटे छोटे विषयो पर हुए थे, भदन्त नागसेन द्वारा निवारण किया गया है । इस प्रकार के अनेक सन्देहो का इस परिच्छेद में विवरण किया गया है, जिनमे से कुछ का ही निदर्शन यहाँ किया जा सकता है । उदा-

---

विञ्ञाणे पच्छिमविञ्ञाणं संगहं गच्छतीति । मिलिन्दपञ्हो, लक्खणपञ्हो, पृष्ठ ४२ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

१. नाम अर्थात् सूक्ष्म चित्त और चेतसिक धर्म । रूप अर्थात् चार महाभूत और उनका विकार ।

२. न खो महाराज इमं येव नामरूपं पटिसन्दिहति । इमिना पन महाराज नामरूपेन कम्मं करोति सोभनं वा पापकं वा, तेन कम्मेन अञ्ञं नामरूपं पटिसन्दहतीति

३. एवमेव खो महाराज किञ्चापि अञ्ञं मरणान्तिकं नामरूपं अञ्ञं पटिसन्धिस्मिं नामरूपं अपि च ततो येव तं निब्बत्तं ति ।

हरणत. मिलिन्द पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या सभी लोग निर्वाण प्राप्त कर लेते है **(भन्ते नागसेन सब्बेव लभन्ति निब्बाणंति)** ? भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध अनुत्तर है ? 'भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है ?' 'क्या बुद्ध ब्रह्मचारी है ?' 'क्या उपसपदा (भिक्षु-सस्कार) ठीक (सुन्दर) है ? 'भन्ते नागसेन ! कितने आकारो से स्मृति उत्पन्न होती है ? 'भन्ते नागसेन ! आप कहते है श्वास-प्रश्वास का निरोध किया जा सकता है । कैसे भन्ते ?" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने क्या कार्य अत्यत दुष्कर किया है ?" आदि, आदि । भदन्त नागसेन ने इन सब प्रश्नो और सन्देहो का अत्यंत मनोरम शैली मे उत्तर दिया है। प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनो ही अपने अपने प्रश्नो त्तरो से अन्त मे सतुष्ट दिखाई पड़ते है। राजा मिलिन्द को ऐसा लगता है "जो सब मैंने पूछा, सबका भदन्त नागसेन ने मुझे उत्तर दिया **(सब्बं मया पुच्छितं'ति सब्बं भदन्तेन नागसेनेन विस्सज्जितं ति।** भदन्त नागसेन को भी ऐसा होता है "जो सब राजा मिलिन्द ने मुझसे पूछा उस सब का मैंने उत्तर दे दिया **(सब्बं मिलिन्देन रञ्ञा पुच्छितं , सब्बं मया विस्सज्जितंति।"** उठकर भिक्षु सघाराम मे चले गये । राजा मिलिन्द भी अपने साथियो के साथ लौट गया । यह तीसरे परिच्छेद की विषय-वस्तु का सक्षेप है ।

कुछ दिन बाद राजा मिलिन्द फिर भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ आता है। इस बार वह उन विरोधो को भदन्त नागसेन के सामने रखता है जो उसे तेपिटक बुद्ध-वचनो के अन्दर मालूम पड़े है । मिलिन्द ने मननपूर्वक एक बुद्धिवादी की तरह त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थो को पढा है। उसे उनके अन्दर अनेक पारस्परिक विरोधी बाते दिखाई पडी है । इन्हे वह भदन्त नागसेन के सामने एक-एक करके रख देता है । भदन्त नागसेन उनका उत्तर देते है । 'मिलिन्द-पञ्ह' का चौथा परिच्छेद, जो इस ग्रन्थ का सबसे लम्बा परिच्छेद है, इन्ही सबधी प्रश्नोत्तरो का विवरण है । ऊपर से विरोधी दिखाई देने वाले त्रिपिटक के विभिन्न विवरणो या बुद्ध-वचनो के विरोध का परिहार और उनमे समन्वय-स्थापन, यही इस परिच्छेद का लक्ष्य है, जो त्रिपिटक के विद्यार्थियों के लिए सदा महत्वपूर्ण रहेगा। इस प्रकरण मे राजा मिलिन्द ने जो प्रश्न पूछे हैं या सुलझाने के लिए विरोधी वाक्य रक्खे हैं, वे इतने नाना

प्रकार के है कि उनका संक्षेप देना बड़ा कठिन है। केवल कुछ उदाहरण देकर हम उनके स्वरूप और शैली की ओर संकेत भर कर सकेंगे। भदन्त के चरणों में शिर रखकर, हाथ जोडकर राजा ने कहा, "भन्ते नागसेन, "! भगवान् ने यह कहा "आनन्द ! पाँच सौ वर्ष तक सद्धर्म ठहरेगा।" पुन: जब परिनिर्वाण के समय सुभद्र परिव्राजक ने भगवान् से पूछा तो उन्होंने कहा 'सुभद्र ! यदि भिक्षु ठीक तरह विहार करेगे तो यह लोक अर्हतो से कभी शून्य नही होगा।' यदि भन्ते नागसेन ! तथागत ने यह कहा कि सद्धर्म पाच सौ वर्ष ठहरेगा तब तो यह वचन कि यह लोक कभी अर्हतो से शून्य नही होगा, मिथ्या ठहरता है। और यदि तथागत ने यह कहा कि यह लोक कभी अर्हतो से शून्य नही ठहरेगा, तो फिर यह वचन कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा, मिथ्या ठहरता है ? भन्ते नागसेन ! यह दोनो ही ओर से कठिनता पैदा करने वाला, गहन से भी गहनतर, बलवान् से भी बलवत्तर, जटिल से भी जटिलतर, प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ ! मैं जानकर ही धर्मोपदेश करता हूँ, बिना जाने नही।' पुन. उन्होंने विनय प्रज्ञप्ति के समय यह भी कहा 'आनन्द ! यदि संघ चाहे तो मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानुक्षुद्र) शिक्षापदो को छोड दे। भन्ते नागसेन ! क्या क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापद बिना जान बूझकर ही दिये हुए उपदेश है जो भगवान् ने उन्हे अपने बाद छोड देने के लिए कहा। भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् का यह कहना ठीक है कि मैं जान बूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने-बूझे नही, तो भगवान् का यह वचन मिथ्या है 'यदि संघ चाहे तो मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदो को छोड दे, और यदि सचमुच ही भगवान् ने यह कहा कि मेरे बाद संघ क्षुद्रनुक्षुद्र शिक्षापदो को छोड़ दे, तो उनका यह कहना मिथ्या है कि'मैं जानबूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने बूझे नहीं'। यह भी दोनो ओर से कठिनता पैदा करने वाला सूक्ष्म, निपुण, गभीर और उलझन पैदा करने वाला प्रश्न है जो आपकी सेवा में उपस्थित है। आप मुझे समझावे।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने कहा है 'तथागत को धर्मो मे आचार्य-मुष्टि (न बताने योग्य बात) नही है।' किन्तु जब मालुक्यपुत्त ने उनसे प्रश्न पूछा तो भगवान् ने उसकी व्याख्या नही की, उसे नहीं

बताया। क्या भगवान् जानते नही थे, इसलिए नही बताया, या भगवान् को वह रहस्य ही रखना था, इसलिए नही बताया। भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् ने यह ठीक ही कहा था कि तथागत को रहस्य रखना नही है तो फिर क्या उन्होंने न जानने के कारण ही (अजानन्तेन) ही उसे नही बताया। यदि जानते पर भी नही बताया, तब तो फिर तथागत की आचार्य-मुष्टि (रहस्य-रखना) है ही। यह भी दोनो ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है। "भन्ते नागसेन ! आप कहते है कि तथागत को भोजन, वस्त्र, निवास-स्थान, पथ्य-औषधादि सामग्री सदा मिल जाती थी। फिर आप कहते है एक बार पञ्चशाल नामक ब्राह्मण-ग्राम मे से भगवान् विना भिक्षा प्राप्त किये ही धुले-धुलाये भिक्षापात्र को लेकर लौट आये। ... भन्ते नागसेन यह भी दोनो ओर कठिनता पैदा करनेवाला प्रश्न आपकी सेवा मे उपस्थित है।" भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा 'आनन्द ! तुम तथागत के शरीर की पूजा की चिन्ता मत करो।' पुन उन्होने यह भी कहा 'पूजनीय पुरुष की धातुओ की पूजा करो' दोनो ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा मे उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ ! पूर्ण पुरुष, तथागत् भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध नवीन मार्ग का उद्भावन करने वाले है।' पुन एक दूसरी जगह उन्होने यह भी कहा है, 'भिक्षुओ ! जिस प्राचीन मार्ग पर पूर्वकाल मे ज्ञानी पुरुष चले, उसी का ही मैंने दर्शन प्राप्त किया है।' . यह दोनो ओर कठिनता पैदा करनेवाला प्रश्न आपकी सेवा मे उपस्थित है।" इस प्रकार के अनेक विरोधाभास-मय प्रश्न राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन के सामने रक्खे है, जिनका उन्होंने अपनी अद्भुत शैली मे उत्तर दिया है। प्रत्येक बौद्ध दर्शन के विद्यार्थी के लिए उनका पढना अनिवार्य है। साहित्य की दृष्टि से भी वे अपने महत्व में अद्वितीय है।

'मिलिन्द पञ्ह' के पाँचवे परिच्छेद का नाम है 'अनुमान पञ्हो' (अनुमान प्रश्न)। एक बार फिर मिलिन्द राजा भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ जाता है। वह उनसे पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या आपने बुद्ध को देखा है (कि पन बुद्धो तया दिट्ठोति) "नही महाराज" (नहि महाराजाति) "क्या आपके

आचार्यों ने बुद्ध को देखा है (कि पन ते आचरियेहि बुद्धो दिट्ठोति)" "नही महाराज !" "भन्ते नागसेन ! यदि आपने भी बुद्ध को नही देखा, आपके आचार्यों ने भी बुद्ध को नही देखा, तो भन्ते ! मै समझता हूँ बुद्ध है ही नही, बुद्ध का कुछ पता ही नही ।" यदि किसी आधुनिक विद्वान् के सामने यह प्रश्न रक्खा जाता तो वह उन ऐतिहासिक कारणो का उल्लेख करता जिनके आधार पर बुद्ध का अस्तित्व प्रमाणित किया जाता है । किन्तु नागसेन कालवादी नही है । वे धर्मवादी है । उनके लिए बुद्ध का धर्म ही बुद्ध के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है । 'धम्म' के अस्तित्व से ही बुद्ध के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए, यही इस सपूर्ण परिच्छेद की मूल ध्वनि है। "महाराज ! उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त ये वस्तुएँ जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक्-प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यग और आर्य अष्टागिक मार्ग अभी विद्यमान है । उनको देखकर ही पता लगा लेना चाहिए कि भगवान् बुद्ध अवश्य हुए है ।" "बहुत जनो को तारकर उपाधि (आवागमन-कारण) के मिट जाने से भगवान् निर्वाण को प्राप्त कर चुके । इस अनुमान से ही जान लेना चाहिए कि वे पुरुषोत्तम हुए है ।" "ससार के मनुष्य और देवताओं ने धर्मामृत को प्राप्त किया है, यही देखकर पता लगा लेना चाहिए कि धर्म की बडी लहर अवश्य बही होगी ।" "उत्तम गन्ध की महक पाकर लोग पता लगा लेते है कि जैसी गन्ध बह रही है उससे मालूम होता है कि फूल पुष्पित अवश्य हुए होगे । वैसे ही यह शील की गन्ध जो देवताओ और मनुष्यों मे बह रही है, इसी से समझ लेना चाहिए कि लोकोत्तर बुद्ध अवश्य हुए होगे "आदि, आदि । इसी प्रसग मे 'धम्म-नगर' (धम्म रूपी नगर) के सुन्दर सागोपाग रूपक का भी वर्णन किया गया है ।

छठे परिच्छेद मे फिर राजा मिलिन्द भदन्त नागसेन के पास जाता है और इस बार वह उनसे फिर एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है "भन्ते नागसेन ! क्या कोई गृहस्थ बिना घर को छोडे, विषय का भोग करते हुए, स्त्री-पुत्रादि से घिरा हुआ, माला-गन्ध-विलेपन को धारण करता हुआ, सोने-चादी का आस्वादन लेता हुआ. . . .शान्त, निर्वाणपद को साक्षात्कार कर सकता

है ?" इसी के उत्तर मे आगे बढ़ते बढते भदन्त नागसेन १३ अवधूत नियमों (धुतंग) के विवेचन पर आ जाते हैं। इस परिच्छेद का नाम ही 'धुतङ्ग कथा' अर्थात् 'अवधूत-व्रतो का विवरण' है। वास्तव में 'मिलिन्द-पञ्ह' की विषय-वस्तु की अपेक्षा यह 'विसुद्धि-मग्ग' (द्वितीय परिच्छेद) की विषय-वस्तु का अधिक अभिन्न अग है। अत इन अवधूत-व्रतो अधिक विवरण न देकर यहाँ उनके नाम निर्देश कर देना ही आवश्यक होगा। अवधूत-व्रतो की सख्या १३ है, जो इस प्रकार है—(१) पाशुकूलिक (फटे-पुराने वस्त्रो को साफ कर उनसे सीये हुए वस्त्र पहनने का नियम (पमुकूलिकंग) (२) तीन चीवर (भिक्षु-वस्त्र) पहनने का नियम (ते चीवरिकग) (३) भिक्षान्न मात्र पर ही निर्वाह करने का नियम (पिण्डपातिकग) (४) एक घर से दूसरे घर, बिना किसी घर को छोड़े हुए, भिक्षा माँगने का नियम (मपदानचारिकग) (५) भोजन के लिए दूसरी बार न बैठने का नियम (एकामनिकग), (६) केवल एक भिक्षापात्र मे जितना भोजन आ जाय उतना ही भोजन करने का नियम (पत्तपिडिकग) (७) एक बार भोजन समाप्त कर लेने पर फिर कुछ न खाने का नियम (खलुपच्छाभत्ति कग) (८) वनवासी होने का नियम (आरञ्ञिकग) (९) वृक्ष के नीचे रहने का नियम (रुक्खमूलिकग) (१०) खुले आकाश के नीचे रहने का नियम (अब्भोकासिकग) (११) श्मशान मे वास करने का नियम (सोसानिकग) (१२) यथा-प्राप्त निवास-स्थान मे रहने का नियम (यथासन्थतिकग) और (१३) न लेटने का नियम (नेसज्जिकग)।

सातवे परिच्छेद (ओपम्मकथापञ्ह) मे उपमाओ के द्वारा यह बताया गया है कि अर्हत्त्व को साक्षात्कार करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार नाना गुणो का सम्पादन करना चाहिये। किस प्रकार उसे कछुए के पाँच गुण ग्रहण करने चाहिये, कौए के दो गुण ग्रहण करने चाहिये, हिरन के तीन गुण ग्रहण करने चाहिये, आदि,आदि। संवाद के आरम्भ से लेकर अन्त तक भदन्त नागसेन के गौरव की रक्षा की गई है। आरम्भ से ही उन्होने राजा से तय कर लिया है कि संवाद 'पडितवाद' के ढंग से होगा, 'राजवाद' के ढ़ग से नही। राजा सदा उनसे नीचे आसन पर बैठता है। प्रथम बार ही उनके उत्तर से सन्तुष्ट होकर वह उनका भक्त बन जाता है। वह उनके पैरो में अपने सिर को रख देता है और विनम्रता पूर्वक ही

प्रत्येकप्रश्न को पूछता है। अन्त में तो, जैसा हम पहले देख चुके हैं, वह उनका उपासक ही बन जाता है, और बुद्ध की, धम्म की और संघ की शरण जाता है, जो इतिहास के साक्ष्य के द्वारा भी प्रमाणित है।

'मिलिन्द पञ्ह' दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से तो एक महाग्रंथ है ही। साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व भी उसका अल्प नही है। यद्यपि स्थविरवाद बौद्ध धर्म का वह कण्ठहार है, जिसकी प्रतिष्ठा वहाँ बुद्ध-वचनों के समान ही मान्य है, वह भारतीय साहित्य की भी अमूल्य निधि है। यद्यपि लंका, बरमा और स्याम के समान भारत में उसकी आधुनिक लोक-भाषाओ मे 'मिलिन्द पञ्ह' सबंधी प्रचुर साहित्य नही लिखा गया, किन्तु इस कारण उसे उस गौरव से, जो 'मिलिन्द पञ्ह' ने भारतीय साहित्य को दिया है, वचित कर देना ठीक नही होगा। 'मिलिन्द पञ्ह' प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की प्रभावशाली भारतीय गद्य-शैली का सर्वोत्तम नमूना है। विवेचनात्मक विषयो के लिए उपयुक्त हिन्दी की गद्य शैली का तो विकास हमारे साहित्य मे अभी हुआ है। अग्रेजी साहित्य की भी इस सबधी परम्परा १००-२०० वर्ष से पहले नही जाती। बाण और दडी का गद्य भी निश्चय ही इसके लिए उपयुक्त नही था। इस दृष्टि से 'मिलिन्द पञ्ह' की विचारात्मक गद्य-बद्ध शैली कितनी महत्वपूर्ण है, इसका सम्यक् अनुमापन ही नही किया जा सकता। लेखक का शब्दाधिकार और उसकी शैली की प्रवाहशीलता, उसका ओजमय शब्दचयन, प्रभावशाली कथन-प्रकार, उपमाओ और युक्तियो के द्वारा उसका स्वाभाविक अलकार-विधान, सबसे बढ़कर उसकी सरलता और प्रसादगुण, ये सब गुण उसे साहित्यिक गद्य के निर्माताओं की उस श्रेणी मे बैठा देते है, जहाँ उसका तेज सर्वोपरि है।[१] प्राचीन भारतीय गद्य-साहित्य मे 'मिलिन्द पञ्ह' के समान कोई रचना न पाकर ही

---

१. पुण्य श्लोक डा० रायस डेविड्स 'मिलिन्द पञ्ह' की गद्य शैली के बड़े प्रशंसक थे। देखिये उनके मिलिन्दपञ्ह के अंग्रेजी अनुवाद, (दि क्विशन्स ऑफ किंग मिलिन्द, सेक्रेडबुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द ३५ वीं का भूमिकांश तथा एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स जिल्द ८, पृष्ठ ६३१; मिलाइये विंटरनित्श : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पष्ठ १७६।

सम्भवतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया है कि 'मिलिन्द पञ्ह' की शैली पर ग्रीक प्रभाव उपलक्षित है। यह एक बडा भ्रम है। भारतीय पराधीनता के युग मे अधिकांश पश्चिमी विद्वान् यह विश्वास ही नही कर सकते थे कि भारत ने भी विश्व-संस्कृति को कुछ मौलिक योग-दान दिया है। इसी कारण उन्होंने अनेक प्राचीन भारतीय विशेषतापूर्ण बातो पर भी पश्चिमी प्रभाव की कल्पना कर ली है। अफलातूं के सवादों के प्रभाव को 'मिलिन्द पञ्ह' की शैली पर बताने के समान और कोई निरर्थक बात नही कही जा सकती। पहले तो ग्रीक भाषा और विचार से नागसेन के परिचित होने का साक्ष्य नहीं दिया जा सकता, फिर जब उनके सामने प्राचीन उपनिषदो और स्वय बुद्ध-वचनों के रूप में गम्भीर सवादो की परम्परा प्रस्तुत थी, तो वे उसे छोडकर विदेश मे उसे ग्रहण करने क्यो जाते ? वह समय तो भारतीय सस्कृति के गौरव का था और हम समझते है भारतीय ज्ञान का वह गौरव ही 'मिलिन्द पञ्ह' मे प्रतिध्वनित हुआ है, जिसने नमित होकर ही बुद्धिवादी मिलिन्द राजा बुद्ध-धर्म मे उपासकत्व ग्रहण करता है। यह भारतीय ज्ञान की महान् विजय का द्योतक है—उस ग्रीक ज्ञान पर जिसकी पाश्चात्य जगत् बडी दम भरता है और जिससे ही उसने अपना सारा ज्ञान वास्तव मे प्राप्त भी किया है। 'मिलिन्दपञ्ह' उस ज्ञान-विजय अथवा धम्म-विजय का स्मारक और परिचायक है, जिसे भारत ने उस समय के, अपने अलावा, सबसे अधिक ज्ञान-सपन्न देश पर प्राप्त किया था। इस दृष्टि से वह भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नो मे से एक है। जहां तक 'मिलिन्द पञ्ह' की शैली के स्रोतों या उसकी प्रेरणा का सवाल है, वह निश्चय ही तेपटिक बुद्ध-वचनों में ही निहित है। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों की जीवित सवाद-शैली उसकी प्रेरणा-स्वरूप मानी जा सकती है। 'कथावत्थु' के अप्रतिम आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स के भी भदन्त नागसेन कम ऋणी नही है। यद्यपि इन दोनो ग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नही कर सकते, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि मोग्गलिपुत्त के समाधानो पर ही नागसेन के अधिकांश 'प्रश्न-व्याकरण' (प्रश्नो के उत्तर) आधारित है और जिस मन्तव्य को वहाँ 'स्थविरवाद' के रूप में अपनाया गया है, वही मन्तव्य 'मिलिन्द पञ्ह' कार का भी है। यद्यपि

उपनिषदों की शैली का कोई स्पष्ट प्रभाव 'मिलिन्द पञ्ह' पर उपलक्षित नहीं होता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्वेतकेतु आरुणेय और प्रवाहण जैवलि (जिनके संवाद छान्दोग्य १।८।३ और बृहदारण्यक ६।२।१ में आते हैं), आरुणि और याज्ञवल्क्य (जिनके संवाद बृहदारण्यक ३।७।१ में आते हैं), आरुणि और श्वेतकेतु (छान्दोग्य (६।१), आदि अनेक ऋषियों के संवाद अपनी विचित्र विशेषता रखते हुए भी मिलिन्द और नागसेन के प्रभावशाली संवादों में अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। इतिहास की दृष्टि से, विशेषतः पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से, 'मिलिन्द पञ्ह' का यह महत्व है कि उसमें पालि त्रिपिटक के नाना ग्रन्थों के नाम दे देकर, पाँच निकायों, अभिधम्म पिटक के सात ग्रन्थों, और उनके भिन्न भिन्न अंगों के निर्देशपूर्वक अनेक अंश उद्धृत किये गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पालि त्रिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व अपने उसी नाम-रूप में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।[१] इस प्रकार 'मिलिन्द पञ्ह' का साक्ष्य अशोक के अभिलेखों द्वारा प्रदत्त साक्ष्य का समर्थन करता है। 'मिलिन्द पञ्ह' में अनेक स्थानों के वर्णन हैं, जैसे अलसन्द (अलेक्जेन्ड्रिया) यवन (यूनान, बैक्ट्रिया) भरुकच्छ, (भड़ौच) चीन (चीन-देश), गान्धार, कलिंग, कजंगला, कोसल, मधुरा (मथुरा) सागल साकेत, सौराष्ट्र (सोरट्ठ) वाराणसी, वंग, तक्कोल, उज्जेनी, आदि। इनसे तत्कालीन भारतीय भूगोल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। साराश यह कि धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, सभी दृष्टियों से 'मिलिन्द पञ्ह' का भारतीय वाङ्मय के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है और पालि अनुपिटक-साहित्य में तो उसके समान महत्वपूर्ण कोई दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ है ही नहीं, यह तो निर्विवाद ही है।

अन्य साहित्य

पालि त्रिपिटक के संकलन और अट्ठकथा-साहित्य के प्रणयन के बीच के युग में उपर्युक्त तीन ग्रन्थों (नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह)

---

१. देखिये रायस डेविड्स : दि क्वेश्चन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्दपञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद), सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५वीं, पृष्ठ १४ (भूमिका)।

के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ (दीपवस) भी है। यह भी प्राग्बुद्धघोष-कालीन पालि साहित्य की एक प्रमुख रचना है। 'वश-साहित्य' का विवरण देते समय हम इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का परिचय देंगे। इसी प्रकार सिहली अट्ठ-कथाएँ और पुराणाचार्यों (पोराणाचरिय) के ग्रन्थ आदि भी इन शताब्दियो मे लिखे गये, जिनका विवरण अट्ठकथा-साहित्य के प्रकरण मे ही दिया जायगा। इसी युग के साहित्य के रूप मे गायगर ने 'सुत्त सगह' की भी चर्चा की है, जो किसी अज्ञात लेखक के द्वारा किया हुआ सुत्तो का सग्रह है और 'विमानवत्थु' आदि के समान अल्प महत्व की रचना है। बरमी परम्परा इसे 'खुद्दक-निकाय' के अन्तर्गत मानती है, किन्तु इसके प्रणेता या प्रणयन-काल के विषय मे कुछ ज्ञात नही है।

सातवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

अर्थ कथा-साहित्य का उद्भव और विकास

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार स्थविर महेन्द्र और उनके साथी भिक्षु पालि-त्रिपिटक के साथ-साथ उसकी 'अट्ठकथा' को भी अपने साथ लका मे ले गये।[1] यह निश्चित है कि जिस रूप मे यह 'अट्ठकथा' लका मे ले जाई गई होगी वह पालि-त्रिपिटक के समान मौखिक ही रहा होगा। प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व जब लकाधिपति वट्टगामणि अभय के समय मे पालि-त्रिपिटक लेख-बद्ध किया गया, तो उसकी उपर्युक्त 'अट्ठकथा' के भी लेखबद्ध होने की कोई सूचना हम नही पाते। अत. महेन्द्र द्वारा लका मे पालि-त्रिपिटक की 'अट्ठकथा' भी ले जाये जाने का कोई ऐतिहासिक आधार हमे नही मिलता। उन अट्ठकथाओ का कोई अश आज किसी रूप मे सुरक्षित नही है। हाँ, एक दूसरी प्रकार की 'अट्ठकथाओ' के अस्तित्व का साक्ष्य हम सिहल के इतिहास मे अत्यन्त प्रारम्भिक काल मे ही पाते है। ये प्राचीन सिहली भाषा मे लिखी हुई अट्ठकथाएँ है। जैसा हम आगे अभी इसी प्रकरण मे देखेगे, आचार्य बुद्धघोष इन्ही प्राचीन सिहली अट्ठकथाओ का पालि रूपान्तर करने के लिये लका गये थे। चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी मे न केवल बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल आदि के द्वारा रचित विस्तृत अट्ठ-कथा-साहित्य, बल्कि प्राग्बुद्धघोषकालीन लका का इतिहास-ग्रन्थ 'दीपवस' और बाद मे उसी के आधार-स्वरूप रचित 'महावस' भी, अपनी विषय-वस्तु के मूल आधार और स्रोतो के लिये इन्ही प्राचीन सिहली अट्ठकथाओ के ऋणी है। महावस-टीका (६३।५८९-५५०) के आधार पर गायगर ने यह सिद्ध करने का

---

१. देखिये समन्तपासादिका की बहिरनिदानवण्णना।

प्रयत्न किया है कि ये प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ बारहवी शताब्दी ईसवी तक प्राप्त थी । आज इनका कोई अश सुरक्षित नही है ।

जैसा अभी कहा गया, बुद्धघोष महास्थविर प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये ही लंका गये थे । उन्होंने अपनी विभिन्न अट्ठ-कथाओं में जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओ का निर्देश किया है, या उनसे उद्धरण दिये है, उनमें ये मुख्य है (१) महा-अट्ठकथा (२) महा-पच्चरी या महा-पच्चरिय (३) कुरुन्दी या कुरुन्दिय (४) अन्धट्ठकथा (५) संखेप-अट्ठकथा (६) आगमट्ठकथा (७) आचरियान- समानट्ठकथा । दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अगुत्तर, इन चारो निकायो की अपनी 'अट्ठकथाओं' के अन्त मे आचार्य बुद्धघोष ने अलग अलग कहा है **"सा हि महा-अट्ठकथाय सारमादाय निट्ठिता एसा"** अर्थात् "इसे मैंने महा-अट्ठकथा के सार को लेकर पूरा किया है" । इससे निश्चित है कि बुद्धघोष-कृत 'सुमगल विलासिनी' 'पपंचसूदनी' 'सारत्थ पकासिनी' और 'मनोरथपूरणी' (क्रमश: दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायो की अट्ठकथाएँ) प्राचीन सिंहली अट्ठकथा जिसका नाम 'महा अट्ठकथा' था, पर आधारित है । उपर्युक्त कथन के साक्ष्य पर 'सद्धम्म सगह' (१४वी शताब्दी) का यह कहना कि 'महा-अट्ठकथा' सुत्त-पिटक की अट्ठकथा थी,[1] ठीक मालूम पडता है । इसी प्रकार 'सद्धम्म सगह' के अनुसार 'महापच्चरी' और 'कुरुन्दी' क्रमश: अभिधम्म और विनय की अट्ठकथाएँ थी ।[2] 'कुरुन्दी' 'विनय-पिटक' की ही अट्ठकथा थी, इसे आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से पूरा समर्थन प्राप्त नही होता, क्योकि विनय-पिटक की अट्ठकथा (समन्तपासादिका) के आरम्भ मे उन्होने अपनी इस अट्ठकथा के मुख्य आधार के रूप में 'कुरुन्दी' का उल्लेख नही किया है । वहाँ उन्होने केवल यह कहा है कि ये तीनो अट्ठकथाएँ (महा-अट्ठकथा, महापच्चरी, एव कुरुन्दी) प्राचीन अट्ठकथाएँ थीं और सिंहली भाषा में लिखी गईं थीं । 'गन्धवंस' में भी उपर्युक्त तीनों अट्ठकथाओ का उल्लेख किया गया है । वहाँ 'महा-अट्ठकथा' (सुत्त-पिटक की अट्ठकथा) को इन सब मे प्रधान

१, २. सद्धम्म संगह, पृष्ठ ५५ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८९० में प्रकाशित संस्करण)

बताया गया है और उसे पुराणाचार्यों (पोराणाचरिया) की रचना बतलाया गया है, जब कि अन्य दो अट्ठकथाओ को ग्रन्थाचार्यों (गन्धाचरिया) की रचनाए बतलाया गया है[१]। इससे स्पष्ट कि 'गन्धवंस' के अनुसार 'महा-अट्ठकथा' की प्राचीनता और प्रामाणिकता अन्य दो की अपेक्षा अधिक थी। 'अन्धट्ठकथा' और 'सखेपट्ठकथा' तथा इनके साथ साथ 'चूलपच्चरी' और 'पण्णवार' नाम की प्राचीन सिहली अट्ठकथाओ का उल्लेख 'समन्तपासादिका' की दो टीकाओ 'वजिरबुद्धि' और 'सारत्थदीपनी' मे भी किया गया है[२]। किन्तु इनके विषय मे भी हमारी कोई विशेष जानकारी नही है[३]। 'आचरियान समानट्ठकथा' जिसका उल्लेख बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' के आदि मे किया है, किसी विशेष अट्ठकथा का नाम न होकर केवल अनेक अट्ठकथाओ के समान सिद्धान्तो का सूचक है, यही मानना अधिक समीचीन जान पडता है। 'आगमट्ठ-कथा', जिसका उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' और 'समन्तपासादिका' दोनो के आदि मे किया है, सम्पूर्ण आगमो या निकायो की एक सामान्य अट्ठकथा ही रही होगी। कुछ भी हो, बुद्धघोष ने जिन प्राचीन सिहली अट्ठकथाओ का उल्लेख किया है, वे किन्ही लेखको की व्यक्तिगत रचनाएँ न होकर महाविहार-वासी भिक्षुओ की परम्पराप्राप्त कृतियाँ थी जो उनकी सामान्य सम्पत्ति के रूप मे चली आ रही थी। आचार्य बुद्धघोष ने इन महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि को लेकर ही अपनी समस्त अट्ठकथाएँ और 'विसुद्धिमग्ग' लिखे, यह उन्होने सब जगह स्पष्ट कर दिया है। 'विसुद्धि-मग्ग' के साक्ष्य का हम पीछे विवरण देंगे, अभी केवल 'समन्तपासादिका' और 'अट्ठसालिनी' के इस साक्ष्य को देखे—

"महाविहारवासीनं दीपयन्तो विनिच्छयं
अत्थं पकासयिस्सामि आगमट्ठकथासु पि"

---

१. पृष्ठ ५९ एवं ६८ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)

२. देखिये गायगर : इंडियन लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २५

३. इनके कुछ अनुमानाश्रित विवरण के लिए देखिये लाहा : पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३७६; श्रीमती रायस डेविड्स : ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स, पृष्ठ २२ (भूमिका)

आगे बुद्धघोष के जीवन-विवरण से भी यही स्पष्ट होगा कि 'महाविहार' की परम्परा पर आश्रित सिद्धान्तों के अनुसार ही उन्होंने अपने विशाल अट्ठ-कथा साहित्य की रचना की है। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि 'महाविहार' के अलावा 'उत्तर विहार' नामक एक अन्य विहार के भिक्षुओ की परम्परा भी उस समय प्रचलित थी। बुद्धदत्त का 'उत्तरविनिच्छय' उसी पर आधारित है।

प्राचीन सिहली अट्ठकथाओ को अपनी रचनाओ का आधार स्वीकार करने के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने 'प्राचीन स्थविरो' (पोराणकत्थेरा) या 'प्राचीनों' 'पुराने लोगो (पोराणा) के मतो के उद्धरण अनेक बार अपनी अट्ठ-कथाओं में दिये है[1]। ये 'प्राचीन स्थविर' या 'पुराने लोग' कौन थे ? 'गन्धवस' के मतानुसार प्रथम तीन धर्म-सगीतियो के आचार्य भिक्षु, आर्य महाकात्यायन को छोड़कर, 'पोराणा' या 'पुराने लोग' कहलाते है[2]। सम्भवतः प्राचीन सिहली अट्ठकथाओं में इन प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख था। वही से उनका पालि रूपान्तर कर आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओ में ले लिया है। इन 'पोराणों' के उद्धरणों की एक बडी विशेषता यह है कि ये प्रायः पद्य-मय है और अनेक उद्धरण जो बुद्धघोष की अट्ठकथाओ मे मिलते है, बिलकुल उन्ही शब्दो मे 'महावस' में भी मिलते है। इससे इस मान्यता को दृढता मिलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ और 'महावंस' दोनो के मूल स्रोत और आधार प्राचीन सिहली अट्ठकथाएँ ही है। 'यथाहु पोराणा' (जैसा पुराने लोगो ने कहा) या 'तेने वे पोराणकत्थेरा' (इसी प्रकार प्राचीन स्थविर) आदि शब्दो से आरम्भ होने वाले इन 'पोराण' आचार्यों के उद्धरणो को बुद्धघोष की अट्ठकथाओ और 'विसुद्धि-मग्ग' से यदि सग्रह किया जाय और 'दीपवंस' आदि के इसी प्रकार के साक्ष्यों से उसका मिलान किया जाय तो प्राचीन बौद्ध परम्परा सम्बन्धी एक व्यवस्थित

---

१. 'पोराणों' के कुछ उद्धरणों के लिए देखिये बिमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्ध घोष, पृष्ठ ६५-६७

२. देखिये आगे नवें अध्याय में गन्धवंस की विषय-वस्तु का विवेचन।

और अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री हाथ लग सकती है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व भी अल्प न होगा।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओ और पुराने आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने अपने पूर्वगामी सभी स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की है। 'दीपवंस' और 'मिलिन्द पञ्ह' तो प्राग्बुद्धघोषकालीन रचनाएँ हैं ही, बुद्ध घोष ने अपनी व्याख्याओं के लिये सब से अधिक मूल्यवान् सामग्री तो बुद्ध और उनके प्रारम्भिक शिष्यों के वचनों के स्वकीय मन्थन से ही प्राप्त की है। इसी में उनकी मौलिकता भी है। चूंकि इसमें उन्हे इतनी अधिक सफलता मिली है, इसीलिये पालि-साहित्य मे उनका दान अमर हो गया है। स्वय त्रिपिटक-साहित्य में ऐसी अमूल्य सामग्री भरी पडी है, जिससे बुद्धघोष जैसे अगाध विद्वान् चाहे जितनी सहायता ले सकते थे। स्वयं भगवान् बुद्ध के सडायतन विभंग (मज्झिम. ३।४।७) अरण विभग (मझिम. ३।४।९) धातु विभग (मज्झिम. ३।४।१०) एवं दक्खिणा-विभंग (मज्झिम. ३।४।१२) आदि सुत्तो मे निहित व्याख्यात्मक उपदेश, तथा उनके प्रधान शिष्यो यथा सारिपुत्र, महाकात्यायन, महाकोट्ठित आदि के व्याख्यापरक निर्वचन, अभिधम्म-पिटक और उसके अन्तर्गत विशेषत. 'कथावत्थु' की विवेचन- प्रणाली, ये सभी स्रोत और साधन बुद्धघोष के लिये खुले पड़े थे, जिनका पूरा उपयोग कर उन्होंने पालि-साहित्य में उस विशाल अट्ठकथा-साहित्य का प्रवर्तन किया, जो अपनी विशालता और गम्भीरता में भारतीय साहित्य में उपलब्ध समान कोटि के प्रत्येक साहित्य से बढ़कर है।

अट्ठकथा-साहित्य की संस्कृत भाष्य और टीकाओं से तुलना—अट्ठकथाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ

वास्तव में पालि के अट्ठकथा-साहित्य के समान भारतीय भाष्य-साहित्य में अन्य कुछ नही है। सस्कृत में भाष्य और टीकाएँ अवश्य है, किन्तु उनकी तुलना सर्वांश में पालि अट्ठकथाओ से नहीं की जा सकती। भाष्य की परिभाषा सस्कृत मे इस प्रकार की गई है—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।" शब्द-कल्पद्रुम

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भाष्य का मुख्य उद्देश्य सूत्र के अर्थ का वर्णन करना है और इसी की पूर्ति के लिये वह कुछ स्व-कथन भी करता है जिसकी भी व्याख्या में वह प्रवृत्त होता है। संस्कृत के भाष्य इस परिभाषा पर पूरे उतरते है। किन्तु यदि पालि अट्ठकथाओं का सम्बन्ध त्रिपिटक या बुद्ध-वचनों से उसी प्रकार का माना जाय जैसे भाष्यों का सूत्रों से, तो यह पालि के अट्ठकथा-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता को व्यक्त न करेगा। अर्थ की व्याख्या के साथ साथ पालि अट्ठकथाओं का एक बड़ा उद्देश्य उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट रूप से विवृत कर देना है। किसी संस्कृत के भाष्यकार ने ऐसा किया हो, यह हम नहीं कह सकते। कम से कम जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय पालि अट्ठकथाकारो ने दिया है, वह संस्कृत के भाष्यकारों में तो उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत भाष्यों मे अर्थ की व्याख्या पर जोर होता है। यही काम उनकी टीकाएँ भी करती हे। अनेक सिद्धान्तों या विचार-धाराओं के विवरण वहाँ आते है, किन्तु 'इत्येके' 'इत्यपरे' कह कर ही छोड दिये जाते है। कौन सा सिद्धान्त कब उत्पन्न हुआ, अथवा वह किन का था, आदि की गवेषणा वहाँ नही की जाती। वहाँ केवल सिद्धान्त का ही अर्थ-विवेचन अधिकतर किया जाता है। इसके विपरीत पालि-अट्ठकथाओं में पूरे विवरण की सूची रहती है। 'कथावत्थु' की अट्ठकथा को इस दृष्टि से देखें तो आश्चर्यान्वित रह जाना पडता है। वहाँ निराकृत २१६ सिद्धान्तो में से कौन किस सम्प्रदाय का सिद्धान्त था और वह कब उत्पन्न हुआ, आदि का पूरा विवरण वहाँ दिया गया, है। वेदों के भाष्यों में ऋषियों की जीवनियो के विषय मे उतना भी नही कहा गया, जितना पालि अट्ठकथाओं में बुद्ध और उनके शिष्यो के विषय में कहा गया है। निश्चय ही उन्होने जो ऐतिहासिक ब्यौरे दिये है वे पूरे भारतीय साहित्य के लिये एक दम नई चीज है और उनकी इस विशेषता को हमे उनका महत्वांकन करते समय सदा ध्यान में रखना चाहिये।

पालि साहित्य के तीन बड़े अट्ठकथाकार: बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल

पालि-साहित्य में अट्ठकथा-साहित्य का प्रारम्भ चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी मे होता है। इस प्रकार बुद्ध-युग से लगभग एक हजार वर्ष बाद ये अट्ठ-कथाएँ लिखी गई। निश्चय ही काल के इस इतने लम्बे व्यवधान के कारण इन

अट्ठकथाओं की प्रामाणिकता उतनी सबल नहीं होती, यदि ये परम्परा से प्राप्त प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं पर आधारित नहीं होती। चूंकि ये उनकी ऐतिहासिक परम्परा पर आधारित हैं, अतः इतनी आधुनिक होते हुए भी बुद्ध-युग के सम्बन्ध में इनका प्रामाण्य मान्य है, यद्यपि स्वयं त्रिपिटक के बाद। चौथी-पाँचवी शताब्दी में प्रायः समकालिक ही तीन बड़े अट्ठकथाकार पालि साहित्य में हुए हैं, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। इनके बाद कुछ और भी अट्ठकथाकार हुए, जिनका विवरण हम बाद में देंगे। अभी हम इन तीन आचार्यों के जीवन और कार्य पर विहगम दृष्टि डालें।

बुद्धदत्त की जीवनी और रचनाएँ

बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालिक थे, यह 'बुद्धघोसुप्पत्ति' (बुद्धघोष की जीवनी) और 'गन्धवंस' तथा 'सासनवंस' (१९वीं शताब्दी के वंश-ग्रन्थ) के वर्णनों से ज्ञात होता है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णनानुसार आचार्य बुद्धदत्त, बुद्ध-घोष से पहले लंका में बुद्ध-वचनों के अध्ययनार्थ गये थे। अपने अध्ययन को समाप्त कर जिस नाव से लौट कर वे भारत (जम्बुद्वीप) आ रहे थे, उसका मिलान उस नाव से हो गया जिसमें बैठकर इधर से आचार्य बुद्धघोष लंका को जा रहे थे। दोनों स्थविरों मे धर्म-सलाप हुआ। कुशल-मंगल और एक दूसरे का परिचय प्राप्त करने के बाद आचार्य बुद्धघोष ने उन्हें बताया "बुद्ध-उपदेश सिंहली भाषा में है। मैं उनका मागधी रूपान्तर करने लका जा रहा हूँ"। बुद्धदत्त ने उनसे कहा "आवुस बुद्धघोष! मैं भी तुमसे पूर्व इस लका द्वीप में भगवान् के शासन को सिंहली भाषा से मागधी भाषामें रूपान्तरित करने के उद्देश्य से आया था। किन्तु मेरी आयु थोडी रही है। मैं अब इस काम को पूरा नहीं कर सकूगा।"[1] जब इस प्रकार दोनों स्थविरो में आपसमें बातचीत चल रही थी तभी दोनों नावें एक दूसरी

---

१. "आवुसो बुद्धघोस अहं तया पुब्बे लंका दीपे भगवतो सासनं कातुं आगतोम्हि ति वत्वा अहं अप्पायुको...." बुद्धघोसुप्पत्ति, पृष्ठ ६० (जेम्स ग्रे का संस्करण), यही वर्णन बिलकुल 'सासनवंस' में भी है, देखिये पृष्ठ २९-३० मेबिल बोड का संस्करण)

को छोड़कर चल दी ।[१] इस विवरण से दो बातें स्पष्ट हो जाती है । एक तो यह कि बुद्धदत्त बुद्धघोष से पहले लका गये थे और दूसरी यह कि वे आयु मे बुद्ध-घोष से बड़े थे, क्योंकि उक्त सलाप मे उन्होने बुद्धघोष को 'आवुस' कह कर पुकारा है जो बडो के द्वारा छोटो के लिय प्रयुक्त किया जाता है ।[२] बुद्धदत्त ने अपने विनय-विनिच्छय (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के आरम्भ मे ही बुद्ध-घोष के साथ अपने मिलन और संलाप का वर्णन किया है । उससे प्रकट होता है कि बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से यह प्रार्थना की थी कि जब वे अपनी अट्ठकथाएँ समाप्त कर लें तो उनकी प्रतियाँ उनके पास भी भेज दे, ताकि वे उन्हे सक्षिप्त रूप प्रदान कर सकें । आचार्य बुद्धघोष ने उनकी इस प्रार्थना के अनुसार बाद में अपनी अट्ठकथाएँ उनके पास भेज दी । आचार्य बुद्धदत्त ने आचार्य बुद्धघोष-कृत अभिधम्म-पिटक की अट्ठकथाओ का सक्षेप 'अभिधम्मावतार' मे और विनय सम्बन्धी अट्ठकथा का सक्षेप 'विनय-विनिच्छय' में किया । इस सूचना मे सन्देह करने की कोई आवश्यकता ही नही, क्योंकि यह स्वय बुद्धदत्त द्वारा दी हुई है । हाँ, 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन के साथ उसका कुछ विरोध अवश्य है, क्योंकि लका से लौटने के समय ही वे 'अल्पायु' तक जीने की आशा रखते थे, फिर इतने काल तक बुद्धघोष की अट्ठकथाओ के सक्षेप लिखने के लिये किस प्रकार जीवित रहे ? फिर भी इसमें कुछ वैसा विरोध नही है, जिस पर विश्वास ही नही किया जासके । हर हालत में 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन की अपेक्षा 'विनय-विनिच्छय' का वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है, और यदि दोनो स्थविरो को हम प्राय. समवयस्क मान सके, तब तो उनमे कुछ ऐसा अन्तर भी नही है । आचार्य बुद्धदत्त चोल-राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरइपुर) के निवासी थे । आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होने

---

१. **एवं तेसं द्विन्नं थेरानं अञ्ञमञ्ञं सल्लपन्तानं येव द्वे नावा सयं एव अपनेत्वा गच्छिंसु। बुद्धघोसुप्पत्ति एवं सासनवंस, ऊपर उद्धृत के समान।**

२. **मिलाइये बुद्धदत्त के ग्रन्थों के सम्पादक उसी नाम के आधुनिक सिहली भिक्षु (बुद्धदत्त) का यह कथन "अयं पन बुद्धदत्ताचरियो बुद्धघोसाचरियेन समानवस्सिको वा थोकं वुड्ढतरो वा ति सल्लक्खेम" (अर्थात् बुद्धदत्त बुद्ध-घोष के समवयस्क याकुछ ही बड़े थे, ऐसा लगता है)**

भी लंका के अनुराधपुर-स्थित महाविहार में जाकर भगवान् (बुद्ध) के शासन-सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। लंका से लौट कर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना कावेरी नदी के तट पर दक्षिण के कृष्णदास (कण्हदास) या विष्णुदास (वेण्हुदास) नामक वैष्णव द्वारा निर्मित विहार में बैठ कर की,[1] जो वैष्णवों और बौद्धों के मधुर सम्बन्ध के रूप में पालि-साहित्य में सदा स्मृत रहेगी।

बुद्धदत्त द्वारा रचित ग्रन्थ या अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं (१) उत्तरविनिच्छय (२) विनयविनिच्छय (३) अभिधम्मावतार (४) रूपारूपविभाग और मधुरत्थविलासिनी (बुद्धवंस की अट्ठकथा)। 'उत्तरविनिच्छय' (उत्तर विनिश्चय) और 'विनय-विनिच्छय' दोनों बुद्धघोषकृत समन्त-पासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के पद्यबद्ध संक्षेप हैं। विनय-विनिच्छय में ३१ और उत्तर विनिच्छय मे २३ अध्याय हैं। उत्तर-विनिच्छय के २३ अध्यायों मे ९६९ गाथाएँ हैं। विनय-पिटक की विषय-सूची का अनुसरण करते हुए इसमें भी पहले महाविभंग या भिक्खु-विभंग सम्बन्धी नियमों का विवरण है, यथा पाराजिक-कथा, पटिदेसनिय कथा, सेखिय कथा, आदि। इसके बाद भिक्खुनी-विभग के विषय हैं, यथा पाराजिक-कथा, संघादिसेस कथा, निस्सग्गिय कथा, अधिकरण पच्चय कथा, खन्धक पुच्छा, आपत्ति समुट्ठान कथा, आदि। 'उत्तर-विनिच्छय' सिंहल के 'उत्तर विहार' की परम्परा के आधार पर लिखी गयी अट्ठकथा है, यह पहले कहा जा चुका है। विनय-विनिच्छय के ३१ अध्यायों में कुल मिलाकर ३१८३ गाथाएँ हैं। इसकी भी विषय-वस्तु उत्तर-विनिच्छय से ही मिलती जुलती है। केवल व्याख्या मे कहीं कुछ अन्तर है। पहले महाविभग (भिक्खु विभग) के अन्तर्गत पाराजिक-कथा, संघादिसेस कथा, अनियत कथा, निस्सग्गिय पाचित्तिय कथा, पटिदेसनिय कथा तथा सेखिय-कथा का विवरण है। इसी प्रकार भिक्खुनी-विभंग के अन्तर्गत पाराजिक कथा, संघादिसेस कथा, निस्सग्गिय-पाचित्तिय कथा और पटिदेस-

---

१. 'अभिधम्मावतार' में उन्होंने स्वयं कहा है "विनय-विनिच्छयो . . . चोलरट्ठे भूतमंगलगामे वेण्हुदासस्स आरामे वसन्तेन . . कावेरीपट्टने रम्मे नानारामो-पसोभिते कारिते कण्हदासेन दस्सनीये मनोरमे।"

निय कथा के विवेचन हैं।[1] फिर खन्धक-कथा, कम्म कथा, पकिण्णक कथा, कम्मट्ठान-कथा आदि के विवेचन हैं। इस प्रकार उत्तर-विनिच्छय[2] और विनय-विनिच्छय[3] दोनों ही अट्ठकथाएँ विनय-पिटक की विषय-वस्तु का समन्त-पासादिका के आधार पर, पद्य में विवेचन करती हैं। इन पर क्रमशः 'उत्तर लीनत्थ दीपनी' और 'विनय सारत्थ दीपनी' नामक टीकाएँ भी बाद में चल कर वाचिस्सर महासामि (वागीश्वर महास्वामी) द्वारा लिखी गईं, जिनका उल्लेख हम आगे चल कर टीका-साहित्य के विवेचन में करेंगे। 'अभिधम्मावतार' गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है। बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है। किन्तु बुद्धघोष का अन्धानुकरण लेखक ने नहीं किया है। बुद्धघोष ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में धर्मों (पदार्थों) का विवेचन किया है, जब कि बुद्धदत्त ने 'अभिधम्मावतार' में चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण, इस चार प्रकार के वर्गीकरण को लिया है। श्रीमती रायस डेविड्स ने बुद्धदत्त के वर्गीकरण को अधिक उत्तम माना है।[4] 'अभिधम्मावतार'[5] के समान 'रूपारूप-विभाग'[6] भी अभिधम्म-सम्बन्धी रचना है। इसका भी विषय रूप, अरूप, चित्त, चेतसिक आदि का विवेचन करना है। 'मधुरत्थ विलासिनी' 'बुद्धवंस' की अट्ठकथा है, जिसका साहित्यिक दृष्टि से कुछ अधिक महत्त्व नहीं है।

बुद्धघोष की जीवनी

अब हम पालि-साहित्य के युग-विधायक आचार्य बुद्धघोष पर आते हैं।

---

१. इन विभिन्न शब्दों के अर्थों के लिए देखिये पीछे विनय-पिटक का विवेचन (चौथे अध्याय में)

२. ३. इन दोनों का रोमन लिपि में सम्पादन स्थविर बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है। इन ग्रन्थों के सिंहली, बरमी और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं, जो क्रमशः कोलम्बो, रंगून और बंकाक से प्रकाशित हुए हैं।

४. बुद्धिस्ट साइकोलोजी, पृष्ठ १७४

५. ६. इनका भी रोमन लिपि में सम्पादन स्थविर बुद्धदत्त ने किया है, जिसे पालि टैक्सट् सोसायटी ने प्रकाशित किया है।

'बुद्धघोष' अनुपिटक साहित्य का सब से बडा नाम है। आचार्य बुद्धघोष ने बुद्ध-शासन की सेवा और उसकी चिरस्थिति के लिये जितना अधिक काम किया है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति ने किया हो। पालि साहित्य को जो कुछ उन्होंने दिया है वह आकार और महत्त्व दोनो में ही इतना महान् है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि एक जीवन में इतना काम कैसे कर लिया गया। इन महापुरुष की जीवनी की पावन अनुस्मृति पहले हम करे। आचार्य बुद्धघोष ने अन्य अनेक भारतीय मनीषियो की तरह अपने जीवन के विषय में हमे अधिक नही बताया है। केवल अपनी अट्ठकथाओ के आदि और अन्त में उन्होंने कुछ सूचनाएँ दी है, जो उनकी रचना आदि पर ही कुछ प्रकाश डालती है अथवा जिनकी प्रेरणा पर, और जिस उद्देश्य से वे लिखी गई, उनके विषय में वे कुछ सक्षेप से कहती है, किन्तु मनुष्य रूप में बुद्धघोष के विषय में हमे उनमे कुछ सामग्री नही मिलती। यह पक्ष सम्भवत बुद्धघोष के लिये इतना अमहत्त्वपूर्ण था कि उसे उन्होंने अपने महत् उद्देश्य में ही खो दिया है। उपनिषदो के ऋषियो ने भी ऐसा ही किया है और भारतीय मनीषियो की यह एक निश्चित परम्परागत प्रणाली ही रही है कि अपने साधारण व्यक्तिगत जीवन के विषय में उन्होंने कुछ कहना उचित नही समझा है। उनकी यह निर्वैयक्तिकता उनके सन्देश को निश्चय ही एक अधिक बल प्रदान करती है, इसमें सन्देह नही, किन्तु मनुष्य होने के नाते हम उनके मानव-रूप को भी जानना चाहते ही है। और उससे इस अवस्था में जानने का अवकाश नही रह जाता। बुद्धघोष की जीवनी को जानने के लिये उनकी अट्ठकथाओ में दी हुई थोडी बहुत सामग्री के अतिरिक्त प्रधान साधन है (१) महावस या ठीक कहे तो चूलवस[१] के सेतीसवे परिच्छेद की २१५-२४६ गाथाएँ (२) बुद्धघोसुप्पत्ति या महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु (३) गन्धवस (४) सासनवंस (५) सद्धम्म सगह। 'महावस' का उपर्युक्त परिवर्द्धित अश जिसमें बुद्धघोष की जीवनी वर्णित है धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक भिक्षु की रचना है, जिनका काल तेरहवी शताब्दी का मध्य-भाग है। चूंकि बुद्धघोष का जीवन-काल चौथी-पाँचवी

---

१. ३७।५० तक महावंस है। उसके बाद का परिवर्द्धित अंश चूलवंस के नाम से प्रसिद्ध है। देखिये आगे नवें अध्याय में वंश-साहित्य का विवेचन।

शताब्दी ईसवी है, अतः उनके आठसौ नौ सौ वर्ष बाद लिखी हुई उनकी जीवनी सर्वांश में प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, यह तो निश्चित ही है। फिर भी सब से अधिक प्रामाणिक वर्णन जो हमें बुद्धघोष की जीवनी का मिलता है वह यही है। 'गन्धवंस' और 'सासन वंस' तो ठीक उन्नीसवी शताब्दी की रचनाएँ हैं, अतः उनका इस सम्बन्ध में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' धम्मकित्ति महासामि (धर्मकीर्ति महास्वामी) नामक भिक्षु की चौदहवी शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है, जो महावस के उपर्युक्त अश के बाद किन्तु गन्धवस और सासन वस से पहले की रचना है। इस रचना मे इतनी अतिशयोक्तियाँ भरी पडी है कि इसके भी प्रामाण्य को सर्वांश मे नही माना जा सकता। केवल महावंस के उपर्युक्त अश का वर्णन ही प्रायः इस सम्बन्ध मे अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उसके अनुसार बुद्धघोष की जीवनी की रूपरेखा यह है—आचार्य बुद्धघोष का जन्म गया के समीप बोधिवृक्ष के पास हुआ। बाल्यावस्था मे ही शिल्प और तीनो वेदो मे पारंगत होकर यह ब्राह्मण विद्यार्थी वाद-विवाद के लिये भारतवर्ष भर मे घूमने लगा। ज्ञान की बड़ी उत्कट जिज्ञासा थी। योगाभ्यास मे भी बडी रुचि थी। एक दिन रात मे किसी विहार में पहुँच गया। वहाँ पातजल मत पर बडा अच्छा प्रवचन दिया। किन्तु रेवत नामक बौद्ध स्थविर ने उन्हें वाद में पराजित कर दिया। इन बौद्ध भिक्षु के मुख से बुद्ध-शासन का वर्णन सुनकर बुद्धघोष को विश्वास हो गया 'निश्चय ही (मोक्ष का) यही एक मात्र मार्ग है' (**एकायनो अयं मग्गो**) और उन्होने प्रव्रज्या ले ली। प्रव्रजित होकर उन्होंने पिटक-त्रय का अध्ययन किया। वास्तव में भिक्षु होने से पहले बुद्धघोष एक ब्राह्मण विद्यार्थी (**ब्राह्मणमाणवो**) मात्र थे। बाद में भिक्षु-संघ ने उनके घोष को बुद्ध के समान गम्भीर जानकर उन्हें 'बुद्धघोष' की पदवी दे दी।[१] जिस विहार मे उनकी प्रव्रज्या हुई थी वहीं उन्होने ञाणोदय (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद यहीं उन्होंने 'धम्मसगणि' पर 'अट्ठसालिनी' नाम की अट्ठकथा भी लिखी

---

१. बुद्धस्स विय गम्भीरघोसत्ता नं वियाकरुं।
बुद्धघोस ति सो सोभि बुद्धो विय महीतले॥

और अन्त में त्रिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखने का उपक्रम किया, जिसे देख कर उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा[1], "लंका से यहाँ भारत में केवल मूल पालि-त्रिपिटक ही लाया गया है। अट्ठकथाएँ यहाँ नहीं है। विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ भी यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, लंका-द्वीप में महास्थविर महेन्द्र (महिन्द) द्वारा संगृहीत सिंहली भाषा में प्रामाणिक अट्ठकथाएँ सुरक्षित हैं। तुम वहाँ जाकर उनका श्रवण करो, और बाद में मागधी भाषा में उनका रूपान्तर करो, ताकि वे सब के लिये हितकारी हों।"[2] इस प्रकार अपने गुरु से आज्ञा पाकर आचार्य बुद्धघोष लंकाधिपति महानाम के शासन-काल में लंका में गये। अनुराधपुर के महाविहार के महापधान नामक भवन में रह कर उन्होंने संघपाल नामक स्थविर से सिंहली अट्ठकथाओं और स्थविरवाद की परम्परा को सुना। बुद्धघोष को निश्चय हो गया कि धर्म-स्वामी (बुद्ध) का यही ठीक अभिप्राय है।[3] तब उन्होंने महाविहार के भिक्षु-संघ से प्रार्थना की "मैं अट्ठकथाओं का (मागधी) रूपान्तर करना चाहता हूँ। मुझे अपनी पुस्तकों को देखने की अनुमति दें।[4]" इस पर भिक्षुओं ने उन्हें दो गाथाएँ परीक्षा-स्वरूप व्याख्या

---

१. तत्थ आणोदयं नाम कत्वा पकरणं तदा।
धम्मसंगणियाकासि कण्डं सो अट्ठसालिनिं॥
परित्तट्ठकथं चेव कातुं आरभि बुद्धिमा।
तं दिस्वा रेवतो थेरो इदं वचनं अब्रुवि॥

२. पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध।
तथाचरियवादा च भिन्नरूपा न विज्जरे॥
सीहलट्ठकथा सुद्धा महिन्देन मतीमता।
संगीतित्तयं आरूळ्हं सम्मासम्बुद्धदेसितं॥
कता सीहलभासाय सीहलेसु पवत्तति।
तं तत्थ गन्त्वा सुत्वा त्वं मागधानं निरुत्तिया।
परिवत्तेहि सा होति सब्बलोकहितावहा॥

३. धम्मसामिस्स एसो व अधिप्पायो ति निच्छिय]

४. कातुं अट्ठकथं मम पोत्थके देथ।

करने के लिये दीं। बुद्धघोष ने उनकी व्याख्यास्वरूप 'विसुद्धि मग्ग' की रचना की। 'विसुद्धिमग्ग' की विद्वत्ता को देख कर भिक्षुओं को इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होने बुद्धघोष को साक्षात् भगवान् मैत्रेय बुद्ध (भावी बुद्ध) ही मान लिया और उन्हे अपनी सब पुस्तके देखने की अनुमति दे दी।[1] अनुराधपुर के गन्थकार (ग्रन्थकार) विहार में बैठ कर बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओ के मागधी रूपान्तर करने सम्बन्धी अपने कार्य को पूर्ण किया।[2] इसके बाद वे अपनी जन्मभूमि भारत लौट आये और यहाँ आकर बोधिवृक्ष की पूजा की।[3] इस वर्णन से एक बडे महत्व की बात यह निश्चित हो जाती है कि बुद्धघोष महास्थविर लका के राजा महानाम के समय में लका मे गये। यह राजा महानाम चौथी शताब्दी के अन्तिम और पाँचवी शताब्दी के आदि भाग मे लका में शासन करता था। अत. निश्चित है कि बुद्धघोष का जीवन-कार्य इसी समय किया गया। बुद्धघोष ने किसी भी ऐसे ग्रन्थ आदि का उद्धरण नही दिया है जो उस काल के बाद का हो। बरमी परम्परा भी यही मानती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भिक भाग मे लंका द्वीप मे गमन किया। चूँकि उस समय उनकी अवस्था कम से कम तरुण तो रही ही होगी, अत उनका जीवन-काल चौथी-पाँचवी शताब्दी कहा जा सकता है। हाँ 'महावस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश मे आचार्य बुद्धघोष का जन्मस्थान बुद्ध गया के समीप बतलाया गया है।[4] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी का कहना है कि बुद्धघोष महास्थविर सभवत उत्तर भारत के नही हो सकते थे। उनकी किसी भी कथा की पृष्ठभूमि उत्तर भारत मे नहीं रक्खी गई है। इसके अतिरिक्त विसुद्धि-मग्ग १।८६ ((धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण) मे 'वन-दाह' की उनके द्वारा व्याख्या तथा मज्झिम-निकाय के गोपालक-सुत्त की व्याख्या मे

---

१. निस्संसयं स मेत्तेय्यो ति वत्वा पुनप्पुनं।
   सद्धिं अट्ठकथायावा पोत्थके पिटकत्तये॥
२. गन्थकारे वसन्तो सो विहारे दूरसंकरे।
   परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा॥
३. वन्दितुं सो महाबोधिं जम्बुदीपं उपागमि॥
४. बोधिमण्डसमीपम्हि जा तो ब्राह्मणमाणवो।

के प्रतीक हैं अत: सम्भव है आचार्य बुद्धघोष से, जो स्मृति से लिख रहे होंगे, दोनों के साधर्म्य के कारण यह गलती हो गई हो। यदि इस गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह उनके ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण होने से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकता है ? यह सूक्त-विषयक अनभिज्ञता तो बुद्धघोष के ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण दोनों के ही होते हुए हो सकती थी। अतः इसके कारण आचार्य कोसम्बी का बुद्धघोष को अ-ब्राह्मण ठहराना ठीक नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार चूंकि बुद्धघोष ने 'गृहपति' या कृषक-वर्ग की प्रशंसा की है, उनको किसी किसान के घर उत्पन्न हुआ मानना भी ठीक नहीं होगा, जैसा मानने का आचार्य कोसम्बी ने प्रस्ताव किया है।[1] संस्कृत शास्त्रों का बुद्धघोष का ज्ञान अपूर्ण था, यह भी उद्धरण देकर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने दिखाने का प्रयत्न किया है।[2] उधर डा० विमलाचरण लाहा ने कोई ऐसा भारतीय ज्ञान-शास्त्र ही नहीं छोड़ा है जिस पर बुद्धघोष का पूर्ण अधिकार न दिखा दिया हो।[3] हम समझते हैं कि सत्य इन दोनों कोटियों के बीच में है। आचार्य बुद्धघोष को संस्कृत-साहित्य से अवगति अवश्य[4] थी, किन्तु वह उस अगाध पांडित्य के रूप में नहीं था जिसे हम एक वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ संयुक्त कर सकते हैं। बरमी परम्परा की यह मान्यता है कि आचार्य बुद्धघोष बरमा में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ गये थे। किन्तु इसका अब तक कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला। उसके अभाव में हम यही मान सकते

सम्पादित) के प्राक्कथन, पृष्ठ १३ में उद्धृत।

१. विसुद्धिमग्ग (कोसम्बीजी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १३ एवं १६ (प्राक्कथन)

२. विसुद्धिमग्ग (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण,) के प्राक्कथन में पृष्ठ १३-१४

३. उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष' में एक पूरा परिच्छेद (छठा) ही आचार्य बुद्धघोष की विश्व-कोश जैसी बहुज्ञता के विवरण के लिए दिया है, पृष्ठ १०४-१३५।

४. उन्होंने पाणिनि के नियम के अनुसार अनेक पालि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि व्याकरण-साहित्य का विवेचन। बुद्धघोसुप्पत्ति (पृष्ठ ६१, ग्रे का संस्करण) के अनुसार सिंहली भिक्षुओं ने भी बुद्धघोष के संस्कृत-ज्ञान के विषय में सन्देह किया था, जिसका उन्होंने एक प्रभावशाली भाषण दे कर निराकरण भी कर दिया था। देखिये लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ३८-३९।

है कि बुद्धघोष की रचनाओं के अत्यधिक प्रसार और आदर के कारण ही उनके नाम के साथ इतनी आत्मीयता वहाँ प्रचलित हो गई है। आचार्य बुद्धघोष के निर्वाण के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। किन्तु कम्बोडिया के निवासियों का यह विश्वास है कि बुद्धघोष महास्थविर का परिनिर्वाण उनके देश में ही हुआ था। वहाँ 'बुद्धघोष विहार' नामक एक अत्यन्त प्राचीन विहार आज तक उनकी स्मृति को खंडहर के रूप में खड़ा रह कर सुरक्षित बनाये हुए है।[1] हमें कम्बोडिया-निवासियों के विश्वास में सन्देह करने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता।

बुद्धघोष की रचनाएँ

आचार्य बुद्धघोष की रचनाएँ ये हैं—

१. विसुद्धिमग्ग — संयुक्त-निकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में एक मौलिक कृति

२. समन्तपासादिका — विनय-पिटक की अट्ठकथा

३. कंखावितरणी — पातिमोक्ख की अट्ठकथा

४. सुमंगलविलासिनी — दीघ-निकाय की अट्ठकथा .

५. पपञ्चसूदनी — मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा

६. सारत्थपकासिनी — संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा

७. मनोरथपूरणी — अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा

८. परमत्थजोतिका — खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा

९. अट्ठसालिनी — धम्मसंगणि की अट्ठकथा

१०. सम्मोहविनोदनी— विभंग की अट्ठकथा

११-१५. पञ्चप्पकरणट्ठकथा — धम्म संगणि और विभंग को छोड़कर शेष ५ अभिधम्म ग्रंथों की अट्ठकथाएँ

१६. जातकट्ठवण्णना — जातक की अट्ठकथा

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४२, पद-संकेत २

१७. धम्मपदट्ठकथा — धम्मपद की अट्ठकथा
१८. अन्य ग्रन्थ — ज्ञानोदय आदि (जो प्राप्त नही)

इनका कुछ संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक होगा ।

विसुद्धिमग्ग[1]

'विसुद्धिमग्ग' या 'विसुद्धिमग्गो' (विशुद्धि-मार्ग) सम्भवतः आचार्य बुद्ध-घोष का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसे बुद्ध-धर्म का विश्वकोश ही समझना चाहिये । बौद्ध धर्म या साधना सम्बन्धी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय नही है जिसका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ मे न किया गया हो। अपने पूर्वगामी सम्पूर्ण पिटक और अनुपिटक साहित्य का मन्थन ही जैसे आचार्य बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ मे किया है । आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी रचनाओ मे इस ग्रन्थ को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है । दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अगुत्तर इन चारों निकायों की अपनी अट्ठकथाओ की प्रस्तावनाओ मे उन्होने पुनरुक्तिपूर्वक यह कहा है "चारो आगमो (निकायों) के बीच मे स्थित होकर यह 'विसुद्धि-मग्ग' उनके यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करेगा ।"[2] ऐसा मालूम पड़ता है उन्होने पहले 'विसुद्धि मग्ग' की रचना की और फिर चार निकायो की अट्ठकथाओ की । इसीलिए जिस विषय का विस्तृत निरुपण उन्होन पहले 'विसुद्धि मग्ग' मे कर दिया है, उसे

---

१. इस ग्रन्थ का देव-नागरी लिपि में सम्पादन आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने किया है, जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई, (१९४०), से प्रकाशित भी हो चुका है। इस महत्वपूर्ण संस्करण का उल्लेख कर देने के बाद अन्य किसी संस्करण के उल्लेख करने की अपेक्षा नहीं रह जाती । निश्चय ही यह इतना ही महत्त्वपूर्ण सम्पादन है और हिन्दी का तो विशेष गौरव है। 'विसुद्धि-मग्ग' का अभी हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। इस लेखक ने इसके 'शील-स्कन्ध' का अनुवाद किया है, जो 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशनीय है । इसी प्रकार त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्म-रक्षित का भी इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद ज्ञान-मंडल, काशी से छपने वाला है।

२. मज्झे विसुद्धिमग्गो एस चतुन्नम्पि आगमानं हि
ठत्वा पकासयिस्सति तत्थ यथाभासितं अत्थं ॥

फिर निकायों की अट्ठकथाओं में नहीं दुहराया है। इसके विषय में भी उन्होंने प्रत्येक निकाय की अट्ठकथा के आरंभ में कहा है "चूँकि मैंने इस सबका शुद्ध निरूपण 'विसुद्धि-मग्ग' में किया है, इसलिए उसके संबंध में फिर यहाँ दुबारा विचार नही करूँगा।"[१] निश्चय ही आचार्य बुद्धघोष ?'विसुद्धि मग्ग' को अपनी संपूर्ण रचनाओंका मध्यस्थ बिन्दु मानते थे और अपनी अट्ठकथाओं के अध्ययन से पहले पाठक से वे उसके अध्ययन की अपेक्षा रखते थे ।

यद्यपि 'विसुद्धि-मग्ग' (विशुद्धि मार्ग) पूरे अर्थों में एक मौलिक रचना है, किन्तु वह दो गाथाओं की व्याख्या के रूप मे ही लिखी गई है। वे दो गाथाएं हैं—

"अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा। तं तं गोतम पुच्छामि को इमं विजटये जटं ति।"

दूसरी गाथा है--

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावये।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति।"

पहली गाथा प्रश्न के रूप मे है और दूसरी गाथा उसका उत्तर है। विसुद्धि-मग्ग के प्रारभ मे ही कहा गया है कि एक बार जब भगवान् श्रावस्ती मे विचरते थे तो किसी देवपुत्र ने उनके पास आकर उनसे प्रथम गाथा के रूप में प्रश्न पूछा जिसका अर्थ है "अन्दर भी उलझन है, बाहर भी उलझन है। यह जनता उलझन मे जकडी हुई। अत हे गोतम ! मै तुमसे पूछता हूँ—कौन इस उलझन को सुलझा सकता है ?" भगवान् ने दूसरी गाथा के द्वारा इसका उत्तर दिया, जिसका अर्थ यह है "शील में प्रतिष्ठित होकर प्रज्ञावान् मनुष्य जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तो इस प्रकार उद्योगी और ज्ञानवान् भिक्षु होकर वह उस उलझन को सुलझा देता है।" बस इस भगवान् के उत्तर को लेकर ही आचार्य बुद्धघोष ने संपूर्ण बौद्ध ज्ञान और दर्शन को एक एक निश्चित उद्देश्य के सूत्र में पिरो दिया है। वह उद्देश्य क्या है ? साधना के मार्ग के उत्तरोत्तर विकास का स्पष्ट-

---

१. इति पन सब्बं यस्मा विसुद्धिमग्गो मया सुपरिसुद्धं।
वुत्तं तस्मा भिय्यो न तं इध विचारयिस्सामि॥

तम निर्देश कर देना। दूसरे शब्दो में 'विसुद्धिमग्ग' बौद्ध योग को एक अत्यन्त क्रमबद्ध ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। हम पहले देख चुके है कि आचार्य बुद्धघोष बुद्ध-मत मे प्रव्रजित होने से पहले पातजल-योग-दर्शन में निष्णात थे। निश्चय ही उन्होंने 'विसुद्धि-मग्ग' के रूप में बौद्धों के योगदर्शन को ही साधकों के कल्याण के लिए प्रकाशित किया है। पातंजल योग-दर्शन की अपेक्षा 'विसुद्धि-मग्ग' अधिक सुव्यवस्थित और नियम-बद्ध है,[१] यह कहा जाय तो यह अतिरंजना नही होगी। बुद्धघोष महास्थविर ने साधको के कल्याण के लिए ही इस महाग्रन्थ की रचना की है, इसे उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त मे यह कहकर दुहराया है **'साधुजनपामुज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे'** साधुजनों की प्रसन्नता के लिये रचित 'विशुद्धि-मार्ग' मे, आदि)। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के आदि मे भी उन्होने कहा है "मै विशुद्धि के मार्ग का भाषण करूँगा। सभी साधु पुरुष, जिन्हे पवित्रता की इच्छा है, मेरे कहे हुए को आदरपूर्वक सुने"[२] **(विसुद्धिमग्गं भासिस्सं तं मे सक्कच्च भासतो। विसुद्धिकामा सब्बे पि निसामयथ साधवो ति)**। यह ग्रन्थ महाविहारवासी भिक्षुओ की उपदेशविधि पर ही आधारित है, इसे भी बुद्धघोष ने यही दिखा दिया है" **'महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित 'विशुद्धि-मार्ग का मे कथन करूँगा (महाविहारवासीनं देसनानयनिस्सितं विसुद्धिमग्गं भासिस्सं)।**

जैसा अभी कहा गया, 'विशुद्धि-मार्ग' साधना-मार्ग की नाना भूमियो का क्रमबद्ध वर्णन करता है। 'विशुद्धि' का अर्थ किया है आचार्य बुद्धघोष ने 'सर्वमल-रहित, अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण' और 'मग्ग' या मार्ग का अर्थ किया है 'प्राप्ति का उपाय'। अतः 'विशुद्धिमार्ग' का अर्थ है 'सर्वमल-रहित,

---

१. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यपः पालि महाव्याकरण, पृष्ठ सेंतालीस (वस्तुकथा)

२. 'विसुद्धिमग्ग' के अन्त में उन्होंने फिर अपनी इसी अभिलाषा को दुहराया है 'तस्मा विसुद्धिकामेहि सुद्धपञ्ञेहि योगिहि। विसुद्धिमग्गे एतस्मिं करणीयो व आदरो ति' (विशुद्धि के इच्छुक, शुद्ध ज्ञान वाले योगी इस विशुद्धि-मार्ग में आदर-बुद्धि करें) पृष्ठ ५०६ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)

अत्यन्त परिशुद्ध, निर्वाण की प्राप्ति का उपाय"। इस उपाय की मुख्य तीन भूमियाँ हैं, जो उत्तरोत्तर क्रमिक साधन के द्वारा प्राप्त कीजाती हैं। इन तीन भूमियों के नाम हैं, शील, समाधि और प्रज्ञा। भगवान् बुद्ध के शब्दों में यही तीन धर्म-स्कन्ध अर्थात् धर्म के आधार हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में साधना के पूरे मार्ग का विवरण करना ही 'विसुद्धि-मग्ग' का लक्ष्य है।[1] इस महाग्रंथ में कुल मिलाकर २३ परिच्छेद हैं, जिनमें प्रथम दो परिच्छेदशील या सदाचार कानिरूपण करते हैं।। ३—१३ परिच्छेद समाधिका निरूपण करते हैं। १४—२३ परिच्छेद प्रज्ञा का निरुपण करते हैं। शील का निरूपण करने वाले प्रथम दो परिच्छेदों के नाम हैं क्रमश: 'शील-निर्देश' (सीलनिद्देसो) और 'अवधूत-व्रतों का निर्देश' (धुतग निद्देसो)। प्रथम परिच्छेद में आचार्य बुद्धघोष ने अपने विवेच्य विषय को प्रश्नों के रूप में वर्गीकृत किया है—

(१) शील क्या है?
(२) किस अर्थ से 'शील' है?
(३) शील के लक्षण, सार, प्रकटित स्वरूप और आसन्न कारण क्या है?
(४) शील का सुपरिणाम क्या है?
(५) शील कितने प्रकार का है?
(६) शील का मैला होना क्या है?
(७) शील का निर्मल होना क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तर जो बुद्धघोष ने दिये हैं, उनका यदि यहां संक्षेप भी दिया जाय तो वह भी कई पृष्ठ लेगा। फिर इनके साथ साथ अनेक अवान्तर विषय भी 'विसुद्धि मग्ग' में सम्मिलित हैं—जिनका साधकों के लिए अपना महत्व है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास में जिन्हें विस्तार-भय से उद्धृत नहीं किया जा

---

१. 'विसुद्धि मग्ग' की विषय-वस्तु का विशद विश्लेषण भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपनी अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१८-२५७ में किया है। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने भी "धर्म दूत" अप्रैल-मई १९४७ पृष्ठ ६१-६६ में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है।

सकता। उदाहरणतः बुद्धघोष द्वारा शील की प्रशंसा,[१] ब्रह्मचर्य के उच्चतम आदर्श का प्रकाशन,[२] और सबसे बढ़कर कुछ बौद्ध साधकों के पवित्र-जीवन संबंधी अभ्यास के उदाहरण,[३] आदि बड़े मार्मिक प्रसग हैं। तेरह अवधूत व्रतों (जो दूसरे परिच्छेद के विषय हैं) के नामो का विवरण हम 'मिलिन्द पञ्ह' का विवरण करते समय दे चुके है। उन्हीं का यहा भी विस्तृत विवरण है। प्रत्येक अवधूत-नियम के विषय मे यहाँ इतनी दृष्टियो से विचार किया गया है (१) अर्थ (२) लक्षण (३) ग्रहण की विधि (४) विभिन्न प्रकार, यथा उत्तम, मध्यम, हीन (५) भंग होना (६) व्रत-रक्षण की प्रशंसा (७) कुशल-त्रिक के रूप में वर्गीकरण (८) समष्टिगत विवरण (९) व्यष्टिगत विवरण। अल्पेच्छता, सन्तोष आदि गुणो की वृद्धि के लिए ही इन नियमो के अभ्यास का विधान किया गया है। वास्तव मे ये चित्त के मैल को शुद्ध करने के लिए ही हैं। अतः इनका अभ्यास सब के लिए अनिवार्य नही है। आचार्य बुद्धघोष ने इन कठिन नियमों के विवेचन मे तथागत के मध्यम मार्ग को कभी दृष्टि से ओझल नही होने दिया है। इसीलिए उन्होंने एक महत्वपूर्ण प्रश्न किया है **'कस्स धुतंगसेवना सप्पाया ति'** अर्थात् किसका अवधूत-व्रतो का अभ्यास अनुकूल है? उत्तर दिया है **'रागचरितस्स चेव मोहचरितस्स च'** अर्थात् उस व्यक्ति का जिसके आचरण में अभी राग वर्तमान है, मोह वर्तमान है। उन्होने स्वीकार किया है **'धुतंगसेवना हि दुक्खा पटिपदा चेव सल्लेखविहारो च'** अर्थात् अवधूत-व्रतो का अभ्यास दुःख का मार्ग है और तपश्चर्या का जीवन है। उनका उपयोग साधक के लिए केवल इसीलिए है कि वे चित्त-मलों को नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार वे भिक्षु के अंग ही बन जाते है। दुःख-मार्ग के आश्रय लेने वाले का राग शान्त हो जाता है, तप-श्चर्या मे रहने वाले अप्रमादी व्यक्ति का मोह नष्ट हो जाता है[४]। इसीलिए राग

---

१. पृष्ठ ६-७

२. पृष्ठ ३४-३५

३. **देखिये विशेषतः पृष्ठ १४, २२, २६-२८, ३१-३२ आदि, आदि**

४. **दुक्खापटिपदं च निस्साय रागो वूपसमति। सल्लेखं निस्साय अप्पमत्तस्स मोहो पहीयति।** पृष्ठ ५४-५५

द्वेषादियुक्त व्यक्तियों का चित्त-शुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक इन व्रतों को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार उनके दोष शान्त हो जाते हैं।

शील या सदाचार के बाद विशुद्धि-मार्ग उस दूसरी ऊँची भूमिका का वर्णन करता है, जिसका नाम समाधि है। समाधि की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है **'कुसलचित्तेकग्गता समाधि'** अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। किसी एक आलम्बन (विषय) मे चित्त और चेतसिक कर्मों को समान और सम्यक् रूप से बिना विक्षेप और विकीर्णता के रखना ही चित्त की समाधि या समाधान (सम्यक् आधान) कहलाता है।[1] समाधि के विषय में भी आचार्य बुद्धघोष ने वही प्रश्न किये हैं जो शील के विषय में, यथा (१) समाधि क्या है? (२) किस अर्थ में 'समाधि' है? (३) समाधि के लक्षण, सार, प्रकटित रूप और आसन्न कारण क्या है? (४) समाधि कितने प्रकार की हैं? (५) समाधि का मलिन होना क्या है? (६) समाधि का निर्मल होना क्या है? और (७) समाधि की भावना किस प्रकार करनी चाहिए? इनके उत्तरों का सक्षेप देना तो यहाँ असभव ही होगा। केवल कुछ मोटी बातें ही कही जा सकती है। आचार्य बुद्धघोष ने समाधि का प्रधानत. दो भागों में विवरण किया है, यथा उपचार समाधि (२) अर्पणा समाधि। चार भागो मे भी, यथा—

(१) **दुक्खा पटिपदा दन्धाभिञ्ञा।**
(२) **दुक्खा पटिपदा खिप्पाभिञ्ञा।**
(३) **सुखा पटिपदा दन्धाभिञ्ञा।**
(४) **सुखा पटिपदा खिप्पाभिञ्ञा।**

जैसा अभी कहा गया, समाधि-स्कन्ध का विवरण 'विसुद्धिमग्ग' के ३–१३ परिच्छेदों में है। इन परिच्छेदों के नाम-विवरण के अलावा उनकी विषय-वस्तु का तो संक्षिप्त निर्देश भी यहाँ प्रायः असंभव ही है, अतः हम उनके नाम देकर उनकी विषय-वस्तु को इंगित मात्र करेंगे।

---

१. **एकारम्मणे चित्तचेतसिका समं सम्मा च अविक्खिपमान अविप्पकिण्णा च हुत्वा तिट्ठन्ति, इदं समाधानं ति वेदितब्बं (पृष्ठ ५७)**

समाधि-स्कन्ध (परिच्छेद ३-१३)

३. कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) को ग्रहण करने का निर्देश (कम्मट्ठानगहण निद्देसो)—समाधि-भावना की दस बाधाओं[1] (पलिबोधा) को छोड़ने का उपदेश ।

४. पृथ्वी कृत्स्न (ध्यान-विशेष) का निर्देश (पथवीकसिणनिद्देसो)—पृथ्वी-कृत्स्न नामक ध्यान का विवरण। समाधि के अयोग्य १८ स्थानो[2] को छोड़ने का आदेश एव चार ध्यानो का विस्तृत विवरण ।

५. शेष कृत्स्नो (ध्यान विशेषों) का निर्देश (सेसकसिणनिद्देसो)—पृथ्वी-कृत्स्न से अतिरिक्त शेष आपो-कृत्स्न (जल-कृत्स्न) आदि ९ ध्यानों का विवरण ।

६. अशुभ कर्मस्थान का निर्देश (असुभकम्मट्ठान निद्देसो)—शरीर की गन्दगियों के ध्यान के द्वारा अर्पणा-समाधि की प्राप्ति का उपाय ।

७. छह अनुस्मृतियो का निर्देश (छ अनुस्सति निद्देसो)—बुद्ध धर्म, संघ, शील, त्याग और देवताओं की अनुस्मृतियाँ ।

८. अनुस्मृति और कर्म-स्थान का निर्देश (अनुस्सति कम्मट्ठान निद्देसो)

---

१. यथा आवास, कुल, लाभ, गण, काम, मार्ग, जाति-बन्धु, रोग, ग्रन्थ (-रचना) और ऋद्धि (योग-विभूति)

२. यथा (१) बहुत बड़ा विहार, (२) बिलकुल नया विहार, (३) बहुत पुराना विहार, (४) सड़क के किनारे स्थित, (५) तालाब के किनारे स्थित, (६-८) पेड़, फूल और फलों वाले बागों से युक्त , (९) अति प्रसिद्ध, (१०) नगर के बीच में स्थित, (११) अधिक पेड़ों के बीच स्थित, (१२) खड़ी फसलों वाले खेत के समीप, (१३) झगड़ालू भिक्षु जहाँ रहते हों, (१४) जहाँ के व्यक्ति अ-धार्मिक हों, (१५) सीमा-प्रान्त में अवस्थित , (१६) अ-रक्षित स्थान में स्थित और (१८) जहाँ कल्याण-मित्र (आध्यात्मिक गुरु या मार्ग द्रष्टा) न मिल सके।

मरण, कायगतासति, आनापान-सति और उपशम इन चार अनुस्मृतियों तथा योग-आलम्बनों का विवरण।

९. ब्रह्मविहार का निर्देश (ब्रह्मविहार निद्देसो)—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यही चार भावनाएँ 'ब्रह्म-विहार' कहलाती हैं। इनका विशद विवरण। इन भावनाओं का निर्देश पतजलि ने भी अपने योग-दर्शन में किया है।

१०. अ-रूपता का निर्देश (आरुप्प निद्देसो)—अरूपता-सम्बन्धी ध्यानों का विवरण, यथा आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यानो का विवरण।

११. समाधि का निर्देश (समाधि निद्देसो) समाधि-भावना का उपदेश एवं शरीर की अशुभता आदि पर ध्यान। आहार मे प्रतिकूल-सज्ञा आदि का विवेचन भी।

१२. ऋद्धविध का निर्देश (इद्धविधनिद्देसो)—दिव्यश्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म की स्मृति और दिव्य चक्षु इन चार योग-विभूतियों का विवरण।

१३. अभिज्ञा (उच्चतम ज्ञान) का निर्देश (अभिञ्ञा निद्देसो)—पूर्वजन्म की स्मृति आदि का ही विस्तृत विवरण।

प्रज्ञा की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कह. है 'कुसलचित्तसम्पयुत्त विपस्सनाञाण पञ्ञा' अर्थात् कुशल-चित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान ही प्रज्ञा है। प्रज्ञा-स्कन्ध के परिच्छेदो की विषय-वस्तु इस प्रकार है—

१४. स्कन्ध-निर्देश (खन्ध-निद्देसो)—पञ्च-स्कन्धो (रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान) का विवेचन।

१५. आयतन और धातुओ का निर्देश (आयतन-धातु निद्देसो)—१२ आयतन और अठारह धातुओं का विवरण।

१६. इन्द्रिय और सत्यों का निर्देश (इन्द्रिय-सच्चनिद्देसो)—पाँच इन्द्रिय और चार आर्य-सत्यो का विवरण।

१७. प्रज्ञा की भूमियों का निर्देश (पञ्ञाभूमिनिद्देसो)—स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य और प्रतीत्य समुत्पाद ये प्रज्ञाकी मूमियाँ हैं। प्रथम पाँच का वर्णन पहले हो चुका है। यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद का विस्तृततम विवरण उपलब्ध होता है।

१८. दृष्टि की विशुद्धि का निर्देश (दिट्ठिविसुद्धि निद्देसो)—नाम और रूप का यथावत् दर्शन ही दृष्टि-विशुद्धि है—इसका विस्तृत विवरण।

१९. संशय को पार करने के रूप मे विशुद्धि का निर्देश (कंखावितरण-विसुद्धि निद्देसो)—यथाभूत ज्ञान, सम्यक् दर्शन और संशय को पार करना, यह सब एक ही वस्तु है, केवल शब्द नाना है।

२०. मार्ग और अमार्ग के ज्ञान और दर्शन के रूप मे विशुद्धि का निर्देश (मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि निद्देसो) पदार्थो के उदय और व्यय को देखना एव विपश्यना-प्रज्ञा की भावना करना।

२१. प्रतिपदा (मध्यम-मार्ग) के ज्ञान और दर्शन के रूप मे विशुद्धि का निर्देश (पटिपदाञ्ञाणदस्सनविसुद्धि निद्देसो)—'न मै, न मेरा, न मेरा आत्मा,' अर्थात् अनात्म तत्व की भावना का विवरण।

२२. ज्ञान और दर्शन रूपी विशुद्धि का निर्देश (ञ्ञाणदस्सनविसुद्धि निद्देसो)—स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्, इन चार मार्गों सम्बन्धी ज्ञान का विवरण। बोधिपक्षीय धर्मो का भी इन्ही के अन्दर समावेश।

२३ प्रज्ञा की भावना के सुपरिणामो का निर्देश (पञ्ञा भावनानिसस-निद्देसो)—नाना चित्त-मलो का विध्वस, आर्य-फल के रस का अनुभव, निरोध-समाधि को प्राप्त करने की योग्यता और लोक में पूज्य होने की पात्रता, प्रज्ञाकी भावना के इन चारसुपरिणामों का विवरण।

उपर्युक्त विषय-सूची के सकेत-मात्र से स्पष्ट है कि 'विशद्धि-मार्ग' का क्षेत्र कितना अधिक विस्तृत है। अतः यदि इतने निरूपण से हम केवल यह भी इगित करने मे सफल हो सके कि 'विशुद्धि-मार्ग' बुद्ध-धर्म सम्बन्धी महान् ज्ञान-कोश को सचित किये हुए है, तो भी हमने पालि साहित्य की दृष्टि से अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। विवरण मे आगे चले जाने पर तो इस विषय का अन्त ही नही हो सकता, क्योंकि पातजल योग के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किये बिना कोई इस सम्बन्धी विवेचन पूरा नही माना जा सकता। अब हम बुद्ध घोष की अट्ठकथाओं पर आते है।

समन्तपासादिका

समन्तपासादिका पूरे विनय-पिटक की अट्ठकथा है। आचार्य बुद्धघोष की रची हुई यह सम्भवत. प्रथम अट्ठकथा है। बुद्ध श्री (बुद्धसिरि) नामक

स्थविर की प्रार्थना पर उन्होंने यह अट्ठकथा लिखी थी। प्राचीन भारत की सामाजिक, राजनैतिक, और धार्मिक अवस्था का इस अकेले ग्रन्थ से ही एक पूरा इतिहास निर्मित किया जा सकता है। प्रथम तीन बौद्ध संगीतियो के विवरण मे हमने इस ग्रन्थ से कितनी सहायता ली है, यह पूर्व के विवरणों से स्पष्ट हो गया होगा। भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन-सम्बन्धी अनेक विवरणो के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों और भौगोलिक स्थानो के विवरण जो हमे यहाँ मिलते है, बड़े ही महत्त्वपूर्ण है। इस अट्ठकथा के बाद ही बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक के निकायो पर अट्ठकथाएँ लिखी।

कंखावितरणी

'कंखावितरणी' 'पाति मोक्ख' पर अट्ठकथा है। इस अट्ठकथा मे हमें न केवल बुद्धकालीन भिक्षु-संघ के जीवन की ही झलक मिलती है, अपितु उसके उत्तरकालीन विकास का भी पर्याप्त ज्ञान होता है।

सुमंगलविलासिनी

'सुमगल विलासिनी' दीघ-निकाय की अट्ठकथा है। सघस्थविर दाठानाग नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने यह अट्ठकथा लिखी, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है।[१] बुद्धकालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति के अनेक चित्रो एवं अनेक प्रकार के आख्यानो से यह अट्ठकथा भरी पड़ी है। सुत्तों के अनेक प्रकार के विवेचन, बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन सम्बन्धी अनेक विवरण, इस अट्ठकथा मे भी भरे पड़े है। उदाहरणतः भगवान् बुद्ध 'तथागत' क्यों कहलाते है, उनकी दैनिक चर्या क्या थी, आदि अनेक महत्त्व-पूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में है। इसी प्रकार बुद्धकालीन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो यथा जीवक कौमार भृत्य, तिष्य श्रामणेर, अम्बट्ठ आदि के विषय में अधिक जानकारी यहाँ दी गई है। इसी प्रकार भौगोलिक दृष्टि से अंग-मगध, दक्षिणा-

---

१. आयाचितो सुमंगलपरिवेणनिवासिना थिरगुणेन
दाठानाग संघत्थेरेन थेर वंसन्वयेन।
यं आरभि सुमंगलविलासिनि नाम नामेन।

पथ, घोषितराम, कोशल, राजगृह आदि के प्राचीन आख्यान-बद्ध इतिहास और उनके विषय में अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण दिये गये हैं, जो पालि-त्रिपिटक में नहीं मिलते। इन सब के अलावा 'सुमंगलविलासिनी' में दीघ-निकाय के कठिन शब्दों की निरुक्तियाँ और उनके अर्थ-निर्वचन भी हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसका सब से अधिक आकर्षक महत्त्व तो ऐतिहासिक ही है, इसमें संदेह नहीं।

पपञ्चसूदनी

सुमगलविलासिनी की ही शैली मे लिखित पपञ्चसूदनी मज्झिम-निकाय की विस्तृत अट्ठकथा है। यह अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने बुद्धमित्र नामक स्थविर की प्रार्थना पर लिखी थी।[1] ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से इस अट्ठकथा का भी प्रभूत महत्त्व है। कुरु-प्रदेश, श्रावस्ती (सावत्थि), हिमवन्त-प्रदेश आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में मिलते हैं। विषय-विन्यास मज्झिम-निकाय के समान ही है और उसी के अनुसार बुद्ध-वचनों की क्रमानुसार व्याख्या भी यहाँ की गई है, जो उस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सारत्थपकासिनी

ज्योतिपाल नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने सारत्थपकासिनी या सयुत्त-निकाय की अट्ठकथा लिखी।[2] अर्थ और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टियों से यह अट्ठकथा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अलावा यहाँ इसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता।

मनोरथपूरणी

मनोरथपूरणी या अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने भदन्त नामक स्थविर की प्रार्थना पर लिखी। इस अट्ठकथा की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भगवान् बुद्ध के शिष्य अनेक भिक्षु और भिक्षुणियों की ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन किया गया है। उदाहरणतः पिंडोल भारद्वाज, पुण्ण मन्तानिपुत्त, महा-

---

१. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त बुद्धमित्तेन, आदि।

२. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-जोतिपालेन।
कंचीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन, आदि ॥

कच्चान, सोण कोळिवीस, राहुल, रट्ठपाल, बंगीस, कुमार कस्सप, उपालि, उरुवेल कस्सप आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण दिये हुए है। इसी प्रकार महाप्रजापती गोतमी, संघमित्रा तथा अन्य अनेक भिक्षुणियो के भी विवरण है। भगवान् बुद्ध के वर्षावासों का भी बड़ा अच्छा विवरण यहाँ दिया गया है। बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण तक के ४५ वर्षवासो को भगवान् ने कहाँ-कहाँ बिताया, इस ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय मे यहाँ कहाँ गया है—"तथागत प्रथम बोधि में बीस वर्ष तक अस्थिरवास हो, जहाँ जहाँ ठीक रहा वही जाकर वास करते रहे। पहली वर्षा में ऋषिपतन मे धर्म-चक्र प्रवर्तन कर वाराणसी के पास ऋषिपतन मे वास किया। दूसरी वर्षा मे राजगृह वेणुवन मे। तीसरी और चौथी मे भी वही। पाँचवी वर्षा वैशाली मे महावन कूटागार-शाला में। छठवी वर्षा मे मकुल-पर्वत पर। सातवी त्रायस्त्रिश भवन मे। आठवी भर्ग-देश मे सुसुमार-गिरि के भेस कलावन मे। नवी कौशाम्बी मे। दसवी पारिलेय्यक वनखड में। ग्यारहवी नाला ब्राह्मण-ग्राम मे। बारहवी वेरजा मे। तेरहवी चालिय पर्वत पर। चौदहवी जेतवन में। पन्द्रहवी कपिलवस्तु मे। सोलहवी आलवी मे। सत्रहवी राजगृह मे। अठारहवीं चालिय पर्वत पर। उन्नीसवी भी वही। बीसवी वर्षा राजगृह मे। इस प्रकार तथागत ने बीस वर्ष, जहाँ जहाँ ठीक हुआ, वही वर्षावास किया। इससे आगे दो ही निवास-स्थान सदा रहने के लिये किये। कौन से दो ? जेतवन और पूर्वाराम......।"[१] अतः इस अट्ठकथा के अनुसार, बुद्ध के वर्षावासों का यह प्रामाणिक ब्यौरा इस प्रकार होगा।

वर्षा-वास	जहाँ बिताया
१	ऋषि पतन
२-४	राजगृह
५	वैशाली
६	मंकुलपर्वत
७	त्रायस्त्रिंश

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या पृष्ठ ७५ में अनुवादित।

८	सुंसुमार गिरि
९	कौशाम्बी
१०	पारिलेय्यक
११	नाला
१२	वेरंजा
१३	चालिय पर्वत
१४	श्रावस्ती (जेतवन)
१५	कपिलवस्तु
१६	आलवी
१७	राजगृह
१८-१९	चालिय पर्वत
२०	राजगृह
२१-४५	श्रावस्ती (जेतवन)
४६-	वैशाली (पूर्वाराम)

परमत्थजोतिका

परमत्थजोतिका खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा है। इसमे लिच्छवियो की उत्पत्ति की मनोरंजक कथा है, जिसका विवरण हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नही दे सकते। परमत्थजोतिका के अन्तर्गत खुद्दक-पाठ की अट्ठकथा के प्रसग मे अनार्थापिडिक के आराम जेतवन, राजगृह के १८ विहारों, सप्तपर्णी गुफा और वैशाली आदि के विशेष मे विशेष सूचना दी गई है। महाकाश्यप, आनन्द और उपालि आदि भिक्षुओ तथा विशाखा, धम्मदिन्ना आदि भिक्षुणियो के विषय मे भी कुछ अधिक सूचना दी गई है।

धम्मपदट्ठकथा

धम्मपदट्ठकथा या धम्मपद की अट्ठकथा में जातक के ढंग की कहानियो का प्राधान्य है। चार निकायों और जातक आदि से ही ये कहानियाँ संगृहीत की गई है। जातक की अनेक गाथाएँ यहाँ उद्धृत की गई हैं और उसकी कहानियो

में से अनेक यहाँ उसी रूप में रक्खी हुई हैं । वास्तव में धम्मपदट्ठकथा कहानियों का एक संग्रह ही है । वासवदत्ता और उदयन की कथा भी इस अट्ठकथा में एक जगह मिलती है । अनेक कथाएँ जातक के अलावा विनय-पिटक से भी ली गई है, जैसे देवदत्त, बोधिराजकुमार छन्न आदि की कथाएँ । निश्चय ही जातक और धम्मपदट्ठ-कथा का पारस्परिक सम्बन्ध पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है । धम्मपदट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष की रचना है या नही, इसके विषय में सन्देह प्रकट किया गया है । डा० गायगर ने इसे आचार्य बुद्धघोष की रचना नही माना है ।[1] उन्होंने धम्मपदट्ठकथा को जातकट्ठवण्णना से भी बाद की रचना माना है, क्योंकि दोनो में अनेक कहानियाँ समान है । यह एक आश्चर्य की बात है कि जो कहानियाँ यहाँ दी गई है और जिनके आधार पर धम्मपद की प्रत्येक गाथा को समझाया गया है, उन्हें भी साक्षात् बुद्धोपदेश (बुद्ध-देसना) ही यहाँ बताया गया है, जो ऐतिहासिक रूप से ठीक नही हो सकता । कुछ भी हो धम्मपदट्ठकथा की कहानियों मे जातक के समान ही प्राचीन भारतीय जीवन, विशेषतः सामान्य जनता के जीवन, की पूरी झलक मिलती है और भारतीय कथा-साहित्य मे उसका भी एक स्थान है ।

जातकट्ठवण्णना

जातकट्ठवण्णना का जातक-गाथाओ की अट्ठकथा है । इसके भी बुद्धघोष-कृत होने मे सन्देह किया गया है । डा० गायगर ने इसे किसी सिंहली भिक्षु की रचना माना है, फिर चाहे वह भले ही बुद्धघोष क्यो न हो ।[2] प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओ से लेखक ने अपनी सामग्री का संकलन किया है । इन कहानियों या आख्यानो की अपेक्षा धम्मपदट्ठकथा की कहानियाँ अपने स्वरूप में बुद्ध-उपदेशो की भावना से अधिक प्रभावित है । वास्तव में यहाँ तो लोक-विश्वासो की ही झलक अधिक मिलती है । भूत और वर्तमान के (बुद्ध-) जीवन की कहानियो

---

१. उन्होंने इसे किसी मौलिक सिंहली अट्ठकथा का पालि अनुवाद माना है । देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३२

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३१

की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है, अतः उत्तरकालीन क्षेपकों और परिवर्द्धनों की भी इस ग्रन्थ में आशंका की गई है । भारतीय कथानक-साहित्य के प्राचीन रूप को जानने के लिये जातक के समान उसकी इस अट्ठकथा को भी पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है, इसमे सन्देह नही ।

अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष की अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण हैं । इनमे सब से पहला स्थान 'अट्ठसालिनी' का है, जो 'धम्मसंगणि' की अट्ठ-कथा हैं । वास्तव मे इसके समान गम्भीर और दुरूह दूसरी रचना अनुपिटक साहित्य मे नही है । जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'महावस' के धम्मकित्ति-विरचित परिवर्द्धित अश के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की रचना लका से प्रस्थान करने के पहले ही की थी । यह बात ठीक नही हो सकती । लंका जाकर बुद्धघोष महास्थविर ने 'विसुद्धिमग्ग' लिखा, यह तो निश्चित ही है । उसके बाद ही 'अट्ठसालिनी' लिखी गई, यह हमें जानना चाहिये । इसका कारण यह है कि 'अट्ठसालिनी' के आरम्भ की गाथाओ मे स्वयं आचार्य बुद्धघोष ने कहा है "सब कर्म-स्थान (समाधि के आलम्बन) चर्या, अभिज्ञा और विपश्यना का प्रकाशन मै 'विसुद्धि-मग्ग' मे कर चुका हूँ, इसलिये फिर उनका यहाँ विवरण नही करूंगा"[1] आदि । अतः 'अट्ठसालिनी' को 'विसुद्धिमग्ग' के बाद की ही रचना मानना चाहिये । यह हो सकता है कि उसकी एक प्राथमिक रूपरेखा आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ बनाई हो । प्रस्तुत रूप में तो वह निश्चित रूप से 'विसुद्धिमग्ग' से बाद की रचना है । अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिये 'अट्ठसालिनी' का कितना अधिक महत्त्व है, यह बताने की आवश्यकता नही । यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि प्रो० वापट द्वारा सम्पादित इस अट्ठकथा का देव-नागरी संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है, जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिये एक मंगलकारी चिन्ह है । 'अट्ठसालिनी' के अलावा 'सम्मोह-विनोदनी' नाम की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने विभंग

---

१. कम्मट्ठानानि सब्बानि चरियाभिञ्ञा विपस्सना ।
विसुद्धिमग्गे पनिदं यस्मा सब्बं पकासितं ॥आदि ।

पर लिखी । अन्य पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों पर भी उन्होंने अट्ठकथाएँ लिखी, जिनके नाम हैं, क्रमश: धातुकथापकरणट्ठकथा, पुग्गल-पञ्ञत्तिपकरणट्ठकथा, कथा-वत्थु-पकरण-अट्ठकथा,[1] यमकपकरणट्ठकथा और पट्ठान पकरणट्ठकथा। यह पाँचों अट्ठकथाएँ मिलकर पञ्च-प्पकरणट्ठ कथा, भी कहलाती है।

अन्य रचनाएँ

जैसा बुद्धघोष की जीवनी के प्रसग मे कहा जा चुका है, लंका-गमन से पूर्व आचार्य बुद्धघोष ने 'ञाणोदय' (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ और सम्पूर्ण त्रिपिटक पर एक सक्षिप्त अट्ठकथा लिखी थी। ये रचनाएँ आज नही मिलती। 'सासन-वस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष 'पिटकत्तयलक्खण गन्ध' (पिटकत्रयलक्षण ग्रन्थ) नामक ग्रन्थ के भी रचयिता थे, किन्तु यह ग्रन्थ भी आज नही मिलता। महाकाव्य की शैली पर बुद्ध-जीवनी के रूप में लिखित 'पद्यचूडामणि' नामक ग्रन्थ भी जिसे मद्रास सरकार ने प्रकाशित करवाया था, उसके सम्पादक कुप्पू-स्वामी शास्त्री के द्वारा अट्ठकथाचरिय बुद्धघोष की रचना बतलाया गया है। उसकी भिन्न शैली के साक्ष्य पर डा० विमलाचरण लाहा ने उसे पालि अट्ठकथा-कार बुद्धघोप की रचना नही माना है।[2] हमे भी यही मत समीचीन जान पड़ता है।

पालि-साहित्य में बुद्धघोष का स्थान

इस प्रकार आचार्य बुद्धघोष के विशाल ज्ञान की कुछ झलक हम ने देखी है। वास्तव में पालि साहित्य के एक पूरे युग के वे विधायक है जिसका प्रभाव अभी भी निःशेष नही हुआ है। उनके 'विसुद्धि-मग्ग' की ज्ञान-गरिमा पालि-साहित्य

---

१. इस अट्ठकथा के अनुसार अशोक के काल तक उत्पन्न १८ बौद्ध सम्प्रदायों और उनके मतों का उल्लेख हम पाँचवें अध्याय में 'कथावत्थु' के विश्लेषण के प्रसंग में कर आ चुके हैं।

२ पद्य-चूडामणि की विषय-वस्तु और शैली के विवरण तथा डा० लाहा के तत्सम्बन्धी निष्कर्ष के लिए देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ ८५-९१

में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक इतिहास मे अपना एक विशेष स्थान रखती है। इसी प्रकार उनकी अट्ठकथाओ का अर्थ-सम्बन्धी महत्त्व तो है ही, उनमें जो महान् ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री भरी पडी है, जिससे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक जीवन पुनरुज्जीवित हो उठता है. वह तो भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिये निरन्तर उपयोग की वस्तु ही है। आचार्य बुद्धघोष उन प्राचीन भारतीय आचार्यो की परम्परा मे से थे जो ज्ञान के क्षेत्र को मौलिक दान देते हुए भी भाष्यकार के विनीत रूप मे रहना ही पसन्द करते थे। आचार्य बुद्धघोष ने हमें बहुत कुछ नया आलोक दिया है, ज्ञान के क्षेत्र को अपने ढग मे काफी विस्तृत किया है, फिर भी सदा अपने को महाविहारवासी भिक्षुओ की आदेशना-विधि का अनुगामी ही बताया है। यह उनकी विनम्रता का सूचक है। बुद्धघोष महास्थविर ने सद्धम्म की चिरस्थिति के लिये जो काम किया है, उसी के कारण हम आज बुद्ध और उनके युग को इतनी सजीवता के साथ समझ सके ह। बुद्धघोष की अट्ठकथाओ से लुम्बिनी, कौशाम्बी, राजगृह, उरुवेला और कपिलवस्तु की स्मृतियों को आज भी नया बनाया जा सकता है और चित्त को राग, द्वेष और मोह मे मुक्त किया जा सकता है। जब तक 'विसुद्धिमग्ग' और 'अट्ठसालिनी' जैसे गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ और 'सुमगल विलासिनी' और 'समन्तपासादिका' जैसी ऐतिहासिक सामग्री-परिपूर्ण अट्ठकथाएँ पालि मे विद्यमान है, तब तक ज्ञान और इतिहास के गवेषक सदा उसके दरवाजे पर आते रहेंगे और प्रसगवश उस विनीत, साक्षात् मैत्रेय, महास्थविर की अनुस्मृति करते भी रहेगे, जो ज्ञान-पिपासावश भारत से लंका दौडा गया था और जिसने वहाँ महापधान-भवन में बैठकर दिन-रात बुद्ध-शासन का चिन्तन किया था और उसके मर्म को भी पाया था। हम आचार्य बुद्धघोष की इसी अनुस्मृति के साथ इस प्रकरण को समाप्त करते है।

धम्मपाल और उनकी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष के समकालिक बुद्धदत्त (जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है) के अलावा एक अन्य प्रसिद्ध अट्ठकथाकार धम्मपाल है। वास्तव मे बुद्धदत्त और धम्मपाल दोनो ने बुद्धघोष के काम को ही पूरा किया है। धम्मपाल

का जन्म तामिल-प्रदेश मे काञ्चीपुर में हुआ था । इनकी भी शिक्षा सिहल के महाविहार में हुई थी । आचार्य धम्मपाल की रचनाएँ ये हैं—

१. परमत्थदीपनी खुद्दक-निकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा है जिन पर बुद्धघोष ने अट्ठकथा नही लिखी । इस प्रकार धम्मपाल की इस अट्ठकथा के अन्तर्गत उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एव चरिया पिटककी अट्ठकथाएँ सम्मिलित है । इनमें विशेषत. थेर-थेरी गाथाओकी अट्ठ-कथाएं ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि यहाँ लेखक ने भगवान् बुद्ध के शिष्य भिक्षु-भिक्षुणियो की जीवनियो को अनुविद्ध किया है ।[1]

२. नेत्तिपकरण-अट्ठकथा या नेत्तिपकरणस्स अत्थसवण्णना (नेत्ति पकरण की अट्ठकथा)

३. नेत्तित्थ कथाय टीका या लीनत्थवण्णना (उपर्युक्त नेत्तिपकरण-अट्ठ-कथा की टीका)

४ परमत्थमञ्जूसा या महाटीका—विसुद्धिमग्ग की अट्ठकथा ।

५ लीनत्थपकासिनी—प्रथम चार निकायो की बुद्धघोष-कृत अट्ठकथाओ की टीका ।

६ जातकट्ठकथा की टीका (जिसका भी नाम लीनत्थ पकासिनी है)

७ बुद्धदत्त-कृत मधुरत्थविलासिनी की टीका ।

धम्मपाल-कृत उपर्युक्त ग्रन्थो मे सब से अधिक प्रसिद्ध परमत्थदीपनी हैं । शेष मे से कुछ प्राप्त भी नही है । कुछ ऐसी भी है जिनके विषय मे यह निश्चय नही किया जा सकता कि ये किस धम्मपाल की है, क्योकि इस नाम के कई भिक्षु कई शताब्दियो मे हो चुके हैं । बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की उपर्युक्त प्राय. सभी अट्ठकथाओ के रोमन, बरमी, सिहली और स्यामी संस्करण मिलते है । विशेषत हेवावितरणेनिधि की ओर से प्रकाशित सिहली सस्करण उल्लेख-नीय है । नागरी लिपि में अभी कोई संस्करण नहीं हुए, अनुवादों की तो कोई बात ही नही !

बुद्धघोष-युग के अन्य पालि अट्ठकथाकार

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के अलावा इस युग के अन्य पालि अट्ठकथाकारो

---

१. प्रस्तुत लेखक ने अपने थेरीगाथा-अनुवाद जो सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हुआ है, परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों को ग्रथित किया है ।

में इनके नाम मुख्य हैं—(१) आनन्द (२) चुल्ल धम्मपाल (३) उपसेन (४) महानाम (५) काश्यप (कस्सप) (६) वज्रबुद्धि (वजिर बुद्धि (७) क्षेम (खेम) (८) अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) (९) धर्म श्री (धम्मसिरि) और (१०) महास्वामी (महासामि)। आनन्द भारतीय भिक्षु थे और सम्भवतः यह बुद्धघोष के समकालीन थे। इन्होंने बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं की सहायक स्वरूप 'मूल-टीका' या 'अभिधम्म-मूल टीका' लिखी है। यही इनकी एक मात्र प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना है। चुल्ल धम्मपाल इन्हीं आनन्द के शिष्य थे और इन्होंने 'सच्च संखेप' (सत्य सक्षेप) लिखा है। उपसेन 'सद्धम्मप्पजोतिका' या 'सद्धम्म-ट्ठटीका' नामक निद्देस की टीका के लेखक हैं। महानाम ने पटिसम्भिदामग्ग की अट्ठकथा 'सद्धम्मप्पकासिनी' शीर्षक से लिखी। काश्यप ने मोहविच्छेदनी और विमतिच्छेदनी नामक विवेचनात्मक ग्रन्थों की रचना की। वज्र बुद्धि ने 'वज्र-बुद्धि' नाम की ही टीका 'समन्तपासादिका' पर लिखी। क्षेम ने 'खेमप्पकरण' नामक ग्रन्थ की रचना की। अनिरुद्ध अभिधम्म-साहित्य सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधम्मत्थसंगह' के रचयिता हैं। अनिरुद्ध ने ही अभिधम्म-सम्बन्धी दो ग्रन्थ और लिखे हैं (१) परमत्थ-विनिच्छय और (२) नामरूप-परिच्छेद। अनि-रुद्ध के ग्रन्थों पर बाद में एक बड़ा सहायक साहित्य लिखा गया, जिसका विवरण हम आगे टीकाओं के युग में देखेंगे। धर्मश्री ने विनय-सम्बन्धी अट्ठकथा-साहित्य को 'खुद्दक सिक्खा' (क्षुद्रक शिक्षा) नामक ग्रन्थ दिया और महास्वामी ने इसी विषय सम्बन्धी 'मूल सिक्खा' (मूल शिक्षा)

बुद्धदत्त, बुद्ध घोष और धम्मपाल के बाद जिस अट्ठकथा-साहित्य का ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें अनिरुद्ध-कृत 'अभिधम्मत्थसंगह' का एक अपना स्थान है। पालि-साहित्य के इतिहास की किसी भी योजना में वह एक स्वतन्त्र परिच्छेद का अधिकारी है। उतना अवकाश तो इस कृति को यद्यपि हम यहाँ नहीं दे सकते, फिर भी अन्य की अपेक्षा इसका कुछ अधिक विस्तृत विवरण यहाँ अपेक्षित है। वह भी न केवल इसकी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से ही बल्कि इसलिये भी कि इसकी विषय-वस्तु का उल्लेख या विवेचन करते समय न केवल सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही विषय-वस्तु बल्कि उसकी अट्ठकथाओं का भी बहुत कुछ सारांश यहाँ स्वतः आ जाता है।

अभिधम्मत्थसंगह के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण

'अभिधम्मत्थ सगह'[१] में परमार्थ रूप से चार पदार्थों (धर्मों) की सत्ता मानी गई है, यथा चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण [२]। हेतुओ से युक्त चित्त को 'सहेतुक' और उनसे वियुक्त चित्त को 'अ-हेतुक' कहते हैं। हेतु का अर्थ है अभिधम्म में लोभ, द्वेष, मोह या अ-राग, अ-द्वेष और अमोह। इन मूल प्रवृत्तियों को लेकर ही मनुष्य किसी भी कार्य मे प्रवृत्त होता है, अत यही 'हेतु' कहलाते है। सहेतुक चित्त तीन प्रकार के होते है यथा, कुशल, अकुशल और अव्याकृत। कुशल, अकुशल और अव्याकृत से अभिधम्म मे क्या तात्पर्य लिया जाता है, यह हम अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसगणि के विवेचन मे देख चुके है। अव्याकृत सहेतुक चित्त दो प्रकार का होता है 'विपाक-चित्त' और 'क्रिया-चित्त'। विपाक और क्रिया (किरिया) चित्तो से क्या तात्पर्य है, यह भी हम विस्तार-पूर्वक धम्म सगणि के विवेचन मे दिखा चुके है। 'विपाक-चित्त' अव्याकृत इसलिये है कि पहले किये हुए कर्म का फल होने के कारण उसे न 'कुशल' ही कहा जा सकता है और न 'अकुशल' ही। 'क्रिया सहेतुक चित्त' वह चित्त है जिसमे 'अ-लोभ', 'अद्वेष', और 'अमोह' ये तीन हेतु रहते तो है किन्तु तृष्णा के क्षय के कारण इनका 'विपाक' नही बनता अर्थात् ये पुनर्जन्म के लिये कारण-स्वरूप नही बनते। 'क्रिया सहेतुक चित्त' अर्हत् का ही हो सकता है। वह चाहे अ-लोभ, अद्वेष, और अमोह के कारण कुछ कुशल कर्म भले ही सम्पादन करे, किन्तु अनासक्त होने के कारण उसका वह सब कर्म केवल 'क्रिया' मात्र ही होता है। वह आगे के लिये विपाक पैदा नही करता।

---

१. अभिधम्मत्थसंगह, मूल पालि तथा आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी-रचित उसकी पालि टीका 'नवनीत टीका' के सहित, देव नागरी लिपि में महाबोधिसभा द्वारा प्रकाशित, सारनाथ, १९४१। भिक्षु जगदीश काश्यप ने अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द पहली में अभिधम्मत्थ संगह की विषय-वस्तु का अत्यन्त विशदतापूर्वक विश्लेषण किया है। साथ में रोमन-लिपि में पालि-पाठ भी दे दिया गया है।

२. तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्तं, चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा। अभिधम्मत्थसंगहो।

चित्त के साथ उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले एवं एक ही विषय (आलम्बन) और इन्द्रिय वाले चित्त के कर्मों को 'अभिधम्मत्थसगह' मे 'चेतसिक' कहा गया हैं।[१] इनकी संख्या ५२ हैं। चेतसिक धर्मों को तीन मुख्य भागो मे विभक्त किया गया है, यथा (१) १३ 'अन्य समान' (२) १४ 'अकुशल' और (३) २५ 'शोभन'[२]। फिर इनका भी विश्लेषण किया गया है। जब कोई 'चेतसिक' या चित्त-कर्म 'शोभन-चित्त' से युक्त होता हैं, तब वह 'अशोभन' वे से अन्य होता है, और जब वह 'अशोभन' से युक्त होता हैं, तब शोभन से अन्य होता है। इसीलिये उसे 'अन्य समान' कहते है। इस 'अन्य समान' चेतसिक का भी द्विविध विभाजन है, यथा (१) साधारण चेतसिक (२) प्रकीर्ण चेतसिक। साधारण चेतसिक धर्म वे है जो सभी चित्तों मे साधारण रूप से रहते हैं और ये सख्या मे सात है (१) स्पर्श (२) वेदना (३) संज्ञा (४) चेतना (५) एकाग्रता (६) जीवितेन्द्रिय और (७) मनसिकार[३]। प्रकीर्ण चेतसिक धर्म वे हैं जो केवल जब कभी होने वाले है। ये संख्या में छह है यथा (१) वितर्क (२) विचार (३) अधिमोक्ष, (४) वीर्य (५) प्रीति और (६) छन्द (इच्छा)[४]। विषयो को स्पर्श करनेवाले चेतसिक-धर्म को स्पर्श, विषयो के स्वाद भोगने वाले को वेदना, विषयो के स्वभाव को ग्रहण करने वाले को सज्ञा, विषयो में प्रेरणा करने वाले को चेतना, विषय में स्थिर रहने वाले को एकाग्रता, प्राप्त विषयो की मन मे रक्षा करनेवाले को 'मनसिकार' कहते हैं। इसी प्रकार विषय-चिन्तन करनेवाले चेतसिक को वितर्क, उस पर बार बार सोचने वाले को विचार, विषयो में प्रवेश कर निश्चय करने वाले

---

१. एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका। चेतोयुत्ता द्विपञ्ञासा धम्मा चेतसिका मता। अभिधम्मत्थ-संगहो, चेतसिक कण्डो।

२. तेरसञ्ञसमाना च चुद्दसा कुसला तथा। सोभना पञ्चवीसाति द्विपञ्ञास पवुच्चरे। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्डो।

३. फस्सो वेदना सञ्ञा चेतना एकग्गता जीवितिन्द्रियं मनसिकारो चेति सत्ति मे चेतसिका सब्बचित्त-साधारणा नाम। उपर्युक्त के समान ही।

४. वितक्को विचारो अधिमोक्खो वीरियं पीति छन्दो चेति छयिमे चेतसिका पकिण्णका नाम। उपर्युक्त के समान ही।

को अधिमोक्ष, उत्साह करने वाले को वीर्य, विषयों में आनन्द लेने वाले को प्रीति और उनकी इच्छा करने वाले चेतसिक धर्मों को 'छन्द' कहते हैं। पूर्वोक्त १४ अकुशल चेतसिक इस प्रकार हैं, मोह, निर्लज्जता (अह्री), अ-पाप-भयता (अनत्रपा), औद्धत्य, लोभ (मिथ्या-) दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, पश्चात्ताप-कारी कृत्य (कौकृत्य), स्त्यान (मन को भारी करनेवाला) मृद्ध (चेतसिकों को भारी करनेवाला) और विचिकित्सा (संशय)। शोभन-चित्त २५ हैं, यथा (१) श्रद्धा (२) स्मृति, (३) ह्री, (४) अपत्रपा (पाप-कर्म में भय होना) (५) अलोभ, (६) अद्वेष (७) मध्यस्थता (८) काय-प्रश्रब्धि (कायिक शान्ति) (९) चित्त-प्रश्रब्धि (चित्त-शान्ति) (१०) काय-लघुता (११) चित्त लघुता (१२) काय-मृदुता (१३) चित्त-मृदुता (१४) (१४) कार्य कर्मज्ञता (१५) चित्त-कर्मज्ञता (१६) काय प्रागुण्य (काया का समर्थ भाव) (१७) चित्त प्रागुण्य (चित्त का समर्थ भाव) (१८) काय ऋजुता (१९) चित्त-ऋजुता (२०) सम्यक् वाणी (२१) सम्यक् कर्मान्ति, (२२) सम्यक् आजीव। (इन अंतिम तीन अर्थात् सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्ति और सम्यक आजीव को 'धम्म सगणि' में 'तीन विरतियां' कह कर पुकारा गया है[1]।) (२३) करुणा (२४) मुदिता और (२५) अमोह (प्रज्ञा)। इस प्रकार ५२ चेतसिक धर्मों की कुशल, अकुशल और अव्याकृत कर्म-मयी व्याख्या अभिधम्मत्थ सगह में की गई हैं। किन्तु यह सब तो दिग्दर्शन मात्र है और बहुत कुछ अस्पष्ट भी। अभी तो हमने केवल 'सहेतुक चित्त' के इन तीन प्रकारों यथा 'कुशल' 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चेतसिकों के साथ संबंध को व्यक्त किया है। किन्तु जिस गहनता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं अन्त-र्दृष्टि के साथ इनका विश्लेषण और व्याख्यान 'अभिधम्मत्थसगह' में किया गया है उसकी तो यह एक प्रतिच्छाया भी नहीं है। कहां चित्त के चार प्रकार के वर्गीकरण, कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर! कहां फिर इनमें भी कामावचर-चित्त के ५४ प्रकार! कहां फिर उनकी भी व्याख्या और उसमें भी यह निर्णय कि इनमें से १२ अकुशल चित्त (जिसमें से भी

---

१. देखिये पांचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसंगणि का विवेचन।

८ लोभ-मूलक, २ द्वेष-मूलक-और २ मोह-मूलक), १८ अहेतुक-चित्त (जिनमें भी फिर ७ अकुशल-विपाक, आठ कुशल-विपाक और ३ अहेतुक-चित्त) और २४ महेतुक चित्त (जिनके भी फिर वेदनाविज्ञान और सस्कार के भेद से वर्गीकरण)। इतना ही नही, इन्हीं कामावचर भूमि मे होने वाले चित्तो में फिर २३ विपाक चित्त, २० कुशल और अकुशल एव ११ ११ क्रिया-चित्तो का विभाजन। ऊपर निर्दिष्ट द्वितीय भूमि के चित्त अर्थात् रूपावचर चित्त के फिर १५ प्रकार, जिसमे ५ कुशल-चित्त, ५ विपाक-चित्त और पाँच क्रिया-चित्त। इसके बाद तृतीय भूमि के चित्त अर्थात् अरूपावचर-चित्त के बारह विभागो का निरूपण, जिनमे चार-कुशल-चित्त चार विपाक-चित्त और चार क्रिया-चित्त। अन्त में चतुर्थ भूमि के चित्त अर्थात् लोकोत्तर चित्त के इसी प्रकार ८ भेद, जिनमे चार कुशल चित्त और चार विपाक चित्त। इस प्रकार कुल ५४ कामावचर, १५ रूपावचर, १२ अरूपावचर और ८ लोकोत्तर चित्तो अर्थात् कुल ८९ प्रकार के चित्तो की परिभाषाएं, व्याख्याएँ, और 'कर्म' के स्वरूप के साथ उनके सबध का निर्णय यह सब 'अभिधम्मत्थसगह' की सख्याओ मे भरने का प्रयत्न किया गया है। चित्त और चेतसिक धर्मो के इस निरूपण मे कितनी सूक्ष्मता, कितनी विश्लेषण-प्रियता 'अभिधम्मत्थसगह' ने अभिधम्म का अनुगमन कर दिखाई है, इसे देखकर साधारण विद्यार्थी का साहस छूट जाता है। फिर भी 'अभिधम्मत्थसंगह' के महत्व का यह कुछ कम बडा साक्ष्य नही है कि अभिधम्म-पिटक पर बुद्धघोष जैसे आचार्य की अट्ठकथाएं रहते हुए भी बौद्ध विद्यालयो में अभिधम्म का अध्ययन प्राय. इसी ग्रन्थ के द्वारा होता आया है और विशेषत बरमा मे तो इसके चारो ओर एक सहायक साहित्य की अटूट परम्परा ही १५ वी शताब्दी मे बनती चली आ रही है जिसका वर्णन हम ११०० ई० से वर्तमान समय तक के पालि के व्याख्यापरक साहित्य का विवरण देते समय अभी आठवे अध्याय मे करेंगे।

बुद्धघोष-युग मे अट्ठकथाओ और व्याख्यापरक साहित्य के अतिरिक्त वश-सबधी कई ग्रन्थ भी लिखे गये, और इसी प्रकार काव्य और व्याकरण-सबंधी पर्याप्त रचनाएँ भी हुई। इनका विवरण हम अपनी योजना के अनुसार क्रमशः नवें और दसवे अध्यायों मे करेंगे।

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

विषय-प्रवेश

लंकाधिराज पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) का शासन-काल पालि-साहित्य के उत्तरकालीन विकास के इतिहास में बड़ा गौरवमय माना जाता है। इसी समय से पालि अट्ठकथाओ के ऊपर टीकाएं लिखने की वह महत्वपूर्ण परम्परा चल पड़ी जो ठीक उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी तक अप्रतिहत रूप से चलती रही। न केवल टीकाओ के रूप में ही बल्कि, काव्य, व्याकरण, कोश, छन्द शास्त्र एव 'वंश' (इतिहास) संबंधी साहित्य भी इन शताब्दियों में प्रभूत मात्रा में लिखा गया। इस सब साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र प्रधानतः लंका और बरमा ही रहे। बारहवी शताब्दी से लेकर चौदहवी शताब्दी तक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में लंका का प्रमुख स्थान रहा। पन्द्रहवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक बरमी पालि-साहित्य का युग कहा जा सकता है। टीकाओं तक ही अपने को सीमित रखकर इस विशाल साहित्य-रचना का विवेचन हम इस अध्याय में करेंगे।

सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यों की टीकाएँ

पराक्रम बाहु प्रथम के शासन-काल में लंका में एक बौद्ध सभा (संगीति) बुलवाई गई। इस सभा का उद्देश्य अट्ठकथाओ पर मागधी (पालि) भाषा में टीकाएं लिखवाना था। इस सभा के संयोजक प्रसिद्ध सिंहली स्थविर महा-कस्सप थे। इस सभा के प्रयत्नो के परिणाम-स्वरूप बुद्धघोष की अट्ठकथाओ पर पालि-भाषा में टीकाएँ लिखी गईं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. सारत्थ दीपनी—समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) की टीका

२. पठम-सारत्थमजूसा—सुमगल विलासिनी (दीघ-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

३. दुतिय-सारत्थमजूसा—पपञ्चसूदनी (मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

४. ततिय-सारत्थमजूसा—सारत्थप्पकासिनी (सयुत्त-निकाय की अट्ठ-कथा) की टीका

५ चतुत्थ-सारत्थमजूसा—मनोरथ पूरणी (अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) की टीका

६ पठम-परमत्थप्पकासिनी—अट्ठसालिनी (धम्मसगणि की अट्ठकथा) की टीका

७ दुतिय-परमत्थप्पकासिनी—सम्मोहविनोदनी (विभग की अट्ठकथा) की टीका

८. ततिय परमत्थप्पकासिनी—पञ्चप्पकरणट्ठकथा (धातुकथा, पुग्गल-पञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान की अट्ठकथा) की टीका

उपर्युक्त टीकाओ मे से केवल 'सारत्थ दीपनी' आज उपलब्ध हैं। यह तत्कालीन सिहली भिक्षु सारिपुत्त की रचना है। इस रचना के अतिरिक्त इन स्थविर की तीन कृतिया और प्रसिद्ध है। (१) लीनत्थ पकासनी—बुद्धघोष-कृत मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा की टीका (२) विनय संगह—विनय-सबधी नियमों का संग्रह। इस रचना का दूसरा नाम 'पालिमुत्तक विनयसगह' (पालिमुक्तक विनयसग्रह) या 'महाविनय सगह-प्पकरण' (महाविनयसग्रह प्रकरण) भी है। (३) सारत्थ मञ्जूसा—बुद्धघोषकृत अगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा की टीका। स्थविर सारिपुत्त के शिष्यो ने भी इस टीका-रचना-कार्य मे बड़ा योग दिया। उनके शिष्यों में ये प्रधान थे—(१) सघरक्खित, (२) बुद्धनाग, (३) वाचिस्सर (४) सुमंगल, (५) सद्धम्मजोतिपाल या छपद (६) धम्मकित्ति, (७) बुद्धरक्खित और (८) मेधंकर। स्थविर संघरक्खित की एकमात्र रचना 'खुद्दक सिक्खा-

टीका' है जो धम्मसिरि (धर्मश्री) रचित 'खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। स्थविर सघरक्खित से पहले महायास ने भी 'खुदक-सिक्खा' पर 'खुद्दक सिक्खा-टीका' नाम से ही एक टीका लिखी थी। इन दोनो मे भेद करने के लिए स्थविर संघ-रक्खितकृत टीका को 'अभिनव-खुद्दक सिक्ख-टीका' और महायास कृत टीकाको 'पोराण-खुद्दक-सिक्खा टीका' भी कहा जाता है। ये दोनोटीकाएँ हस्तलिखित प्रतियों के रूप मे आज भी सिहल मे सुरक्षित है। स्थविर बुद्धनाग की रचना 'विनयत्थ मजूसा' है, जो कखा वितरणी (पातिमोक्ख पर बुद्धघोष कृत अट्ठकथा) की टीका है। यह टीका भी सिहल मे हस्तलिखित प्रति के रूप मे मुरक्षित है। प्रसिद्ध सिहली भिक्षु वाचिस्सर (वागीश्वर) अनेक ग्रन्थो के रचयिता थे। 'गन्धवस' मे उनके १८ ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध वेदान्ती आचार्य वाचस्पति मिश्र और इन स्थविर (वाचिस्सर) के नाम या उपनाम मे समानता होने के साथ साथ दोनो की विद्वत्ता भी प्राय समान रूप से गहरी और विस्तृत है। स्थविर वाचिस्सर की प्रधान रचनाएँ ये हैं—(१) मूलसिक्खा-टीका—यह टीका महास्वामी (महासामी) कृत 'मूल-सिक्खा' को टीका है। वाचिस्सर से पहले विमलसार ने भी इसी (मूलसिक्खा टीका) नाम की एक टीका "मूल-सिक्खा' पर लिखी थी। अत विमलसार कृत टीका 'मूल सिक्खा–पोराण टीका' कहलाती है और वाचिस्सर-कृत टीका' 'मूल-सिक्खा–अभिनव टीका' (२) सीमालकार संगह (विनय-सबधी ग्रन्थ, जिसमे विहार की सीमा का निर्णय किया गया है। जहां तक के भिक्षु विशेष सस्कारो मे सम्मिलित होने के लिए किसी एक विहार मे एकत्रित हो, वह उस विहार की सीमा कहलाती है)[1] (३) खेमप्पकरणटीका—यह टीका भिक्षु खेम (क्षेम) कृत 'खेमप्पकरण' की टीका है। (४) नामरूप परिच्छेद टीका–यह अनिरुद्ध (पालि अनुरुद्ध) कृत 'नाम रूप परिच्छेद' की टीका है। (५) सच्चसंखेप टीका—यह स्थविर आनन्द के शिष्य चूल धम्मपाल-कृत 'सच्च सखेप' की टीका है। (६) अभिधम्मावतार-टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'अभिधम्मावतार' की टीका है। (७) 'रूपारूप-

---

१. इस विषय पर पन्द्रहवीं शताब्दी में बरमी भिक्षु-संघ में एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। देखिये आगे दसवें अध्याय में कल्याणी-अभिलेख का विवरण।

विभाग'—यहअभिधम्मसम्बन्धी रचना है। (८) विनया, विनिच्छय-टीका—यह टीका बुद्धदत्त कृत 'विनय विनिच्छय' की टीका है। (९) उत्तरविनिच्छयटीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'उत्तर विनिच्छय'की टीका है। (१०) सुमगलप्पसादिनी—यह रचना धम्मसिरि (धर्म श्री)-कृत खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। इन रचनाओ के अलावा 'योग विनिच्छय', 'पच्चय सगह' जैसे अनेक ग्रथ भी वाचिस्सर द्वारा रचित बताये जाते हैं। चूकि 'वाचिस्सर' उपाधि-धारी अनेक भिक्षु सिहल के हो गये है, अत निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि कौन सी रचनाएं किस 'वाचिस्सर' की है। फिर भी ऊपर जिन प्रधान दस रचनाओ का उल्लेख किया जा चुका है, वे सिहली भिक्षु सारिपुत के शिष्य 'वाचिस्सर' की ही मानी जाती है। सुमगल-कृत तीन रचनाए है, (१) अभिधम्मत्थविभावनी, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्थ-सगह की टीका है (२) अभिधम्मत्थ विकासिनी, जो बुद्धदत्त अभिधम्मावतार की टीका है (३) सच्चसखेप-टीका है—जो चूल धम्मपाल-कृत सच्चसंखेप की टीका है। ये तीनो ग्रथ हस्त लिखित प्रतियो के रूप मे सिहल मे सुरक्षित 'अभि धम्मत्थ विभावनी' का महाबोधि प्रेस कोलम्बो से सन् १९३३ मे सिहली अक्षरो मे प्रकाशन भी हो चुका है। सद्धम्मजोतिपाल या छपद का नाम सारिपुत्तके शिष्यो मे विशेषत. प्रसिद्ध है। ये बरमा-निवासी भिक्षु थे जिन्होने बौद्ध धर्म की शिक्षार्थ सिहल मे प्रवास किया था। सारिपुत्तके शिष्यत्व मे वे वहाँ ११७० मे ११८० ई० तक रहे। उनकी ये रचनाएं अधिक प्रसिद्ध हैं, (१)विनय समुट्ठान दीपनी (विनय सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ (२) पातिमोक्ख विसोधनी (३)विनय गूढत्थ दीपनी विनय पिटकके कठिन शब्दोकी व्याख्या (४)सीमालङ्कार सगहटीका, जो वाचिस्सर-कृत सीमालंकार सगह की टीका है। इस प्रकार चार रचनाएँ छपदकी विनय-सम्बन्धी है। अभिधम्म साहित्य को भी इन्होने पाँच टीका-ग्रन्थ प्रदान किये है, (१)मातिकत्थ दीपनी (२)पट्ठान-गणनानय (३)नामचार दीप (४)अभिधम्मत्थसगह संखेप टीका, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्थ संगह की टीका है और (५) गन्धसार, जिसमे तिपिटक के ग्रन्थो का सार है। धम्मकित्ति की रचना 'दाठावस' है जिसका विवेचन हम वंश-साहित्य का विवरण देते समय करेगे। इसी प्रकार वाचिस्सर (उपर्युक्त सारिपुत्त के शिष्य ही) के थूपवस है, जिसका विवेचन भी हम वही करेंगे। बुद्धरक्खित और मेधंकर की रचनाएं

क्रमशः 'जिनालंकार' और 'जिनचरित' है, जो काव्य-ग्रंथ है। इनका विवरण हम पालि-काव्य का विवेचन करते समय दसवें अध्याय में देंगे। सारिपुत्त और उनके शिष्यों का यह उपर्युक्त साहित्य पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल में लिखा गया, अतः इसका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग ही है। इसी समय 'वसत्थदीपनी' नामकी 'महावंस' की टीका भी लिखी गई। किन्तु उसके रचयिता का नाम अभी अज्ञात ही है।

तेरहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तेरहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के प्रसिद्ध नाम वेदेह स्थविर 'विदेह थेर' बुद्धप्पिय और धम्मकित्ति हैं। वेदेह थेरकी दो प्रसिद्ध रचनाएँ 'समन्त कूट वण्णना'[1] और 'रसवाहिनी' हैं।[2] बुद्धप्पिय की रचना 'पज्जमधु' है। यह एक काव्य-ग्रन्थ है। इसका विवेचन हम दसवें अध्याय में करेंगे। इस शताब्दी की सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना 'महावंस' का 'चूलवंस' के नामसे परिवर्द्धन है। 'महावंस' का इस प्रकार प्रथम परिवर्द्धन तेरहवीं शताब्दी में और दूसरा परिवर्द्धन १८ वीं शताब्दी के मध्यभाग में किया गया। बारहवीं शताब्दी में इस परिवर्द्धन को करने वाले 'धम्मकित्ति' नामक भिक्षु थे। सिंहल और बरमा में इस नाम के अनेक शताब्दियों में इतने अधिक भिक्षु हुए हैं कि यह धम्मकित्ति उनमें से कौन से थे, इसका सम्यक् रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः यह वही स्थविर धम्मकित्ति थे, जिन्होंने महावंश ८४।१२ के अनुसार बरमा से लंका में जाकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था इसप्रकार जिनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। इसी समय 'अत्तनगलु विहारवंस' नामक वंश ग्रंथ भी लिखा गया, जिसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है। तेरहवीं शताब्दी के अंतिम या चौदहवीं शताब्दी के आदि भाग के पालि-साहित्य के इतिहास में सिद्धत्थ और धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) इन दो भिक्षुओं के नाम प्रसिद्ध हैं। सिद्धत्थ 'पज्जमधु' के रचयिता बुद्धप्पिय के शिष्य थे। इनकी रचना 'सारसंगह' है जो गद्य-पद्य-मिश्रित बुद्ध-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ है। धम्मकित्ति महास्वामीकी रचनाका नाम 'सद्धम्मसंगह' है। इसमें चालीस अध्याय

१. २. इनके विवरण के लिए देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि-काव्य का विवरण।

है। यहाँ लेखक ने बुद्ध-काल से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक भिक्षु-संघ के इतिहास का वर्णन किया है। कोई नवीन सूचना न देने पर भी लेखक ने जितने विस्तृत साहित्य का उपयोग किया है, वह उस समय तक के पालि-साहित्य की प्रगति की दृष्टि से उसके इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, इसमे सन्देह नही।

चौदहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी की पाँच रचनाएँ हैं जिसमे चार काव्य ग्रंथ है ,और एक वंश-ग्रन्थ। इनका विशेष विवरणतो हम क्रमशः दसवें और नवे अध्यायो मे करेंगे, किन्तु यहाँ नामोल्लेख करना आवश्यक है। चार काव्य-ग्रन्थ है (१) सिहल-प्रवासी वर्मी भिक्षु मेधकर-कृत लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार (२) पचगतिदीपन जिसके लेखक का पता नही (३) सद्धम्मोपायन, जिसके भी लेखक का ठीक पता नही. और (४) तेलकटाहगाथा, जिसके भी लेखक का नाम अज्ञात है। वश-ग्रन्थ, भिक्षु महामगल-कृत 'बुद्धघोसुप्पति' है, जिसमे बुद्धघोष की जीवनी का वर्णन किया गया है।

बरमी पालि-साहित्य—पन्द्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, पन्द्रहवी शताब्दी से बरमा पालि-साहित्य के अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का प्रधान केन्द्र हो गया। जिस विषय की ओर बरमी बौद्ध भिक्षुओ की विशेष दृष्टि गई वह था अभिधम्म। वास्तव मे यह उनके अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का एक मात्र मुख्य विषय ही बन गया। फलत: एक लबी परम्परा हम इस साहित्य संबधी रचना की वहाँ देखते हं। पन्द्रहवी शताब्दी के बरमी पालि-साहित्य के इतिहास के प्रसिद्ध नाम हैं अरियवस, सद्धम्मसिरि (सद्धर्म श्री) सीलवंस और रट्ठसार। अरियवंस की रचनाएँ ये हैं (१) मणिसारमञ्जूसा—सुमंगल-कृत अभिधम्मत्थविभावनी की टीका (२) मणिदीप—बुद्धघोषकृत अट्ठसालिनी की टीका (३) जातक-विसोधन—जातक-संबधी रचना। सद्धम्मसिरि अरियवंस के ही समकालिक थे। इनकी एकमात्र प्रसिद्ध रचना 'नेत्तिभावनी' है जो नेत्तिपकरण की टीका है। सीलवंस का काल अरियवंस और सद्धमसिरि से कुछ बाद का का है किन्तु है पन्द्रहवी शताब्दी ही। इनकी प्रसिद्ध रचना 'बुद्धालंकार' है

जो निदान-कथा की सुमेध-कथा का काव्यमय रूपान्तर है। रट्ठसार ने कुछ जातकों के काव्यमय रूपान्तर किये हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी की ही एक रचना 'काव्यविरतिगाथा' है, किन्तु उसके लेखक के नाम आदि का अभी पता नहीं चला है।

सोलहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

सोलहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में सद्धम्मालंकार और महानाम, इन दो भिक्षुओं के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। सद्धम्मालकार की रचना 'पट्ठान-दीपनी' है, जो पट्ठानप्पकरण की टीका है। महानाम ने 'मधुसारत्थदीपनी' लिखी, जो बुद्धघोष के समकालिक भिक्षु आनन्द द्वारा लिखित 'अभिधम्ममूलटीका' या सक्षेपत: 'मूल-टीका' की अनुटीका है।

सत्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तिपिटकालकार, तिलोकगुरु, सारदस्सी और महाकस्सप, ये चार भिक्षु सत्रहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास के प्रकाश-स्तम्भ हैं। तिपिटकालकार (त्रिपिटकालकार) की ये तीन रचनाएँ हैं (१) वीसतिवण्णना—अट्ठसालिनी के आरम्भ की २० गाथाओं की टीका (२) यसवड्ढनवत्थु (३) विनयालकार—सारिपुत्त-कृत 'विनय-सगह' की टीका। तिलोकगुरु की चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें दोनों धातु-कथा की ही टीका और अनुटीका स्वरूप हैं, यथा (१) धातुकथाटीका—वण्णना (२) धातुकथा-अनुटीका—वण्णना। शेष दो रचनाएँ हैं (१) यमकवण्णना (२) पट्ठान-वण्णना। सारदस्सी की रचना 'धातुकथा-योजना' है जो धातु कथा की टीका है। महाकस्सप की प्रसिद्ध रचना 'अभिधम्मत्थ गण्ठिपद' है जो अभिधम्म के कठिन शब्दों की व्याख्या है।

अठारहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी के एकमात्र प्रसिद्ध लेखक ञाणाभिवस (ज्ञानाभिवंश)) हैं जो बरमा के संघराज थे। इनकी तीन रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं (१) पेटकालकार—नेत्तिपकरण की टीका (२) साधुविलासिनी—दीघ-निकाय की आंशिक

व्याख्या (३) राजाधिराज-बिलासिनी—काव्य-ग्रन्थ[1]। इन्ही ज्ञानाभिवंश सघराज ने 'चतुसामणेरवत्थु' और राजवादवत्थु' नामक भाव-मयी रचनाएँ भी लिखी है। अठारहवी शताब्दी मे ही 'मालालकारवत्थु' नामकी बुद्ध-जीवनी भी लिखी गई, किन्तु उसके लेखक के नाम के विषय में हमारी कोई जानकारी नही है।

उन्नीसवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

नलाटधातुवम, छकेसधातुवस, सन्देसकथा और सीमा-विवाद-विनिच्छय उन्नीसवी शताब्दी की रचनाएँ है, जिनके लेखको के विषय मे हमें कुछ ज्ञात नही है। इस शताब्दी की दो बडी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'गन्धवस' और 'सासनवस' है। चूकि ये दोनो वश-ग्रन्थ है, इनका विस्तृत विवरण हम नवे अध्याय मे इस सम्बन्धी साहित्य का विवेचन करते समय करेगे। उन्नीसवी शताब्दी मे लका और बरमा मे पालि-साहित्य सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये, जिनके नाम-परिगणन मात्र से कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध नही हो सकता। हाँ, प्रसिद्ध बरमी भिक्षु लेदि सदाव की 'परमत्थदीपनी' नामक अभिधम्मत्थ सगह की टीका और उनका यमक-सम्बन्धी पालि निबन्ध जो उन्होने श्रीमती रायस डेविड्स की कुछ शकाओ के निवारणार्थ लिखा था, अवश्य महत्वपूर्ण रचनाएँ है और उन्नीसवी शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती है।[2] इसी प्रकार लका मे समरसेकर श्री धम्मरतन, बिक्रम सिह, स्थविर नारद, और युगिरल पञ्ञानन्द महाथेर आदिने जो महत्त्वपूर्ण कार्य आज तक किया है, वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

बीसवीं शताब्दी की कुछ महत्त्वपूर्ण टीकाएँ

बीसवी शताब्दी में भी पालि-भाषा मे टीकाओ का लिखा जाना कुछ आश्चर्यमय अवश्य लगता है, किन्तु वह एक तथ्य है। वह एक ऐसी परम्परा का सूचक है जो अभी विच्छिन्न नही हुई है। भारत में पालि-अध्ययन की जो दुरवस्था है,

---

१. देखिये दसवें अध्याय में पालि-काव्यग्रन्थों का विवेचन।

२. देखिये पीछे पाँचवें अध्याय में 'यमक' का विवरण।

वह लंका, बरमा और स्याम जैसे देशो की परिस्थिति की भी जहाँ बौद्ध धर्म आज एक जीवित धर्म के रूप में विद्यमान है, सूचक नही है। वहाँ पालि का अध्ययन आज भी उसी उत्साह के साथ किया जाता है, जैसा उन्नीसवी या उसकी पूर्व की शताब्दियों मे। फिरभी भारतकी ओरसे यह आश्वासन है कि वहाँ ज्ञानकी ज्योति क्षीण भले ही हो गई हो किन्तु बुझी फिरभी नहीं है। आचार्य धम्मानन्द कोसम्बी के रूप में हम फिर भी कुछ गौरव अनुभव कर सकते है। उन्होंने पालि साहित्य को, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, दो अमूल्य टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं (१) विसुद्धिमग्गदीपिका, जो विसुद्धिमग्ग पर विद्यार्थियों के उपयोग के लिये लिखी गई उत्तम टीका है, और (२) अभिधम्मत्थसंगह की 'नवनीत-टीका'। अपने वर्षों के प्रयास के परिणाम-स्वरूप प्राप्त ज्ञान यहाँ आचार्य धमानन्द कोसम्बी ने अभिधम्म के जिज्ञासुओ के लिये अत्यन्त सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है। अभिधम्म का अध्ययन करने वालो के लिये इससे अधिक अच्छा सहायक ग्रन्थ नही बताया जा सकता। इसी के प्रसाद-स्वरूप भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस विषय का निरूपण अपने अंग्रेजी ग्रन्थ 'अभिधम्म-फिलॉसफी' में किया है, किन्तु यह इस विषय से सम्बन्धित नही है।

इस युग की अन्य रचनाएँ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पालि-स्वाध्याय की जो परम्परा बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल ने पाँचवी शताब्दी में छोड़ी वह अविच्छिन्न रूप से बीसवीं शताब्दी तक चलती आरही है। यद्यपि उसमें मौलिकता न हो, किन्तु वह एक सतत साधना की सूचक तो है ही। यहाँ हमने बारहवी शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के टीका-साहित्य का ही प्रधानतः दिग्दर्शन किया है। कही कही काव्य सम्बन्धी ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है और इसी प्रकार वंश-सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर भी संकेत मात्र कर दिया है। उनका विवरण हमें काल-क्रम और विकास की दृष्टि से अलग देना इष्ट है। व्याकरण-सम्बन्धी प्रभूत साहित्य का निर्माण इन्ही शताब्दियोंमें अर्थात् १२वीं शताब्दीसे लेकर उन्नीसवीया बीसवीं शताब्दी तक लंका और बरमा दोनों देशो मे किया गया। उसका हमने बिलकुल उल्लेख इस प्रकरण में नही किया है। उसके विकास की परम्परा को हम अलग से (दसवें

अध्याय मे) लेगे, क्योकि वह काफी विस्तृत है और अलग विवेचन की ही अपेक्षा रखती है। पालि मे इन्ही शताब्दियो मे ही धर्म-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थो की रचना हुई। तेरहवी शताब्दी मे बरमी भिक्षु सारिपुत्त ने 'धम्मविलास-धम्मसत्थ' नामक ग्रन्थ की रचना की जो वहाँ संविधान-सम्बन्धी मामलो मे अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इसी के आधार पर सोलहवी शताब्दी मे 'मनु-सार' की रचना हुई, जिसके आधार पर अठारहवी शताब्दी मे 'मनु-वण्णना' की रचना हुई। पुनः इसी के आधार पर उन्नीसवी शताब्दी में 'मोह-विच्छेदनी' लिखी गई। पालि के इस धर्म-शास्त्र सम्बन्धी विकास का इतिहास पालि और बरमी बौद्ध धर्म के स्वरूप को समझने के लिये महत्त्वपूर्ण होने के साथ साथ इस दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वह बौद्ध सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र मे मनुस्मृति के प्रभाव का साक्ष्य देता है, जिस पर ही सम्पूर्ण बरमी धर्म-शास्त्र साहित्य, जो अंशत बरमी भाषा और अंशत पालि मे निबद्ध है, आधारित है। काव्य, व्याकरण, वंश और धर्मशास्त्र के अलावा छन्द शास्त्र, काव्य-शास्त्र, कोश आदि पर इन शताब्दियो मे लिखे गये साहित्य का भी इस प्रकरण मे विवेचन नही किया गया है। उसका सक्षेपत. निदर्शन हम आगे के प्रकरणो मे करेगे।

नवाँ अध्याय

वंश-साहित्य

'वंश' शब्द का अर्थ और इतिहास से भेद

'वंश' साहित्य पालि साहित्य की एक मुख्य विशेषता है। यद्यपि 'वंश' (पालि 'वंस') नाम से कोई ग्रन्थ संस्कृत भाषा या अन्य किसी प्राचीन आर्य-भाषा के साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता, किन्तु जिसे छान्दोग्य-उपनिषद् में 'इतिहास-पुराण' कहा गया है, उसकी तुलना विषय और शैली की दृष्टि से पालि 'वंस' ग्रन्थों से की जा सकती है। 'इतिहास-पुराण' या ठीक कहें तो 'पुराण-इतिहास' ग्रन्थों के सर्वोत्तम उदाहरण संस्कृत भाषा में महाभारत और अष्टादश पुराण जैसे ग्रन्थ ही हैं। इनके विषयों में धर्म-वृत्त और कथाओं के साथ साथ प्राचीन भारतीय इतिहास का भी सन्निवेश है। इनका निश्चित आधार ऐतिहासिक होते हुए भी वर्णन-शैली प्रायः इतनी अतिरंजनामयी और नैतिक उद्देश्यों से (कहीं कहीं साम्प्रदायिक मतवादों से भी-जैसा कि उत्तरकालीन पुराणों में) ओत-प्रोत होती है कि उनमें से निश्चित इतिहास को निकालना बड़ा कठिन हो जाता है। पार्जिटर आदि विद्वानों को उनका वास्तविक ऐतिहासिक मूल्यांकन करने में कितना परिश्रम करना पड़ा है, यह इसी से जाना जा सकता है। जो बात संस्कृत के पुराण-इतिहासों के बारे में ठीक है, वही बात पालि के 'वंस' ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ अन्तर, केवल मात्रा का यह अवश्य है कि पालि 'वंस'-कारों ने भारतीय 'पुराण'-कारों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है। संस्कृत में केवल 'राजतरंगिणी' को छोडकर और कोई ग्रन्थ उनकी कोटि का नहीं है। निश्चय ही उनके वर्णनों में निश्चित इतिहास की सामग्री संस्कृत पुराण-इतिहासों से तो बहुत अधिक मात्रा में और अधिक स्पष्ट रूप से मिलती है। भारतीय परम्परा के अनुसार इतिहास-पुराण के पाँच लक्षण

कहे गये है, सर्ग (सृष्टि-क्रम-वर्णन) प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद पुनः सृष्टि-क्रम का वर्णन), वंश , मन्वन्तर और वंशानुचरित । इनमे वंश और वंशानुचरित हमारे प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बड़े महत्त्व के है । राजाओं की विस्तृत वशावलियाँ विष्णु, वायु, मत्स्य, भागवत आदि पुराणो में दी हुई है । पालि का वंश-साहित्य भी प्रधानत. राजाओ की वंशावलियों का ही वर्णन करता है, यद्यपि महाभारत और पुराणों की तरह उसमें भी इनके अलावा बहुत कुछ है । धर्म-वृत्त और कथाएँ दोनो के ही महत्त्वपूर्ण अग है । इतने सामान्य कथन के बाद अब हम पालि के वश-साहित्य की विशेषताओं में प्रवेश कर सकते है ।

पालि 'वंश'-ग्रन्थ

पालि में 'वश'-साहित्य की परम्परा बुद्धघोष-युग के पहले से ही चली आती है और उसका अविच्छिन्न प्रवर्तन तो ठीक उन्नीसवी या बीसवी शताब्दी तक मिलता है । पालि के मुख्य वश-ग्रन्थ ये है, (१) दीपवस (२) महावस (३) चूलवस (४) बुद्धघोसुप्पत्ति (५) सद्धम्मसंगह (६) महाबोधिवस (७) थूपवंस (८) अत्तनगलुविहारवस (९) दाठावस (१०) छकेसधातुवस (११) गन्धवंस और (१२) सासनवंस । इनका अलग अलग सक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन आवश्यक होगा ।

दीपवंस[1]

'दीपवंस' पालि वश-साहित्य की सर्व-प्रथम रचना है । यह लंका-द्वीप का इतिहास है । लंका-द्वीप की ऐतिहासिक परम्परा का आधार एवं आदि स्रोत यही ग्रन्थ है । 'दीपवंस' प्राग्बुद्धघोषकालीन रचना है । इसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है । आरम्भिक काल से लेकर राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक का लंका का इतिहास इस ग्रन्थ में वर्णित है । बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में कई जगह (विशेषत: कथावत्थुपकरण की

---

१. रोमन लिपि में ओल्डनबर्ग द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८७९ । हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई मूल संस्करण या अनुवाद नहीं निकला । इस ग्रन्थ के बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं ।

अट्ठकथा में) उद्धृत किया है। बुद्धघोष का समय चौथी-पाँचवी शताब्दी है। अतः यह निश्चित है कि 'दीपवस' का प्रणयन -काल ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल, जब तक का वर्णन 'दीपवस' मे मिलता है) और ४५० ई० के बीच ही होना चाहिये। 'दीपवंस' की ऐतिहासिक परम्परा और विषय-वस्तु प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओ के ऐतिहासिक अंशो पर आधारित है। ये सिंहली अट्ठकथाएं अत्यन्त प्राचीन काल मे सिंहल मे लिखी गई थी। इनकी भाषा सिंहली गद्य थी, किन्तु बीच बीच मे कही कही पालि-गाथाएँ भी इनमे सम्मिलित थी। इन्ही अट्ठकथाओ पर बुद्धघोष की पालि-अट्ठकथाएं आधारित है और इन्ही पर 'दीपवस' भी। 'महा-अट्ठकथा' 'महापच्चरी' 'कुरुन्दी' 'चुल्ल-पच्चरी' 'अन्धट्ठकथा' आदि जिन सिंहली अट्ठकथाओ से बुद्धघोष ने सामग्री ली, उन्हीं पर 'दीपवंस' भी आधारित है। विशेषतः जिसे 'महावंस-टीका' मे 'सीहलट्ठकथा-महावस' कहा गया है, उससे भी सम्भवत. 'दीपवस' में अधिक सहायता ली गई है। अनेक स्रोतों से सहायता लेने के कारण और उनमे निर्दिष्ट परम्पराओ को उनके मौलिक रूप मे ही रख देने की प्रवृत्ति के कारण, 'दीपवस' में अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती है। विभिन्न स्रोतो से सामग्री सकलित की गई है, किन्तु उस सकलन को व्यवस्थित एव एकात्मतापरक रूप प्रदान नही किया गया। एक ही घटना का वर्णन एक जगह सक्षिप्त रूप से कर दिया गया है। दूसरी जगह उसी घटना का वर्णन विस्तृत रूप से दे दिया गया है। यह विभिन्न स्रोतो से संकलित सामग्री को व्यवस्थित रूप न दे सकने के कारण ही है। अत. साहित्यिक कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना महत्त्वपूर्ण नही हो पाया। भाषा और छन्द दोनो ही इस ग्रन्थ के निर्दोष नहीं है। जबकि ऐतिहासिक सामग्री इस ग्रन्थ ने उपर्युक्त सिंहली अट्ठकथा-साहित्य मे ली है, भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ त्रिपिटक पर भी आधारित कहा जा सकता है। बुद्धवंस, चरियापिटक, जातक, परिवार-पाठ आदि ग्रन्थो की शैली की 'दीपवंस' की भाषा-शैली से पर्याप्त समानता है। फिर भी, जैसा अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है, भाषा पर लेखक का अधिक अधिकार दिखाई नही पडता। साहित्यिक दृष्टि से 'दीपवस' एक अव्यवस्थित, पुनरुक्तिमय, भाषा और शैली के दोषों से परिपूर्ण एवं नीरस गद्य-पद्यात्मक (विशेषतः पद्यात्मक) रचना है।

किन्तु साहित्यिक दृष्टि से दोष-मय होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। फ्रैंक जैसे कुछ-एक विद्वानों ने उसकी साहित्यिक अपूर्णताओं के कारण या उनसे अधिक प्रभावित होकर ही उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ के गौरव से भी वंचित रखना चाहा है।[१] निश्चय ही यह सन्तुलन को खो देना है। 'दीपवंस' के ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक ग्रन्थ होने में सन्देह की गुंजायश नहीं, यह डा० गायगर की इस सम्बन्धी खोजों ने अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया है।[२] 'दीपवंस' में एक प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा मिलती है, जिसको सिंहल में सदा आदर और विश्वास की दृष्टि से देखा गया है। यह इसी से जाना जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में सिंहल के राजा धातुसेन ने इस ग्रन्थ का पाठ राष्ट्रीय गौरव के साथ एक वार्षिक उत्सव के अवसर पर करवाया था। सिंहली इतिहासों में निश्चय ही इस ग्रन्थ को पहला और अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। ग्रन्थ की विषय-वस्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, लंका के प्रारम्भिक इतिहास से लेकर वहाँ के राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक है। सर्वप्रथम बुद्ध के तीन बार लंका-गमन का वर्णन किया गया है। यहाँ बुद्ध की प्राचीन वंशावली का भी वर्णन किया गया है, और उनके वंश के आदि पुरुष का नाम महासम्मत बतलाया गया है। फिर प्रथम दो बौद्ध संगीतियों का का वर्णन है। यहाँ विनय-पिटक—चुल्लवग्ग आदि के वर्णनों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं है। वहीं मगधराज अजातशत्रु के तत्त्वावधान में, महाकाश्यप के सभापतित्व में, प्रथम संगीति का होना, एवं आनन्द और उपालि के द्वारा क्रमशः धम्म और विनय का संगायन किया जाना, यहाँ भी प्रथम संगीति के विवरण में दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय संगीति के प्रसंग में वज्जिपुत्तक

---

१. यथा स्मिथ : इंडियन एंटिक्वेरी, ३२, १९०३, पृष्ठ ३६५; फ्रैंक : जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०८, पृष्ठ १

२. देखिये विशेषतः उनका महावंस (अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ १२-२०; गायगर से पहले मैक्समुलर तथा डा० रायस डेविड्स ने भी सिंहली इतिहास ग्रन्थों की प्रामाणिकता को प्रतिपादित किया था। देखिये क्रमशः सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द १० (१), पृष्ठ १३-२५ (भूमिका); बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४

भिक्षुओं का अलग होकर 'महासंघिकों' के रूप मे विकसित हो जाना आदि वर्णित है। अशोक के काल तक, स्थविरवाद सम्प्रदाय को सम्मिलित कर, बुद्ध-धर्म १८ सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था, यह भी 'दीपवंस' का वर्णन अन्य इस सम्बन्धी स्रोतों के साक्ष्य से अनुमत है, यह सब हम द्वितीय अध्याय मे बौद्ध संगीतियों के विवरण में देख चुके है। प्रथम दो संगीतियों का वर्णन करने के बाद 'दीपवंस' तीसरी संगीति के वर्णन पर आता है। किन्तु यहाँ सम्बन्ध मिलाने के लिये वह पहले लङ्का-द्वीप के उस समय तक के इतिहास को अङ्कित करता है। लङ्का-द्वीप की स्थापना एक भारतीय उपनिवेश के रूप मे लाळ-[1]नरेश सिंहबाहु के विद्रोही पुत्र विजय ने की। वह अपने पिता के द्वारा अपने उच्छृंखल व्यवहार के कारण देश से बाहर निकाल दिया गया था। अपने कुछ साथियो को लेकर विजय लङ्का द्वीप आया। यात्रा के प्रसग मे सुप्पारक, भरुकच्छ आदि बन्दरगाहों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो ग्रन्थकार की ऐतिहासिक बुद्धि का पर्याप्त साक्ष्य देता है। किन्तु साथ ही यह भी दिखाया गया है कि लङ्का में उस समय यक्ष, दानव और राक्षस रहते थे, जो 'पुराण-इतिहास' शैली का एक अच्छा नमूना कहा जा सकता है। विजय सिंहल का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ। उसके बाद अनेक राजा हुए। जिस समय भारत मे अशोक राजा राज्य करता था, सिंहल मे विजय का वंशधर देवानंपिय तिस्स नामक राजा था। अशोक ने तृतीय संगीति के बाद अपने पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा को बुद्ध-धर्म का सन्देश लेकर लङ्का में भेजा। वे अपने साथ बोधि-वृक्ष की शाखा भी ले गये। देवानंपिय तिस्स ने उनका स्वागत किया और बुद्ध-धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार देवानंपिय-तिस्स के शासन-काल में बौद्ध धर्म सर्व प्रथम लङ्का मे प्रविष्ट हुआ। बोधि-वृक्ष की शाखा, जिसे महेन्द्र और संघमित्रा अपने साथ ले गये थे, बड़े सम्मान के साथ अनुराधपुर मे लगाई गई और वहीं 'महाविहार' नामक विहार की स्थापना की गई। देवानंपिय तिस्स के बाद लङ्का के ऊपर एक बड़ी विपत्ति आई। दक्षिण

---

१. प्राचीन लाट अर्थात् गुजरात-प्रदेश। गायगर ने इसे बंग-प्रदेश माना है, जो निश्चय ही गलत है। देखिये महावंश, पृष्ठ ६ (परिचय) (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

भारत से द्रविड़ों (दमिळ) ने वहाँ जा कर उसकी राष्ट्रीय एकता को भंग करना आरम्भ कर दिया और बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। द्रविड़ो के द्वारा निरन्तर तंग किये जाने पर भी सिंहल के मैत्री-भावना-परायण बौद्ध राजाओं ने उनमे युद्ध करने की नही सोची। जो भाग द्रविड़ो ने अपने अधिकार में कर लिया था उस प्रदेश की सिंहली जनता उनके अत्याचारों से दुःखी थी। अन्त में उन्हे 'दुट्ठगामणि' के रूप मे उपयुक्त नेता मिला। दुट्ठगामणि का वास्तविक नाम 'गामणि' था। वह तत्कालीन बौद्ध लङ्काधिपति काकवण्ण तिस्स का पुत्र था। बडा उद्धत और वीर स्वभाव का था। सोलह वर्ष की अवस्था मे ही उसने द्रविडो से लड़ने के लिये अपने पिता से आज्ञा माँगी। अहिंसक बौद्ध पिता ने नर-हिंसा-मय युद्ध की आज्ञा नही दी। गामणि उसी समय से विद्रोही हो गया। पिता के आदेश को न मानने के कारण उसके नाम के साथ इसी कारण 'दुष्ट' (दुट्ठ) शब्द भी लगने लगा। बाद मे पिता के मरने के बाद वह शोषित सिंहली जनता का स्वाभाविक नेता हुआ। उसने एक सुसगठित सेना तैयार कर द्रविडो को परास्त किया और सिंहल को एक सूत्र मे बाँधा। दुट्ठगामणि सिंहल का सब से बडा शासक माना जाता है। उसने बौद्ध धर्म की भी बड़ी सेवा की। नौ मंजिलों का 'लोह प्रासाद' नामक विहार उसने बनवाया। 'महाथूप' (महास्तूप') तथा अन्य अनेक स्तूप और विहार भी उसने बनवाये। दुट्ठगामणि के बाद उसके वशधरो में कई राजाओं के बाद प्रसिद्ध सिंहली राजा वट्टगामणि हुआ। उसी के समय मे पालि त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया। अत. उसका शासन-काल (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) पालि-साहित्य के इतिहास मे बडा महत्त्वपूर्ण है। वट्ठगामणि के बाद अनेक राजाओं और उनकी वशावलियो का वर्णन करता हुआ 'दीपवस' लङ्काधिपति महासेन (३२५-३५२ ई०) के शासन-काल तक आकर समाप्त हो जाता है।

'दीपवस' के वर्णनो का वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वाङ्कन क्या है, लङ्का के निश्चित इतिहास के रूप में वह कहाँ तक मान्य है, भारतीय इतिहास की परम्पराओं से उसके वर्णनों का क्या और कहाँ तक सामञ्जस्य या विरोध है, पालि साहित्य और बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में उसके क्या महत्वपूर्ण साक्ष्य है, इन सब समस्याओ का विवेचन हम यहाँ अलग मे न कर 'दीपवंस' पर ही आश्रित

और सम्भवत: उसकी व्याख्या-स्वरूप लिखित एक अन्य वंश-ग्रन्थ के साथ करेंगे, जिसका नाम 'महावंस' (महावंश) है।

महावंस[1]

'महावंस' भी 'दीपवंस' के समान ही लङ्का का एक सुव्यवस्थित इतिहास-ग्रन्थ है। उसकी न केवल विषय-वस्तु किन्तु क्रम भी बिलकुल 'दीपवंस' के समान ही है। सम्भवत: 'दीपवंस' के आधार पर ही वह लिखा गया है। उसके स्रोत बिलकुल 'दीपवंस' के समान ही हैं। 'दीपवंस' और अन्य प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के अलावा 'सीहलट्ठकथा-महावंस' नामक अट्ठकथा का भी उसने अधिक आश्रय लिया है, यह हमें उसकी टीका जिसका नाम 'महावंस-टीका' (बारहवीं शताब्दी) है, से विदित होता है। 'महावंस' की विषय-वस्तु 'दीपवंस' के समान होते हुए भी उससे अधिक विस्तृत है। एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि 'दीपवंस' की सी अव्यवस्थित भाषा या नीरस शैली यहाँ बिलकुल नहीं मिलती। 'महावंस' सच्चे अर्थों में एक ऐतिहासिक काव्य है। उसे 'ऐतिहासिक महाकाव्य' भी कहा जा सकता है। उसकी भाषा और शैली में वही उदात्तता है, जिसे हम महाकाव्यों की शैली से सम्बन्धित करते हैं। देवानंपियतिस्स (२४७ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक) और दुट्ठगामणि (१०१ ई० पू० से ७७ ई० पू० तक) के विस्तृत, उदात्त वर्णन निश्चय ही महाकाव्योचित प्रभावशीलता से ओतप्रोत हैं। 'महावंस' अपने मौलिक रूप में ३७ वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है। उसके बाद ही 'महावंसो निट्ठितो' (महावंश समाप्त) इस प्रकार के शब्द लिखित थे। किन्तु बाद में इस ग्रन्थ का कई शताब्दियों तक परिवर्द्धन किया गया। ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा से आगे के परिवर्द्धित स्वरूप

---

1. डाक्टर गायगर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १९०८। इस ग्रन्थ के अनेक सिंहली संस्करण हो चुके हैं। बम्बई विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ का देवनागरी-संस्करण भी प्रकाशित किया है। हिन्दी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा १९४२, में प्रकाशित

का नाम 'वूलवस' है। इस परिवर्द्धित संस्करण के ३८वे परिच्छेद की उनसठवीं गाथा में यह प्रसिद्ध पाठ आता है 'दत्वा सहस्स दीपेतु' दीपवंसं समादिसि'। इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है, "उसने सोने की एक सहस्र मुद्राएं देकर 'दीपवस' पर एक दीपिका लिखवाने की आज्ञा दी।" जिस राजा के विषय में ऐसा कहा गया है, वह धातुसेन है। इस धातुसेन का काल ईसा की पाँचवी शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का आदि भाग है। जिस दीपिका की ओर उपर्युक्त पाठ में सकेत किया गया है, उसे यहाँ 'महावस' ही मान लिया गया है। यह मान्यता पहले फ्लीट नामक विद्वान् ने प्रचारित की।[1] गायगर[2] और उनके बाद विमलाचरण लाहा[3] महोदय ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। विंटरनित्ज़ अवश्य इसे मानने को प्रस्तुत नही।[4] यदि वास्तव मे 'दीपवस' पर लिखित उपर्युक्त 'दीपिका' मे तात्पर्य 'महावस' से ही हो तो इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि 'महावस' की रचना का काल पाँचवी शताब्दी का अन्तिम या छठी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग ही है। विटरनित्ज़ ने उपर्युक्त 'दीपिका' को 'महावंस' न मान कर भी 'महावस' का रचना-काल पाचवी शताब्दी का अन्तिम भाग ही माना है। कुछ भी हो, 'महावस' का 'दीपवस' पर आश्रित होना एक निश्चित तथ्य है। अनेक पद्य दोनों मे समान हैं। समान उपादानो का अवलम्बन कर के भी 'महावंस' कार ने अपनी रचना को अपनी उच्चतर भाषा और शैली से एक विशेष गौरव दे दिया है, इसमे सन्देह नहीं। 'महावस' के रचयिता का नाम महावस-टीका के अनुसार महानाम था। स्थविर महानाम दीघसन्द सेनापति द्वारा निर्मित विहार मे रहते थे,[5] यह भी वहीं कहा गया है। इससे अधिक 'महावस' के रचयिता और उनके काल के विषय में कुछ ज्ञात नही।

---

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९०९, पृष्ठ ५, पद संकेत १

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ३६

३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५२२ एवं ५३६

४. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१२, पद संकेत ४

५. उद्धरण के लिए देखिये महावंश, पृष्ठ २ (परिचय) (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

दीपवंस और महावंस की तुलना

'दीपवस' और 'महावंस' का विषय एक समान है, यह पहले दिखाया जा चुका है। पाँचवी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक के लङ्का के इतिहास का वर्णन दोनों का विषय है। किन्तु 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावस' की विषय-वस्तु अधिक विस्तृत, अधिक व्यवस्थित और अधिक काव्यमय है। 'महावस' के आदि मे ही इस कवि-इतिहासलेखक ने कहा है "पुराने लोगो ने भी इस (महावंश) का वर्णन किया है। उसमे कही अति विस्तार, कही अति सक्षेप और पुनरुक्ति की अधिकता है। उन सम्पूर्ण दोषो से मुक्त, समझने और स्मरण रखने मे सरल, सुनने पर प्रसन्नता और वैराग्य को देने वाले, परम्परागत, प्रसाद-जनक स्थलो पर प्रसाद और वैराग्य-जनक स्थलो पर वैराग्य उत्पन्न करने वाले, इस महावश को सुनो।"[1] महावस-टीका ने भी इसी का अनुमोदन करते हुए स्वीकार किया है "आचार्य (महानाम) ने पुरानी सिंहल अट्ठकथा मे से अति विस्तार तथा पुनरुक्ति दोषो को छोड सरलता से समझ मे आने योग्य 'महावंस' को लिखा।"[2] महावस का लेखक निश्चय ही एक कवि-हृदय का व्यक्ति था। उसने जिस स्थल को स्पर्श किया है, प्रत्येक को रसात्मकता प्रदान की है। इस 'महावंस' या महान् पुरुषो (राजाओ आचार्यो) के वश-इतिहास[3] लिखने मे उसका मन्तव्य उनके उदय-व्यय को दिखाकर पाठको के हृदय मे निर्वेद प्राप्त कराना भी था, यह उसने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त मे स्पष्ट कर दिया है। 'महावस' का प्रत्येक परिच्छेद इन शब्दो के साथ समाप्त होता है "सुजनो के प्रसाद और वैराग्य के लिये रचित 'महावस' का . . परिच्छेद समाप्त।" 'दीपवस' के साथ 'महावंस' के वर्णित विषयो की तुलना करना के लिये यहाँ 'महावस' की विषय-सूची का दिग्दर्शन मात्र करा देना आवश्यक होगा। ऊपर दीपवस के

---

१. महावंस १-२-४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. "अयं हि आचरियो एत्थ पोराणकम्हि सीहलट्ठकथा महावंसे अतिवित्थार-पुनरुत्तदोसभावं पहाय तं सुखग्गहणादिपयोजन सहितं कत्वा करोति। महावंस, पृष्ठ १ (परिचय) में उद्धृत।

३. "महन्तानं वंसो तन्ति पवेणि महावंसो", महावंस-टीका।

विषय का जो संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में वह स्पष्ट भी हो जायगा। 'महावंस' के प्रथम परिच्छेद में बुद्ध के तीन बार लङ्का में आगमन का वर्णन है। विशेष विस्तार के अलावा 'दीपवंस' के वर्णन से इसकी कुछ भी भिन्नता नहीं है। दूसरे परिच्छेद में भगवान् बुद्ध के पूर्वतम कुल-पुरुष महासम्मत का वंश-वर्णन है। यह भी 'दीपवंस' के आधार पर और उसके समान ही है। तीसरे, चौथे और पाँचवें परिच्छेदों में, क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय धर्म-संगीतियों का वर्णन है। इन वर्णनों में कोई उल्लेखनीय विभिन्नता नहीं है। चूँकि इनका विस्तृत विवरण हम दूसरे अध्याय में दे चुके हैं, अतः फिर 'महावंस' के आधार पर उसी वर्णन को दुहराना उपयुक्त न होगा। अन्य स्रोतों से जो कुछ भी अन्य विभिन्नताएँ यहाँ हैं, वे वहीं (द्वितीय अध्याय में) निर्दिष्ट कर दी गई हैं। 'महावंस' के छठे परिच्छेद में विजय के लङ्का-आगमन का तथा सातवें में उसके राज्याभिषेक का वर्णन है, जो भी 'दीपवंस' के इस सम्बन्धी वर्णन का विस्तृत और क्रम-बद्ध वर्णन ही है। आठवें, नवें और दसवें परिच्छेदों में विजय के वंशानुक्रम का वर्णन है, जिसमें अनेक राजाओं के नाम और शासन-काल आते हैं। ग्यारहवें अध्याय में देवानं पिय तिस्स के अभिषेक का वर्णन आता है। इसी समय बुद्ध-धर्म का प्रवेश लङ्का में होता है। 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' में विस्तार बहुत अधिक है और उसकी सूचना भी उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। 'महावंस' के वर्णनानुसार "देवानं पिय तिस्स और धम्मासोक (धर्माशोक-अशोक राजा) दोनों राजा एक दूसरे को न देखने पर भी चिरकाल से मित्र चले आ रहे थे।"[1] देवानं पिय तिस्स ने अपने राज्याभिषेक के समय अनेक नीलम, हीरे, लाल, मणि आदि की भेंट अशोक के पास भेजी। 'महावंस' के वर्णनानुसार "राजा (देवानंपिय तिस्स) ने अपने भानजे महारिट्ठ प्रधान मंत्री, पुरोहित, मन्त्री और गणक, इन चार व्यक्तियों को दूत बना, बहुमूल्य रत्नादि. . ... . . देकर सेना सहित वहाँ (पाटलि पुत्र) भेजा।"[2] इन दूतों के मार्ग का वर्णन भी महावंस में किया गया है "जम्बुकोल (लङ्का के उत्तर में सम्बलहुरि नामक स्थान से नाव

---

१. महावंस ११।१९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. महावंस ११।२०-२२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

पर चढ़कर सात दिन में वे बन्दरगाह पहुँचे। वहाँ से फिर एक सप्ताह में पाटलिपुत्र पहुँचे। वहाँ जाकर राजा को भेंट समर्पित की, जिसे देख कर वह प्रसन्न हुआ।"[१] अशोक राजा ने अन्य प्रभूत भेंट-सामग्री के साथ सद्धर्म की यह भेंट भी भेजी, "मैंने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की है और शाक्य-पुत्र के शासन में उपासक हुआ हूँ। हे नरोत्तम! आप भी आनन्दपूर्वकश्रद्धा केसाथ इन उत्तम रत्नों की शरण ग्रहण करें।"[२] तृतीय धर्म-संगीति के बाद देश-विदेश में बुद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने जो कार्य किया उसका वर्णन 'महावंस' के एक अलग परिच्छेद में ही किया गया है। बारहवें परिच्छेद का शीर्षक है 'नाना देश-प्रचार।' इस नाना देश-प्रचार की योजना के अन्तर्गत ही आगे चल कर तेरहवें परिच्छेद में महेन्द्र के लंका-आगमन का वर्णन है। 'नाना-देश-प्रचार' के वर्णन में हम पढ़ते हैं, "संगीति समाप्त कर के बुद्ध-धर्म के प्रकाशक स्थविर मौद्गलिपुत्र तिस्य (मोग्गलिपुत्त तिस्स) ने भविष्य को देखते हुए, प्रत्यन्त-देशों (पड़ौसी देशों) में (धर्म) शासन की स्थापना का विचार कर, कातिक मास में स्थविर मज्झन्तिक को काश्मीर और गन्धार को भेजा और महादेव स्थविर को महिष-मण्डल भेजा। रक्षित नामक स्थविर को वनवास (मैसूर का उत्तरी भाग) की ओर भेजा और यवन (ग्रीक) धर्मरक्षित को अपरान्त (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश) देश में भेजा। महाधर्मरक्षित स्थविर को महाराष्ट्र में तथा महारक्षित स्थविर को यवन देशों में भेजा। हिमालय-प्रदेश में मज्झिम स्थविर को भेजा और स्वर्णभूमि (बरमा) में सोण और उत्तर नामक दो स्थविरों को भेजा। अपने शिष्य महा महेन्द्र स्थविर तथा इट्टिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल——इन पाँच स्थविरों को यह कर लंका भेजा——तुम मनोज्ञ लंका-द्वीप में, मनोज्ञ बुद्ध-धर्म की स्थापना करो।"[३] इन सब भिक्षुओं के अलग अलग कार्य का वर्णन करने के बाद महेन्द्र के

---

१. महावंस ११।२३-२४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

२. महावंस ११।३४-३५; मूल इस प्रकार है——अहं बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो
उपासकत्तं वेदेसि साक्यपुत्तस्स सासने
त्वंपि मानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम,
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज

३. महावंस १२।१-८

लंका-गमन का वर्णन बड़े चमत्कृत और काव्य-मय ढंग से 'महावंस'-कारने किया है "अन्तिम शय्या पर सोये हुए लोक-हितैषी मुनि (बुद्ध) ने लंका के हित के लिये जिनके बारे में भविष्यवाणी की थी, वही लंका के लिए दूसरे बुद्ध, लकावासी देवताओं द्वारा पूजित, महेन्द्र, लका के हितार्थ वहाँ पधारे।"[१] चौदहवें अध्याय मे उनके नगर-प्रवेश का वर्णन है। राजा देवानपिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए स्थविर महेन्द्र उन्हे कहते हैं "महाराज! हम धर्मराज (बुद्ध) के अनुयायी भिक्षु है। आप पर ही अनुग्रह करने के लिए हम भारत (जम्बुद्वीप) से यहाँ (लका मे) आये है।"[२] पन्द्रहवे अध्याय से लेकर बीसवे अध्याय तक क्रमश: महाविहार-निर्माण, चैत्यपर्वत-विहार-प्रतिग्रहण, महाबोधि-ग्रहण, बोधि-आगमन, एव स्थविर-परिनिर्वाण आदि के वर्णन है, जो उस काल तक लका म बौद्ध धर्म की प्रगति के चरण-चिन्ह है। इक्कीसवे अध्याय मे देवानपिय तिस्स के बाद और दुट्ठगामणि से पहले आने वाले पाँच राजाओ का वर्णन है। बाईसवे परिच्छेद से लेकर बत्तीसवे परिच्छेद तक अर्थात् पूरे ग्यारह परिच्छेदो मे दुट्ठगामणि का इतिहास वर्णित है, जब कि 'दीपवंस' मे इस वर्णन को केवल १३ गाथाएँ दी गई है। दुट्ठगामणि ने किस प्रकार सैनिक बल का सग्रह कर द्रविडो का निष्कासन किया, यह हम पहले देख चुके है। युद्ध मे विजय प्राप्त करने के बाद उसने बौद्ध धर्म की सेवा भी की और 'लोह-प्रासाद' 'महा-प्रासाद' नामक अनेक विहार और स्तूप भी बनवाये। इस विजेता राजा को इस प्रकार बुद्ध-धर्म का उपासक दिखा कर उसे एक राष्ट्रीय नेता और महापुरुष के रूप मे 'महावस' मे चित्रित किया गया है और उसके आधार पर ग्यारह परिच्छेदों मे एक महाकाव्य की ही सृष्टि कर दी गई है। बाईसवें अध्याय से ३२वें अध्याय तक की विषय-सूची उसके इन विभिन्न क्रियाकलापों को अच्छी प्रकार दिखा सकती है। वह इस प्रकार है (२२) ग्रामणी कुमार का जन्म (२३) योद्धाओ की प्राप्ति (२४) दो भाइयों का युद्ध (२५) दुष्ट ग्रामणी की विजय (२६) मरिचवट्टि-विहार-पूजा (२७) लोह-प्रासाद-पूजा, (२८) महास्तूप की साधन-प्राप्ति, (२९)

१. महावंस १३।२१

२. महावंस १४।८; मूल पालि-पाठ इस प्रकार है—समणा मयं महाराज धम्मराजस्स सावका। तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता।

महास्तूप का आरम्भ (३०) धातुगर्भ की रचना, (३१) धातु-निधान और (३२) तुषितपुर-गमन। दुट्ठगामणि के जीवन का सब से बड़ा काम उसकी विजयों के बाद उसके द्वारा ९ मजिलो वाले लोह-प्रासाद तथा मरीच बट्टी और महास्तूप आदि विहारो और स्तूपो का बनवाना था। लोह-प्रासाद के पूर्ण होने के पहले ही उसे मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ और उसे निश्चय हो गया कि उसका अन्त काल समीप है। अपने छोटे भाई तिस्स को बुलवा कर स्तूप के बचे हुए काम को समाप्त करवाने का आदेश दिया, जिसे उसने पूरा किया। मृत्यु से पूर्व अशक्त होने पर भी इस श्रद्धालु राजा ने पालकी मे बैठ कर इस चैत्य की प्रदक्षिणा की और दक्षिण-द्वार पर आ कर बुद्ध-वन्दना की। "फिर भिक्षु-सघ से घिरे हुए राजा ने दाई करवट लेटे हुए उत्तम महास्तूप को और बाई करवट लेटे हुए उत्तम लोह-प्रासाद को देख कर चित्त प्रसन्न किया।"[1] मरण-शय्या पर पडा हुआ राजा अपने पूर्व के युद्ध के साथियो को सम्बोधित कर कहने लगा, "पहले मैने तुम दस योद्धाओ को साथ ले कर युद्ध किया था, अब मृत्यु के साथ अकेले ही युद्ध आरम्भ कर दिया। इस मृत्यु रूपी शत्रु को मै पराजित नही कर सका।"[2] शरीर छोडने से पहले दुट्ठगामणि ने अपने छोटे भाई तिस्स को आदेश दिया "हे तिस्स ! असमाप्त महास्तूप का शेष सब कृत्य आदरपूर्वक समाप्त करवाना। स्वय प्रातःकाल उस पर पुष्प चढाना। प्रति दिन तीन बार उसकी पूजा करना। बुद्ध-शासन के सत्कार-सम्बन्धी जो कृत्य मैने निश्चित किए है, उन सभी कृत्यो को हे तात ! तुम अविच्छिन्न रूप से चलाते रहना। सघ-सम्बन्धी कार्य मे हे तात ! कभी प्रमाद (आलस्य) न करना।"[3] धर्म-श्रवण करने के बाद, रथ पर खड़े होकर तीन बार महास्तूप की प्रदक्षिणा कर, स्तूप और सघ को प्रणाम कर, दुट्ठगामणि तुषित-लोक को गया। इस प्रकार दुट्ठगामणि की जीवन-गाथा को यहाँ एक पूरे राष्ट्र के आदर्शो से व्याप्त महाकाव्य-गत महत्ता और प्रभावशीलता दी गई है, यह उसकी उपर्युक्त शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। दुट्ठगामणि के बाद

---

१. महावंस ३२।२-३
२. महावंस ३२।१६-१७
३. महावंस ३२।५९-६२

उसके उत्तराधिकारी राजाओं की एक क्रमबद्ध लम्बी क्रमशः 'दश राजा' 'एकादश राजा' 'द्वादश राजा' 'त्रयोदश राजा' इस प्रकार क्रमशः तेतीसवे, चौंतीसवें, पेंतीसवें और छत्तीसवे परिच्छेदो मे दी हुई है, जब कि 'दीपवंस' में इस सम्बन्धी संक्षिप्त वर्णन ही उपलब्ध है । सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा तक (जहाँ तक ही मौलिक 'महावंस' की विषय-सीमा है) राजा महासेन के शासन-काल का वर्णन है । इस प्रकार 'दीपवंस' और 'महावंस' दोनो एक ही जगह से प्रारम्भ कर महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक आ कर लंका के इतिहास को समाप्त कर देते है। 'महावस' से कम से कम डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की रचना होने के कारण 'दीपवस' जब कि अपने स्रोतो अर्थात् सिंहली अट्ठकथाओं के अधिक समीप है, 'महावस' ने उसे विस्तृत काव्यात्मक स्वरूप प्रदान कर उसकी भाषा और शैली मे भी अधिक परिष्कार और व्यवस्थापन कर दिया है । दोनो के द्वारा वर्णित विषयों के विवरणो मे अद्भुत समानता होने हुए भी कही कुछ वंशावलियो के कालानुक्रमो मे अन्तर भी है, जिस पर हम अभी आयेंगे । 'महावस' को चाहे 'दीपवंस' की अर्थकथा या टीका स्वीकार किया जाय या नही, उसकी शैली अपनी एक मौलिक विशेषता रखती है, यद्यपि उसकी विषय-वस्तु अन्ततोगत्वा 'दीपवंस' पर ही आधारित है।

क्या 'दीपवस' और 'महावंस' इतिहास हैं ?

'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों ही इतने अतिरजनामय और अलौकिक वर्णनों से भरे हुए ग्रन्थ है कि उन्हें शब्दशः तो इतिहास नही माना जा सकता। पालि-त्रिपिटक से हम जानते हैं कि शास्ता मध्य-मंडल को छोड़कर शायद ही कही गये। किन्तु 'महावंस' में तथा उससे पूर्व 'दीपवंस' मे भी उनका तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो कल्पना-प्रसूत ही हो सकता है। विजय का उसी दिन लंका पहुँचना जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, यह भी वास्तविक घटना-श्रित नहीं दीखता। नाना चमत्कार-मय वर्णन जो 'दीपवस' और 'महावंस' में भरे पड़े हैं, उनकी तो कोई इयत्ता ही नही। महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओ का आकाश से उड़ कर लंका में पहुँचना, लोह-प्रासाद और महा-स्तूप के निर्माण के समय अनेक प्रकार के चमत्कारो का होना, आदि बातें निश्चित घटनापरक

ऐतिहासिक शैली को व्यक्त नही करती। यदि इन सब बातो को उचित अवकाश देकर 'दीपवस' और 'महावस' की मूल विषय-वस्तु का परीक्षण किया जाय तो वहाँ से हम निश्चय ही बहुत कुछ निश्चित इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। न केवल लका के धार्मिक और राजनैतिक इतिहास मे ही बल्कि भारतीय इतिहास की अनेक समस्याओ के सुलझाने में भी, विशेषत: उसके काल-क्रम की समस्या के सुलझाने में, इस प्रकार के अध्ययन से काफी सहायता मिल सकती है। चाहे 'दीपवस' और 'महावस' के अन्य विवरण कितने ही अधिक अतिरजनामय हों, कालानुक्रम के सम्बन्ध मे उनका प्रामाण्य और महत्त्व निर्विवाद है। उनकी इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करते हुए प्रो० रायस डेविड्स ने कहा है कि सिहल के इतिहास-ग्रन्थो की कालानुक्रमणिका इगलैण्ड और फ्रास के उन सर्वोत्तम ग्रन्थो की कालानुक्रमणिकाओ से भी, जो उन देशो मे बहुत शताब्दियो बाद तक लिखे गये, किसी भी प्रकार कम महत्त्व वाली नहीहं।[1] यद्यपि विजय से लेकर देवानपिय तिस्स तक की कालानुक्रमणिका के विषय मे तो उतना निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, किन्तु देवानपिय तिस्स और हर हालत मे दुट्ठगामणि से लेकर महासेन तक की कालानुक्रमणिका तो प्रामाणिक ही मानी जा सकती है। 'महावस' मे दी हुई इस पूरी कालानुक्रमणिका को हम यहाँ विस्तार-भय से उद्धृत नही कर सकते।[2] यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि चूंकि बुद्ध-परिनिर्वाण से काल-गणना कर यहाँ विभिन्न राजाओ के शासन-काल की गणना की गई है, अत: उससे न केवल बुद्ध के परिनिर्वाण अपितु अन्य अनेक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओ के तिथि-विनिश्चय में भी पर्याप्त सहायता मिली है। इस विषय का अधिक विवेचन करना तो यहाँ पूरे प्राचीन भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त समस्या मे ही प्रवेश करना होगा, जो हमारे प्रस्तुत प्रयोजन को देखते हुए अप्रासगिक

---

१. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४

२. 'महावंस' के आधार पर विजय से लेकर महासेन तक के लंका के ६१ राजाओं की तथा बिम्बिसार से लेकर अशोक तक के १३ भारतीय राजाओं की कालानुक्रमणिकाओं के उद्धरण के लिए देखिये महावंश (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ७-९ (भूमिका)

होगा। काल-क्रम के अलावा भारतीय इतिहास के लिए इन लंका के इतिहास-ग्रन्थों का और भी प्रभूत महत्त्व है। भारतीय इतिहास की अनेक घटनाओं का वे अद्भुत रूप से समर्थन करते हैं। उदाहरणतः अशोक के पहले के राजाओं यथा नन्दो, चन्द्रगुप्त (चन्दगुत्त) और बिम्बिसार के वर्णन, बिम्बिसार और अजातशत्रु के पारस्परिक सम्बन्ध और बुद्ध के साथ उनका समकालिक होना, भगवान् बुद्ध का बिम्बिसार से आयु में पाँच वर्ष बड़ा होना, चन्द्रगुप्त और उसके ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य (चणक्क) के विवरण, और सब से अधिक अशोक का बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अभिषिक्त होना, आदि तथ्य ऐसे है जो इन सिंहली इतिहास-ग्रन्थों ने भारतीय इतिहास के समर्थन स्वरूप दिये हैं। 'महावस' में वर्णित तृतीय बौद्ध सगति के सभापति मोग्गलिपुत्त तिस्स और उनके द्वारा देश-विदेश भेजे हुए मज्झिम (हिमवन्त-प्रदेश के धर्मोपदेशक) आदि धर्मोपदेशकों की बात सही है, इसे साँची स्तूप में प्राप्त धातु-डिब्बियों के ऊपर उत्कीर्ण लेखों से समर्थन प्राप्त होता है। वहाँ प्राप्त एक डिबिया पर लिखा हुआ है "सपुरिसस मज्झिमस" (सत्पुरुष मज्झिम का) और एक दूसरी पर लिखा है 'सपुरिसस मोगलिपतस' (सत्पुरुष मोग्गलिपुत्त का)। साँची-स्तूप की एक पाषाणवेष्ठनी पर उरुवेला से लका को बोधि-वृक्ष की टहनी ले जाये जाने का चित्र अंकित है। उससे भी 'महावस' में वर्णित महेन्द्र द्वारा धर्म-प्रचार के कार्य को ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त होता है। इसी प्रकार पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजों तथा चीनी यात्रियों के वर्णनों से अशोक तथा देवानपिय तिस्स का समकालिक होना भी प्रमाणित होता है। तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण भी जो 'महावंस' और 'दीपवस' में दिया हुआ है, तत्त्वतः ऐतिहासिक आधार पर ही आश्रित है। अतः इन इतिहास-ग्रन्थों के वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी समाश्रमणीय है,। विशेषतः उत्तरकालीन इतिहास के सम्बन्ध में तो इनका साक्ष्य अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है ही। 'महावंस' का विशेष महत्त्व तो लका के धार्मिक इतिहास के रूप में ही है। सर्व-प्रथम तो उपालि से लेकर महेन्द्र तक के विनय-धरों की जो कालानुक्रम-पूर्वक परम्परा यहाँ दी हुई है, वह लका और भारत दोनों देशों में बुद्ध-धर्म के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह परम्परा इस प्रकार है, (१) उपालि, (२) दासक, (३) सोणक, (४) सिग्गव, (५) मोग्गलिपुत्त तथा (६) महिन्द। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार

एक दूसरी परम्परा है,[१] जो उनके सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाणिक मानी जाती है। चूंकि भिन्न भिन्न सम्प्रदायो ने अपने अपने सम्प्रदायो के अनुसार इन परम्पराओ का उल्लेख किया है, अतः उनमे कम या अधिक प्रामाणिक होने का सवाल ही नहीं उठता। वे सब अपनी अपनी दृष्टि से प्रामाणिक हैं और आदिम स्रोत तो हर हालत में बुद्ध और उनके प्राथमिक शिष्य हैं ही। सिंहल के स्तूप, विहार और चैत्यो के तो बडे ही विस्तृत विवरण 'महावस' में उपलब्ध हैं। महाविहार, अभयगिरि विहार, थूपाराम, महामेघवण्णाराम, लोहपासाद आदि विहारो के वर्णन लका में बौद्ध धर्म के विकास पर बडा अच्छा प्रकाश डालते हैं और पुरातत्त्व के विद्यार्थी के लिए अध्ययन के अच्छे विषय हैं। इसी प्रकार धार्मिक उत्सवो के भी बडे चित्रमय वर्णन उपलब्ध हैं। सब से बडी बात तो भारत और सिंहल के शताब्दियो तक के पारस्परिक आदान-प्रदान का इन ग्रन्थो मे बडा सुन्दर चित्रण है। तत्कालीन भारतीय इतिहास और भूगोल मानो इन ग्रन्थो मे पुनरुज्जीवित हो उठता है। राजगृह, कौशाम्बी, वैशाली, उज्जयिनी, पुष्पपुर, नालन्दा आदि भारतीय सास्कृतिक केन्द्रों की स्मृति 'दीपवस' और 'महावंस' मे कितनी हरी-भरी है, यह उन्हे पढते ही देख बनता है। कपिलवस्तु, कुशावती, कुशीनारा, गिरिव्रज, जेतवन, मधुरा (मथुरा), उरुवेला, काशी, ऋषिपतन (इतिपतन), पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि बुद्ध-स्मृति से अंकित भारतीय नगरो, तथा इसी प्रकार अग, मगध, चम्पा, मल्ल, वेळुवन, इन्द्रप्रस्थ, भरुकच्छ, सुप्पारक, तक्षशिला, सागल (स्यालकोट), अवन्ती, मद्र, प्रयाग (पयाग) आदि स्थानों तथा उतने ही अधिक लंका-द्वीप के सांस्कृतिक केन्द्रो और स्थानो से, जो इन ग्रन्थो मे वर्णित है, तत्कालीन भूगोल का ही निर्माण किया जा सकता है। पालि साहित्य के इतिहास में भी इन ग्रन्थो का साक्ष्य त्रिपिटक की प्राचीनता सम्बन्धी उस परम्परा का समर्थन करता है जिसके दर्शन हम पहले अशोक के अभिलेखों और 'मिलिन्द पञ्ह' में करते हैं। इन दोनो ग्रन्थों में ही तीनों पिटकों, पाँचो निकाओं और उनके विभिन्न ग्रन्थों के नाम ले लेकर, उनके वर्गों, पञ्ञासको, संयुत्तों और वर्गों के पूरे ब्यौरे दे देकर

---

१. जिसके उद्धरण के लिए देखिये राहुल सांकृत्यायन : अभिधर्मकोश पृष्ठ ८ (भूमिका)

उद्धृत किया गया है। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि पालि त्रिपिटक इनके प्रणयन-काल में उसी नाम और वर्गीकरण में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।

चूलवंस[1]

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'महावंस' ३७वें परिच्छेद की ५० वी गाथा पर समाप्त हो जाता है और वह लका के इतिहास का महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक वर्णन करता है। उसके बाद का लका का क्रमबद्ध इतिहास भी इसी ग्रन्थ के परिवर्धित अंश के रूप मे बाद मे उसके साथ ही जोड दिया गया। यह जुड़ा हुआ अश अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अथवा यदि उसके आधुनिकतम रूप को भी उसी के साथ सयुक्त मानें तो ठीक १९३५ ई० तक लका के इतिहास का क्रम-बद्ध निरूपण करता है। 'महावस' के ३७ वे परिच्छेद की ५० वीं गाथा के बाद का यह परिवर्धित अश 'चूलवस' के नाम से प्रसिद्ध है। 'चूलवस' सन् ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल की अन्तिम साल) से लेकर ठीक आधुनिक काल तक (उसके आधुनिकतम विकसित रूप को सम्मिलित कर) लका के इतिहास का वर्णन करता है। यह रचना पाँच भिन्न भिन्न व्यक्तियो द्वारा भिन्न भिन्न कालो में हुई है, जिसका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है—

(१) सिहल प्रवासी स्थविर धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक बरमी भिक्षु ने, जो प्रसिद्ध सिहली राजा पराक्रमबाहु द्वितीय के समकालिक थे, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग मे सर्वप्रथम महानाम द्वारा ३७ वे परिच्छेद की ५० वी गाथा पर छोड़े हुए 'महावस' का परिवर्द्धन किया। सैंतीसवें अध्याय मे १९८ गाथाएँ जोड़ कर उसे 'सात राजा' शीर्षक दिया और फिर ७९ परिच्छेद तक ग्रन्थ-रचना की। राजा महासेन के पुत्र सिरि-मेघवण्ण (श्री मेघवर्ण) से इन्होने अपने विषय का प्रारम्भ किया और उसे पराक्रमबाहु प्रथम (१२४०-१२७५) के शासन-काल तक छोड़ा। इस बीच मे उन्होने ७८ राजाओं का कालानुक्रम-पूर्वक वर्णन किया, जो

---

१. रोमन लिपि में डा० गायगर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, १९३५; इस ग्रन्थ के सिंहली और बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं।

निश्चिततम इतिहास ही है। अकेले पराक्रमबाहु प्रथम का ही वर्णन इस भाग में १८ अध्यायो में किया गया है। पराक्रम-बाहु ने द्रविड़ो को हराया था और बौद्ध धर्म के स्तूपों, विहारो आदि के निर्माण के द्वारा बडी सेवा की थी। महानाम ने जिस प्रकार दुट्ठगामणि के वर्णन से एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना कर डाली है, उसी प्रकार यहाँ पराक्रमबाहु को एक महाकाव्योचित प्रभावशील वर्णन का विषय बनाया गया है।

(२) 'चूलवस' का द्वितीय परिवर्द्धन बुद्धरक्षित नामक भिक्षु ने किया। इन्होंने ८० वे परिच्छेद से लेकर ९० वे परिच्छेद तक रचना की। पराक्रमबाहु द्वितीय से आरम्भ कर इन्होने अपना विषय पराक्रमबाहु चतुर्थ पर छोडा। इस भाग में इन्होंने २३ राजाओ का वर्णन किया।

(३) 'चूलवस' का तृतीय परिवर्द्धन सुमंगल स्थविर ने किया। इन्होने ९१ वें परिच्छेद मे १०० परिच्छेद तक रचना की। भुवनेकबाहु तृतीय के काल से ले कर इन्होने अपने विषय को कीर्ति श्री राजसिह (कित्ति सिरिराजसीह) की मृत्यु (१७८५ ई०) तक छोड़ा। इस बीच में उन्होने २४ राजाओ का वर्णन किया। इसी अंश में हमें ईसाई धर्म प्रचारको के लका मे आने की सूचना भी मिलती है।

(४) 'चूलवस' का चौथा परिवर्द्धन सुमगलाचार्य तथा देवरक्षित ने किया। यह परिवर्द्धन केवल १०१ वे परिच्छेद के रूप मे लिखा गया। इसमें लंका के दो अन्तिम राजा सिरि राजाधिराज सीह (श्री राजाधिराज सिह) और सिरि विक्कम राज सीह (श्री विक्रमराज सिह) का वर्णन है, और लका के अग्रेजो के हाथ मे चले जाने की भी सूचना है। यह अंश १७८५ और १८१५ ई० के बीच के लका के इतिहास का वर्णन करता है।

(५) सन् १८१५ से १९३५ ई० तक का लंका का इतिहास सिंहली भिक्षु स्थविर यगिरल पञ्ञानन्द नायक पाद-द्वारा लिखा गया है। यदि चाहे तो इसे भी 'चूलवंस' का ही परिवर्द्धित स्वरूप कह सकते है, और चाहे तो अलग स्वतंत्र ग्रन्थ भी मान सकते है। प्रकाशित (१९३६) तो यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में ही हुआ है। सिंहल की आधुनिक पालि-रचना की प्रगति पर इस ग्रन्थ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

बुद्धघोसुप्पत्ति[1]

बुद्धघोसुप्पत्ति (बुद्धघोषोत्पत्ति) बुद्धघोष की जीवनी के रूप मे लिखी गई रचना है। इसके प्रणेता महामगल नामक सिहली भिक्षु थे, जो 'गन्धट्ठि' नामक (उपसर्गसम्बन्धी) व्याकरण-ग्रन्थ के भी रचयिता थे[2]। इनका काल चौदहवी शताब्दी है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' मे अलौकिक विधान इतना अधिक है कि उसका वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वांकन नही किया जा सकता। बुद्धघोष की बाल्या-वस्था और प्रारभिक शिक्षा तथा धर्म-परिवर्तन का वर्णन करने समय ऐसा मालूम पडता है मानो 'मिलिन्द पञ्ह' के नागसेन और रोहण तथा 'महावस' (परिच्छेद ५) के सिग्गव तथा मोग्गलपुत्त तिस्स सम्बन्धी प्रकरणो के नमूनों को ही रूपान्तर कर के रख दिया गया है।[3] यद्यपि लेखक ने बुद्धघोष के जन्म, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्म-परिवर्तन, ग्रन्थ-रचना आदि सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु ऐतिहासिक बुद्धि का उसने अधिक परिचय नही दिया है। बुद्धदत्त-कृत 'विनय-विनिच्छय' के अनुसार बुद्धदत्त ने बुद्धघोष-कृत विनय और अभिधम्म पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाओ को ही क्रमशः अपने 'विनय विनिच्छय' और 'अभिधम्मावतार' के रूप मे संक्षिप्त रूप दिया था। किन्तु 'बुद्धघोसुप्पत्ति' में बुद्धदत्त का प्रथम लका-गमन दिखा कर बुद्धघोष को अपना अपूर्ण काम पूरा करने का आदेश देते दिखाया गया है। निश्चय ही 'विनय विनिच्छय' का ही प्रमाण यहाँ दृढतर माना जा सकता है। इस प्रकार की एक-दो ऐतिहासिक भूलें 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के रचयिता ने और भी की है।[4] वास्तव मे बात यह है कि स्थविर

---

१. जेम्स ग्रे द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, लन्दन १८९२

२. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६, डे जॉयसा । केटेलाग , पृष्ठ २३; देखिये आगे दसवें अध्याय में व्याकरण-साहित्य का विवेचन भी।

३. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४४-४७; देखिये उन्हीं का 'हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर', जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५५९; मिलाइये जेम्स ग्रे द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित 'बुद्धघोसुप्पत्ति' की भूमिका भी।

४. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४३-४४।

महामंगल ने केवल अनुश्रुति के आधार पर चौदहवी शताब्दी मे इस रचना को ग्रथित किया था, अतः साक्षात् जीवन से प्राप्त मौलिकता या सच्चाई उनकी रचना मे नही आ सकती थी। 'महावस' के ३७ वे परिच्छेद के परिवर्द्धित सस्करण मे सिहल-प्रवासी बरमी भिक्षु धम्मकित्ति (१३ वी शताब्दी) ने भी यद्यपि बुद्धघोष से शताब्दियो बाद अपने वर्णन को ग्रथित किया था किन्तु उसकी प्रामाणिकता फिर भी 'बुद्धघोसुप्पत्ति' से अधिक है। 'महावस' (या ठीक कहे तो चूलवस) के इस प्रकरण की तुलना मे बुद्धघोसुप्पत्ति का वर्णन कम ऐतिहासिक मूल्य का ही मानना पडेगा। 'महावस' के उपर्युक्त विवरण का साक्ष्य स्वय बुद्धघोष और बुद्धदत्त आदि की अट्ठकथाओ के कतिपय वर्णनो मे मिल जाता है, जब कि बुद्धघोसुप्पत्ति के वर्णनो मे उनका कही कही विरोध भी है, जैसा एक उदाहरण मे हम ऊपर देख चुके है। अत ऐतिहासिक रूप मे वह उतना विश्वसनीय नही माना जा सकता। जो तथ्य उसके प्रामाणिक भी है, वे भी 'महावस' के वर्णन पर ही आधारित है, यह उनकी शैली मे ही स्पष्ट हो जाता है। स्वय लेखक ने भी स्वीकार किया है कि उसका वर्णन 'पूर्वाचार्यों' (पुब्बाचरिया) पर आधारित है। उत्तरकालीन वश-ग्रन्थो यथा गधवस,[1] सासन वस[2] तथा सद्धम्मसगह[3] मे भी बुद्धघोष की जीवनी के साथ साथ इस ग्रन्थ का भी उल्लेख हुआ है (विशेषत सासनवस मे)। ये सभी 'महावस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अश पर इतने आधारित है कि इनमे कोई नई बात ही ढूढना व्यर्थ है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' का दूसरा नाम 'महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु' (महाबुद्धघोषस्य निदानवस्तु) भी है।

सद्धम्मसंगह[4]

'सद्धम्मसगह' एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमे बुद्ध-शासन के सग्रह के साथ साथ प्रारम्भिक काल से लेकर १३ वी शताब्दी तक के भिक्षु-सघ के इतिहास का वर्णन है। दीघ, मज्झिम, सयुत्त, अंगुत्तर और खुदक-निकायो का निर्देश इस

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ६६
२. पृष्ठ ३० (मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९७)
३. जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९० में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ५५
४. सद्धानन्द द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९० में सम्पादित।

ग्रन्थ मे हुआ है। अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। तीन बौद्ध संगीतियो के वर्णन मे कोई नई बात यहाँ नही कही गई है। चुल्ल वग्ग (विनय-पिटक), बुद्धघोष की अट्ठ कथाओ और दीपवस, महावंस के आधार पर सकलित सामग्री का उपयोग कर के ही इन वर्णनों को ग्रथित कर लिया गया है। तृतीय संगीति के बाद धर्म-प्रचार कार्य का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ मे भी दिया गया है और दीपवस, महावंस तथा समन्तपासादिका के समान उन भिक्षुओ के नामों का उल्लेख भी किया गया है जिन्हे धर्म-प्रचार के लिए देश-विदेश मे भेजा गया था। इस प्रकार 'सद्धम्मसगह' के वर्णनानुसार थेर मज्झन्तिक काश्मीर और गन्धार को भेजे गए, महादेव थेर महिष मडल को भेजे गये, रक्खित थेर वनवासी-प्रदेश को, योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित थेर अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित थेर महारट्ठ (महाराष्ट्र) को, महारक्खित थेर योनक (यवनक-ग्रीस) प्रदेश को, मज्झिम थेर हिमालय-प्रदेश को, सोणक और उत्तर सुवण्णभूमि (सुवर्णभूमि–पेगू –बरमा) को, और महेन्द्र (महिन्द) तथा इत्थिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल भिक्षु लका को भेजे गये। यह वर्णन महावस के समान ही है। 'सद्धम्मसगह' मे कुल ४० अध्याय है। नवे अध्याय मे अनेक ग्रन्थो और उनके रचयिताओ का वर्णन है। 'सद्धम्मसगह' धम्मकित्ति महासामी (धर्मकीर्ति महास्वामी) नामक भिक्षु की रचना है, जिनका काल चौदहवी शताब्दी का उत्तर भाग है। बालावतार-व्याकरण को गन्धवंस मे वाचिस्सर की रचना बताया गया है, किन्तु एक अन्य परम्परा के अनुसार उसके भी रचयिता सद्धम्मसगह के रचयिता धम्मकित्ति महासामी नामक स्थविर ही है।

महाबोधिवंस[1]

'महाबोधि वंस' या 'बोधिवंस' अनुराधपुर में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा है। यह ग्रन्थ गद्य में है। लेखक ने बोधि-वृक्ष के इतिहास के रूप में बुद्ध-धर्म के

---

१. रोमन लिपि में एस० ए० स्ट्रांग द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८९१; इस ग्रन्थ का सिंहली संस्करण, इसके लेखक के नाम के भिक्षु (उपतिस्स) द्वारा सम्पादित किया गया है किया गया है कोलम्बो १८९१।

प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन किया है, जो निदान-कथा, दीपवंस, महावंस आदि प्राचीन स्रोतो पर आधारित है। बुद्ध दीपकर से प्रारम्भ कर, जैसा वश-ग्रन्थकारों ने अक्सर किया है, तीन बौद्ध संगीतियो का विवरण महेन्द्र का लंकागमन, महाविहार, चेतियगिरि विहार आदि का प्रतिग्रहण, इन सब बातो का विवरण इस ग्रन्थ मे भी किया गया है। 'महाबोधि वंस' के रचयिता सिहली भिक्षु उपतिस्स (उपतिष्य) थे, जिनका समय डा० गायगर के मतानुसार ग्यारहवी शताब्दी का मध्य भाग है।[१] एम० ए० स्ट्राँग ने इनका समय बुद्धकोष के समकालिक माना है,[२] जिसका प्रतिवाद डा० गायगर ने किया है।[३] वर्णन-शैली को देखते हुए 'महाबोधिवस' की समानता उत्तरकालीन वश-ग्रन्थो से ही अधिक दिखाई पडती है, अतः गायगर के मत को ठीक मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पडता है।

थूपवंस[४]

'थूपवस' सिहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचना है। इन वाचिस्सर के विषय मे हम आठवे अध्याय में काफी कह आये है। 'गन्धवंस' मे इस ग्रन्थ का तो उल्लेख है[५] किन्तु इसके लेखक का कोई नाम वहाँ नही दिया हुआ है। यह ग्रन्थ गद्य मे है। निदान-कथा, समन्त पासादिका, महावस तथा महावस-टीका आदि से यहाँ सामग्री संकलित की गई है। 'थूपवस' की रचना

---

१. दीपवंस एंड महावंस, पृष्ठ ७९ (कुमारस्वामी का अंग्रेजी अनुवाद); देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३७

२. देखिये उनके द्वारा सम्पादित 'महाबोधिवंस' की प्रस्तावना।

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज पृष्ठ ३७, पद-संकेत १।

४. इस ग्रन्थ का सम्पादन डा० लाहा ने किया है जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी ने सन् १९३५ में प्रकाशित किया है। सिंहली लिपि में यह ग्रन्थ धम्मरतन द्वारा सम्पादित है, कोलम्बो १८९६। डा० विमलाचरण लाहा ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है जो बिबलियोथेका इंडिका सीरीज (१९४५) में प्रकाशित हुआ है।

५. पृष्ठ ७०

१३ वी शताब्दी के आदिम भाग मे हुई थी। तेरहवी शताब्दी में ही इस ग्रन्थ का सिहली रूपान्तर भी किया गया था।[१]

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'थूपवंस' (स्तूपवंश) भगवान् बुद्ध की धातुओ पर स्मारक रूप मे निर्मित 'स्तूपो' का इतिहास है। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' मे ही हमने देखा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके शरीर के अवशिष्ट चिन्हो पर आठ बडे स्तूपो का निर्माण किया गया था। 'महावस' के विवरण मे भी हम देख चुके है कि किस प्रकार लका के राजा दुट्ठगामणि ने 'महा स्तूप' आदि कई विशाल स्तूपो का निर्माण किया था। बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर दुट्ठगामणि के समय तक निर्मित स्तूपो का क्रमबद्ध इतिहास वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है। बुद्ध-भक्ति से प्रेरित हो कर लका के अनेक राजाओ ने विशाल विहारो और स्तूपो का निर्माण कराया था, अत उसके इतिहास मे उनका भी एक विशेष महत्त्व है इसमे सन्देह नही। स्तूपो का वर्णन करना ही केवल एक मात्र विषय 'थूपवस' का नही है। उसने इसे आधार मान कर बौद्ध धर्म के पूरे इतिहास का ही वर्णन दुट्ठगामणि के समय तक कर दिया है। इस ग्रन्थ के तीन मुख्य भाग है। पहले भाग मे गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती २४ बुद्धो का वर्णन किया गया है। बोधिसत्वो की चर्या का यह वर्णन प्रसिद्ध दीपकर बुद्ध के समय मे प्रारम्भ किया गया है, जैसा कि प्राय. अन्य सब वंश-ग्रन्थो ने भी किया है। दूसरे भाग मे भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी है। जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध की जीवनी यहाँ बडी प्रभावशाली शैली मे वर्णित की गई है। तीसरे भाग मे, जिसे ग्रन्थ के 'शीर्षक' को देखते हुए उसका प्रधान अश ही कहा जा सकता है, भगवान् बुद्ध की धातुओ पर निर्मित स्तूपो का और उनके उत्तरकालीन इतिहास का

---

१. कहीं कहीं इस सिंहली रूपान्तर की, पालि 'थूपवंस' से अल्प विभिन्नता भी है। उदाहरणतः सिंहली 'थूपवंस' में 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' के उपदेश का विवरण है जब कि पालि 'थूपवंस' में केवल 'धम्मचक्कपवत्त-सुत्तो' कह कर उसका निर्देश कर दिया गया है। मौलिक रूप से दोनों समान हैं। देखिये 'महाबोधि' मई-जून १९४६, पृष्ठ ५७-६० में डा० विमलाचरण लाहा का 'थूपवंस' शीर्षक लेख।

वर्णन किया गया है,। जैसा अभी कहा जा चुका है 'थूपवंस' मे 'महावंस', 'समन्त-पासादिका', 'निदान-कथा' आदि की अपेक्षा नवीन कुछ नही है ।' देवानं पिय तिस्स के काल से लेकर दुट्ठगामणि के काल तक का वर्णन तो प्राय. शब्दश: 'महावंस' पर ही आधारित है। लेखक ने (स्तूपो के चारो ओर) व्यवस्थित कर उसे एक नया रूप अवश्य दे दिया है। उसकी विषय-वस्तु का कुछ संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित होगा ।

ग्रन्थ के आरम्भ मे लेखक ने बताया है कि पूर्ववर्ती पालि वर्णनो को पूर्णता देने के लिए ही उसने इस ग्रन्थ की रचना की है। उसके बाद उसने बताया है कि चार प्रकार के व्यक्ति स्तूपार्ह है, यथा तथागत, प्रत्येक बुद्ध (व्यक्तिगत रूप मे ज्ञानी, किन्तु लोको के उपदेष्टा नही) तथागत के शिष्य, और राज-चक्रवर्ती। जिस चैत्य मे इनमे से किसी के शरीर के अवशिष्ट चिन्ह रक्खे जाये वही 'स्तूप' (थूप) है। इसके बाद गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धो का विस्तृत वर्णन है। उनके सम्बन्ध मे जो स्तूप बनाये गये उनका भी वर्णन है। यह सब इतना पौराणिक है कि इसका वर्णन करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। ग्रन्थ के दूसरे भाग मे लेखक ने बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया है और तीसरे या अन्तिम भाग मे उनके शरीर चिन्हो के ऊपर निर्मित स्तूपो का। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके शरीर का दाह संस्कार-जिस प्रकार किया गया उसका यहाँ बिलकुल उसी प्रकार वर्णन है जैसा महापरिनिब्बाण-सुत्त मे। अत उसकी यहाँ पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नही। महापरिनिब्बाण-सुत्त के मूल आधार पर ही यहाँ बताया गया है कि भगवान् की धातुओं को बाँटने के लिए कुशीनारा के मल्लो, मगध के अजातशत्रु ,वैशाली के लिच्छवियो, कपिलवस्तु के शाक्यो, अल्लकप्प के बुलियो, रामगाम के कोलियो, वेठदीपक के एक ब्राह्मण और पावा के मल्लो आपस मे झगड़ा होने ही वाला था कि द्रोण नामक ब्राह्मण के सामयिक शब्दो (शास्ता शान्तिवादी थे, उनके धातुओ पर इस प्रकार का झगडा उचित नही) को मानकर उन्होंने उन्हे आठ भागो मे विभक्त कर लिया, जिन पर आठ महास्तूपो का निर्माण राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामगाम, वेठदीप, पावा और कुशीनारा, इन आठ स्थानो में किया गया । रामगाम के स्तूप मे निहित धातुएँ ही बाद मे सिंहल ले जाई गईं। इनका इतिहास इस प्रकार है। स्थविर

महाकाश्यप के आदेश पर मगधराज अजातशत्रु ने वैशाली, कपिलवस्तु, अल्ल-कप्प, वेठदीप, पावा और कुशीनारा से बुद्ध की धातुओं को इकट्ठा करवाकर उन्हे राजगृह की धातुओ के साथ ही राजगृह के दक्षिण-पूर्वी भाग में एक महा-स्तूप मे स्थापित किया। धर्मराज अशोक के समय मे इन्ही धातुओं के विभक्त अशो पर ८४ हजार चैत्यो का निर्माण हुआ। अशोक की राज्य-प्राप्ति, अभिषेक, धर्म-परिवर्तन आदि का भी उल्लेख यहाँ, महावंस' के वर्णन के अनुसार ही किया गया है। श्रामणेर न्यग्रोध से उपदेश ग्रहण कर सम्राट् अशोक ने ८४००० नगरों में ८४००० धर्म-स्कन्धो की स्मृति मे ८४००० विहारो का निर्माण करवाया। राज-गृह मे अजातशत्रु द्वारा पूर्व स्थापित धातुओ के विभक्त अशो पर ही इन ८४००० विहारो का निर्माण हुआ था, यह हम पहले कह ही चुके है। तृतीय बौद्ध सगीत के बाद स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा देश-विदेश मे नाना धर्मो-पदेशो का भिजवाना जना दिखाया गया है। भिक्षुओं के नामो की सूची तथा जिन-जिन प्रदेशों मे वे भेजे गये थे, 'महावम' से किसी भी प्रकार भिन्न नही है। हम पहले देख ही चुके है कि 'सद्धम्मसगह' और महाबोधिवस' जैसे ग्रन्थो की भी यही स्थिति है। 'दीपवस' महावंस' 'समन्त पासादिका' 'महावंस-टीका' आदि मे कही हुई बातों को ही यहाँ बार बार दुहराया गया है। स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स के आदेशानुसार थेर मज्झन्तिक काश्मीर और गान्धार को, थेर महादेव महिसक मंडल को, थेर रक्खित वनवासी-प्रदेश को, थेर योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र को, थेर महारक्खित योनक लोक को, थेर मज्झिम हिमवन्त प्रदेश को. थेर सोण और उत्तर सुवर्णभूमि को और थेर महिन्द (महेन्द्र), इत्तिय, उत्तिय और भद्दसाल तम्बपण्णिदीप (लङ्काद्वीप) को भेजे गये। दीपवस' और महावस' के समान 'थूपवंस' मे मे भी इस धर्म-प्रचार का श्रेय स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स को ही दिया गया है और इस प्रसङ्ग में अशोक के नाम का उल्लेख नही किया गया है। इसके विपरीत अशोक ने अपने दूसरे और तेरहवें शिलालेखों मे अपने द्वारा किये हुए धर्म-प्रचार-कार्य का उल्लेख किया है और वहाँ स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवतः भिक्षु-संघ और धम्म-राजा दोनों की ओर से ही स्वतन्त्र रूप से धर्म प्रचार का कार्य आरम्भ किया गया था। इस समस्या का विवेचन हम 'महावंस' का वर्णन करते समय कर

चुके हैं। किस प्रकार 'दीपवंस' 'महावंस' आदि के धर्म-प्रचार-कार्य का विवरण, जिसके आधार पर ही इन उत्तरकालीन-वंश-ग्रन्थों ने अपने वर्णन ग्रथित किये हैं, साँची और भारहुत के स्तूपों से समर्थित प्राप्त करता है, यहभी हम वहाँ दिखा चुके है। अशोक और उसके समकालीन लङ्काधिपति देवानंपियतिस्स के बीच पारस्परिक भेंटोंके आदान-प्रदानका वर्णन करनेके बाद 'थूपवस' मे महेन्द्रादि भिक्षुओं में धर्म-प्रचार कार्य का वर्णन किया गया है। देवान पिय तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसकी भतीजी अनुलादेवी को प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा हुई। इस विधि को सम्पन्न कराने के लिये सम्राट् अशोक की प्रव्रजित पुत्री संघमित्रा भारत से बुलाई गई। वह बोधिवृक्ष की डाली लेकर वहाँ पहुँची है। अनुला देवी की प्रव्रज्या के बाद देवान पिय तिस्स सम्पूर्ण लङ्का द्वीप (तम्बपण्णि दीप) में एक एक योजन के फासले पर स्तूपों का ताँता फैला दिया। इन स्तूपों में रखने के लिए तथागत के शरीर मे अवशिष्ट चिन्हों को उसने श्रामणेर सुमन को भेज कर अपने मित्र देव-प्रिय राजा अशोक से मँगाया जिसे उसने बुद्ध द्वारा प्रयुक्त भिक्षा पात्र में रखकर अपने कल्याणमित्र के पास आदर पूर्वक भेजा था। देवान पिय तिस्स के बाद दमिलो द्वारा लङ्का के सताये जाने का वर्णन है। यह वर्णन 'महावस' के समान ही है। लङ्का के इतिहासों-ग्रन्थोंमें इसकी निरन्तर पुनरावृत्ति इसकी सत्यता की सूचक हैं। राजा दुट्ठगामणि इन दमिलो को परास्त कर लङ्का को एक अभिन्न राजनैतिक और सास्कृतिक सूत्र मे बाँध दिया है। 'लङ्क-दीप एकछत्तमकासि'। लङ्का-द्वीप मे उसने एक छत्र राज्य की स्थापना की। जिस प्रकार 'महावस' के दुट्ठगामणि को एक राष्ट्रीय नेताके रूप मे चित्रित किया गया है, वही बात यहाँ भी पाई जाती हैं। दमिलो और उनके नेता एलार की दुट्ठ-गामणि के हाथ पराजय आदिके ऐतिहासिक वर्णनोके लिए इस ग्रन्थ का 'महावस' आदि की अपेक्षा भी अतिरिक्त महत्त्व है, इसमे सन्देह नही। राजा दुट्ठगामणि ने ९९ विहार बनवाये, जिनमे मरीचवट्टि, लोहाप्रासाद और महास्तूप बड़े निर्माण-कार्य थे। किस प्रकार महास्तूप पर छत्र चढ़ने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई और अपने छोटे भाई को उसे पूरा करने का आदेश दे कर, भिक्षु सघ को विहार को समर्पित कर तथा रोग-शय्या पर पड़े हुए ही स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा

कर , बुद्ध, धर्म और संघ की वन्दना करते हुए इस श्रद्धालु राजा ने तुषित-लोक मे गमन किया,यह हम 'महावंस' के वर्णन मे देख चुके है। उसी के समान यह यहाँ वर्णित है। महास्तूप का निर्माण दुट्ठगामणि ने बडे प्रयास और रुचि से करवाया था। उसके अन्दर भगवान् बुद्ध के जीवन सम्बन्धी अनेक चित्र यथा धर्म-चक्रप्रवर्तन महापरि-निर्वाण-प्राप्ति आदि दिखाये गये थे। महास्तूप मे रखने के लिये बुद्ध-शरीर के अवशिष्ट चिन्ह वही थे जिन्हे रामगाम के कोलियों ने अपने यहाँ स्थापित किया था और जो बाद मे लङ्का में लाये गये थे। दुट्ठगामणि द्वारा निर्मित स्तूपों के वर्णन के साथ ही 'थूपवंस' का वर्णन समाप्त हो जाता है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि लङ्का के धार्मिक इतिहास मे 'थूपवंस' का बड़ा महत्व है। आज खडहरों के रूप में भग्न या आधुनिक शहरों के नीचे विलीन प्रभूत पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री का वह परिचय देता है। लङ्का की बुद्ध-भक्ति का भी वह परिचायक है। भारत और लङ्का के मधुर, धर्म-निश्रित सम्बन्धो की भी वह याद दिलाता है। दमिलो द्वारा लङ्का पर किये गये आक्रमणो की याद दिला कर वह इस परिच्छेद को कुछ दुःखानुविद्ध भी करता है, भारतीय संस्कृति के अ-शोषक तत्व की कटु व्याख्या भी करता है। फिर भी मनुष्यों के लोभ ने जिसे नष्ट किया,क्षत विक्षत किया,धम्म ने उसे पुनरुज्जीवित किया,यह आश्वासन भी हमें यहाँ मिलता है। लङ्का के राजा और उनकी जनता आध्यात्मिक प्रेरणा के लिये सदा भारत की ओर देखते रहे। अनुलादेवी की प्रव्रज्या के लिये संघमित्रा बुलाई गई। बोधि-वृक्ष की डाल रोपी गई। तब से दोनो देश एक हो गये। भारत के देश-काल का, उसके गाधार, काश्मीर और महिष-मडल का, वनवासी, अपरान्तक, महाराष्ट्र और सुवर्ण भूमि का, उसके विदिशा,रामग्राम, पावा, राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु का, लङ्का के इस ग्रन्थ में निरन्तर स्मरण यही दिखाता है कि बुद्ध की स्मृति के साथ इस देश की स्मृति को भी लङ्कावासियों ने अपने इतिहास मे कभी भूला नही है।

अत्तनगलुविहार वंस

'अत्तनगलु विहार वंस' का दूसरा नाम 'हत्थवनगल्लविहारवंस' भी है।

सिंहली संस्करण में वह इसी नाम से छपा है। तेरहवी शताब्दी के मध्य भाग की यह गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें ११ अध्याय है और इसकी सबसे बडी विशेषता इसकी सरल, स्वाभाविक वर्णन-शैली है। प्रथम आठ परिच्छेदों मे लंकाधिपति सिरिसंबोधि (श्रीसबोधि) का वर्णन है। अन्तिम तीन परिच्छेदो में उन अनेक विहारो के निर्माण का वर्णन है, जो उपर्युक्त राजा के अन्तिम निवासस्थान पर बनाये गये थे। 'अत्तनगल्ल' या 'अत्तनगलु' नामक स्थान पर निर्मित विहार इनमें अधिक प्रसिद्ध होने के कारण, इसी के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'अत्तनगलुविहारवस' पड़ा है। सिंहली भिक्षु अनोमदस्सी के अनुरोध पर, जिन्हे पराक्रमबाहु द्वितीय (१२२९-१२४६ ई०) ने, महावस ८६-३७ के अनुसार, यह विहार समर्पित किया था, यह रचना लिखी गई थी।[1] इसके लेखक के नाम आदि का कुछ पता नही चलता।

दाठवंस[2]

'दाठावस' की रचना तेरहवी शताब्दी के आदि भाग मे सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य महास्थविर धर्मकीर्ति (धम्मकित्ति महाथेर) ने की।[3] यह भिक्षु सस्कृत, मागधी भाषा (पालि), तर्कशास्त्र, व्याकरण, काव्य और आगम आदि मे निष्णात थे। इनका छन्दो पर अगाध अधिकार था, यह 'दाठावस' मे प्रयुक्त नाना छन्दो से विदित होता है। 'दाठा-वस' बुद्ध के दाँत-धातु की कथा है। इसका दूसरा नाम 'दन्तधातुवस' भी है। 'दाठावस' की विषय-वस्तु बहुत कुछ 'थूपवंस' के समान ही है। उसके समान यहाँ यद्यपि गौतम बुद्ध के

---

१. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ ४४

२. रोमन लिपि में डा० रायस डेविड्स द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८४, में सम्पादित। देवनागरी लिपि में डा० बिमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनुवादित, पंजाब संस्कृत सीरीज १९२५। सिंहली लिपि में असमतिस्स द्वारा सम्पादित, कोलम्बिय १८८३।

३. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ६२।

पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन नही किया गया है, किन्तु अन्य वर्णन प्रायः समान ही है। 'थूपवस' में कथा का अन्त दुट्ठगामणि पर लाकर करदिया गया है जब कि 'दाठावंस' मे वह लकाधिपति कित्तिसिरि मेघवण्ण (कीर्ति श्री मेघवर्ण) तक चलती है। बुद्ध के दाँत के इतिहास के चारो ओर यहाँ बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास का वर्णन किया गया है, जैसे "थूपवंस" में स्तूपो की कथा के चारो ओर। कलिग के राजकुमार द्वारा लका मे बुद्ध के दाँतो का लाया जाना और वहाँ कीर्ति श्री मेघवर्ण द्वारा उनका आदर-पूर्वक ग्रहण करना तथा अनुराधपुर मे लका के राजा, भिक्षु सघ और उपासक जनता के द्वारा उसकी पूजा किया जाना आदि तथ्यों का वर्णन इस ग्रन्थ की मुख्य विषय-वस्तु है।

छकेसधातुवंस[१]

'छकेसधातुवस' १९ वी शताब्दी की रचना है। यह किसी बरमी भिक्षु की रचना है, जिसके नाम का पता नहीं। इसमेभगवान बुद्ध के छ केशों के ऊपर बनवाये हुए स्तूपो का वर्णन है। यह एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है और इसकी शैली सरल है।

गन्धवंस[२]

'गन्धवस' (ग्रन्थ-वश) उन्नीसवी शताब्दी मे बरमा मे लिखा गया। इतनी उत्तरकालीन रचना होते हुए भी इसी कोटि के अन्य वश-ग्रन्थो के समान इसका अल्प महत्व नही है। पालि-साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए तो यह एक बडा सहायक ग्रन्थ है। जैसा इसके नाम से विदित है, यह पालि-ग्रन्थो का इतिहास है। पालि ग्रन्थकारो और उनके ग्रन्थो का विवरण देना ही इसका मुख्य लक्ष्य है। पुस्तको और उनके रचयिताओ की सूची, रचना-स्थान और रचना के उद्देश्य यहाँ दिये गये है। पहले त्रिपिटक का विश्लेषण दिया गया है। फिर ग्रन्थकारो को तीन श्रेणियों मे

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८५ में मिनयेफ द्वारा सम्पादित।

२. मिनयेफ द्वारा रोमन लिपि में जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६ में सम्पादित।

विभक्त किया गया है जो कालानुक्रम-परक भी है, (१) पोराणाचरिय (२) अट्ठकथाचरिय और (३) गन्धकाचरिय। पोराणाचरिय (पुराणाचार्य) धर्म संगीतिकार प्राचीन भिक्षु थे जिन्होंने बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन किया। अट्ठकथाचरिय (अर्थकथाचार्य) वे भिक्षु थे जिन्होंने अत्यंत प्राचीन काल में पालि त्रिपिटक पर अट्ठकथाएँ लिखी। उसके बाद गन्धकाचरियो (ग्रन्थकाचार्यों) का समय आता है जिनमे पहले कुरुन्दी और महापच्चरी आदि सिंहली अट्ठकथाओं के लेखक और बाद मे बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धम्मपाल आदि आते है। जिन ग्रन्थो के लेखकों का पता नही है, उनकी भी सूची 'गन्धवंस' कार ने दी है। लेखको मे कौन से भारत-वासी थे, या कौन से लंका-वासी थे, किसने रचना अपनी प्रेरणा से की, या किसने दूसरों के अनुरोध से की, इस प्रकार का भी विवरण देकर रचनाओ के रचना-स्थान और रचनोद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। 'गन्धवंस' मे निर्दिष्ट ग्रन्थकारो और उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

ग्रन्थकार	रचित ग्रन्थ
१. महाकच्चायन—	(१) कच्चायनगन्धो, (२) महानिरुत्तिगन्धो (३) चुल्लनिरुत्ति गन्धो (४) नेत्तिगन्धो, (५) पेटकोपदेस-गन्धो, (६) वण्णनीतिगन्धो।
२. बुद्धघोस— (बुद्धघोष)	(१) विसुद्धिमग्गो, (२) सुमंगलविलासिनी, (३) पपंच सूदनी (४) सारत्थपकासिनी (५) मनोरथपूरणी, (६) समंतपासादिका, (७) परमत्थकथा (८) कंखावितरणी (९) धम्मपदट्ठकथा (१०) जात- कत्थवण्णना, (११) खुद्दकपाठट्ठ कथा (१२) अपादानट्ठकथा।
३. बुद्धदत्त—	(१) विनियविनिच्छयो (२) उत्तरविनिच्छयो, (३) अभिधम्मावतारो (४) मधुरत्थविलासिनी।
४. आनन्द—	मूलटीकं
५. धम्मपाल—	(१) नेत्तिपकरणट्ठ कथा (२) इतिवुत्तक-अट्ठकथा (३) उदानट्ठकथा (४) चरियापिटक-अट्ठकथा

(५)थेरगाथा-अट्ठकथा, (६) विमानवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अटठकथा (७) पेतवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा (८) परमत्थमजूसा (९) दीघनिकायट्ठकथादीन चतुन्न अट्ठकथानं लीनत्थपकासिनी नाम टीका (१०) जातक ट्ठकथाय लीनत्थपकासिनी नाम टीका, (११) परमत्थदीपनी (१२) लीनत्थवण्णना ।

विनय-गण्ठि ।

६. महावजिरबुद्धि—
(महावज्र बुद्धि)
७. विमलबुद्धि— मुखमत्तदीपनी ।
८. चुल्लवजिरो— अत्थव्याख्यान ।
९. दीपंकरो— (१) रूपसिद्धिपकरणं (२) रूपसिद्धिटीक (३) सम्मपञ्चसुत्त
१०. चुल्लधम्मपालो— सच्चसखेपं
११. कस्सपो— (१) मोह विच्छेदनी (२) विमतिच्छेदनी, (३) बुद्धवंस, (४) अनागतवस
१२. महानाम— (१) सद्धम्मपकासिनी (२) महावंस (३) चुल्लवस
१३ उपसेन— सद्धम्मट्ठिटीक ।
१४. मोग्गल्लान— मोग्गल्लान व्याकरणं ।
१५. संघरक्खित— सुबोधलङ्कार
१६. वुत्तोदयकार— (१) वुत्तोदय, (२) सबध-चिन्ता (३) नवटीकं ।
१७. धम्मसिरि— खुद्द-सिक्ख ।
(धर्मश्री)
१८. अनुरुद्ध— खुद्द सिक्खं ।
१९. अनुरुद्ध— (१) पमरमत्थविनिच्छयं (२) नाम-रूप-परिच्छेदं (३) अभिधम्मत्थसगहप्पकरणं
२०. खेम— खेमं

२१. सारिपुत्त— (१) सारत्थदीपनी (२) विनयसंगहपकरणं, (३) (३) सारत्थमंजूसं (४) पञ्चकं ।

२२. बुद्धनाग— विनयत्थमञ्जूसं ।

२३. नव मोग्गलान— अभिधानप्पदीपिक ।

२४. वाचिस्सरो— (१) संबन्धचिताटीका (२) मोग्गल्लान व्याकरणस-टीका (३) नामरूपपरिच्छेदटीका (४) पदरूप-विभावन (५) खेमप्पकरणस्स टीका (६) मूलसिक्खाय टीका (७) वुत्तोदयविवरण (८) सुमगलपसादनी (९) बालावतार (१०) योगविनिच्छयो (११) (११) सीमालकार (१२) रूपारूपविभाग (१२) पच्चयसगहो ।

२५. सुमगल— (१) अभिधम्मत्थविकासनी (२) अभिधम्मत्थ-विभावनी

२६ धम्मकित्ति— दन्तधातुपकरण ।

२७. मेघकरो— जिनचरित ।

२८ सद्धम्मसिरि— सद्दत्थभेदचिन्ता ।

२९. देवो— सुभणकूटवण्णना ।

३०. चुल्ल बुद्धघोसो— (१) जातत्तगीनिदान (२) सोतत्तगीनिदानं ।

३१. रट्ठपाल— मधुरसवाहिनी ।

३२. अग्गवस— सद्दनीतिपकरणं ।

३३ विमलबुद्धि महाटीकं ।

३४. उत्तम— (१) वालावतारटीकं (२) लिगत्थविवरणटीकं) ।

३५. क्यच्वामरञ्ञो— (१) सद्दबिन्दु (२) परमत्थबिन्दुपकरणं (राजा क्यच्वा—बरमी)

३६. सद्धम्मगुरु— सद्दवुत्तिपकासन ।

३७. अग्गपडित— लोकुप्पत्ति ।

३८. सद्धम्मजोतिपाल— (१) सीमालकारस्स टीका (२) मातिकत्थदीपनी (३) विनयसमुट्ठान दीपनी (४) गन्धसारो (५)

पट्ठानगणनानयो (६) संखेपवण्णना (७) सुत्त-निद्देसो (८) पातिमोक्खविसोधिनी ।

३९. नव विमलबुद्धि—अभिधम्मपण्णरसट्ठानं ।

४०. वेपुल्लबुद्धि (१)सद्दसारत्थ जालिनिया टीका (२) वुत्तोदयटीका, (३) परमत्थमंजूसा (४) दसगण्ठिवण्णना (५) मगधभूताविदग्ग, (६) विदधिमुखमंडनटीका

४१. अरियवस— (१) मणिसारमजूस, (२) मणिदीपं, (३) गण्ढाभरणं (४) महानिस्सर' (५) जातक विसोधनं

४२. चीवरो— जघदासस्स टीक ।

४३. नवमेधकरो— लोकदीपसार ।

४४. सारिपुत्तो— सद्दवुत्तिपकासनस्स टीक ।

४५. सद्धम्मगुरु— सद्धवुत्तिपकासनं

४६. धम्मसेनापति— (१) कारिक, (२) एतिमासमिदीपक (३) मनोहरं।

४७. ञाणसागरो— लिगत्थविवरणपकासन ।
(ज्ञानसागर)

४८. अभय— सद्दत्थभेदचित्ताय महाटीकं ।

४९. गुणसागरो— मुखमत्तसार तट्टीक ।

५०. सुभूतचन्दन— लिगत्थविवरणपकरण ।

५१. उदुम्बरनामाचरियो—पेटकोपदेसस्स टीकं ।

५२. उपतिस्साचरिय—अनागतवंसस्स अट्ठकथा ।

५३. बुद्धप्पिय— सारत्थसगहनाम गन्धो ।

५४. धम्मानन्दाचरिय—(१) कच्चायनसारो (२) कच्चायनभेदं (३) कच्चायनसारस्स टीका ।

५५. गन्धाचरियो— कुरुदिगन्ध ।

५६. नागिताचरिय—सद्दसारत्थजालिनी ।

उपर्युक्त ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थो के अलावा नीचे लिखे ग्रन्थ भी निर्दिष्ट हैं, जिनके ग्रन्थकारों के नाम आदि के विषय मे कुछ नही कहा गया ।

(१) महापच्चरियं (२) पुराणटीका (३) मूलसिक्खाटीका (४) लीनत्थपकासिनी (५) निसन्देहो (६) धम्मानुसारिणी (७) अेय्यासन्दति (८) अेय्यासन्दतिय टीका (९) सुमहावतारो (१०) लोकपञ्ञत्तिपकरण (११) तथागतुप्पत्तिप्पकरण (१२) नलातधातुवण्णना (१३) सीहलवत्थु (१४) धम्मदीपको (१५) पटिपत्ति सगहो (१६) विसुद्धिमग्गगन्धि (१७) अभिधम्मगन्धि (१८) नेत्तिपकरणगन्धि (१९) विसुद्धिमग्गचुल्लनवटीका (२०) सोतप्पमालिनी (२१) पसाद जननी (२२) सुबोधालकारस्स नवटीका (२३) गूळत्थटीक (२४) बालप्पबोधन (२५) सद्दत्थभेदचिन्ताय मज्झिमटीक (२६) कारिकाय टीक (२७) एतिमासमिदीपिकाय टीक (२८) दीपवस (२९) थूपवस तथा (३०) बोधिवस । उपर्युक्त ग्रन्थो और ग्रन्थकारो में से अधिकाश का विवेचन पिछले पृष्ठ मे किया जा चुका है और कुछ का आगे किया जायगा। निश्चय ही 'गन्धवस' की सूचीबद्ध सामग्री पालि-साहित्य के इतिहासकार के लिए बडी सहायक है ।

सासनवंस[1]

'सासनवस' (शासन-वश) भी 'गन्धवस' के समान महत्वपूर्ण रचना है । उसका प्रणयन उन्नीसवी शताब्दी मे बरमा मे हुआ । यह बरमी भिक्षु पञ्ञासामी (प्रज्ञास्वामी) की रचना है । प्राचीन पालि साहित्य पर आधारित होने के कारण इसका बडा महत्व है । 'सासनवस', जैसा उसके शीर्षक से स्पष्ट है, बुद्ध-शासन का इतिहास है । बुद्ध-काल से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक स्थविरवाद बौद्ध धर्म के विकास का इस ग्रन्थ मे वर्णन है । 'सासनवस' मे दस अध्याय है । विशेषत. छठा अध्याय अधिक महत्वपूर्ण है । इस अध्याय मे बरमा मे बौद्ध धर्म के विकास का वर्णन किया गया है । 'सासन वस' का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग यही है । वैसे इस ग्रन्थ मे बुद्ध की जीवनी तथा अजातशत्रु, कालाशोक और धर्माशोक के समय मे हुई तीन बौद्ध सगीतियो आदि का भी वर्णन है । तृतीय बौद्ध सगीति के बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा

---

१. मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट सोसायटी, लन्दन १८९७ ।

धर्मोपदेशकों को देश-विदेश में भेजने का भी विवरण यहाँ किया गया है। 'सासनवस' के वर्णनानुसार तृतीय सगीति के बाद सुवर्णभूमि (बरमा) में धर्मोपदेशकों के जाने से पहले भी स्वय मोग्गलिपुत्त तिस्स वहाँ धर्मोपदेश करने गये थे, जो उतना पूर्व परम्परा पर आधारित नही है। इसी प्रकार कुछ अन्य भी बाते उन्होंने बरमी बौद्ध सघ के गौरव को बढ़ाने वाली कही है, जो उतनी इतिहास पर आधारित नही है। बरमी राजा सिरि-महासीह सूरसुधम्मराजा (श्री महासिह शूर सुधर्मराज) के समय में भिक्षु-सघ मे हुए पारुपन (चीवर को दोनो कन्धो को ढँककर ओढ़ना) और एकंसिक (एक कन्धे को खोलकर रखते हुए चीवर को ओढना) सबधी विवाद हुआ जिसका निर्देश इस ग्रन्थ मे किया गया है। इसी प्रकार विहार-सीमा सबधी विवाद का उल्लेख किया गया है। सक्षेप मे, बरमी बौद्ध धर्म के विकास एव बरमी राजाओ और भिक्षु-सघ के पारस्परिक सबध आदि को जानने के लिए 'सासन-वस' का आज के विद्यार्थी के लिए भी प्रभूत महत्व है। बुद्ध-जीवनी और सगीतियो तथा अशोक के काल मे मोग्गलिपुत्त तिस्स के द्वारा किये गये धर्म-प्रचार आदि के विवरण के लिए वह दीपवस, महावस तथा समन्तपासादिका आदि पर आधारित है, इसमे सदेह नही। तृतीय संगीति के बाद जिन जिन देशो में भारतीय बौद्ध भिक्षु उपदेश करने के लिए भेजे गये, उनके विवरणो मे 'दीपवंस' और 'महावस' की अपेक्षा यहाँ कुछ विभिन्नता भी है। उदाहरणत अपरान्त राष्ट्र (अपरान्त-रट्ठ) को यहा इरावदी नदी का पच्छिमी भाग बतलाया गया है। उसी प्रकार महारट्ठ (महाराष्ट्र) को जहाँ स्थविर महाधर्मरक्षित उपदेशार्थ गये थे 'महानगर-राष्ट्र' (महानगर-रट्ठ) या स्याम बतलाया गया है। इसी प्रकार मज्झिम स्थविर को चीन-राष्ट्र में धर्म-प्रचार करते बतलाया गया है, जबकि 'दीप-वस' और 'महावस' के वर्णनानुसार वे 'हिमवन्त' प्रदेश के धम प्रचारक थे। इसी प्रकार कुछ अन्य भी विभिन्न वर्णन है,[१] जो उतने प्रामाणिक नही माने जा सकते। बरमी भिक्षु-सघ के इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है, इसमे सन्देह नही।

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५९२-५९३

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, अभिलेख आदि

पालि काव्य

पालि का काव्य-साहित्य उतना विस्तृत, प्रौढ और समृद्ध नही है, जितना संस्कृत का या बौद्ध सस्कृत साहित्य का भी। कालिदास या अश्वघोष की सी काव्य-परम्परा यहाँ नही मिलती। निश्चय ही यदि काव्य का अर्थ मानव-जीवन के व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभवों की, शब्द और अर्थ की निर्व्याज सुन्दरता के साथ (सात्य सव्यञ्जन) 'बहुजन हिताय' अभिव्यक्ति ही है, तब तो सम्पूर्ण 'तेपटिक बुद्ध-वचन' ही सर्वोत्तम काव्य है। यह भगवान् बुद्धदेव का वह शाश्वत और अनन्त सौन्दर्यमय काव्य है, जिसका जीवन मे साक्षात्कार कर लेने पर मनुष्य के लिये जरा और मरण ही नही रह जाते। 'देवस्य काव्य पश्यन् न जजार न मीयते।' जो पवित्र सौन्दर्य हिमगिरि मे नही है, जो निष्पापता उषा में नही है, जो गहनता महासमुद्र मे नही है, सक्षेप मे जो काव्यत्व विश्व मे अन्यत्र कही नही है, वह ज्ञानी (बुद्ध) के एक स्मित मे है, तथागत के एक ईर्यापथ मे है, सम्यक् सम्बुद्ध के एक शब्द मे है। पालि ने इस सब को ही तो प्रस्फुटित किया है। अत. वह काव्यत्व मे हीन है, ऐसा कौन कहेगा? जब हम पालि के काव्य-साहित्य का विवेचन करते है और उसे सस्कृत की अपेक्षा कम उन्नत कहते है, तो हमारा तात्पर्य त्रिपिटक-गत काव्य या काव्यत्व से नही होता, बल्कि काव्य-शिल्पियों की उन रचनाओ से होता है जो उन्होने बौद्ध विषयो को आधार मान कर पालि भाषा में की है। इस प्रकार की रचनाएँ प्रधानत. लङ्का और अंशत. बरमा में दसवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक और उसके बाद तक भी होती रही। इन रचनाओं की विषय-वस्तु त्रिपिटक से ही ली गई है। त्रिपिटक में प्राप्त नमूनों का ही कुछ संशोधन और परिवर्द्धन के साथ छन्दोबद्ध संस्करण

कर देना यहाँ कवियो का प्रधान व्यवसाय रहा है। वैसे तो पालि काव्य-ग्रन्थ है ही अल्प और जो है भी उनमे भी किसी महनीय काव्य-परम्परा का प्रवर्तन नही मिलता। सब से बढकर तो कला के उस सृजनात्मक सौन्दर्य एवं कल्पना के दर्शन यहाँ नही होते जो किसी साहित्य को विशेषता प्रदान किया करता है। सम्भवत यह इस कारण भी हो कि कल्पनात्मक मनोरागो के प्रदर्शन को स्थविरवादी बौद्ध परम्परा ने आरम्भ से ही अपनी साधना का अग नहीं बनाया है। इतना ही नही, उसने इसे हेयता की दृष्टि से भी देखा है। इसलिये काव्य-प्रतिभा को वहाँ इतना प्रोत्साहन नही मिल सका है। भाषा की दृष्टि से भी पालि के इस काव्य-साहित्य का अधिक महत्त्व नही है। पालि साहित्य की प्राचीन मौलिकता के स्थान पर वह साहित्य सस्कृतापेक्षी अधिक हो गया है। अत. पालि साहित्य के इतिहास मे उसके काव्य-साहित्य का विवेचन एक गौण स्थान का ही अधिकारी हो सकता है।

काव्य-ग्रन्थ

विषय की दृष्टि से पालि काव्य-ग्रन्थ दो भागो मे विभक्त किये जा सकते है, (१) वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ, (२) काव्य-आख्यान। यह भेद सिर्फ विषय के बाह्य स्वरूप का है। मुख्य प्रवृत्ति और शैली तो सब जगह एक सी ही है— नैतिक आदर्शवाद और नीरस इतिवृत्तात्मक शैली। हाँ, कही कही रसात्मकता के भी पर्याप्त दर्शन होते है। मुख्य वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ ये है (१) अनागतवंस (२) तेलकटाहगाथा (३) जिनालङ्कार (४) जिनचरित (५) पज्जमधु (६) सद्धम्मोपायन (७) पञ्चगतिदीपन और (८) लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार। प्रधान काव्य आख्यान, जिनमे कुछ गद्य मे भी है, ये है (१) रसवाहिनी (२) बुद्धालङ्कार (३) सहस्सवत्थुप्पकरण, और (४) राजाधिराजविलासिनी। इनका कुछ सक्षिप्त परिचयात्मक विवरण देना यहां आवश्यक हो गया।

अनागतवंस[1]

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'अनागत वस' भविष्य (अनागत) में उत्पन्न

---

१. मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में रोमन अक्षरों में सम्पादित।

होने वाले भगवान् बुद्ध मैत्रेय के जीवन-इतिहास (वस) के रूप में लिखा गया है। 'अनागत वंस' का वास्तविक स्वरूप अभी बहुत कुछ अनिश्चित है। बरमी हस्तलिखित प्रतियो मे उसके तीन रूप मिलते है, (१) गद्य-पद्य-मिश्रित रूप जो सुत्तो की शैली मे लिखा गया है। इसका विषय बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करना नही है। बल्कि यह भविष्य मे सघ पर आने वाले भयो का वर्णन करता है। बुद्ध और सारिपुत्र के सवाद के रूप मे यह ग्रन्थ लिखा गया है। साथ ही इसके अन्त मे उन दस भावी बुद्धों के नाम भी दिये हुए है, जो भविष्य मे क्रमश. बोधि प्राप्त करेगे।[1] डा० विमलाचरण लाहा का यह कहना कि 'अनागतवस' का यह सस्करण पालि-त्रिपिटक के अनागत-भय सूत्रो और उन सूत्रो, जिनमे दस भावी बुद्धो का निर्देश हुआ है, के पूरक रूप मे लिखा गया है,[2] ठीक मालूम पड़ता है। (२) गद्य-मय रूप, जिसमे दस अध्याय है और जिसका विषय दस भावी बुद्धो की जीवनी का वर्णन करना है। (३) पद्य-मय रूप, जो १४२ गाथाओ मे केवल बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करता है। यह सस्करण भी भगवान् बुद्ध और उनके शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के सवाद के रूप मे लिखा गया है। भगवान् बुद्ध भावी बुद्ध मैत्रेय के विषय मे भविष्यवाणी करते दिखाये गये है। 'अनागतवस' का यह सस्करण ही उसका प्रामाणिक और वास्तविक रूप माना जाता है। अपने इस रूप मे 'अनागत वस' 'बुद्धवस' का परिवर्द्धित और पूरक रूप माना जा सकता है। 'बुद्धवस' पूर्व के चौबीस बुद्धो का वर्णन करता है। पच्चीसवे बुद्ध अर्थात् गोतम बुद्ध की जीवन-गाथा के साथ ही वहाँ वर्णन समाप्त कर दिया गया है। अतः स्वाभाविक रूप से 'अनागतवस' जो छब्बीसवे बुद्ध, बुद्ध मैत्रेय, की जीवन-गाथा को अपना विषय बनाता है, 'बुद्धवस' की कथावस्तु

---

१. मेत्तेय्यो उत्तमो रामो पसेनदि कोसलोभिभू।
   दीघसोणि च संकच्चो सुभो तोदेय्य ब्राह्मणो॥
   नालागिरिपलेलेय्यो बोधिसत्ता इमे दस।
   अनुक्कमेण सम्बोधिं पापुणिस्सन्तिनागतेति॥
   जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ३७
२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१२

को पूर्णता देने की दृष्टि से ही लिखा गया जान पड़ता है। दोनों की शैली में भी पर्याप्त समानता है।[1] दीघ-निकाय के चक्कवत्ति सीहनाद-सुत्त (३।३) में भी बुद्ध मैत्रेय के भावी आविर्भाव के विषयमे उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जब भगवान् बुद्ध मैत्रेय उत्पन्न होगे तो मनुष्य ८०,००० वर्ष की आयु मे तरुण हुआ करेंगे और कुमारियाँ ५०० वर्ष की आयु मे विवाह-योग्य हुआ करेंगी। 'अनागतवस' के भी वर्णनो की यही बानगी समझी जा सकती है। बुद्ध मैत्रेय जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) मे केतुमती नामक नगरी मे ब्राह्मण-वश में उत्पन्न होगे। उनकी माता का नाम ब्रह्मवत्ती और पिता का नाम सुब्रह्मा होगा। उनका आरम्भ का नाम अजित होगा। वे बडे समृद्धशाली होगे। ८००० वर्ष तक गृहस्थ-सुख का उपभोग करेंगे। उसके बाद प्रव्रज्या लेंगे। बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन-वृत्त के आधार पर ही ये अतिशयोक्तिमय वर्णन गढ लिये गये है, जिनमे काव्यत्व या विचार की अपेक्षा हम बौद्ध पौराणिकवाद के ही अधिक दर्शन करते है।

'अनागतवस' की रचना कब और किसके द्वारा हुई, इसके विषय मे निश्चित नही है। रायसडेविड्स ने इस ग्रन्थ को बहुत प्राचीन माना है—यहाँ तक कि बुद्धघोष से भी प्राचीन। इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि 'विसुद्धिमग्ग' मे बुद्धघोष ने बुद्ध मैत्रेय का वर्णन करते हुए उनके माता-पिता के विषय मे कहा है "सुब्रह्मा नामस्स ब्राह्मणो पिता भविस्सति, ब्रह्मवती नाम ब्राह्मणी मातात्ति"।[2] 'अनागतवस' मे भी बिलकुल इन्ही शब्दो मे बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता का वर्णन मिलता है।[3] अतः रायस डेविड्स ने बुद्धघोष के शब्दो को 'अनागतवस' से उद्धरण मानकर 'अनागतवस' को प्राक्-बुद्धघोषकालीन ठहराया है।[4] विन्टर-

---

१. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये लाहा हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१३

२. विसुद्धिमग्ग १३।१२७ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण), देखिये अट्ठसालिनी पृष्ठ ४१५ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण।

३. पृष्ठ ९६ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)

४. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ ७६१, ७६४ (रायस डेविड्स का संस्करण)

निरुज ने यह स्वीकार नही किया कि बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्द 'अनागतवंस' मे ही उद्धृत किये गये हैं ।[१] अतः उनको 'अनागतवंस' की इतनी प्राचीनता मान्य नही है । चूकि बुद्धघोष ने अपने उपर्युक्त शब्दों में केवल बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता के नाम का ही उल्लेख किया है, अतः यह कोई इतना विशेषतापूर्ण सैद्धान्तिक या अन्य दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य नही है कि बुद्धघोष जैसे आचार्य को 'अनागत-वस' से इसका उद्धरण देने की आवश्यकता पडती । यह तो बौद्ध परम्परा की एक अति सामान्य मान्यता थी जो 'अनागतवस' के रचयिता के समान बुद्धघोष को भी मालूम हो सकती थी, फिर कालानुक्रम से कोई किसी का पूर्ववर्ती क्यो न रहा हो, शब्द-साम्य इस सम्बन्ध मे अधिक महत्वपूर्ण नही माना जा सकता । अतः हम बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्दो को 'अनागतवस' से उद्धरण मानने को बाध्य नही । 'गन्धवस' मे 'अनागतवस' के रचयिता का नाम कस्सप (काश्यप) कहा गया है ।[२] 'गन्धवस' के वर्णन के अनुसार 'अनागतवस' पर एक अट्ठकथा भी लिखी गई, जिसके लेखक उपतिस्स (उपतिष्य) नामक भिक्षु थे । चूकि कस्सप और उप-तिस्स नाम के अनेक भिक्षु अनेक समयो मे लंका और बरमा मे हो गये है, अत. निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि कौन से कस्सप और उपतिस्स क्रमश 'अनागतवस' के रचयिता और अट्ठकथाकार है । ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे यही जानना पर्याप्त है कि डा० गायगर ने 'अनागतवंस' के रचयिता कस्सप और 'मोहविच्छेदनी' और 'विमतिच्छेदनी' नामक ग्रन्थो के रचयिता कस्सप को एक ही व्यक्ति माना है ।[३]

तेलकटाहगाथा[४]

९८ गाथाओ मे लिखी हुई एक परिष्कृत, प्रौढ और रमणीय काव्य-रचना है । 'तेलकटाहगाथा' का अर्थ है (खौलते हुए) तेल की कढाई मे लिखी हुई गाथाएँ

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२१, पद-संकेत १ ।

२. पृष्ठ ६१, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण)

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ३६

४. ई० आर० गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८४ में रोमन

(पालि इलोक) । ये गाथाएँ बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कल्याणिय नामक भिक्षु के द्वारा लिखी गई थी। अनुश्रुति है कि कल्याणी (पेगू-बरमा) के राजा तिष्य (ई० पू० ३०६—ई० पू० २०७) ने उपर्युक्त भिक्षु को अपनी रानी के साथ किसी षड्यन्त्र मे सम्मिलित होने के सन्देह मे बन्दी बना लिया था और खौलते हुए तेल की कढ़ाई मे डाल देने की आज्ञा दी थी।[१] भिक्षु निरपराध थे, किन्तु यह असह्य दुःख उन्हे सहना ही पडा। खौलते हुए तेल की कढ़ाई मे ही उनकी मृत्यु हो गई। किन्तु मृत्यु से पूर्व उन्होने बुद्ध-शासन का चिन्तन किया और ९८ गाथाओ को गाया। ये गाथाएँ क्या है, ससार की अनित्यता, जीवन की असारता और वैराग्य की महत्ता पर गम्भीर प्रवचन है। उपर्युक्त अनुश्रुति मे सत्याश कितना है, यह कह सकना कठिन है। हाँ, स्वय 'तेलकटाहगाथा' मे इसका कोई उल्लेख नही है। किन्तु 'महावस' मे इस कथा का निर्देश मिलता है।[२] बाद मे 'रसवाहिनी' मे भी इस कथा का सविस्तर वर्णन किया गया है।[३] सिहली ग्रन्थ 'सद्धम्मालकार' मे भी इस कथा का वर्णन मिलता है।[४] सिहली साहित्य मे यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी सत्यता पर सन्देह करना कठिन हो जाता है। फिर भी 'तेलकटाहगाथा' की मार्मिक गाथाओ को पढ जाने के बाद और कही भी उनमे उपर्युक्त घटना का निर्देश न पाने पर यही लगने लगता है कि यहाँ भिक्षुकल्याणिय ने खौलते हुए तेल वाली किसी विशेष कढ़ाई से उत्तप्त होकर ही नही बल्कि इस 'महामोहमय' ससार रूपी उस खौलती हुई कढ़ाई से व्यथित होकर ही अपने

अक्षरों में सम्पादित। इस ग्रन्थ का मूल पालि-सहित हिन्दी-अनुवाद त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने किया है, जो सन् १९४८ में पुस्तकाकार रूप में महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित हो चुका है।

१. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १६२।

२. २२।१२-१३ (गायगर का संस्करण)

३. २।५७ (सिंहली संस्करण)

४. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ ४९; देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४६, पद-संकेत ४ भी।

अन्तर्मन को इन गाथाओं में प्रवाहित किया है, जिसके विषय में महाभारतकार ने कहा है—

> अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन,
> मासर्तु दर्वीपरिघट्टनेन भूतानि काल. पचतीति वार्ता ।

'तेलकटाहगाथा' शतक-काव्य की शैली पर लिखी गई रचना है । अत· उसमे नैतिक ध्वनि प्रधान है । फिर भी काव्यमयता का उसमे अभाव नही है । वह एक सुन्दर रचना है जो बुद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तो को एक भावनामय भिक्षु की पूरी तन्मयता और मार्मिकता के साथ उपस्थित करती है । ९८ गाथाएँ ९ वर्गो या भागो मे विभक्त है, जिनके नाम है, (१) रतनत्तय (तीन रत्न—बुद्ध, धर्म, मघ) (२) मरणानुस्सति (मरण की अनुस्मृति) (३) अनित्यलक्खण (अनित्यता का लक्षण) (४) दुक्खलक्खण (५) अनत्त लक्खण (अनात्म का लक्षण (६) असुभं लक्खण (७) दुच्चरित-आदीनवा (दुराचार के दुष्परिणाम (८) चतुरारक्षा (चार आरक्षाएँ) (९) पटिच्च समुप्पाद (प्रतीत्य समुत्पाद) इस विषय-सूची से यह देखा जा सकता है कि बुद्ध-धर्म के सभी महत्वपूर्ण विषय इन गाथाओ मे आ गये है । किन्तु सब से बडी बात तो ग्रन्थकार की अपने विषय के साथ तल्लीनता है, जिसके दर्शन प्रत्येक गाथा मे होते है । अनात्म-सज्ञा पर यह उक्ति देखिये—

> पोसो यथा हि कदलीसु विनिब्भुजन्तो,
> सार तदप्पमपि नोपलभेय्य काम ।
> खन्धेसु पञ्चसु छळायतनेसु तेसु,
> सुञ्जसु किञ्चिदपि नोपलभेय्य सार ।। गाथा ६०

(जिस प्रकार केले के तने को उधेड़ते हुए मनुष्य उसमे कुछ भी सार न पाये, उसी प्रकार इन शून्य पंचस्कन्धों और छः आयतनों मे भी कुछ सार नही है)

प्रतिकूल-मनसिकार (गीता के शब्दो मे 'दु.खदोषानुदर्शन') पर,

> गड्डूपमे विविधरोगनिवासभूते,
> काये सदा रुधिरमुत्तकरीसपुण्णे ।

यो एत्थ नन्दति नरो ससिगालभक्खे ,

काम हि सोचति परत्थ स बालबुद्धि ।।गाथा ६९

(जो मूर्ख आदमी फोडे के समान, विविध बीमारियो के घर, खून, पेशाब और पाखाना से भरे हुए, गीदड़ो के भक्ष्य, इस शरीर को देखकर आनन्दित होता है, वह अवश्य ही यहाँ से जाकर परलोक मे दुःख पाता है)

उपर्युक्त गाथाएँ 'तेलकटाहगाथा' की काव्य-गत सुन्दरता का परिचय देने मे अल है। प्रथम बार पढ़ने पर ही उनमें भर्तृहरि के वैराग्य-सम्बन्धी पदो का सा निर्वेद प्रकाशित होने लगता है। भाषा और शैली की दृष्टि से इस तीसरी गाथा को देखिये—

सोपानमाल अमल तिदसालयस्स
ससारसागरसमुत्तरणाय सेतु ।
सब्बागतीभय विवज्जितखेममग्ग,
धम्म नमस्सथ सदा मुनिना पणीत ।।

मुनि (बुद्ध) द्वारा प्रणीत उस धर्म की वन्दना करो, जो स्वर्ग की विमल सीढ़ी के समान है, जो ससाररूपी सागर को तरने के लिये पुल के समान है और जो सम्पूर्ण आपत्तियो और भयो से रहित एवं कल्याण का मार्ग है।

'सोपानमाल अमल' एव 'ससारसागरसमुत्तरणाय' जैसे पदो मे अनुप्रास की छटा तो देखने ही योग्य है, 'सब्बागतीभयविवज्जितखेममग्ग धम्म नमस्सथ सदा मुनिना पणीत' तो बिलकुल सस्कृत श्लोक का अश सा ही जान पडता है। सस्कृत का यह बढ़ता हुआ प्रभाव 'तेलकटाहगाथा' की आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक है। विटरनित्ज़ ने कहा है कि यह ग्रन्थ बारहवी शताब्दी ईसवी से पूर्व की रचना नही हो सकता।[1] कम से कम ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचना तो 'तेल कटाहगाथा' मानी ही नही जा सकती। फिर भी भाषा और शैली का साक्ष्य

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गायगर ने इस ग्रंथ का वास्तविक रचना-काल अज्ञात मानते हुए तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की रचनाओं में इसका उल्लेख किया है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४६

किसी भी अवस्था में इतना दृढ़ और अन्तिम नहीं हुआ करता कि उसके आधार पर हम किसी ग्रन्थ की तिथि असंदिग्ध रूप से निश्चित कर सकें। अतः विंटरनित्ज़ द्वारा निश्चित बारहवी शताब्दी ईसवी भी 'तेलकटाहगाथा' की प्रामाणिक रचना-तिथि नही मानी जा सकती। विंटरनित्ज़ की स्थापना केवल अनुमान पर आश्रित है। जब तक कोई और महत्वपूर्ण वाह्य साक्ष्य न मिले, 'तेलकटाहगाथा' के रचयिता और रचना-काल का सुनिश्चित ज्ञान हमारे लिये अज्ञात ही रहेगा।

जिनालङ्कार[1]

पालि काव्य-साहित्य की उसी कोटि की रचना है जिस कोटि के संस्कृत मे किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध जैसे महाकाव्य है। काव्य-चमत्कार की प्रवृत्ति यहाँ बहुत अधिक उपलक्षित होती है और शैली मे भी पर्याप्त कृत्रिमता है। 'जिनालकार' की रचना बारहवी शताब्दी में बुद्धरक्षित (बुद्धरक्खित) नामक भिक्षु के द्वारा हुई। ग्रन्थ का विषय ज्ञान-प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन करना है। ग्रन्थ के अन्त मे लेखक ने उसका रचना-काल बुद्ध-परिनिर्वाण से १७०० वर्ष बाद दिया है।[2] इसका अर्थ यह है कि इसकी रचना ११५६ ई० मे हुई। यह तिथि विद्वानो को मान्य है। उत्तरकालीन सस्कृत काव्यो की शैली का इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। एक पद्य मे सिर्फ 'न्' व्यजन का ही प्रयोग किया गया है। यह प्रवृत्ति किरातार्जुनीय जैसे सस्कृत-काव्यो मे भी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के चमत्कारमय प्रयत्न चाहे भाषा सम्बन्धी विद्वत्ता के परिणाम भले ही हो, किन्तु सस्कृत काव्य-विवेचको ने उन्हें 'अधम काव्य' ही माना है। यही बात हम 'जिनालकार की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे भी कह सकते है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे २५० गाथाएँ है। ग्रन्थ की मुख्य विशेषता उसकी कृत्रिम शैली, पौराणिक अतिरजनामयी वर्णन-प्रणाली

---

१. जेम्स ग्रे द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित रोमन लिपि में सम्पादित (लन्दन १८९४)। सिंहली लिपि में इस ग्रन्थ का दीपंकर और धम्मपाल का उत्कृष्ट संस्करण (गॉले, १९००) उपलब्ध है।

२. पृष्ठ २७१ (ग्रे का संस्करण); देखिये गन्धवंस, पृष्ठ ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित); सद्धम्मसंगह ९।२१ (सद्धानन्द द्वारा सम्पादित)

एवं विद्वत्ता -प्रदर्शक प्रवृत्ति ही है। महायानी प्रभाव भी कहीं कहीं उपलक्षित है। बुद्धरक्षित ने अपने इस ग्रन्थ पर एक टीका भी लिखी थी। 'जिनालंकार' नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी है, जिसकी रचना प्रसिद्ध अट्ठकथाकार बुद्धदत्त (चौथी शताब्दी ईसवी) ने की थी। प्रस्तुत 'जिनालकार' से वह भिन्न है। 'गन्धवस' के वर्णनानुसार बुद्धदत्त द्वारा लिखित 'जिनालकार' पर बुद्धरक्षित ने एक टीका भी लिखी थी।[1] कुछ भी हो, हमे उपर्युक्त दोनो रचनाओ को मिलाने की गलती नही करनी चाहिये।

जिनचरित[2]

'जिनालकार' के समान 'जिनचरित' का भी विषय बुद्ध-जीवनी का वर्णन करता है। 'जिनालंकार' मे, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सम्बोधि प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया गया है। किंतु 'जिनचरित' मे भगवान् बुद्ध के उपदेश-कार्य का भी वर्णन किया गया है और उनके ४५ वर्षावासो का ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, 'जिनचरित' मे कोई नवीनता नही है। बुद्ध-जीवन के विषय मे उसने कोई नई बात हमे नही बताई है। उसके सारे वर्णन जातक-निदानकथा पर आधारित है। एक हद तक तो वह जातक निदान-कथा का छन्दोबद्ध सस्करण ही जान पड़ता है। चार्ल्स डुरोइसिल का यह कथन ठीक है कि जहाँ कवि इस अन्धानुकरण से बच सका है और उसने अपनी प्रेरणा से लिखा है, वहीं उसके काव्य में कुछ रसात्मकता भी आ सकी है।[3] यद्यपि काव्य-गुणो की दृष्टि से 'जिनचरित' की 'बुद्ध-चरित' से कोई तुलना नहीं की जा सकती, फिर भी यह कहना ठीक है कि पालि-साहित्य में 'जिन-चरित' का वही स्थान है जो बौद्ध सस्कृत साहित्य मे 'बुद्धचरित' का। 'जिन-

---

१. पृष्ठ ६९, ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित, जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)

२. डब्ल्यू० एच० डी० राउज द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५ में अंग्रेजी अनुवाद-सहित सम्पादित। चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा भी अंग्रेजी-अनुवाद सहित रोमन लिपि में सम्पादित, रंगून १९०६।

३. जिनचरित (चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १-२ (भूमिका)

चरित' पर संस्कृत काव्यों का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। चार्ल्स डुरोयिसिल ने 'जिन-चरित' पर अश्वघोष और कालिदास के प्रभाव की बात कही है। उन्होंने 'जिन-चरित' और 'महाभारत' की कुछ पंक्तियों की भी तुलना की है।[1] यह सम्भव है कि 'जिनचरित' के रचयिता को संस्कृत काव्यों की जानकारी रही हो और उससे उन्होंने लाभ उठाया हो, किन्तु काव्य-शैली के लिए वे संस्कृत काव्यों के ऋणी नहीं कहे जा सकते। जहाँ तक 'जिनचरित' के स्रोतों का सवाल है, हमें संस्कृत काव्यों की ओर नहीं जाना चाहिए। जैसा डा० लाहा ने कहा है, जातक-साहित्य और सुत्त-निपात के नालक-सुत्त जैसे सुत्तों की गाथाएँ 'जिनचरित' के लिए सर्वोत्तम नमूने हो सकते थे।[2] इतना ही नहीं, कालिदास के पूर्ववर्ती अश्वघोष को भी इन स्रोतों से अपने काव्य-शैली के निर्धारण में पर्याप्त प्रेरणा मिली होगी, ऐसा हम मान सकते हैं। 'जिनचरित' के विषय और शैली के स्रोत मूलतः पालि साहित्य में हैं, संस्कृत साहित्य में नहीं।

'सद्धम्म संगह'[3] और 'गन्धवंस'[4] के वर्णनों के अनुसार 'जिनचरित' के रचयिता का नाम मेधंकर था। मेधंकर नाम के अनेक व्यक्ति सिंहल में हो चुके हैं।[5] प्रस्तुत मेधंकर 'वनरतन मेधंकर' के नाम से प्रसिद्ध थे। उपर्युक्त स्रोतों के अनुसार वनरतन मेधंकर लंकाधिप भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०–१२८८ ई०) के समकालीन थे। टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स[6] और विन्टरनित्ज़[7] ने उनके इसी काल को प्रामाणिक माना है। किन्तु गायगर का दूसरा मत है। 'गन्धवंस' में मेधंकर का उल्लेख

१. उदाहरणतः जिनचरित—कोयं सक्को नु खो ब्रह्मा मारो नागो ति आदिना।
महाभारत—कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति। (वन-पर्व)
२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१५
३. सद्धम्मसंगह, पृष्ठ ६३ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)
४. गन्ध वंश, पृष्ठ ६२, ७२ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)
५. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ २; विक्रम सिंह:केटेलॉग पृष्ठ २१, ३५, ११९
६. देखिये जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ चार में डा० टी० डबल्यू० रायस डेविड्स का 'नोट ऑन मेधंकर'
७. हिस्ट्री ऑव इन्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४

वाचिस्सर, सुमंगल और धम्मकित्ति के बाद किया गया है। अत. गायगर ने यह अनुमान लगाया है कि वे भी उपर्युक्त भिक्षुओ के समान सिंहली स्थविर सारिपुत्त के शिष्य थे। 'जिनचरित' के अन्तिम पद्यो में लेखक ने कहा है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना राजा विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में की। गायगर ने इससे अनुमान किया है कि यहाँ लेखक को लका का राजा विजयबाहु तृतीय (१२२५ ई०-१२२९ ई०) अभिप्रेत था। उन्होने आगे यह भी अनुमान किया है कि विजयबाहु तृतीय मेधकर का समकालीन था, क्योकि उसी हालत मे उसकी प्रशंसा का कुछ अर्थ हो सकता है। इतने अनुमानो के बाद गायगर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मेधकर विजयबाहु तृतीय के समकालीन और भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य थे। उन्होने मेधंकर और वाचिस्सर का एक ही समय माना है।[1] जहाँ इतने अनुमानो के लिए अवकाश है वहाँ हमें यह भी आश्चर्य नही करना चाहिए कि डुरोइसिल ने उपर्युक्त विजयबाहु को विजयबाहु द्वितीय माना है जो सन् ११८६ ईसवी मे गद्दी पर बैठा था और जो लका के प्रसिद्ध राजा पराक्रमबाहु का उत्तराधिकारी था।[2] विजयबाहु मे तात्पर्य हम चाहे किसी विजयबाहु से ले, 'जिनचरित' के लेखक ने तो सिर्फ इतना कहा है कि विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण मे उसने 'जिनचरित' की रचना की। अत समकालीनता का आरोप इतना आवश्यक नही जान पडता। इसलिए 'गन्धवंस' और 'सद्धम्मसगह' के वर्णन, जो मेधकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०--१२८८ ई०) के समकालीन बतलाने के पक्षपाती है, 'जिनचरित' के वर्णन के विरोधी नही कहे जा सकते। अत मेधकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई० --१२८८ ई०) का ही समकालीन मानना अधिक युक्तियुक्त जान पडता है।

पज्जमधु[3]

१०४ गाथाओं मे शतक ढग की रचना है। बुद्ध-स्तुति इसका विषय है। प्रथम ६९ गाथाओ में बुद्ध की सुन्दरता का वर्णन है, शेष में उनके ज्ञान की प्रशसा है। शैली कृत्रिम और काव्योचित रसात्मकता से रहित है। कम से कम अपने नाम (पज्जमधु-पद्यमधु) को वह सार्थक नही करती। सस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी

---

१. पालिलेंग्वेज एंड लिटरेचर, पृष्ठ ४२।

२. जिनचरित (डुरोइसिल का संस्करण, रंगून १९०६) पृष्ठ ३ (भूमिका)

३. गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८७ पृष्ठ १-१६ में सम्पादित; देवमित्त द्वारा भी सम्पादित, कोलम्बो १८८७।

उसका एक विशेष लक्षण है। 'पज्जमधु' बुद्धप्पिय (बुद्धिप्रिय) नामक स्थविर की रचना है, जो स्थविर वैदेह (वेदेह थेर) के समकालीन सिहली भिक्षु थे। 'पज्जमधु' की १०३ वी गाथा मे कवि-भिक्षु ने अपना परिचय देते हुए अपने को आनन्द का शिष्य' बताया है।[1] आनन्द स्थविर वैदेह स्थविर के गुरु थे। अत वैदेह स्थविर के साथ बुद्धप्पिय का समकालिक होना निश्चित है। इसलिए इनका काल भी वैदेह स्थविर के साथ तेरहवी शताब्दी ही होना चाहिए, यह निश्चित है।[2] सम्भवत यही 'बुद्धप्रिय' 'रूपसिद्धि' व्याकरण के रचयिता भी है। उस रचना के अन्त मे उन्होंने अपना नाम बुद्धप्पिय 'दीपकर' बताया है और अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। अत दोनो का एक व्यक्ति होना असम्भव नही है।

सद्धम्मोपायन[3]

६२९ गाथाओ मे सद्धम्म के उपाय अथवा बुद्ध-धर्म के नैतिक मार्ग का वर्णन है। विषय नवीन न होते हुए भी शैली मे पर्याप्त ओज और मौलिकता है। ग्रन्थ को दो मुख्य भागो मे बाँटा जा सकता है, (१) दुराचार के दुष्परिणाम (२) सदाचार की प्रशसा या उसके सुपरिणाम। इसके साथ साथ बुद्ध-धर्म के प्राय. सभी मौलिक सिद्धान्तो का समावेश इस ग्रन्थ के अन्दर हो गया है, जिसे अत्यन्त प्रभावशाली और मननशील ढग से कवि ने उपस्थित किया है। पाप-दुष्परिणाम, पुण्य-फल, दान-प्रशसा, शील-प्रशसा, अ-प्रमाद आदि के काव्यमय वर्णन काफी अच्छे हुए है। पद्यबद्ध होते हुए भी 'सद्धम्मोपायन' के विवेचन इस विषय-सम्बन्धी गद्य-ग्रन्थों से अच्छी तरह मिलाये जा सकते है। उनको काव्य-मय रूप देने मे और साथ ही

---

१. आनन्दरञ्ञा रतनादिमहायतिन्दा निच्चप्पबुद्धं पदुमप्पिय सेवि नंगी। बुद्धप्पियेन घनबुद्धगुणप्पियेन थेरालिना रजितपज्जमधुं पिवन्तु ॥

२. मिलाइये गायगर: पालिलिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४४, ५१, विंटरनित्ज: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गुणरत्न ने बुद्धप्रिय का काल सन् ११०० ई० के लगभग बताया है। देखिये जर्नल ऑव पालिटेक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ १।

३. ई० मॉरिस द्वारा जर्नल ऑव पालिटेक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ ३५-९८ में सम्पादित।

उनका विचारात्मक अंश अक्षुण्ण रखने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। ग्रन्थ के आदि में कवि ने अपना नाम ब्रह्मचारी सोमप्रिय बताया है 'नामतो बुद्धसोमस्स पियस ब्रह्मचारिनो'। इनके विषय में अधिक कुछ ज्ञान हमें नही है, किन्तु यह निश्चित है कि ये सिहली भिक्षु थे और इनका काल भी बारहवी-तेरहवी शताब्दी के आसपास ही होना चाहिए।

पञ्चगतिदीपन[1]

११४ गाथाओं में उन पाँच गतियों या योनियों का वर्णन है जिन्हे प्राणी अपने भले या बुरे कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के कारण प्राप्त करते है, यथा नरक-योनि, पशु-योनि भूत-प्रेतादिकी योनि, मनुष्य-योनि और देव-योनि। वर्णन अत्यन्त सरल और स्वाभाविक एवं प्रसादगुणमय होते हुए भी यह रचना अत्यन्त साधारण कोटि की ही मानी जायगी। स्वर्ग-नरक के वर्णन काव्य के अच्छे विषय बनाये ही नही जा सकते, उनमें नैतिक तत्त्व चाहे जितना भी गहरा हो। वास्तव में बुद्ध ने भी स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भयके कारण अपने नातिवाद का उपदेश नही दिया था। उनके नैतिक आदर्शवाद की यही तो एक विशेषता थी। वहाँ विशुद्धि का मार्ग अपने आप में एक आचरणीय वस्तु थी। ब्रह्मचर्य का क्या उद्देश्य होना चाहिए, इसे शास्ता ने अनेक बार स्पष्ट कर दिया था। किन्तु लोक-धर्म इसे कब सुनता है? वहाँ तो भय या पारितोषिक का प्रलोभन होना ही चाहिए। फलत. अशोक को ही हम अपनी जनता को स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से शुभ-कर्म करने के लिए प्रेरणा करते हुए देखते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक भी है। बुद्ध-मन्तव्य इससे बहुत अधिक ऊँचा था। उसे लोक-धर्म की भूमि पर ला कर अर्थात् लोक-विश्वासो का उसमें समावेश कर, उसके नैतिक तत्त्व की व्याख्या का प्रारम्भ हम स्वयं सुत्त-पिटक के कुछ अशो में ही देखते है। बाद में कुछ जातको और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थो में तो वह बहुत ही स्फुट हो गया है। महायान-परम्परा में जिस विस्तार के साथ स्वर्ग-नरक के वर्णन मिलते है, वह तो निश्चय ही एक आश्चर्य की वस्तु है। निश्चय ही इस प्रकार के बौद्ध-वर्णनों में चाहे वे स्थविरवादियो के हो, चाहे अन्य सप्रदायों के, पुराणो (वि-

---

१. लियोन फियर द्वारा जर्नल ऑव पालिटेक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ १५२-६१ में सम्पादित।

शेषतः ब्रह्माण्ड, मार्कंडेय, पद्मपुराण आदि) के इस विषयक वर्णनो से कुछ भी विशेषता नही है। किसी युग में जब मनुष्य अधिक विश्वास करने की क्षमता रखता हो इन सब का चाहे भले ही उपयोग रहा हो, किन्तु आज तो ये सभी मननशील व्यक्तियो के लिए विरतिकर हो चुके है, इसमे सन्देह नही । स्वभावत. 'पचगतिदीपन' भी इसका अपवाद नही । प्रारभ मे ही कम से कम आठ प्रकार के नरको का वर्णन किया गया है, यथा सजीव, काल-सूत्र (कालसुत्त) सघात, रौरव, (रोरुव) महा रौरव (महारोरुव) तप, महातप और अवीचि। इनकी यातनाओ का वर्णन तो निश्चय ही रोमाचकारी है। केवल महत्वपूर्ण भाग वह है जहाँ नाना-प्रकार के पाप-कर्मों के परिणाम-स्वरूप वहाँ जाना दिखलाया गया है। इसके अलावा इस ग्रन्थ में अन्य कुछ ज्ञातव्य नही है । तुलनात्मक पौराणिक तत्व के विद्यार्थी के लिए 'पचगति-दीपन' मे प्रभूत सामग्री मिल सकती है, इसमें सन्देह नही । इसके रचयिता या उसके काल के सबध मे कुछ ज्ञात नही है।

लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार[1]

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु 'पञ्चगतिदीपन' के समान ही है। 'शासनवंस' के वर्णनानुसार यह चौदहवी शताब्दी के बर्मी भिक्षु मेधकर की रचना है, जिन्होंने अध्ययनार्थ सिहल म प्रवास किया था[2] । पाँच प्रकार की योनियो का वर्णन करने के अतिरिक्त यहा आख्यानो के द्वारा उनमे निहित नैतिक उप-देशो को समझाया भी गया है । 'महावस' से इस ग्रन्थ मे काफी सामग्री ली गई है । अन्य कुछ काव्यगत विशेषता इस ग्रन्थ की नही है ।

पालि आख्यानः रसवाहिनी[3]

उत्तरकालीन पालि-साहित्य मे गद्य-पद्य मिश्रित कुछ आख्यानो की भी रचना

---

१. देखिये मेबिल बोडःपालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३५ ।

२. मेबिल बोडःपालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३५।

३. सिंहली लिपि में सरणतिस्स द्वारा दो भागों में सम्पादित, कोलम्बो १९०१ एवं १८९९; उसी लिपि में सिंहली व्याख्या सहित देवरक्खित द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १९१७ ।

हुई । नैतिक ध्वनि की प्रधानता के अतिरिक्त इन सब की एक बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने जातक, अर्थकथाओं और कुछ अंश तक 'महावंश' आदि से पर्याप्त सामग्री ली है। पालि आख्यानों में 'रसवाहिनी' का नाम अधिक प्रसिद्ध है। मौलिक रूप में यह सिंहली भाषा की रचना थी। महाविहारवासी रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) नामक स्थविर ने इसका प्रथम पालि रूपान्तर किया। बाद में प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वैदेह स्थविर (वेदेह थेर) ने इसको शुद्ध कर इसे नवीन रूप प्रदान किया। अतः 'रसवाहिनी' का कर्तृत्व वैदेह स्थविर के नाम के साथ ही संबद्ध हो गया है। वैदेह स्थविर का काल निश्चित रूप से तेरहवीं शताब्दी ही माना जाता है[1], यद्यपि कुछ विद्वान् उसे चौदहवीं शताब्दी मानने के भी पक्षपाती हैं[2]। संभवतः तेरहवीं शताब्दी के अंतिम और चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वे जीवित थे। वैदेह स्थविर का जन्म विप्रग्राम (विप्पगाम) के एक ब्राह्मण-वंश में हुआ था। बाद में उन्होंने बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट होकर प्रव्रज्या ले ली थी। उनके गुरु प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु आनन्द स्थविर थे, 'जो अरण्यायतन' (अरञ्ञायतन-अरण्यवासी) भी कहलाते थे। वैदेह स्थविर ने भी स्वयं अपने को 'वनवासी' संप्रदाय का अनुयायी बतलाया है[3]। इन्हीं की रचना 'समन्तकूटवण्णना'[4] नामक कविता भी है जिसमें बुद्ध के जीवन और विशेषतः उसके तीन बार लंका-गमन तथा उनके चरण (श्रीपद) चिन्ह द्वारा अंकित समन्त-कूट पर्वत का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ में ७९६ पालि वृत्त हैं। किन्तु इनकी अधिक प्रसिद्ध रचना 'रसवाहिनी' ही है। 'रसवाहिनी' १०३ आख्यानों का संग्रह है। इनमें प्रथम ४० के देश और परिस्थिति का चित्रण भारत (जम्बुद्वीप) में और शेष ६३ का लंका में किया गया है। कहानियाँ प्रायः गद्य में ही हैं, किन्तु बीच-बीच में कहीं कहीं गाथात्मक अंश का भी छिटका दिखाई देता है। भाषा की दृष्टि से यह उतनी सफल रचना नहीं

---

१. गायगरःपालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४३ पद-संकेत २; विंटरनित्ज़ः हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर-जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४।

२. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६२५

३. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१०।

४. सिंहली अनुवाद सहित सिंहली लिपि में धम्मानन्द और ञाणिस्सर (ज्ञानेश्वर) द्वारा सम्पादित, कोलम्बो, १८९०।

कही जा सकती । किन्तु आख्यानात्मक कला के पर्याप्त दर्शन इस सुन्दर रचना मे होते है । नैतिक उपदेश की प्रधानता होते हुए भी अनेक कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हुई है । कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्य की कहानी तो निश्चय ही विश्व-साहित्य की एक सपत्ति है । जातक, अपदान, पालि अटठकथाएँ और महावश की पृष्ठभूमि मे लिखा हुआ यह ग्रन्थ निश्चय ही भारतीय आख्यान-साहित्य का एक महत्वपूर्ण रत्न है । कुछ कहानियो के देशकाल को भारत और कुछ को लका मे रखकर, सिहली और पालि दोनो भाषाओ में विरचित यह ग्रन्थ उक्त दोनो देशो की अभिन्न सास्कृतिक और धार्मिक एकता को एक सुन्दर कलात्मक रूप मे उपस्थित करता है । खेद है कि इस ग्रन्थ का अभी कोई नागरी-सस्करण या हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नही हुआ । दोनो देशो के सास्कृतिक सबध और विशेषत भारतीय साहित्य के सिहली साहित्य पर प्रभाव के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का पारायण अत्यत आवश्यक है । बुद्ध-पूजा का तत्व इस ग्रन्थ की कुछ कहानियो मे ध्वनित होता है, जो इस सबधी महायानी प्रवृत्ति या भारतीय भक्तिवाद के प्रभाव का सूचक हो सकता है । 'रसवाहिनी' की एक 'रसवाहिनीगण्ठि' नामक पालि-टीका भी लिखी गई । सिहली भाषा मे इसका शब्दश अनुवाद भी मिलता है । उस भाषा मे इस विषय-सबधी अन्य भी प्रभूत साहित्य है ।

बुद्धालङ्कार

१५ वी शताब्दी के आवा (बरमा)—निवासी शीलवस (सीलवस) नामक भिक्षु की रचना है[१] । यह पद्यबद्ध है । निदान-कथा की सुमेध-कथा पर यह आधारित है । अन्य कुछ ध्यान देने योग्य विशेषता इसमे नही है ।

सहस्सवत्थुप्पकरण

इस ग्रन्थ मे एक हजार कहानियो का सग्रह है । सभवत 'रसवाहिनी' का यही आधार था[२] । कम से कम इन दोनो का सबध तो स्पष्ट ही है । बरमा से ही इस ग्रन्थ का लका मे प्रचलन हुआ । किन्तु सभवत. यह मौलिक रूप मे लका मे ही लिखा गया था । इस ग्रन्थ की 'सहस्सवत्थटठकथा' नामक

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३
२. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १२९

एक टीका भी थी जिसका उल्लेख कई बार महावंश-टीका (ग्यारहवीं–तेरहवीं शताब्दियों के बीच रचित) में किया गया है ।

राजाधिराजविलासिनी

१८ वी शताब्दी के बरमी राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय) की प्रार्थना पर लिखा गया एक गद्य-ग्रन्थ है । इसकी कहानियो का आधार प्रधानत. जातक ही हैं, यद्यपि अट्ठकथा तथा वंश-साहित्य से भी लेखक ने पर्याप्त सामग्री ली है । संस्कृत के व्याकरण और ज्योतिष शास्त्र से भी लेखक का पर्याप्त परिचय था, यह भी उसके विद्वत्तामय वर्णनो से विदित होता है[१] ।

उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त कुछ अल्प महत्व के भी ग्रन्थ कथा-साहित्य पर इस उत्तरकालीन युग में लिखे गये । इनकी प्रेरणा का मुख्य आधार जातक ही रहा, यह तो निश्चित ही है । इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी मे आवा (बरमा) निवासी रट्ठसार ने कुछ जातकों का पद्यबद्ध अनुवाद किया[२] । तिपिटकालकार ने १६ वी शताब्दी मे वेस्सन्तर जातक का पद्यबद्ध अनुवाद किया[३] । अठारहवी शताब्दी मे 'मालालकारवत्थु' नामक बुद्ध-जीवनी भी किसी बरमी भिक्षु ने लिखी[४] । जातक-अट्ठकथा और वंश-साहित्य के बाद इस दिशा मे मौलिक कुछ नही किया गया, यह हम इस सब कथा-साहित्य के पर्यवेक्षण स्वरूप कह सकते हैं ।

पालि का व्याकरण-साहित्य:उसके तीन सम्प्रदाय

पालि-साहित्य के इतिहास मे व्याकरण का विकास बहुत बाद में चलकर हुआ । बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के समय तक अर्थात् पाँचवी शताब्दी ईसवी तक हमें किसी पालि व्याकरण या व्याकरणकार का पता नही चलता ।

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ७८

२.-३. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३-५३

४. इस ग्रन्थ का बिशप बिगंडेट ने अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। देखिये सेक्रेडबुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ११, पृष्ठ ३२ (भूमिका) में डा० रायस डेविड्स द्वारा प्रदत्त सूचना ।

जहाँ तक ज्ञात हुआ है आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी व्याख्याओ मे किसी प्राचीन पालि व्याकरण का आश्रयन लेकर पणिनीय अष्टाध्यायी का ही लिया है। 'विसुद्धि-मग्ग' मे उनके द्वारा की हुई 'इन्द्रिय' शब्द की व्याख्या इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। 'विसुद्धि-मग्ग' के सोलहवे परिच्छेद 'इन्द्रियसच्च निद्देसो' (इन्द्रिय और सत्य का निर्देश) मे आता है "को पन नेस इन्द्रियट्ठो नामाति ? इन्द-लिगट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्ददेसितट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्ददिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्द-सिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्दजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो"[१]। निश्चय ही यहा पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण का यह सूत्र प्रतिध्वनित है "इन्द्रिय इन्द्रलिंग, इन्द्रदृष्ट, इन्द्रजुष्ट, इन्द्रदत्तम्, इतिवा" (५। २। ९३)। इसी प्रकार पाणिनीय सूत्र ३।३।१३१ सुत्तनिपात की अट्ठकथा[२] मे प्रतिध्वनित हुआ है। दोनो निरुक्तियाँ आपस में शब्दश इतनी मिलती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लिया है, इस निष्कर्ष का प्रतिवाद नही किया जा सकता[३]। इसी प्रकार पाणिनि ने 'आपत्ति' शब्द का प्रयोग 'प्राप्ति' के अर्थ मे किया है। आचार्य बुद्ध-घोष ने इस विषय मे भी उनका अनुसरण कर इस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) मे अनेक बार किया है[४]। यहा हमारा यह कहना है कि यह प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के प्रभाव-स्वरूप उतना नही भी माना जा सकता क्योकि पालि-त्रिपिटक के स्वय 'सोत आपत्ति' शब्द मे यह प्रयोग रक्खा हुआ है। यह सभव है कि पालि और संस्कृत

---

१. विसुद्धिमग्ग १६।४ (धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित देव नागरी संस्करण)

२. जिल्दपहली, पृष्ठ २३ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); इसी प्रकार विसुद्धिमग्ग ७।५८ (कोसम्बी जी का संस्करण) मे "वण्णागमो वण्णविपरि-ययो" अक्षरशः 'काशिका' का उद्धरण है, जिसे बुद्धघोष ने प्राचीन संस्कृत-व्याकरण की परम्परा से लिया है।

३. इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता के साथ डा० विमलाचरण लाहा ने की है। देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ १०४-१०५; हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३२-३३; मिलाइये जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०६-०७, पृष्ठ १७२-७३।

४. 'दि लाइफ एंड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ १०५; हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३३।

का विकास समकालिक होने के कारण पाणिनीय व्याकरण मे कुछ ऐसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हो जो उस समय की साहित्यिक भाषा (संस्कृत) और लोक भाषा (पालि) मे समान रूप से प्रतिष्ठित हो । अत: बुद्धघोष ने ऐसे प्रयोगो को पाणिनीय व्याकरण से न लेकर सभवत: पालि-त्रिपिटक से ही लिया होगा, ऐसा मानना भी अधिक समीचीन जान पडता है[१] । यहा तक भी कहा जा सकता है कि उनकी अनेक निरुक्तिया भी त्रिपिटक और विशेषत: अभिधम्म-पिटक के एतत्सबधी विशाल भांडार पर ही आश्रित है । यद्यपि बुद्धघोष सेपहले पारिभाषिक अर्थों मे पालि मे व्याकरण या निरुक्ति-शास्त्र (पालि-निरुत्ति—पालि त्रिपिटक के शब्दो की व्याकरण-सम्मत व्याख्या) न भी रहा हो, किन्तु त्रिपिटक के शब्दो की व्याख्या (वेय्याकरण) के लिए कुछ नियम तो अवश्य ही रहे होगे । सुत्त-पिटक के प्राचीनतम अशो मे भी 'ब्राह्मण' 'श्रमण' 'भिक्षु' 'तथागत' आदि शब्दो की जो निरुक्तिया और व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ किये गये है उनसे यह बात आसानी से समझ मे आ सकती है । धम्मपद मे महाप्राज्ञ भिक्षु के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह 'निरुक्ति और पदो का ज्ञाता' हो और 'अक्षरो के सन्निपात' अर्थात् शब्द-योजना मे परिचित हो[२] । इससे भी यही प्रकट होता है कि शब्दो की निरुक्ति और व्याकरण सबधी साधारण नियमो की कोई परम्परा पालि-साहित्य के प्राचीनतम युग मे भी रही अवश्य होगी । सभवत: इसी परम्परा का प्रवर्तन हमे नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस मे मिलता है । फिर भी बौद्ध अनुश्रुति का यह सामान्य विश्वास कि भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चान (महा-कात्यायन) ने भी एक पालि व्याकरण की रचना की थी, तत्सबधी साहित्य के अभाव मे ठीक नही माना जा सकता । इसी प्रकार बोधिसत्त और सब्ब-गुणाकार नामक दो प्राचीन व्याकरण भी, जिनका नाम बौद्ध परम्परा मे सुना जाता है, आज उपलब्ध नही है । आज जो व्याकरण-साहित्य पालि का हमे उप-

---

१. यह इससे भी प्रकट होता है कि बुद्धघोष ने शब्द-निरुक्ति करने वाले त्रिपिटक के अंशों, विशेषतः अभिधम्म-पिटक, को 'वेय्याकरण' कहा है। देखिये "सकलं अभिधम्म-पिटकंतं वेय्याकरणं ति वेदितब्बं" सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २४ (पालि टैक्सट्स सोसायटी का संस्करण)

२. धम्मपद २४।१९

लब्ध है, तीन शाखाओं या संप्रदायों में विभक्त है (१) कच्चान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (२) मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (३) अग्गवसकृत सद्दनीति और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य। लंका और बरमा मे ही इस प्रभूत पालि व्याकरण-संबंधी साहित्य का प्रणयन सातवी शताब्दी के बाद से हुआ है। अब हम उपर्युक्त तीनों सप्रदायो की परम्परा का अलग अलग विवेचन करेंगे।

कच्चान-व्याकरण[1] और उसका उपकारी साहित्य

'कच्चान-व्याकरण' (या कच्चायन-व्याकरण-कात्यायन--व्याकरण) पालि साहित्य का प्राचीनतम व्याकरण है। इसका दूसरा नाम 'कच्चायन'गन्ध' (कात्यायन-ग्रन्थ) भी है। इस व्याकरण के रचयिता का बुद्ध के प्रधान शिष्य महा कच्चान (महाकात्यायन) से कोई सम्बन्ध नही, इसे बौद्ध विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।[2] इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन (तृतीय शताब्दी ईसवी) से भी ये भिन्न हैं, ऐसा भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस के रचयिता कच्चान से भी व्याकरणकार कच्चान भिन्न हैं। व्याकरणकार कच्चान यदि बुद्धघोष के पूर्वगामी होते तो यह असम्भव था कि कच्चान-व्याकरण जैसे प्रामाणिक पालि-व्याकरण का वे अपनी व्याख्याओ मे कही भी उद्धरण नही देते। इस निषेधात्मक साक्ष्य के अलावा अन्य स्पष्ट साक्ष्य भी कच्चान-व्याकरण के बुद्धघोष के काल से उत्तरकालीन होने के दिये जा सकते है। कच्चान ने अपने व्याकरण मे सर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण का अनुगमन किया है। उन्होने स्पष्टतापूर्वक पाणिनि व्याकरण का उसकी काशिका-वृत्ति के साथ अनुसरण किया है। काशिका-वृत्ति की रचना का समय सातवी शताब्दी है। अत यह निश्चित है कि कच्चान-व्याकरण भी सातवी शताब्दी के पूर्व का नही हो सकता। स्वय कच्चान-व्याकरण मे ही उसके सस्कृत सम्बन्धी ऋण को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सूत्र १।१।८ मे कहा गया है 'परसमञ्ञापयोगे'। इसकी व्याख्या करते हुए उसकी वृत्ति (वुत्ति) मे कहा गया है 'याच पन सक्कतगन्धेसु समञ्ञा. .आदि'। इन 'सस्कृत ग्रथो '(सक्कत गन्धेसु) जैसा हम अभी

---

१. डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित, कलकत्ता १८९१; डा० मेसन ने भी इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है।

२. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ६ (भूमिका)

कह चुके हैं कातन्त्र-व्याकरण और काशिका वृत्ति (सातवी शताब्दी) प्रधान है। अत: कच्चान व्याकरण का काल सातवी शताब्दी के बाद का ही है। कच्चान-व्याकरण में ६७५ सूत्र हैं। इस व्याकरण के अलावा कच्चान 'महानिरुत्ति गन्ध' (महानिरुक्ति ग्रन्थ) और 'चुल्ल निरुत्ति गन्ध (संक्षिप्त निरुक्ति-ग्रन्थ) नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों के भी ये रचयिता बताये जाते हैं।[1] कच्चान-व्याकरण का सहायक साहित्य काल-क्रमानुसार इस प्रकार है (१) कच्चान-व्याकरण का सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण भाष्य 'न्यास' है। इसी का दूसरा नाम 'मुखमत्तदीपनी'[2] भी है। यह आचार्य विमलबुद्धि की रचना है, जिनका काल ग्यारहवी शताब्दी से पहले और कच्चान-व्याकरण की रचना (सातवी शताब्दी) के बाद था। (२) 'न्यास' की टीका-स्वरूप 'न्यास-प्रदीप' बारहवी शताब्दीकेअन्तिम भागमें लिखा गया। इसके रचयिता 'छपद' नामक आचार्य थे। यह बरमी भिक्षु थे, किन्तु इनकी शिक्षा लका में हुई थी। यह सिहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्योमे सेथे। 'न्यास' पर अन्य साहित्य भी उत्तर कालीन शताब्दियो मे बहुत लिखा जाता रहा[3]। छपद ने कच्चान-व्याकरण साहित्य को एक ग्रन्थ और भी दिया। (३) सुत्त-निद्देस— छपद-कृत कच्चान-व्याकरण की टीका-स्वरूप यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसका निश्चित रचना काल ११८१ ई० (बुद्धाब्द १७१५) है[4]। (४) स्थविर सघरक्खित (सघरक्षित) द्वारा रचित 'सम्बन्ध-चिन्ता'। यह ग्रन्थ कच्चान-व्याकरण के आधार पर पालि शब्द-योजना या शब्द-सबधका विवेचन करता है। स्थविर संघरक्खित सिहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यो मे से थे, अत. निश्चित रूप से इनका काल १२वीशताब्दी का अतिम भाग ही है। इस प्रकार ये छपद के समकालिक

---

१. गन्धवंस, पृष्ठ ५९ (मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी मे सम्पादित) सुभूति ने इन ग्रन्थों को यमक की रचना बताया है। देखिये उनकी नाममाला, पृष्ठ २८ (भूमिका)

२. गन्धवंस, पृष्ठ ६०; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ९ (भूमिका)

३. सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मी भिक्षु दाठानाग द्वारा रचित 'निरुत्तसार-मंजूसा' नामक 'न्यास' की टीका प्रसिद्ध है। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५५; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १० (भूमिका)

४. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १५; मेबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १७

ही थे । इन्होंने विनय-साहित्य पर भी 'खुद्दक-सिक्खा' (क्षुद्रक-शिक्षा-रचयिता भिक्षु धर्मश्री-धम्मसिरि) के टीका स्वरूप 'खुद्दकसिक्खा-टीका' लिखी थी । 'संबध-चिन्ता' पर एक टीका भी पाई जाती है, किन्तु उसके लेखक के नाम और काल का पता नहीं है । (५) स्थविर सद्धर्मश्री (सद्धम्मसिरि) विरचित 'सद्दत्थभेदचिंता' (शब्दार्थभेदचिन्ता) । यह ग्रन्थ बरमा में १२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया । इस पर भी एक अज्ञात लेखक की टीका मिलती है । (६) स्थविर बुद्धप्रिय दीपकर विरचित 'रूप-सिद्धि' या 'पद-रूप-सिद्धि' । स्थविर बुद्धप्रिय दीपकर ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते हुए अपने को सारिपुत्त (सिंहली भिक्षु) का शिष्य कहा था । 'रज्जमधु' के भी यही रचयिता हैं । इनका काल इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही है । यह ग्रन्थ सात भागों में विभक्त है और कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ कच्चान-व्याकरण का ही रूपान्तर मात्र है । 'रूप-सिद्धि' पर भी एक टीका लिखी गई और सिंहली भाषा में उसका रूपान्तर भी किया गया । (७) बालावतार-व्याकरण---यह व्याकरण विशेषतः बरमा और स्याम में बड़ा लोकप्रिय है । लंका में इसके कई संस्करण निकले हैं[१] । यह भी कच्चान व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया है । यह ग्रन्थ 'धम्मकित्ति' (धर्मकीर्ति) की रचना मानी जाती है । यह धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) डा० गायगर के मतानुसार 'सद्धम्म संगह' के रचयिता 'धम्मकित्ति महासामि' (धर्मकीर्ति महास्वामी) ही हैं, जिनका जीवन-काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है[२] । गन्धवंस के वर्णनानुसार यह वाचिस्सर (वागीश्वर) की रचना है[३] । वाचिस्सर सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे । उनका जीवन-काल निश्चित रूप से बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग और तेरहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग है । इस प्रकार उनकी रचना मानने पर 'बालावतार' का रचना-काल भी

---

१. विशेषतः श्री धर्माराम द्वारा सम्पादित, पलियगोड, १९०२; बालावतार, टीका-सहित, सुमंगल महास्थविर द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १८९३; देखिये सुभूति : नाममाला, पृष्ठ २४ (भूमिका)

२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ४५, ५१ ।

३. पृष्ठ ६२, ७१ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)

उसी समय का मानना पड़ेगा । 'बालावतार' व्याकरण पर लिखी हुई एक टीका भी मिलती है, किन्तु उसके लेखक का नाम और काल आदि सब अज्ञात है । (८) बरमी भिक्षु कण्टकखिपनागित या केवल नागित विरचित 'सद्दसारत्थजालिनी' नामक कच्चान व्याकरण की टीका १३५६ ई० (बुद्धाब्द १९००) में लिखी गई । (९) 'कच्चायन-भेद' नामक कच्चान-व्याकरण की टीका जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में स्थविर महायास ने की । इन्हीं स्थविर की एक और व्याकरण संबंधी रचना 'कच्चायन-सार' है ।[१] 'गंधवंस' के वर्णनानुसार 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' दोनों धम्मानन्द नामक भिक्षुकी रचनाएँ हैं[२] । 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' पर टीकाएँ भी लिखी गई । 'कच्चायन-भेद' की दो टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं, (१) सारत्थविकासिनी' जिसकी रचना १६०८ ई० (बुद्धाब्द २१५२) के लगभग 'अरियालंकार' नामक बरमी भिक्षु ने की, (२) कच्चायनभेद-महाटीका, जिसके रचयिता उत्तम सिक्ख (उत्तम शिक्ष) माने जाते हैं, जिनके काल का कुछ निश्चित पता नहीं है । 'कच्चायन-सार' पर स्वयं इसके रचयिता महायास ने एक टीका लिखी थी । गायगर के मतानुसार यह 'कच्चायनसार-पुराणटीका' थी[३] जो आज उपलब्ध है । सिंहली विद्वान् सुभूति ने इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना माना है ।[४] 'कच्चायन-सार' की एक और टीका 'कच्चायनसार-अभिनवटीका' या 'सम्मोहविनासिनी' बर्मी भिक्षु सद्धम्मविलास के द्वारा लिखी गई । (१०) पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में कच्चान-व्याकरण पर 'सद्दबिन्दु' (शब्द-बिन्दु) नामक उपकारी ग्रन्थ बरमा में लिखा गया । 'सासनवंस' के वर्णनानुसार अरिमद्दन (अरिमर्दन—बरमा) का राजा क्यच्वा इसका रचयिता था[५] । सुभूति ने इस ग्रन्थ का निश्चित रचना-काल १४८१ ई० (बुद्धाब्द २०२५)

---

१. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ८३; मेबिल बोड : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर इन बरमा, पृष्ठ ३६ ।

२. पृष्ठ ७४ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)

३. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५२ ।

४. नाममाला, पृष्ठ ८४-८५ (भूमिका)

५. पृष्ठ ७६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का मेबिल बोड द्वारा सम्पादित संस्करण)

बताया है[1]। 'सद्दबिन्दु' पर 'लीनत्थसूदनी' नामक टीका ञाणविलास (ज्ञान-विलास) नामक भिक्षु द्वारा १६ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखी गई। (११) सोलहवी शताब्दी के मध्यभाग मे 'बालप्पबोधन' (बालप्रबोधन) नामक व्याकरण लिखा गया। इसके रचयिता का ठीक नाम पता नही है। (१२) 'अभिनवचुल्लनिरुत्ति' नामक व्याकरण मे, जिसके रचयिता या रचना-काल के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, कच्चान व्याकरण के नियमो के अपवादों का विवरण है। (१३) सत्रहवी शताब्दी के आदि भाग में बरमी भिक्षु महाविजितावी ने 'कच्चायनवण्णना' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की। कच्चान-व्याकरण के सन्धिकप्प (सन्धि-कल्प) का यह विवेचन है। 'कच्चान-वण्णना' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी है, जिससे इस अर्वाचीन रचना को भिन्न ही समझना चाहिए[2]। महाविजितावी ने 'वाचकोपदेस' नामक एक और व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की है जिसमे उन्होने व्याकरण-शास्त्र का नैय्यायिक दृष्टि से विवेचन किया है। (१४) धातुमजूसा—कच्चान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची इस ग्रन्थ मे संगृहीत की गई है। इस ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना नाम स्थविर सीलवस (शीलवश) बताया है। यह एक पद्य-बद्ध रचना है। सुभूति ने कहा है कि वोपदेव के कवि-कल्पद्रुम से इस ग्रन्थ में काफी सहायता ली गई है[3]। फ्रैंक ने पाणिनीय धातुपाठ का भी इस ग्रन्त पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है।[4]

मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकार साहित्य

कच्चान-व्याकरण के समान मोग्गल्लान या मोग्गल्लायन[5] व्याकरण पर भी प्रभूत सहायक साहित्य की रचना हुई है। सर्व-प्रथम 'मोग्गल्लान-

---

१. नाममाला, पृष्ठ ९१-९२ (भूमिका)
२. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ २३ (भूमिका)
३. देखिये नाममाला, पृष्ठ ९५।
४. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५६।
५. पालि-व्याकरण की दृष्टि से कच्चान और कच्चायन, मोग्गल्लान और मोग्गल्लायन, इन शब्दों के ये दोनों रूप ही शुद्ध हैं।

-व्याकरण' को ही लेते है। इस व्याकरण का लका और बरमा मे बडा आदर है। पालि-व्याकरणो मे निश्चय ही इसका एक ऊचा स्थान है। कच्चान-व्याकरण के समान प्राचीन न होने पर भी यह उससे अधिक पूर्ण है और भाषा-उपादानो को इसने अधिक विस्तृत रूप से सकलित और व्यवस्थित किया है। जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है "पालि व्याकरणों मे 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पूर्णता तथा गभीरता मे श्रेष्ठ है"[1]। मोग्गल्लान-व्याकरण मे ८१७ सूत्र है, जिनमें सूत्र-पाठ, धातु-पाठ, गण-पाठ, ण्वादि-पाठ आदि सभी व्याकरण के विषयो का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है। मोग्गल्लान-व्याकरण की विषय वस्तु को समझने के लिए भिक्षु जगदीश काश्यप कृत 'महापालि व्याकरण' द्रष्टव्य है। यह स्वय हिन्दी मे पालि-व्याकरण पर प्रथम और अपनी श्रेणी की उच्चकोटि की रचना है, एव मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित है। मोग्गल्लान-व्याकरण का दूसरा नाम 'मागधसद्दलक्खण' भी है। ग्रन्थ के आदि मे ही व्याकरणकार ने कहा है "सिद्धमिद्धगुण साधु नमस्सित्वा तथागत। सधम्मसघ भासिस्स मागध सद्दलक्खण ॥" पाणिनि, कातत्र-व्याकरण और प्राचीन पालि-व्याकरणो का आधार लेने के अतिरिक्त मोग्गल्लान-व्याकरण पर चन्द्रगोमिन् के व्याकरण का भी पर्याप्त प्रभाव उपलक्षित होता है। मोग्गल्लान-व्याकरण लिखने के अतिरिक्त मोग्गल्लान महाथेर ने उसकी 'वृत्ति' (वुत्ति) भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर 'पञ्चिका' नामक पाडित्यपूर्ण टीका भी। 'मोग्गल्लान-पञ्चिका' अभी तक अनुपलब्ध थी। किन्तु जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने हमे सूचना दी है "परमपूज्य विद्वद्वर श्री धर्मानन्द नायक महास्थविर को ताल-पत्र पर लिखी 'पञ्चिका' की एक पुरानी पुस्तक लका के किसी विहार मे मिल गई। उन्होने उसे सपादित कर विद्यालकार परिवेण, लका मे प्रकाशित करवाया है।"[2] निश्चय ही मोग्गल्लान-व्याकरण और मोग्गल्लान-पञ्चिका पालि-व्याकरण का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए आज भी बडे आवश्यक ग्रन्थ है। मोग्गल्लान-व्याकरण की वृत्ति (वुत्ति) के अन्त मे व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है, जिससे हमें मालूम होता है कि मोग्गल्लानमहाथेर अनुराधपुर (लका) के थूपाराम

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)
२. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ इक्यावन (वस्तुकथा)

नामक विहार मे निवास करते थे और उन्होने अपने व्याकरण की रचना परक्कमभुज (पराक्रमबाहु) के शासन-काल में की थी । विद्वानो का अनुमान है कि इन परक्कमभुज से तात्पर्य पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) से है, जिनके शासन-काल मे लका मे पालि-साहित्य की बडी समृद्धि हुई । अत मोग्गल्लान महाथेर का काल बारहवी शताब्दी का अतिम भाग ही मानना चाहिए[१] । मोग्गल्लान-व्याकरण के आधार पर बाद मे चलकर अन्य व्याकरण-साहित्य की रचना हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्य ग्रन्थ ये है । (१) 'पद-साधन' जिसकी रचना मोग्गल्लान के शिष्य पियदस्सी ने की । पियदस्सी मोग्गल्लान के समकालिक ही थे । 'पद-साधन' एक प्रकार से मोग्गल्लान व्याकरण का ही सक्षिप्त रूप है । प्रसिद्ध सिंहली विद्वान् के जॉयसा का कथन है कि पियदस्सी के 'पद-साधन' का मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ वही सबध है जो बालावतार का कच्चान-व्याकरण के साथ[२] । १४७२ ई० मे तित्थगाम (लका) निवासी स्थविर श्री राहुल ने, जिनकी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर थी) 'पद-साधन' पर 'पद-साधन-टीका' या बुद्धिप्पसादिनी' नामकी टीका लिखी । (२) वनरतन मेधकर-विरचित 'पयोग-सिद्धि' (प्रयोग-सिद्धि) । मोग्गल्लान व्याकरण-सप्रदाय पर लिखा गया यह सभवत सर्वोत्तम ग्रन्थ है । डे जॉयसा ने मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ इसका वही सबध दिखाया है जो 'रूपसिद्धि' का 'कच्चान-व्याकरण' के साथ[३] । वनरतन मेधकर पराक्रमबाहु के पुत्र भुवनेकबाहु तृतीय के समकालिक थे । अत उनका जीवन-काल १३०० ईसवी के लगभग है[४] । हाँ, यहाँ यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि व्याकरणकार मेधकर इसी नाम के जिनचरित के रचयिता और लोकप्पदीपसार के कवि, इन दोनो व्यक्तियो से भिन्न है । (३) मोग्गल्लान-पञ्चिकापदीप'—'मोग्गल्लान-पञ्चिका' की व्याख्या है । 'पदसाधन-टीका' के लेखक स्थविर राहुल 'वाचिस्सर' ही 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-पदीप' के लेखक है । 'गन्ध-

---

१. मोग्गल्लान-व्याकरण का देवमित्त द्वारा सम्पादित सिंहली संस्करण, कोलम्बो, १८९०, प्रसिद्ध है । अन्य भी बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध है ।

२. कॅटेलाग, पृष्ठ २५ ।

३. कॅटेलाग, पृष्ठ २६ ।

४. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५४ ।

वंस'[१] के वर्णनानुसार 'वाचिस्सर' ने 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पर एक टीका लिखी थी । डा० गायगर ने इन 'वाचिस्सर' को उसी नामके सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य (१२ वी शताब्दी का उत्तर भाग) न मानकर 'मोग्गल्लान-पचिकापदीप' के लेखक इन स्थविर राहुल को ही माना है, जिनकी भी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी[२]। डे ज़ॉयसा के मतानुसार 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-पदीप' व्याकरण-शास्त्र पर एक अत्यत गभीर और पाडित्यपूर्ण रचना है ।[३] इसमे भाषा सबधी बहुत मूल्यवान् सामग्री सकलित की गई है । अनेक प्राचीन सस्कृत और पालि-व्याकरणो के भी उद्धरण दिये गये है । इसकी रचना-तिथि १४५७ ई० है[४] । जैसा पहले कहा जा चुका है, आचार्य श्री धम्माराम नायक महाथेर ने १८९६ ई० मे सिंहली लिपि में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया, जो विद्यालकार परिवेण, लका, से उसी साल प्रकाशित भी हुआ । (४) धातुपाठ[५]—मोग्गल्लान-व्याकरण के अनुसार धातुओ की सूची है । कच्चान-व्याकरण को 'धातु-मजूसा' की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक सक्षिप्त है । उसकी तरह पद्यबद्ध न होकर यह गद्य मे है । सभवत काल-क्रम मे यह उससे प्राचीन है, क्योकि 'धातु-मजूसा' मे इसी का आश्रय लिया गया है[६] । धातुपाठ के रचयिता के नाम या काल के विषय मे अभी कुछ ज्ञात नही हो सका है ।

सद्दनीति[७] और उसका उपकारी साहित्य

पालि-व्याकरण का तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय 'सद्दनीति' का है । यह बरमा मे रचित पालि व्याकरण है । बरमा मे भी सिंहल की ही तरह पालि व्याकरण

---

१. पृष्ठ ६२, ७१ ।
२. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५३ ।
३. केटेलाग, पृष्ठ २४, मिलाइये सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ३४ ।
४. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५४ ।
५. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ ३६७-४१२ (मोग्गल्लान-धातुपाठो)
६. गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५६ ।
७. हेमर स्मिथ ने तीन भागों में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है, देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५४, पद-संकेत ६; लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३६, पद-संकेत १ ।

के अध्ययन की महती परम्परा चली, जिसके पूर्ण विकास को हम 'सद्दनीति' में देखते हैं। कहा जाता है कि बरमा के व्याकरण-ज्ञान की प्रशंसा जब सिंहल में पहुँची तो वहाँ से कुछ भिक्षु बरमा में आये और सद्दनीति-व्याकरण को देख कर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि निश्चय ही इसके समान विद्वत्तापूर्ण रचना उनके यहाँ कोई नहीं है।[1] इसकी रचना ११५४ ई० में हुई। इसके रचयिता बरमी भिक्षु अग्गवंस थे जो 'अग्गपंडित तृतीय' भी कहलाते थे। 'अग्ग पंडित द्वितीय' उनके चाचा थे, जो 'अग्ग पंडित प्रथम' के शिष्य थे। अग्गवंस बरमी राजा नरपतिसिथु (११६७-१२०२) के गुरु थे। अग्गवंस-कृत 'सद्दनीति' एक प्रकार से कच्चान-व्याकरण पर ही आधारित है।[2] मोग्गल्लान-व्याकरण तो सम्भवतः उसके बाद की ही रचना है। संस्कृत व्याकरणों का भी अग्गवंस ने पर्याप्त आश्रय लिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है कि पूर्व आचार्यों (आचरिया) और त्रिपिटक-साहित्य से आश्रय लेकर उन्होंने 'सद्दनीति' की रचना की है। निश्चय ही 'सद्दनीति' एक पांडित्यपूर्ण व्याकरण है। इस ग्रन्थ में सत्ताईस अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्याय 'महा सद्दनीति' और शेष ९ अध्याय 'चूल सद्दनीति' कहलाते हैं। 'पद-माला' 'धातुमाला' और 'सुत्त-माला' इन ३ भागों में सम्पूर्ण सद्दनीति-व्याकरण विभक्त है।

'धात्वत्थ दीपनी' नाम की पद्यबद्ध धातु-सूची में सद्दनीति-व्याकरण के अनुसार धातुओं का संकलन किया गया है। कच्चान-व्याकरण की धातुसूची 'धातु-मंजूसा' और मोग्गल्लान-व्याकरण की धातुसूची 'धातुपाठ' के समान इसमें भी पाणिनीय धातुपाठ का पर्याप्त आधार लिया गया है। यह हिंगुलवल जिनरतन नामक बर्मी भिक्षु की रचना बताई जाती है, जिनके काल का ठीक पता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सद्दनीति' पर और कोई विशेष साहित्य नहीं है। बरमा में यह ग्रन्थ आज भी शास्त्र की तरह पूजित है।

अन्य पालि-व्याकरण

उपर्युक्त तीन सम्प्रदायों के व्याकरण-साहित्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत व्याकरण-साहित्य उपलब्ध है, जो यद्यपि इनमें से किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में नहीं

---

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १६।

२. यह फ्रैंक का मत है जिसे गायगर ने पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५५ में उद्धृत किया है।

रक्खा जा सकता, किन्तु जो पालि व्याकरण के पूर्ण शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह साहित्य भी परिमाण मे इतना अधिक है कि इसकी पूरी सूची तो आचार्य सुभूतिकृत 'नाममाला' या डेजॉयसा के 'केटेलाग' में ही देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थो का ही उल्लेख करेगे।

(१) बरमी भिक्षु सामणेर धम्मदस्सी-कृत 'वच्चवाचक'। चौदहवी शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है। इसकी टीका १७६८ ई० मे बरमी भिक्षु सद्धम्म-नन्दी ने की।[1]

(२) मगलकृत 'गन्धट्ठि', जिसका विषय उपसर्गों का विवेचन करना है। यह चौदहवी शताब्दी की रचना है।[2]

(३) अरियवस-कृत 'गन्धाभरण'। यह भी उपसर्गो का विवेचनपरक ग्रन्थ है। इसकी रचना १४३६ ई० मे हुई।[3]

(४) विभत्यत्थप्पकरण—२७ श्लोको की यह पुस्तिका विभक्तियो के प्रयोगो का विवेचन करती है। सुभूति के मतानुसार इसकी रचना बरमी राजा क्यच्वा की पुत्री ने १४८१ ई० मे की।[4] इस पर बाद मे 'विभत्यत्थ-टीका' या 'विभत्यत्थदीपनी' के नाम से एक टीका लिखी गई। सम्भवत ये दो अलग अलग टीकाएँ भी हो। एक और टीका 'विभत्तिकथावण्णना' के नाम से भी इस रचना पर लिखी गई।

(५) 'सवण्णनानयदीपना'—इस ग्रन्थ की रचना जम्बुधज (जम्बुध्वज) के द्वारा १६५१ ई० में की गई। इसी लेखक के दो अन्य ग्रन्थ 'निरुत्ति सगह' और 'सर्वज्ञन्यायदीपनी' भी प्रसिद्ध है।[5]

(६) सद्दवुत्ति (शब्दवृत्ति) जिसकी रचना चौदहवी शताब्दी के सद्धम्म-

---

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २२।
२. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २६।
३. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४३।
४. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऐंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५७।
५. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५५।

गुरु नामक बरमी भिक्षु ने की[1]। डे जॉयसा ने इस ग्रन्थ का रचना-काल १६५६ ई० माना है।[2]

(७) कारकपुप्फ मजरी—पालि शब्द-योजना पर लिखित यह रचना केंडी (लका) के अतरगमवडार राजगुरु नामक लेखक की है। वहाँ के राजा कीर्ति श्री राजसिंह के शासन-काल (१७४७-८०) में यह रचना लिखी गई।[3]

(८) सुधीरमुखमडन—यह रचना पालि-समास पर है।[4] इसके भी लेखक 'कारकपुप्फमजरी' के समान ही है।

(९) नयलक्खणविभावनी—बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार) ने १८वी शताब्दी के उत्तर भाग मे इस ग्रन्थ की रचना की।[5]

(१०-१२) सद्दविन्दु (नारदथेर), सद्दकलिका, सद्दविनिच्छय आदि अनेक ग्रन्थ पालि-व्याकरण पर लिखे गये हैं, जिनका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

लका और बरमा में छठी या सातवी शताब्दी से लेकर ठीक उन्नीसवी शताब्दी तक पालि-व्याकरण सम्बन्धी जो गहरी तत्परता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न महान् ग्रन्थ-राशि हम देखते हैं, जिसका किंचित् दिग्दर्शन ऊपर किया जा सका है, उसका वास्तविक महत्त्वाकन क्या है? निश्चय ही पालि-व्याकरण का अध्ययन इन देशों में उस समय किया गया जब पालि जीवित भाषा नहीं रही थी। अत पिटक और अनुपिटक साहित्य एव सस्कृत-व्याकरण, यही इनके प्रधान आधार रहे। स्वभावत ही उनमें वह भाषावैज्ञानिक तत्त्व नहीं मिल सकता, जो आधुनिक भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को तृप्त कर सके। किन्तु 'न्यास', 'रूप-काश्यप सिद्धि', 'सद्दनीति' और 'बालावतार' जैसे व्याकरण पाडित्य की दृष्टि से किसी भी साहित्य के व्याकरणों से टक्कर ले सकते हैं। निश्चय ही जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है, मोग्गल्लान की गिनती पाणिनि, चान्द्र, कात्यायन आदि महान्

---

१. मोबिल बोड : पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ २९।
२. केटेलाग, पृष्ठ २७।
३. जॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २४।
४. जॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २८।
५. जॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २५; देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऐंड लैंग्वेज, पृष्ठ ५८ भी।

वैय्याकरणो मे करनी होगी ।[1] भारतीय मूल स्रोत से इतने अलग रह कर भी इन बरमी और सिहली आचार्यों ने संस्कृत के समकालिक पालि-भाषा का कितना सुन्दर और मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है, इसे देख-कर आश्चर्यान्वित रह जाना पडता है । सांस्कृतिक एकता की इससे अधिक गहरी बुनियाद कभी डाली गई हो, इसका इतिहास साक्ष्य नही देता । यह एकता राजाओं के दरबारों में न डाली जाकर भिक्षु-परिवेणो मे डाली गई । इसीलिये वह इतनी स्थायी भी हुई है । एक ही ग्रन्थ (मोग्गल्लानपञ्चिका-पदीप)का अशत पालि और अशतः सिहली में लिखा जाना, भारत और सिहल के उस गौरवमय सम्बन्ध का सूचक है, जिसकी नीव बौद्ध धर्म ने डाली थी और जिसे उसके साहित्य ने दृढ किया है । भारत और स्वय मध्य-मंडल (शास्ता की विचरण-भूमि !) मे ही पालि-अध्ययन के प्रति गहरी उदासीनता को देख कर इन दूरस्थित बौद्ध बन्धुओ के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है ।[2] कारण, इन्होने ही धम्म की ज्योति को प्रकाशित रक्खा है, इन्होने ही ज्ञान के दीपक को हम तक पहुँचाया है । उनका पालि-व्याकरण'-सम्बन्धी प्रभूत कार्य तो इसका एक बाह्य साक्ष्य मात्र है ।

पालि कोश : अभिधानप्पदीपिका एवं एकक्खर कोस

पालि-साहित्य मे केवल दो प्रसिद्ध कोश है, मोग्गल्लान-कृत 'अभिधानप्प-दीपिका'[3] और बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति)-कृत 'एकक्खर-

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)

२. वस्तुतः हमसे अधिक पालि-भाषा और उसके व्याकरण का अध्ययन तो उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है जो बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए हैं । उनके इस संबंधी कार्य और उनकी व्याकरण-संबंधी रचनाओं के परिचय के लिए देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऍड लेंग्वेज, पृष्ठ ५९-६०; लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३८-६४०; लाहा ने पाश्चात्य विद्वानों के साथ साथ, भारतीय विद्वानों के भी इस संबंधी कार्य का विवरण दिया है । बाद का प्रकाशन होने के कारण, खेद है, 'पालि महाव्याकरण' (भिक्षु जगदीश काश्यप कृत) का उल्लेख यहां नहीं किया जा सका । पालि व्याकरण साहित्य पर भिक्षु जी की यह हिन्दी को महत्त्वपूर्ण देन है ।

३. सुभूति द्वारा सिंहली लिपि में संपादित, कोलम्बो १८८३; नागरी लिपि में

कोस' ।[1] 'अभिधानप्पदीपिका' (अभिधानप्रदीपिका) तीन भागों या कांडों में विभक्त है (१) सग्गकंड (स्वर्ग-काड) जिसमे देवता, बुद्ध, शाक्यमुनि, देव-योनि, इन्द्र, निर्वाण आदि के पर्यायवाची शब्दो का संकलन है। (२) भूकड (भू-काण्ड) जिसमे पृथ्वी आदि सम्बन्धी शब्दो के पर्यायवाची शब्दो का सकलन है। (३) सामञ्ञ कण्ड (श्रामण्य-काण्ड) जिसमें प्रव्रज्या सम्बन्धी और सौन्दर्य, उत्तम जैसे शब्दो के पर्यायवाची शब्दो का संकलन है। वास्तव मे यह कोश पर्यायवाची शब्दो का सकलन ही है। बरमा और सिहल मे इस ग्रन्थ का बडा आदर है। इस ग्रन्थ की रचना सस्कृत के अमर-कोश के आधार पर हुई है,[2] इसे प्राय सभी विद्वान् आज स्वीकार करते है। जैसा अभी कहा जा चुका है, अभिधानप्पदीपिका मोग्गल्लान थेर की रचना है। यह स्थविर लकानिवासी भिक्षु थे। अभिधानप्पदीपिका मे इन्होने कहा है कि लकाधिपति 'परक्कम-भुज नामक भूपाल' के शासन-काल मे इन्होने इस ग्रन्थ की रचना की।[3] वही इन्होने अपना निवास-स्थान 'महाजेतवन' नामक विहार बनाया है[4] जो आज पोलोन्नरुवा नामक नगर मे स्थित है। जिस 'परक्कमभुज नामक भूपाल' के शासन-काल मे मोग्गल्लान स्थविर ने 'अभिधानप्पदीपिका' की रचना की वह विद्वानो के निश्चित मतानुसार पराक्रमबाहु प्रथम ही है, जिसका शासन-काल ११५३-११८६ है और जिसके समय मे पालि के टीका-साहित्य की अद्भुत समृद्धि हुई। अत मोग्गल्लान थेर का भी यही समय है। 'अभिधानप्पदीपिका' के लेखक मोग्गल्लान थेर को उसी नाम के और प्राय. उसी

मुनि जिनविजय द्वारा संपादित, गुजरात पुरातत्व मन्दिर, अहमदाबाद सं० १९८० वि०।

१. मुनि जिनविजय द्वारा संपादित उपर्युक्त 'अभिधानप्पदीपिका' के संस्करण में ही 'एकक्खर कोस' भी सम्मिलित है, अभिधानप्पदीपिका पृष्ठ १५७-१७०।

२. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १८८-१८९।

३. परक्कमभुजो नाम भूपालो गुणभूसणो। लंकायमासि तेजस्सीजयी केसरि-विक्कमो। पृष्ठ १५६ (मुनि जिनविजय द्वारा संपादित नागरी-संस्करण)

४. महाजेतवनाख्यम्हि वहारे साधुसम्मते सरोगाम समूहम्हि वसता सन्तवुत्तिना॥ सद्धम्मट्ठितिकामेन मोग्गलानेन धीमता। थेरेन रचिता एसा अभिधान-प्पदीपिका॥ पृष्ठ १५६ (उपर्युक्त संस्करण)

समय के वैयाकरण मोग्गल्लान से भिन्न समझना चाहिये। वैयाकरण मोग्गल्लान, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अनुराधपुर के थूपाराम नामक विहार में रहते थे, जब कि कोशकार मोग्गल्लान ने अपना निवास-स्थान पुलत्थिपुर या पोलोन्नरुवा का जेतवन-विहार बतलाया है। 'गन्धवंस' में कोशकार मोग्गल्लान को 'नव मोग्गल्लान' कहा गया है[१] और वह निश्चयत: वैयाकरण मोग्गल्लान से उनकी भिन्नता दिखाने के लिये ही। चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में 'अभिधानप्पदीपिका' पर एक टीका भी लिखी गई। 'एकक्खरकोस' बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्त्ति) की रचना है। १४६५ ई० में इस कोश की रचना की गई। यह कोश एकाक्षरात्मक शब्दों की पद्यबद्ध सूची है। संस्कृत भाषा के एकाक्षरी कोश का का यह पालि रूपान्तर मात्र ही कहा जा सकता है। इसके अन्त में आता है— इति सद्धम्मकित्ति नाम महाथेरेन सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचित एकक्खरकोसं नाम सद्दप्पकरण परिसमत्त" (सद्धर्मकीर्ति नामक महास्थविर द्वारा संस्कृत भाषा से रूपान्तरित कर के विरचित 'एकाक्षरकोश' नामक शब्द-प्रकरण समाप्त)।

छन्दः शास्त्रः वुत्तोदय आदि

पालि में छन्द शास्त्र पर 'वृत्तोदय' (वुत्तोदय) नामक एक मात्र प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'छन्दोविचित' 'कविसारपकरण' 'कविसार टीका निस्सय' नामक अल्प प्रसिद्धि के एक-आध ग्रन्थ और भी हैं। 'वुत्तोदय' की रचना, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य, खुद्दक सिक्खा-टीका और कच्चान-व्याकरण पर 'सम्बन्ध-चिन्ता' के लेखक (जिनका निर्देश पहले हो चुका है) स्थविर संघरक्खित हैं, जिनका काल १२वीं शताब्दी का उत्तर भाग है। 'वुत्तोदय' पर 'वचनत्थजोतिका' नाम की एक टीका भी लिखी गई।

काव्य-शास्त्र—सुबोधालङ्कार

पालि काव्य-शास्त्र पर 'सुबोधालंकार' एक मात्र रचना है। इसके रचयिता उपर्युक्त स्थविर संघरक्खित ही हैं।

पालि का अभिलेख-साहित्य

(पालि का सब से बड़ा गौरव बुद्ध-वचनों के बाद उसका अभिलेख-साहित्य

---

१. पृष्ठ ६२।

है। भारतीय साहित्य और इतिहास की ही नही, विश्व-संस्कृति के इतिहास की भी वह मूल्यवान् सम्पत्ति है। मात्रा में स्वाभाविक रूप से अल्प होते हुए भी यह साहित्य अपनी उदात्त और गम्भीर वाणी, स्वाभाविक और सरल शैली, एवं जीवन के गम्भीरतम पहलुओं और अनुभवों पर निष्ठित होने के कारण उसी महत्ता को लिये हुए है, जिसे हम उपनिषत्कालीन ऋषियों की वाणी, बुद्ध-वचनो, मध्यकालीन सन्तों के उद्गारों या आधुनिक काल में महात्मा गाँधी की सहज, आत्म-नि.सृत वाणी से सम्बन्धित करते हैं। पालि का अभिलेख-साहित्य ई० पू० तीसरी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी ईसवी तक मिलता है। अशोक के शिलालेख उसकी उपरली काल-सीमा और बरमा के राजा धम्मचेति के प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख उसकी निचली काल-सीमा निश्चित करते हैं। इन काल-कोटियों से वेष्टित प्रसिद्ध पालि अभिलेख-साहित्य यह है, अशोक के शिलालेख, साँची और भारहुत के अभिलेख सारनाथ के कनिष्क कालीन अभिलेख, मौगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख, बोबोगी पेगोडा (बरमा) के खडित शिलालेख, प्रोम (बरमा) के बीस स्वर्णपत्र-लेख, पेगन के १४४२ ई० के अभिलेख, कल्याणी-अभिलेख। इनमें अशोक के शिलालेख सब के सिरमौर है और काल-क्रम में भी वे सर्व-प्रथम आते है।

अशोक के शिलालेख

(अशोक के शिलालेख उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में उडीसा से पच्छिम में काठियावाड तक पहाडी चट्टानों और पत्थर के विशाल स्तम्भो पर उत्कीर्ण मिलते हैं।) इन शिलालेखों का प्रधानत तीन दृष्टियों से बडा महत्त्व है। (१) इन शिलालेखो में अशोक ने अपने शब्दो में अपनी जीवनी का वर्णन किया है। जीवनी किसी स्थूल अर्थ में नही। अशोक ने यहाँ अपने आन्तरिक जीवन के परिवर्तन का, अहिसा के अपने प्रयोगो का, जीवन के अपने गम्भीरतम अनुभवो का, सादी से सादी भाषा में, बडी स्पष्टता और सच्चाई के साथ, वर्णन किया है। (२) अशोक-कालीन इतिहास को जानने के लिये ये शिलालेख प्रकाशगृह हैं। पालि-साहित्य के अन्य वर्णनों की अपेक्षा इन शिलालेखो का साक्ष्य इतिहास-लेखको को सदा अधिक मान्य रहा है। निश्चय ही ये शिलालेख स्वतः प्रमाण-सिद्ध हैं और इन्ही के आधार पर अशोककालीन इतिहास का निर्माण किया गया है। (३) (अशोक के शिलालेखो से पालि भाषा के स्वरूप और उसके

साहित्य के विकास पर भी काफी प्रकाश पडता है । हमारे प्रस्तुत अध्ययन के प्रसंग में उनका यह महत्व हमारे लिये सब से अधिक मूल्यवान् है । पहले हम अशोक के शिलालेखो का संक्षिप्त विवरण देंगे, फिर उपर्युक्त तीनों दृष्टियो से उनके महत्त्व का विवेचन करेंगे ।

उनका वर्गीकरण

काल-क्रम के अनुसार विसेन्ट स्मिथ ने अशोक के शिलालेखों को निम्न-लिखित आठ भागो मे विभक्त किया है ।[1]

(१) लघु शिलालेख—ये सात शिलालेख हैं, जो सहसराम, रूपनाथ, वैराट, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिग रामेश्वर और मास्की नामक स्थानो मे मिले हैं । सहसराम विहार मे है, रूपनाथ जबलपुर के समीप मध्य-प्रान्त मे है, वैराट जयपुर रियासत मे है, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर और जतिग रामेश्वर मैसूर रियासत मे हैं, और मास्की हैदराबाद राज्य मे है ।

(२) भाब्रू शिलालेख-जयपुर रियासत मे वैराट के पास मिला था ।

(३) चतुर्दश शिलालेख (ई० पू० २५६ के लगभग)—ये लेख पहाड़ो की चट्टानो पर खुदे हुए इन स्थानो पर मिले है, शहबाजगढी और मनसेहर (पेशावर जिले मे), कालसी (देहरादून जिले मे), गिरनार (काठियावाड मे), धौली (कटक के पास) और जौगढ (मद्रास-प्रान्त)

(४) दो कलिंग लेख (ई० पू० २५६)—कलिंग मे पत्थर की चट्टानों पर खुदे मिले हैं ।

(५) तीन गुफा-लेख (ई० पू० २५७ और ई० पू० २५०)—गया के पास बागबर नाम की पहाडी मे मिले हैं ।

(६) दो तराई स्तम्भ-लेख (ई० पू० २४९)—नैपाल की तराई में रुम्मन-देई और निग्लिवा नामक गाँवों के पास मिले हैं ।

(७) सप्त स्तम्भ-लेख (ई० पू० २४३-२४२)—ये लेख स्तम्भो पर खुदे हुए इन छ स्थानो पर मिले है (१) मेरठ (२) अम्बाला के पास टोपरा । ये दोनो लेख दिल्ली मे ले आये गये हैं । (३) प्रयाग (के किले का स्तम्भ-लेख)

---

[1]. ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ १०३-१०४ ।

(४) लौरिया अरराज, (५) लौरिया नन्दनगढ़ (६) रामपुरवा। अन्तिम तीन स्थान विहार के चम्पारन जिले में हैं।

(८) चार गौण स्तम्भ (ई० पू० २४२-ई० पू० २३२)—इनमें से दो लेख साँची और सारनाथ की लाटों पर खुदे हुए हैं और दो प्रयाग के स्तम्भ पर पीछे से जोड दिये गये हैं।

अशोक का व्यक्तित्व, उसका राजनीति-दर्शन और तत्कालीन भारत की परिस्थिति, इन लेखो से स्पष्टत: व्यंजित होते हैं। सब से पहले अशोक की बुद्ध-भक्ति है, जिसने अशोक को अशोक बनाया। अशोक का विश्व-इतिहास मे जो कुछ भी स्थान है[1] या अपने राजनीति-दर्शन के रूप मे अशोक जो कुछ भी विश्व को दे गया है, वह सब बुद्ध का एक छोटा सा दान है। उससे अधिक भी बहुतो ने पाया है, यद्यपि इतिहास मे उनका नाम नही है। अशोक ने बुद्ध से जो कुछ पाया, उसे वह स्वय भी ज्ञानपूर्वक समझता था। भीषण कलिग-युद्ध के बाद उसके हृदय में जो ग्लानि पैदा हुई थी, उसका उसने अपने तेरहवे शिलालेख मे मार्मिक वर्णन किया है। यह उसके लिये एक युगान्तकारी घटना थी। इसके बाद उसने निश्चय किया कि ससार मे क्षेम, सयम, चित्त-शान्ति और प्रसन्नता की ही वृद्धि करूँगा, शान्ति, सद्भाव और अहिंसा का ही प्रचार करूँगा। यही सर्वोत्तम विजय होगी। रणभेरी को छोडकर उसने धर्म-घोष से ही दिशाओ को गुजायमान करने का निश्चय किया। यही उसका 'प्रियदर्शी' रूप था। अशोक पहले नर-हत्यारा था, चडाशोक था। बुद्ध-अनुभाव से वह देवताओ और मनुष्यो का प्यारा हुआ, धर्माशोक हुआ। अशोक के इस जीवन-परिवर्तन में कहाँ तक बौद्ध प्रभाव उत्तर-दायी था अथवा कहाँ तक यह उसके स्वतत्र विचार और चिन्तन का परिणाम था, इसके विषय मे विवाद करने की गुजायश नही है। विसेन्ट स्मिथ का यह कहना कि अशोक अपने धर्म-परिवर्तन का श्रेय किसी दूसरे को नही देना चाहता था,[2]

---

१. "Amidst the tens and thousands of names of monarchs that crowd the columns of History. ....the name of Asoka shines, and shines almost alone a star" एस० जी वेल्स अपनी 'आउट लाइन ऑव हिस्ट्री' में।

२. स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया है कि अशोक ने जिस धर्म का अपने शिला-लेखों में उपदेश दिया है वह तो संपूर्ण भारतीय धर्मों का वह समन्वित रूप

ठीक नहीं है । इसमें सन्देह नहीं कि पुरुषार्थ तो मनुष्य को स्वयं ही करना होता है और पर्याप्त हृदय-मथन के बाद उपयुक्त चित्त-भूमि भी उसे ही तैयार करनी होती है । यह सब अशोक ने भी किया था । कलिंग-युद्ध के बाद उसके हृदय में धार्मिक पवित्रता और शान्ति के लिये उत्कट अभिलाषा (तिव्रे धम्मवय धम्म-कसट) उत्पन्न हुई थी । परन्तु कौन जानता है कि इतना होने पर भी अशोक को यदि स्थविर (या श्रामणेर[1]) न्यग्रोध न मिलते तो 'बिखरे हुए बादल की तरह, वह विनष्ट नहीं हो जाता । अत: अशोक को बुद्ध-शासन का प्रकाश अवश्य मिला था, जिसके लिये उसने अपने शिलालेखों में पर्याप्त कृतज्ञता भी प्रकाशित की है । भाब्रू शिलालेख में उसने मगध के भिक्षु-संघ का श्रद्धापूर्वक अभिवादन किया है, उनके कुशल-मंगल की कामना की है और कहा है, "भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है । भन्ते ! भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है ।" कलिंग-युद्ध अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में हुआ था, और उसके बाद ही उसने न्यग्रोध नामक भिक्षु से उपासकत्व की दीक्षा ली थी ।[2] उसके बाद ही तो अशोक नियमित रूप से बौद्ध गृहस्थ-शिष्य (उपासक) हो गया । अपने 'धर्म तथा शील में प्रतिष्ठित' (धम्मम्हिसीलम्हि तिट्ठन्तो) होने की बात अशोक ने अपने छठे शिलालेख में भी कही

था जिसे अशोक ने अपने स्वतन्त्र विचार के परिणामस्वरूप उद्भावित किया था और उसका बुद्ध-धर्म से, जैसाकि वह त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थों में निहित है, कोई संबंध नहीं है । देखिये उनका अशोक : पृष्ठ ५९-६६ ।

१. जिस व्यक्ति से अशोक को बुद्ध-मत की दीक्षा मिली, उनका नाम स्थविर-वाद परम्परा के अनुसार न्यग्रोध था । 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार न्यग्रोध स्थविर थे; 'समन्त पासादिका' में उन्हें स्थविर और श्रामणेर दोनों ही कहा गया है । महावंश (५।६४-६८) के अनुसार वे केवल श्रामणेर थे । चाहे स्थविर हों, चाहे श्रामणेर, भिक्षु न्यग्रोध एक कुशल योगी अवश्य थे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से अशोक को आकृष्ट कर लिया । 'दिव्यावदान' की महायानी परम्परा में अशोक के गुरु का नाम स्थविर समुद्र कहा गया है, जो उतना प्रामाणिक नहीं है ।

२. यद्यपि पालि-वृत्तान्त के अनुसार अभिषेक के चौथे वर्ष अशोक ने बुद्ध-मत की दीक्षा ली (चतुत्थे संवच्छरे बुद्ध-सासने पसीदि)

है। मैसूर के तीन लघु शिलालेखों में अशोक ने अपने उपासक-जीवन का वर्णन किया है। यहाँ उसके उपासक स्वरूप की दो अवस्थाएँ उपलक्षित होती हैं। पहली अवस्था वह है जिसमें अशोक एक साधारण उपासक मात्र है। 'य हक उपासके' अर्थात् जब कि मैं उपासक था। दूसरी अवस्था वह है जिसमें अशोक सघ मे जाने वाला (सघ उपयिते) उपासक बन गया है। अपनी इस अवस्था को सूचित करते हुए उसने कहा है 'य मया सघे उपयिते' अर्थात् जब कि मैं सघ के दर्शनार्थ जाता था। अशोक के धर्म-विकास की अन्तिम अवस्था वह है जब कि वह 'भिक्खुगतिक' हो जाता है, अर्थात् स्वय भिक्षु तो नही होता, किन्तु अनासक्त भाव से राज्य-कार्य करता हुआ वह कभी कभी सत्सग पाने के लिये विहार मे जाकर भिक्षुओं के साथ रहने लगता है।[1] यहाँ अशोक पूर्ण राजर्षि-पद प्राप्त कर लेता है। चीनी यात्री इ-चिंग् ने, जो सातवी शताब्दी में भारत मे आया था, अशोक की एक मूर्ति भिक्षु-वेश मे भी देखी थी। किन्तु यह सन्दिग्ध है कि अशोक अपने अन्तिम जीवन में भिक्षु हो गया था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नही कि बुद्ध, धम्म और सघ में अशोक की असीम निष्ठा थी। अपने राज्याभिषेक के इक्कीसवे वर्ष वह भगवान् बुद्धदेव को जन्मभूमि लुम्बिनीवन मे गया और वहाँ एक सुन्दर, गोलाकार स्तम्भ पर उसने अकित करवाया " हिद बुधे जाते सक्यमुनीति . . हिद भगवा जातेति लुम्मिनिगामे" अर्थात् यही लुम्बिनी-ग्राम मे शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे, यही भगवान् उत्पन्न हुए थे। अशोक की बुद्ध-निष्ठा का यह ज्वलन्त उदाहरण है। उसने कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, गया आदि अन्य स्थानों की भी, जो बुद्ध की स्मृति मे अकित थे, यात्रा की और अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। पहले अशोक की पाकशाला मे हजारो जीव प्रतिदिन मारे जाया करते थे।[2] अपने प्रथम शिलालेख मे उसने सूचना दी है कि इस समय सिर्फ दो मोर और एक हिरन ही मारे जाते है, जिनमे हिरन का मारा जाना निश्चित नही है और आगे

---

१. देखिये राधाकुमुद मुकर्जी : मैन एंड थॉट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ १३०।

२. पुलुवं महानसि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पान सत सहसानि आलभियिसु सुपठाये (पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में अनेक शत-सहस्र प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे) शिलालेख १ (जौगढ़)

ये तीन प्राणी भी नही मारे जायँगे।[१] मृगया और विहार-यात्राओ के स्थान पर उसने धर्म-यात्राएँ करना प्रारम्भ किया,[२] क्योकि अब उसे जीवन की गम्भीरता का ज्ञान हो चुका था। उसने देख लिया था कि ससार के सुख-भोग, प्रतिष्ठा और बडप्पन, परलोक मे कुछ काम नही आते।[3] अशोक यद्यपि बौद्ध था, किन्तु सम्प्रदायवाद उसके हृदय मे नही था। विश्व का होने के लिये ही वह बुद्ध का हुआ था। ब्राह्मण ओर जैन साधुओ को भी वह बौद्धो के समान ही दान देता था और उनके तीर्थ स्थानो के भी समान आदर के साथ ही दर्शन करता था। अपने बारहवें शिलालेख में अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का मर्मस्पर्शी उपदेश दिया है। उसका कहना है कि सच्ची धर्मोन्नति का मूल वाक्सयम है (इद मूल वचि गुति)। मनुष्य अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निन्दा न करे। जो अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण अपने ही धर्म वालो की प्रशसा करताहै और अन्य धर्मानुयायियो की निन्दा करता है वह वास्तव मे अपने सम्प्रदाय को बहुत हानि पहुँचाता है। वह इस प्रकार अपने धर्म को क्षीण करता है और पर-धर्म का अपकार करता है। लोग एक दूसरे के धर्म को सुने और उसका सेवन करे। सब धर्म वाले बहुश्रुत हो और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। "प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्म वाले सर्वत्र मेल-मिलाप मे रहे। वे सभी सयम ओर भाव-शुद्धि चाहते है। मनुष्यो के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते है। कोई अपने धर्म का पूरी तरह और कोई अशमात्र पालन करेगे। जिसके यहाँ देने को बहुत दान नही है, उसमे भी सयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ भक्ति तो अवश्य हो ही सकते है।"४ सर्वधर्म-समभाव का इससे अधिक प्रभावशाली उपदेश विश्व-इतिहास मे नही दिया गया। अशोक ने भारत और उसके बाहर ग्रीस आदि देशो मे इस विश्व-धर्म का प्रचार करने के लिये जो महनीय कार्य किया वह उसके दूसरे और तेरहवे

---

१. **सेअज अदा इयं धंमलिपी लिखिता तिनियेव पानानि आलभियंति--दुवे मजला एके मिगे। से पि चु मिगे नो धुवं। एतानि पि चु तिनि पानानि पछा नो आलभियिसंति। शिलालेख १ (जौगढ़)**

२. **शिलालेख ८**

३. **शिलालेख १०**

४. **शिलालेख १२**

शिलालेखो मे अंकित हैं और दूसरे अध्याय मे तृतीय बौद्ध संगीति का वर्णन करते समय हम उसका कुछ उल्लेख कर चुके हैं ।

अशोक ने बुद्ध-धर्म को जैसा समझा और जैसा उसका आचरण किया, वह कुछ प्रव्रजितो का ही धर्म नहीं था, बल्कि जीवन की पवित्रता पर आश्रित वह विस्तृत लोक-धर्म था, जिसका आचरण जीवन की प्रत्येक अवस्था मे और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है । अहिंसा, बडो का आदर, सत्य-भाषण, इन बातो को सिखाते हुए प्रियदर्शी राजा कभी थकता नही ।[१] माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमणो का आदर करना, दास और भृत्यो के साथ सद्व्यवहार करना, यही सब अशोक की शिक्षाएँ थी ।[२] अल्पव्ययता और अल्पभाण्डता (कम सामान इकट्ठा करना) की उसने बडी प्रशसा की है ।[3] आत्म-निरीक्षण को उसने धर्म का प्रमुख साधन माना है । बुद्ध के समान अशोक ने भी धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर जोर दिया है । तत्कालीन लोकाचारो की एक सच्चे बुद्धिवादी के समान तुच्छता दिखाते हुए उसने कहा है—'बीमारी मे, निमंत्रण मे, विवाह मे, पुत्र-जन्म और यात्रा के प्रसगो पर स्त्री-पुरुष बहुत से मगल-कार्य करते हैं, परन्तु मे वे मगल थोडे फल के देने वाले होते हैं । किन्तु अहिंसा, दया, दान, गुरुजनो की पूजा इत्यादि धर्म के मगल-कार्य अनन्त-पुण्य उत्पन्न करते हैं ।"[४] अशोक ने धर्म-दान की बडी प्रशसा की है । उसने कहा है कि सच्चा अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है, सच्ची यात्रा धर्म की यात्रा है, सच्चा मंगलचार धर्म-मगल है ।[५] वास्तव मे धर्म (धम्म) शब्द को यहाँ अशोक ने बडे व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया है ।

अशोक की शासन-नीति को जानने के लिये उसके अभिलेख बडे सहायक हैं । कोई भी शासक अपनी आज्ञाएँ शिलालेखो पर खुदवा सकता है । किन्तु अशोक के अभिलेखो जैसा स्थायित्व, उनकी इतनी विश्वजनीनता, इतनी मार्मिकता, इतनी गम्भीर सच्चाई, विश्व-साहित्य मे अन्यत्र कही नही देखी गई । वे

१, २. शिलालेख ३, ९ और ११ ।

३. शिलालेख ३ ।

४. शिलालेख ९

५. देखिये शिलालेख ९ (गिरनार, धौली और औगढ़ का पाठ); शिलालेख ११ भी; मिलाइये धम्मपद, 'सब्बदानं धम्मदानं जिनाति ।' ।

एकदम इतिहास की सामग्री है, उच्चतम साहित्य है, और गम्भीरतम जीवन-दर्शन भी है। उनके अन्दर 'प्रियदर्शी' की लोक-कल्याण के लिये छटपटाती हुई आत्मा अभी तक निःश्वास ले रही है और अतीत को जीवन प्रदान कर रही है। राजनीति जीवन से भिन्न नही है। बल्कि उसका ही एक अग है। अशोक ने जो तत्त्व जीवन मे देखा है, उसी का अपने राजनैतिक जीवन मे अभ्यास किया है, उसी को अपनी प्रजाओ को सिखाया है और उसी को लेखो मे अंकित करवाया है। क्या है वह तत्त्व ? यह वही तत्त्व है जिसे स्थविर न्यग्रोध ने उसे प्रथम बार सिखाया,[1] तथागत ने जिसे अन्तिम बार दुहराया,[2] अशोक ने जिसे जीवन भर निभाया—कल्याणकारी कार्यों मे अप्रमाद, अनवरत और अनासक्त कर्म-योग का अभ्यास। यही तथागत का वीर्यारम्भ है, अशोक के लेखबद्ध शब्दो मे यही 'उस्टान'[3] (उत्थान) है, यही 'उयम'[4] (उद्यम) है, यही 'उसह'[5] (उत्साह) यही 'पकम'[6] या 'परक्कम'[7] (पराक्रम) है, जिसे सिखाते हुए 'पियदसी धम्म-राजा' कभी थकता नही। निरालस होकर परोपकार के लिये अदम्य कर्मयोग का अभ्यास ही अशोक के जीवन का मूल दर्शन है, जिसे उसने राजनीति के क्षेत्र मे भी प्रयुक्त किया है और उसे धर्म-साधना का अग बना लिया है।[8] अपने छः

---

१. दीपवंस में कहा गया है कि न्यग्रोध ने अशोक को यह गाथा सुनाई "अप्रमाद अमृत-पद है। प्रमाद मृत्यु का पद है। अप्रमादी मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, प्रमादी मनुष्य तो मृत ही है।" धम्मपद के द्वितीय वग्ग की यह प्रथम गाथा है। महावंस ५।६८ के अनुसार भी न्यग्रोध ने अशोक को यही गाथा सुनाई।

२. तथागत के अंतिम शब्द ये थे 'अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को सम्पादन-करो" (अप्पमादेन सम्पादेथ—महापरिनिब्बाण-सुत्त—दीघ. २।३), मिलाइये महासकुलुदायि-सुत्त —मज्झिम. २।३।७—आनापानसति सुत्त मज्झिम. ३।२।८); अप्पमत्तक वग्ग (अंगुत्तर-निकाय, एक = क निपात) सम्मप्पधान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय); थपति-सुत्त (संयुत्त-निकाय) (पधानिय-सुत्त (अंगुत्तर निकाय) आदि, आदि।

३. शिलालेख ६

४. शिलालेख १३

५. स्तम्भलेख १

६. लघु शिलालेख

७. शिलालेख १०

८. इसी को व्यक्त करते हुए उसने अमर शब्दों में कहा है "नास्ति हि कंमतरं

शिलालेख में उसने कहा है "मैंने यह प्रबन्ध किया है कि प्रत्येक समय, चाहे उस समय मैं खाता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ, चाहे शयनागार में रहूँ, चाहे उद्यान मे रहूँ, सब जगह ही प्रतिवेदक (पेशकार) जनता के कार्य की सूचना मुझे दें। मैं जनता के कार्य सब जगह करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दू कि अमुक कार्य किया जाय और महामात्रो में उसके विषय मे कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि-परिषद् उसे स्वीकार न करे तो हर घड़ी और हर समय मुझे सूचना दी जाय क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ और कितना ही राज्य-कार्य करूँ, फिर भी मुझे पूर्ण सन्तोष नही होता। मै जो कुछ प्रयत्न (पराक्रम) करता हूँ, वह इसलिये कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण हो जाऊँ और यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ और परलोक मे उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। अत्यधिक प्रयत्न (पराक्रम) के बिना यह कार्य कठिन है। जिस प्रकार मैं अपने पुत्रो का हित और सुख चाहता हूँ उसी प्रकार मैं लोक के ऐहिक और पारलौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" इसी प्रकार अपने चौथे स्तम्भ-लेख में अशोक ने घोषणा की है "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण दाई के हाथ सौपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि यह धाय मेरे बालक को सुख देने की भरपूर चेष्टा करेगी उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के लिये मैंने 'रज्जुक' नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" इन वाणियों से अशोक के कार्य औरनीति का पता लगसकता है। अहिसा के सिद्धान्त को वह व्यावहारिक राजनीति के साथ समन्वित करने की कितनी क्षमता रखता था यह उसके उस अभिलेख से स्पष्ट होता है जो उसने सतत उपद्रव करने की ओर प्रवणता रखने वाली उत्तर-पच्छिमी सीमा की जंगली जातियों को सम्बोधित करते हुए उनके प्रदेश में अंकित करवाया था, "सीमान्त जातियाँ मुझ से भयभीत न हो, मुझ पर विश्वास रखे और मेरे द्वारा सुख प्राप्त करे, कभी दु ख न पावें और विश्वास रखे कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है। राजा हम लोगों के साथ क्षमा का व्यव-

---

सर्वलोकहितत्पा य च किं चि" (शिलालेख ६, गिरनार संस्करण), (नहीं है निश्चय ही सब लागों के हित से अधिक उपादेय काम)

हार करेंगे।"[१] सम्राट् अशोक और उनके उच्च कर्मचारी समय समय पर पर जनता के सम्पर्क में आने और उसके दर्शन करने के लिये (जानपदस जनस दसन) राज्य का दौरा (अनुसयान) करते थे।[२] अशोक चाहता था कि कानून के भय से ही लोग सदाचार का आचरण न करे, बल्कि उनके आन्तरिक जीवन को इस प्रकार शिक्षित किया जाय जिससे वे पाप की ओर प्रवण ही न हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने 'महामात्र' नामक उच्च कर्मचारी नियुक्त किये थे और उन्हे अनेक विशेषाधिकार भी दिये थे।[3] इन कार्यों के अलावा अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य मे स्थान स्थान पर धर्मशालाएं बनवाई, मनुष्यों और पशुओ को आराम देने के लिये छायादार पेड लगवाये, आम्र-वाटिकाएं बनवाई और पानी के कुड बनवाये।[४] सब से बडा काम उसने औषधालय और चिकित्सालय खोलने का किया। अपने दूसरे शिलालेख मे अशोक ने कहा है कि उसने रोगी मनुष्यो और पशुओं के लिये अलग अलग चिकित्सालय स्थापित किये है।[५] यह काम उसने न केवल अपने ही राज्य मे किया है, बल्कि विदेशो मे भी अपने धर्मोपदेशको द्वारा करवाया है।[६] जहाँ-जहाँ मनुष्यो और पशुओ के प्रयोग मे आने वाली औषधियो और औषधोपयोगी कन्द-मूल फल नही है, वहाँ-वहाँ वे भिजवाये गये है और लगवाये गये है।[७] कहने की आवश्यकता

---

१. शिलालेख २।

२. शिलालेख ८ (गिरनार); शिलालेख १२ भी।

३. शिलालेख ५, स्तम्भ लेख ७; धर्म महामात्रो के क्या कर्तव्य थे, इसके लिए देखिये "अशोक की धर्मलिपियाँ" प्रथम भाग (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृष्ठ ५१-५२।

४. स्तम्भलेख ७।

५. द्वे चिकीछा कता मनुस चिकीछा च पसुचिकीछा च। शिलालेख २।

६. शिलालेख १३ एवं २।

७. ओसुढ़ानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। मूलानि च फलानि च यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि रोपापितानि च। शिलालेख २।

नही कि यह काम अशोक ने जाति-धर्म-देश-निर्विशेष प्राणि-मात्र के कल्याणार्थ ही किया । उसी के द्वारा मानवता की दुन्दुभी विश्व मे चारो ओर बजवाई गई । बौद्ध धर्म उसी समय से विश्व-धर्म बन गया ।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद अब हमे उस महत्त्वपूर्ण साक्ष्य को देखना है जो अशोक के अभिलेख पालि-भाषा के स्वरूप और उसके साहित्य के विकास के विषय में देते है । अशोकके अभिलेखोमें तत्कालीन लोक-भाषा (मागधी भाषा) के कितने स्वरूप दृष्टिगोचर होते है और उनका तथाकथित पालि-भाषा से क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तृत विवेचन हम पहले अध्याय मे कर चुके है । गिरनार (पच्छिम) जौगढ (पूर्व) और मनसेहर (उत्तर) के अभिलेखों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन और अनेक विद्वानो के एतद्विषयक मतो की समीक्षा वही की जा चुकी है । अत यहाँ हम केवल पालि साहित्य के विकास पर इन अभिलेखो से जो प्रकाश पड़ता है उसी का विवेचन करेंगे । इस दृष्टि से अशोक के भाब्रू शिला-लेख का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । विषय-गौरव की दृष्टि से भी यह लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है । अत उसे यहाँ उद्धृत करना ही अधिक उपयुक्त होगा ।

(भाब्रू शिलालेख)

पियदसि लाजा मागध सघ अभिवादन आहा, अपाबाधत च फासु विहालत चा । विदित वे भन्ते आवतके हमा बुधसि धम्मसि सघसिति गलवेच पसादे च एके चि भते भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा एचु खो भते हमियाये दिसेया सघ मे चिलठितीके होसतीति अलहामि हक त वतवे । इमानि भते धम पलिया-यानि विनयसमुकसे, अलिय वसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेय सूते, उपति-सपसिने ए च लाहुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते । एतान भते धमपलियायानि इच्छामि । कि ति बहुके भिखुपाये च भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालेयेयु चा । हेव हेवा उपासका च उपासिका चा एतेनि भते इम लिखापयामि अभिहेत म जानंतानि ।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रियदर्शी राजा मगध के संघ को अभिवादन करता है और उनका कुशल-मंगल चाहता है । भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के

प्रति मेरे हृदय मे कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते ! भगवान् ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है। भन्ते ! जो कुछ मुझे कहना है, उसे कहता हूँ, ताकि सद्धर्म चिरस्थायी हो।

भन्ते ! ये धम्म-पलियाय है—विनय-समुत्कर्ष, आर्यवश, अनागतभय, मुनिगाथा, मोनेय्य-सूत्र, उपतिष्य प्रश्न, और राहुलोवाद-सूत्र, जिसमे भगवान् ने मृषावाद के विषय मे उपदेश दिया है। भन्ते ! मै चाहता हूँ कि सभी भिक्षु, भिक्षुणियां, उपासक तथा उपासिकाएँ, इन्हे सदा सुने और पालन करे। भन्ते ! इसीलिए मै यह लेख लिखवा रहा हूँ, ऐसा समझे।"

उपर्युक्त अभिलेख मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ अशोक ने कुछ बुद्ध-वचनों (धम्म-पलियाय) के नाम लेकर भिक्षु-भिक्षुणियो और उपासक-उपासिकाओ सभी को उनका सतत स्वाध्याय करने की प्रेरणा की है। उसने बुद्ध-वचनो के कुछ ऐसे अंशो को चुना है जिनकी महत्ता सार्वजनीन है और जिनमे सदाचार के उस रूप की प्रतिष्ठा की गई है जिसका आचरण स्त्री-पुरुष सभी कर सकते है। जिन सात धम्म-परियायो या धम्म पलियायो को अशोक ने गिनाया है, वे प्राय उन्ही नामो मे वर्तमान पालि-त्रिपिटक मे भी विद्यमान है। किस-किस धम्म-पलियाय की अनुरूपता पालि त्रिपिटक के किस किस अश या सुत्त के साथ है, यह नीचे लिखे विद्वानो के एतद्विषयक मतो से, जिनमे कही कही कुछ अल्प विभिन्नता भी है, स्पष्ट होगा।

१—विनय-समुकसे (विनय-समुत्कर्ष)

१ विनय का उत्कृष्ट उपदेश या पातिमोक्ख—डा० रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग[१]

---

१. सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं पृष्ठ २६ (भूमिका), अलग अलग भी रायस डेविड्स : जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी १८९६; बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९; इसी प्रकार ओल्डन बर्ग : विनय-पिटक, जिल्द पहली पृष्ठ ८० में टिप्पणी (विनय-पिटक का रोमन-लिपि में संस्करण, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित)।

२. बुद्ध की सामुक्कंसिका धम्मदेसना' (ऊँचा उठानेवाला धर्मोपदेश) जिसका उपदेश वाराणसी में दिया गया (अर्थात् धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त)—ए० जे० एडमंड्स[1]

३. सप्पुरिस-सुत्त (मज्झिम ३।२।३) या अंगुत्तर-निकाय का विनय-संबंधी उपदेश (अत्थवसवग्ग)—प्रो० मित्र[2]

४. 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) नाम से प्रसिद्ध सिगालोवाद-सुत्त (दीघ ३।८) तथा 'भिक्खु-विनय' (भिक्षु-विनय) के नाम से प्रसिद्ध अनुमान-सुत्त (मज्झिम)—डा० वेणीमाधव वाडुआ[3]।

५ तुवट्ठक-सुत्त (सुत्त-निपात)—प्रो० भंडारकर

२. अलियवसानि (आर्यवंश)

१. अगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात में निर्दिष्ट चार आर्य-वंश—आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी[4]

२. अगुत्तर-निकाय के दसक-निपात अथवा दीघ-निकाय के संगीति-परियाय सुत्त और दसुत्तर-सुत्त मे निर्दिष्ट दस आर्य-वास—डा० रायस डेविड्स[5]

३. अनागत-भयानि

१. अगुत्तर-निकाय के पचक निपात मे निर्दिष्ट पाच अनागत-भय—डा० रायस डेविड्स[6]

---

१. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१३, पृष्ठ ३८५

२. लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६६५ में उद्धृत।

३. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५

४. इंडियन ऐंटिक्वेरी ४१, ४०

५. ऊपर उद्धृत पद-संकेत १ के समान।

६. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९९८।

४. मुनि गाथा

१. मुनि-सुत्त (सुत्त-निपात)—डा० रायस डेविड्स[1]

५. मोनेय्य-सूते (मोनेय्य-सूत्र)

१. नालक-सुत्त (सुत्त-निपात)—आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी[2]

२. प्रस्तावना को छोडकर नालक-सुत्त का शेष भाग—डा० वेणीमाधव वाडुआ[3]

३ मोनेय्य-सुत्त—डा० रायस डेविड्स[4]

४ 'इतिवुत्तक' के ६७ वे सुत्त एव अगुत्तर-निकाय के तिक-निपात में निर्दिष्ट मोनेय्यानि—डा० विंटरनित्ज़[5]

६. उपतिस-पसने (उपतिष्य-प्रश्न)[6]

१ सारिपुत्त-सुत्त (सुत्त-निपात)—कोसम्बी और वाडुवा[7]

२ मज्झिम-निकाय के रथविनीत सुत्त (१।३।४) मे निर्दिष्ट उपतिष्य प्रश्न—न्यूमैन'[8]

---

१. उपर्युक्त के समान

२. इंडियन एंटिक्वेरी, ४१, ४०

३. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५

४. उपर्युक्त पद-संकेत १ के समान

५. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)

६. उपतिष्य सारिपुत्र का नाम है। चूंकि सुत्त-निपात के सारिपुत्त-सुत्त में सारिपुत्र में कुछ प्रश्न किए हैं जिनका उत्तर बुद्ध ने दिया है, अतः यह प्रायः सुनिश्चित ही है कि अशोक का तात्पर्य इसी उपदेश से था।

७. इन विद्वानों के लेखों का निर्देश ऊपर हो चुका है। डा० विंटरनित्ज़ को भी यही मत मान्य है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)

८. विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०६ में उद्धृत ।

७. लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्च भगवता बुधेन भासिते

(राहुल को उद्देश्य कर मृषावाद के संबंध में भगवान् बुद्ध का दिया हुआ उपदेश)

१ राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम (३।५।५)—डा० रायस डेविड्स[1]

२. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम २।२।१)—एम० सेनार्[2]

उपर्युक्त विवरण का ऐतिहासिक साक्ष्य और महत्त्व स्पष्ट है। यद्यपि भाब्रू-शिलालेख मे निर्दिष्ट धम्म-परियायो की पालि-त्रिपिटक के विशिष्ट सूत्रो से पहचान करने मे विद्वानो मे कुछ मत-भेद अवश्य हैं, किन्तु यह मतभेद बहुत अल्प है और अधिकाश तो एक ही विषय के पालि-त्रिपिटक में अनेक स्थलो मे प्राय समान शब्दो मे वर्णन करने के कारण ही है। अत. यह कहना इसके साक्ष्य को अतिरंजित करना नही होगा कि जिस समय अशोक का यह शिलालेख लिखा गया, अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व, पालि त्रिपिटक अपने उसी रूप मे और अपने सूत्रो के प्राय उन्ही नामो के साथ, जिनमे वह आज पाया जाता है, विद्यमान था।[3] अशोक के प्रज्ञापनो की भाव-शैली से भी यही परिलक्षित होता है। उन पर बुद्ध-वचनो का, जैसे कि वे आज पालि-त्रिपिटक मे निहित है, पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हाँ, विशेषता केवल यही है कि उसने बुद्ध-वचनो के अथाह समुद्र मे से केवल ऐसे सुवचनो को चुन लिया है, जिनका उपदेश सर्व-साधारण के लिये, जिनमें विशेषत गृहस्थो की ही अधिकता होती है, उपकारी हो सकता था। यही कारण है कि चार आर्य-सत्य, आर्य-अष्टागिक मार्ग, प्रतीत्य समुत्पाद, निर्वाण जैसे गभीर विषयो

---

१. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८

२. जर्नल एशियाटिक, १८८४, जिल्द तीसरी पृष्ठ ४७८

३. डा० वेणीमाधव बाडुआ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है, किन्तु विंटरनित्ज़ ने उनके इस निष्कर्ष को कुछ अतिरंजित माना है। देखिये उनका हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०८; फिर भी विंटरनित्ज़ ने उन विद्वानों के साथ भी सहमति नहीं दिखाई है जो अशोक के समय किसी भी प्रकार के पालि-त्रिपिटक का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। देखिये वहीं पृष्ठ ६०८-०९।

का उल्लेख न कर उसने जन-साधारण के सामने इस लोक के साधारण सामाजिक, पारिवारिक और आधुनिक भाषा में कहें तो नागरिक कर्तव्यों का उपदेश रक्खा है जिसे पालि-त्रिपिटक के सिगालोवाद (या सिगालोवाद)-सुत्त (दीघ. ३।८) लक्खण-सुत्त (दीघ ३।७) और महामंगलसुत्त (सुत्त-निपात) जैसे भागों में गृहस्थों को लक्ष्य कर सिखाया गया है। 'सिगालोवाद-सुत्त' तो पूरे अर्थों में 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) ही कहा गया है। अशोक ने जिस-धर्म को सिखाया है उसमें प्राणधारियों की अहिंसा (अनारंभो प्राणानं) जीवों को कष्ट न पहुँचाना (अविहिसा भूतान) माता-पिता की सेवा (मातरि पितरि सुसूसा), बडों का आदर (थेर-सुसूसा), मित्र, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता और शिष्टता का व्यवहार (मित-सस्तुत-अतिकानं ब्राह्मण समणान दानं सम्पटिपति), गुरुओं का सम्मान (गुरून अपचिति), दासों और नौकरों के साथ शिष्टता और उदारता का व्यवहार (दास-भतकम्हि सम्मपटिपत्ति), मितव्ययता और अल्प संग्रह करना (अपव्ययता, अपभाडता) आदि सामान्य लोक-धर्म की बातें ही हैं। बुद्ध ने यही धर्म साधारण जनता को सिखाया था। 'सिगालोवाद-सुत्त' के इस संक्षिप्त उद्धरण को ही देखिये—

"माता-पिता पूर्व दिशा हैं, आचार्य दक्षिण दिशा।
पुत्र-स्त्री पश्चिम दिशा हैं, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा।

दास-कर्मकर नीचे की दिशा हैं, श्रमण-ब्राह्मण ऊपर की दिशा
गृहस्थ को अपने कुल में इन दिशाओं को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिये।"[1]

निश्चय ही अशोक ने अपने 'धम्म' को ऐसे ही बुद्ध-वचनों से पाया है। ऊपर भाब्रू शिलालेख में उसकी बुद्ध-भक्ति दिखाई ही जा चुकी है। सांची प्रयाग और सारनाथ के अपने स्तम्भ-प्रज्ञापनों में संघ-भेद को रोकने के लिये जो तत्परता दिखाई है, वह भी स्पष्ट ही है। वास्तव में उसने अपने सारे जीवन-कार्यों में चक्रवर्ती धर्मराज के उस आदर्श को पूर्ण करने का प्रयत्न किया जो पालि-त्रिपिटक

१. दीघ निकाय, पृष्ठ २७६ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

में उपदिष्ट किया गया है। लक्खण-सुत्त (दीघ ३।७) के अनुसार "चक्रवर्ती, धार्मिक, धर्मराज, चारों दिशाओं को जीतकर, सागर-पर्यन्त इस पृथ्वी (भारतभूमि) को दंड और शस्त्र से नहीं, किन्तु धर्म से जीतकर उसके ऊपर शासन करता है।"[१] अशोक की धम्म-विजय का, उसकी प्राणि-अविहिंसा का, जाति-धर्म-निर्विशेष, संपूर्ण मनुष्य-जाति की सेवा के उसके उच्च आदर्श का, इसके अलावा और अर्थ ही क्या हो सकता था ? अतः यह निर्विवाद है कि अशोक की प्रेरणा का मूलाधार बुद्ध-धर्म ही था। किस प्रकार धम्म-दान की प्रशंसा करते हुए अशोक ने धम्मपद की एक गाथा (२।१) को प्रतिध्वनित किया है, अथवा किस प्रकार उसके नवें शिलालेख के काल्सी, शहबाजगढ़ी और मनसेहर के संस्करण के अन्तिम भाग की शैली 'कथावत्थु' से मिलती जुलती है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। अतः यह निःसंदेह है कि अशोक के शिलालेखों का साक्ष्य उसके बुद्ध-वचनों या पालि-त्रिपिटक के उस रूप से परिचित होने के पक्ष में है जो हमें आज प्राप्त है और जिसमें से 'गृह-विनय' के ही लोक सामान्य आदर्श को लेकर अशोक ने स्वयं (अपने गृहस्थ शासक होने की अवस्था में) उसको अपनाया और उसी को अपनी प्यारी जनताओं को भी सिखाया।

अशोक के अभिलेखों के अलावा अन्य प्रभूत पालि अभिलेख-साहित्य भी हमें आज प्राप्त है। यह बहुत पुराना भी है और उसकी परम्परा ठीक अर्वाचीन काल तक चलती आ रही है। तीसरी और दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर ठीक अठारहवीं शताब्दी तक के पालि अभिलेख हमें प्राप्त हैं। यद्यपि इन सब अभिलेखों का साहित्यिक महत्व और ऐतिहासिक साक्ष्य अशोक के अभिलेखों के समान महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु इनमें से अधिकांश पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। उसकी विकास परम्परा के विभिन्न

---

१. चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराजा चातुरन्तो विजिता वीसो इमं पठविं सागर-परियन्तं अदण्डेन असत्थेन अभिविजिय अज्झावसति। लक्खणसुत्त (दीघ ३।७)

पहलुओ को समझने के लिए वे प्रकाशगृह का काम देते हैं। हम इन सात मुख्य अभिलेखो का यहाँ उल्लेख करेंगे (१) साँची और भारहुत के अभिलेख (२) सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, (३) मौगन (बरमा) के दो स्वर्ण-पत्र लेख (४) मज्ज्ञा (प्रोम-बरमा) का पाचवी-छठी शताब्दी का स्वर्ण-पत्र लेख (५) मज्ज्ञा (प्रोम-बरमा) के बोबोगी पेगोडा मे प्राप्त खंडित पाषाण-लेख (६) १४४२ ई० का पेगन (बरमा) का अभिलेख, और (७) रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का १४७६ ई० का प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख ।

साँची और भारहुत के अभिलेख[1]

प्राय. सभी पुरातत्वविदो का इस विषय मे एक मत है कि साँची और भारहुत के स्तूप तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के हैं। इन स्तूपो की पाषाण वेष्टनियो पर जो लेख उत्कीर्ण हैं और प्राचीन बौद्ध गाथाओं के जो चित्र अंकित हैं, वे भारतीय पुरातत्व की तो अमूल्य निधि हैं ही, पालि-त्रिपिटक की प्राचीनता और प्रामाणिकता को दिखाने के लिए भी उनका प्रमाण अन्तिम और पूर्णतम रूप से निश्चित है। हम पहले लिख चुके हैं कि इन स्तूपों के लेखों में भिक्षुओं के विशेषण-स्वरूप 'सुत्तन्तिक' 'पेटकी' 'धम्मकथिक' 'पञ्चनेकायिक' 'भाणक' जैसे शब्दो का प्रयोग किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि जिस समय ये लेख लिखे गये थे बुद्ध वचनों का "पिटक" 'सुत्त' 'पच निकाय' आदि में वर्गीकरण प्रसिद्ध था और उसका सगायन करने वाले (भाणक) भिक्षु भी पाये जाते थे। अत पालि त्रिपिटक प्राय अपने उसी विभाजन मे जिसमें वह आज उपलब्ध हैं, तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व भी पाया जाता था, यह निश्चित

---

१. **सांची और भारहुत के अभिलेखों के अध्ययन के लिए देखिये विशेषतः बाड़ुआ और सिंह "भारहुत इन्सक्रिप्शन्स" कलकत्ता १९२६; मैं से : साँची और इटूस-रिमेन्स लन्दन १८९२, मार्शल : ए गाइड टू साँची, कलकत्ता १९१८; हिन्दी में अभी इस विषयक विशेषतापूर्ण अध्ययन नहीं किया गया।**

है। एक और प्रमाण भी इन्हीं स्तूपो से इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मिलता है। भारहुत और साँची की पाषाण-वेष्टनियों पर बौद्ध गाथाओं के चित्र अंकित है, जो जातक की अनेक गाथाओ से विचित्र समानता रखते है। इतना ही नही, भारहुत-स्तूप में तो कुछ जातक-गाथाओं के नाम तक भी उल्लिखित हैं, जो इस प्रकार हैं (१) वितुर पुनकिय (२) मिग (३) नाग (४) यवमझकिय (५) मुगपकय, (६) लतुवा (७) छन्दन्तिय (८) इसिसिगिय, (९) य बमणो अवयेसि, (१०) हस, (११) किनर (१२) इसिमिगो (१३) जनोको राजा, (१४) सिवला देवी (१५) उद (१६) सेछ (१७) सुजतो गहुतो (१८) बिडल जातक (१९) ककुट जातक (२०) मघादेविय (२१) भिस और (२२) हरनिय। इन जातको की गाथाएँ और कही कही नाम भी आज प्राप्त 'जातक' की इन कहानियों से समानता रखते हैं (१) विधूर पडित (२) निग्रोध (३) कक्कट, (४) महाउम्मग्ग (५) मूगपक्ख (६) लतुकिका (७) छद्दन्त (८) अलम्बुस (९) अन्धभूत, (१०) नच्च, (११) चन्द, (१२) किन्नर, (१३) मिगपोतक, (१४) महाजनक, (१५) दब्ब-पुप्फ, (१६) दूभिय मक्कट, (१७) सुजात, (१८) कुक्कुट, (१९) मखादेव और (२०) भिस जातक। भारहुत-स्तूप मे कही कही दृश्य तो अंकित हैं किन्तु नीचे उनके नाम नही दिये गये हैं। फिर भी इन चित्रों से विदित होता है कि वे पालि-जातक की कुछ कहानियों के चित्रो को ही अंकित करते है। इस प्रकार की 'जातक' की कहानियाँ जो यहाँ अंकित हैं, ये हैं (१) कुरुग-मिग (२) सन्धि-भेद, (३) असदिस, (४) दसरथ, (५) महाकपि, (६) चम्मसतक, (७) आराम-दूसक और (८) कपोत जातक। अत इन सब साक्ष्यो से स्पष्ट है कि न केवल पालि-त्रिपिटक बल्कि उसके उसके कुछ विशिष्ट ग्रन्थ भी अपने उसी स्वरूप मे, जैसे वे आज हैं, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व भी विद्यमान थे। इस प्रकार साँची और भारहुत के महत्वपूर्ण अभिलेख और चित्र अशोक के शिला-लेखों के साक्ष्य का ही अनुमोदन करते हुए 'तेपिटक' बुद्ध-वचनों की प्रामाणिकता का साक्ष्य देते हैं।

सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख

सारनाथ संग्रहालय मे लबे आकार की बोधिसत्व की एक मूर्ति सुरक्षित हैं। उस पर तीन अभिलेख अंकित हैं, जो कुषाण-राजा कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष अंकित किये गये थे। इन लेखो का विषय बुद्ध का 'धम्मचक्क-पवत्तन' है। पचवर्गीय भिक्षुओ के प्रति भगवान् ने वाराणसी में चतुरार्य सत्य-विषयक जो उपदेश दिया वह यहाँ इन शब्दो में अंकित है "चत्तारि मानि भिक्खवे अरियसच्चानि। कतमानि चत्तारि? दुक्ख दि भिक्खवे अरिय सच्च। दुक्खसमुदयो अरियसच्च दुक्ख निरोधो अरियसच्चं दुक्खनिरोधो गामिनीच पटिपदा।" इसका हिन्दी अनुवाद है—"भिक्षुओ! ये चार आर्य सत्य है? कौन से चार? भिक्षुओ! दुःख आर्य सत्य है, दु.ख-समुदय आर्य-सत्य है, दुःख निरोध आर्यसत्य है, दु ख निरोध गामिनी प्रतिपदा (मार्ग) आर्य सत्य है।" 'धम्मचक्क पवत्तनसुत्त' का यह अक्षरशः उद्धरण ही है। कनिष्क ने इसे अंकित करवाकर उसी स्थान पर रक्खा जहाँ पर कि वह ऐतिहासिक रूप से प्रथम वार दिया गया था, इससे स्पष्ट विदित होता है कि ईसवी सन् के लगभग (कनिष्क का समय) पालि-माध्यम मे निहित बुद्ध-वचन ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक माने जाते थे। अशोक तथा साँची और भारहुत के अभिलेखों के कालक्रम से प्राप्त साक्ष्य का इस प्रकार यह अभिलेख भी अनुमोदन करता है।

मौंगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख

स्वर्णपत्रों पर लिखे हुए दो पालि-अभिलेख बरमा मे प्रोम के समीप मौंगन नामक स्थान पर मिले है। सभवत. ये पाँचवी-छठी शताब्दी ईसवी के हैं और दक्षिण भारत की कदम्ब (कन्नण-तेलगू) लिपि मे लिखे हुए हैं। प्रथम अभिलेख यह है "ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतु तथागतो आह तेसं च निरोधो एवंवादी महासमणो ति, चत्वारो सम्मप्पधाना, चत्वारो सतिपट्ठाना, चत्वारि अरियसच्चानि, चतु वेसारज्जानि पञ्चिन्द्रियाणि, पञ्च चक्खूनि, छ असद्धारणानि, सत्त बोज्झंग, अरियो अट्ठ-गिको मग्गो, नव लोकुत्तरा धम्मा, दस बलानि, चुद्दस बुद्धञ्ञाणानि, अट्ठारस बुद्धधम्मा.

ति।" इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं उनके हेतु को तथागत बतलाते हैं और उनके निरोध को भी, उन महाश्रमण का यही मत है, जैसे कि चार सम्यक् प्रधान, चार स्मृति-प्रस्थान, चार आर्य-सत्य चार वैशारद्य, पाँच इन्द्रिय, पाँच चक्षु, छह असाधारण, दस बल, चौदह बुद्ध-ज्ञान, एवं अठारह बुद्ध-धर्म।" इस अवतरण का प्रथम भाग अर्थात् यह अंश "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न है उनके हेतु को तथागत बतलाते है और उनके निरोध को भी, यही उन महासमण का मत है" बुद्ध के सारे मन्तव्य को जैसे एक संक्षिप्त सूत्र में ही रख देता है। पालि-त्रिपिटक में भी यह बहुत प्रसिद्ध है। अस्सजि (अश्वजित्) नामक भिक्षु ने यही कहकर प्रथम बार सारिपुत्र को बुद्ध-मन्तव्य का परिचय दिया था। बाद के अंश में बोधिपक्षीय धर्मों का परिगणन कराया गया है जो बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की एक परिपूर्ण सूची है। स्थविरवाद बौद्ध धर्म बुद्ध-धर्म के नैतिक सिद्धांतों को आधार मानकर भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बोधिपक्षीय धर्मों को ही उनका मुख्य मन्तव्य मानता है। पाँचवी छठी शताब्दी में बरमी बौद्ध धर्म की प्रगति पर यह स्वर्ण-पत्र लेख अच्छा प्रकाश डालता है। द्वितीय स्वर्णपत्र पर भी प्रथम लेख के आदि का अंश अंकित है किन्तु उसके बाद यहाँ त्रिरत्न की वन्दना और अंकित हैं, यथा—'तिपि सो भगवा अरहं सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देव मनुस्सान बुद्धो भगवाति। यह भी पालि त्रिपिटक का ही एक उद्धरण है। इसका हिन्दी अनुवाद है "वे भगवान् अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या-चरण सम्पन्न, सुगत, लोकविद, अद्वितीय पुरुष-दम्य सारथी, देव और मनुष्यों के शास्ता, भगवान् बुद्ध है)' बुद्ध-भक्ति के उद्‌गार-स्वरूप ही ये लेख लिखे गये हैं।

मब्जा का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्णपत्र-लेख

बरमा में प्रोम के पास मब्जा नामक स्थान पर बीस स्वर्ण-पत्रों पर लिखा हुआ एक पालि अभिलेख पाया गया है। यह भी दक्षिण-भारत की कन्नड़-तेलगू प्रकार की लिपि में लिखा हुआ है। इस अभिलेख में विनय और

अभिधम्म पिटक के कुछ उद्धरण अंकित है । बरमा मे पालि-बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

मञ्ज़ा के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख

बरमा में मञ्ज़ा (प्राचीन प्रोम) के बोबोगी पेगोडा मे सन् १९१०-११ ई० मे तीन खंडित पाषाण-लेख मिले, जो संभवत: छठी शताब्दी ईसवी के हैं । इनकी लिपि भी दक्षिण भारत की कन्नड-तेलगू लिपि से मिलती जुलती है । इन अभिलेखों में पालि-त्रिपिटक विशेषत. अभिधम्म-पिटक के ही किसी ग्रन्थ का उद्धरण हैं, जिसका अभी निश्चयत पता नही लगाया जा सका है । इस अभिलेख से बरमा की अभिधम्म-पिटक संबंधी अध्ययन की ओर विशेष रुचि का जो वहाँ प्रारम्भ से ही रही है, पता चलता है ।

१४४२ ई० का पेगन (बरमा का अभिलेख)

बरमा के तोंगद्विन नामक प्रान्त के प्रान्तपति बौद्ध उपासक और उसकी पत्नी ने १४४२ ई० में वहाँ के भिक्षु-संघ को कुछ महत्वपूर्ण दान दिया था । उसी की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए यह लेख अंकित करवाया गया था । इस लेख में अन्य बातो के साथ साथ उन ग्रन्थो का भी उल्लेख है जिनका दान उक्त प्रान्तपति ने भिक्षु-संघ को दिया था । अत बरमा में पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से इस अभिलेख का एक विशेष महत्व है । एक विशेष महत्व-पूर्ण बात इस अभिलेख की यह भी है कि यहाँ पालि-ग्रन्थो की सूची में अमरकोश, वृत्तरत्नाकर जैसे कुछ संस्कृत-ग्रन्थ भी सम्मिलित है, जो बरमा मे तद्विषयक अध्ययन की परम्परा का अच्छा साक्ष्य देते हैं । पन्द्रहवी शताब्दी तक बरमी पालि साहित्य की प्रगति को दिखाने के लिए यद्यपि इस अभिलेख मे निर्दिष्ट ग्रन्थों का अधिक विवेचन अपेक्षित है, किन्तु विस्तार भय से हम यहाँ ऐसा न कर केवल उनका नाम परिगणन मात्र ही करते हैं[1] जिनकी भी संख्या २९५ है । यथा—(१) पराजिककंड, (२) पाचित्तिय, (३) भिक्खुनी, विभंग, (४) विनय-महावग्ग,

---

१. विशेष विवेचन के लिए तो देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ १०१- १०९ ।

(५) विनय-चूलवग्ग, (६) विनय-परिवार, (७) पाराजिक-कंड अट्ठकथा, (८) पाचित्तियादि-अट्ठकथा (९) पाराजिककंड-टीका, (१०) तेरसकंड टीका, (११) विनय-सग्रह-अट्ठकथा विस्तृत,) (१२) विनय-संग्रह-अट्ठकथा (सक्षिप्त), (१३) कंखा वितरणी-अट्ठकथा, (१४) खुद्दक सिक्खा टीका, (प्राचीन), (१५) खुद्दक सिक्खा टीका (अभिनवा), (१६) कंखा-टीका (अभिनवा), (१७) विनय गण्ठिपद, (१८) विनय-उत्तर-सिचय-अट्ठकथा, (१९) विनय-सिचय-टीका, (२०) विनयक्खन्ध निद्देस, (२१) धम्मसगणि, (२२) विभंग, (२३) धातुकथा, (२४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (२५) कथावत्थु, (२६) मूलयमक, (२७) इन्द्रिय यमक, (२८) तिक-पट्ठान, (२९) दुक-तिक-पट्ठान, (३०) दुक-पट्ठान, (३१) अट्ठसालिनी-अट्ठकथा, (३२) सम्मोह विनोदनी-अट्ठकथा, (३३) पञ्चप्पकरण कथा, (३४) अभिधम्म-अनुटीका, (३५) अभिधम्मत्थसगह-अट्ठकथा, (३६) अभिधमत्थसगह-टीका, (३७) अभिधम्मत्थ विभावनी-टीका, (३८) सीलक्खन्ध, (३९) महावग्ग, (४०) पाथेय्य, (४१) सीलक्खन्ध-अट्ठकथा, (४२) महावग्ग-अट्ठकथा, (४३) पाथेय्य-अट्ठकथा, (४४) सीलक्खन्ध टीका, (४५) महावग्ग-टीका, (४६) पाथेय्य-टीका, (४७) मूलपण्णास, (४८) मूलपण्णास-अट्ठकथा, (४९) मूलपण्णास-टीका, (५०) मज्झिमपण्णास, (५१) मज्झिमपण्णास-अट्ठकथा, (५२) मज्झिमपण्ण टीका, (५३) उपरिपण्णास (५४) उपरिण्णास-अट्ठकथा (५५) उपरिण्णास टीका (५६) सगाथवग्ग-संयुत्त, (५७) सगाथवग्गसयुत्त-अट्ठकथा, (५८) सगाथवग्गसंयुत्त-टीका, (५९) निदानवग्ग-सयुत्त, (६०) निदानवग्ग सयुत्त-अट्ठकथा, (६१) खन्धवग्ग-संयुत्त, (६२) खन्धवग्ग सयुत्त-टीका, (६३) सडायतन वग्ग-संयुत्त, (६४) सठायतनवग्ग सयुत्त-अट्ठकथा, (६५) चतुकनिपात-अगुत्तर, (६६) अट्ठ-नव-निपात-अगुत्तर, (६७) महावग्गसंयुत्त, (६८) पञ्ञानिपात-अंगुतर (६९) छसत्तनिपात-अगुत्तर, (७०) अट्ठ-नव-निपात-अगुत्तर, (७१) दस-एकादस-निपात-अगुत्तर, (७२) एकनिपात अगुत्तरट्ठकथा, (७३) दुक-तिक-चतुक निपात-अंगुत्तर अट्ठकथा, (७४) पच्चादि-अगुत्तर-अट्ठकथा, (७५) अगुत्तर-टीका, (७६) अंगुत्तर-टीका, (७७) खुद्दक-पाठ अट्ठकथा सहित, (७८) धम्मपद अट्ठकथा सहित, (७९) उदान अट्ठकथा

-सहित, (८०) इतिबुत्तक अट्ठकथा सहित, (८१) सुत्त-निपात, अट्ठकथा सहित (८२) विमानवत्थु-अट्ठकथा-सहित, (८३) पेतवत्थु अट्ठकथा सहित, (८४) थेरगाथा अट्ठकथा सहित, (८५) थेरीगाथा अट्ठकथा सहित, (८६) पाठचरित्र (८७) एक निपात जातक-अट्ठकथा ,(८८) दुकनिपात जातक-अट्ठकथा, (८७) निक निपात जातक-अट्ठकथा, (९०) चतुक-पंच-छनिपात जातक अट्ठकथा, (९१) सत्त-अट्ठकथा, (९२) दस-एकादस निपात जातक ट्ठकथा, (९३) द्वादस-तेरस-पकिण्णक निपात-जातक-अट्ठकथा, (९४) वीसतिजातक-अट्ठकथा, (९५) जातत्तकी-सोतत्तकी-निदान-अट्ठ कथा, (९६) चूलनिद्देस, (९७) चूल-निद्देस-अट्ठकथा, (९८) महानिद्देस, (९९) महानिद्देस, (१००) जातक-टीका, (१०१) दुम-जातक-अट्ठकथा, (१०२) अपादान, (१०३) अपादान-अट्ठ-कथा, (१०४) पटिसम्भिदामग्ग, (१०५) पटिसम्भिदामग्ग-अट्ठकथा, (१०६) पटिसम्भिदामग्ग-गण्ठिपद, (१०७) विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथा, (१०८) विसुद्धि-मग्ग-टीका, (१०९) बुद्धवस-अट्ठकथा, (११०) चरियापिटक-अट्ठकथा, (१११) नामरूप टीका, (नवीन), (११२) परमत्थ विनिच्छय, (११३) मोह विच्छेदनी, (११४) लोक-पञ्ञति, (११५) मोह नयन, (११६) लोकु-प्पत्ति, (११७) अरुणवति, (११८) छगति दीपनी, (११९) सहस्सरसिपालिनी (१२०) दसवत्थु (१२१) सहस्सवत्सु (१२२) महिल वत्सु (१२३) पेटकोपदेस, (१२४) तथागतुप्पत्ति, (१२५) धम्मचक्क (-पवत्तनसुत्त), (१२६) धम्मचक्क-टीका, (१२७) दाठाधातुवस, (१२८) दाठाधातुवस-टीका, (१२९) चूलवस, (१३०) दीपवस, (१३१) थूपवस, (१३२) अनागतवस, (१३३) बोधिवस, (१३४) महावंस, (१३५) महावस-टीका, (१३६) धम्मदान, (१३७) महाकच्चायन, (१३८) न्यास, (१३९) थन्-व्यन्-टीका, (१४०) महाथेर-टीका, (१४१) रूपसिद्धि-अट्ठकथा, (१४३) बालावतार, (१४४) वुत्ति मोग्गल्लान, (१४५) पञ्चिक-मोग्गल्लान, (१४६) पचिक मोग्गल्लान-टीका, (१४७) कारिका (१४८) कारिका-टीका, (१४९) लिगत्थ विवरण (१५०) लिगत्थ विवरण टीका, (१५१) मुखमत्तसार, (१५२) मुखमत्तसार-टीका, (१५३) महागण, (१५४) चूलगण, (१५५) अभिधान, (१५६) अभिधान-टीका, (१५७) सद्दनीति, (१५८) चूलनिरुत्ति, (१५९) चूलसन्धि विसोधन,

(१६०) सद्दत्थभेदचिन्ता, (१६१) सद्दत्थभेद चिन्ता-टीका, (१६२) पद-सोधम, (१६३) सम्बन्ध चिन्ता-टीका, (१६४) रूपावतार, (१६५) सद्दावतार, (१६६) सद्धम्मदीपका, (१६७) सोनमालिनी, (१६८) सबन्धमालिनी, (१६९) पदा-वहामहाचक्क, (१७०) ण्वादि (मोग्गल्लान) (१७१) कतचा (१७२) महाका, (१७३) बालत्तजन, (१७४) मुत्तावलि, (१७५) अक्खरसम्मोहच्छेदनी, (१७६) नेतिद्धि नेमिपरिगाथा, (१७७) समासतद्धितदीपनी, (१७८) बीजक्ख्य, (१७९) कच्चायन-सार, (१८०) बालप्पबोधन, (१८१) अट्ठसालिनी, (१८२) अट्ठ-सालिनी निस्सय, (१८३) कच्चायन निस्सय, (१८४) रुपसिद्धि निस्सय, (१८५) जातक निस्सय, (१८६) जानकगण्ठि, (१८७) धम्मपदगण्ठि निस्सय, (१८८) कम्मवाचा (१८९) धम्ममत्त, (१९०) कलापपञ्चिका, (१९१) कलाप-पञ्चिका-टीका, (१९२) कलापमुत्त प्रतिञ्ञासकु, (१९३) प्रिन्डो-टीका, (१९४) रत्नमाला, (१९५) रत्नमाला टीका, (१९६) रोगनिदान, (१९७) दब्बगुण, (१९८) दब्ब गुण-टीका, (१९९) छन्दोविचिति, (२००) चन्द्रप्रुत्ति (चन्द्रवृत्ति), (२०१) चन्द्रपञ्चिकर, (२०२) कामन्दकी, (२०३) धम्मपञ्ञा-पकरण, (२०४) महोमट्ठि (२०५) सुबोधालकार, (२०६) सुबोधालकार-टीका, (२०७) तनोगबुद्धि, (२०८) तण्डि (सभवत दण्डी), (२०९) तण्डि-टीका, (२१०) चकदास, (२११) अरियसच्चावतार, (२१२) विचित्रगन्ध, (२१३) सद्धम्मुपाय, (२१४) सार सग्रह, (२१५) सारपिण्ड, (२१६) पटि-पट्ठि सगह, (२१७) मूलवारक, (२१८) पालतक्क, (२१९) तक्कमासा (तर्कभाषा) (२२०) सद्दकारिका, (२२१) कासिकाद्वुत्तिपालिनी, (२२२) सद्धम्मदीपिका, (२२३) सत्यतत्वावबोध, (२२४) चूलनिरुत्ति मंजूसा, (२२५) मजूसा टीका व्याख्य, (२२६) चूलनिरुत्ति मंजूसा, (२२७) अत्थव्याख्य, (२२८) अनुटीका व्याख्य, (२२९) पकिण्णक निकाय, (२३०) चत्थ पयोग, (२३१) मत्थपयोग, (२३२) रोगयात्रा, (२३३) रोगयात्रा-टीका, (२३४) सत्थेक विपसवप्रकास, (२३५) राजमत्तन्त, (२३६) परासब, (२३७) कोलद्धज, (२३८) बृहज्जातक, (२३९) बृहज्जातक-टीका, (२४०) दाठा धातुवस, टीका-सहित, (२४१) पतिक विवेक टीका, (२४२) अलकार-टीका, (२४३) चलिन्द पञ्चिका, (२४४) वेदविधिनिमित्तनिरुत्ति वण्णना, (२४५) निरुत्ति

व्याख्यं, (२४६) वुत्तोदय, (२४७) वुत्तोदय-टीका, (२४८) मिलिन्द-पञ्ह, (२४९) सारत्थ संगह, (२५०) अमरकोस निस्सय, (२५१) पिंडो निस्सय, (२५२) कलाप निस्सय, (२५३) रोगनिदान व्याख्यं, (२५४) दब्रगण टीका, (२५५) अमरकोस, (२५६) दडि टीका, (२५७) दडिटीका (द्वितीय), (२५८) दडि-टीका (तृतीय), (२५९) कोलध्वज टीका, (२६०) अलकार, (२६१) अलंकार-टीका, (२६२) भेसज्जमंजूसा, (२६३) युद्धजेय्य, (२६४) यतन प्रभा टीका, (२६५) विरग्ध, (२६६) विरग्ध-टीका, (२६७) चूला मणि-सार, (२६८) राजमत्तन्त टीका, (२६९) मृत्युवञ्चन, (२७०) महाकाल चक्क, (२७२) महाकालचक्क-टीका, (२७२) परविवेक, (२७३) कच्चायन रूपावतार, (२७४) पुम्मरसारी, (२७५) तक्तवावतार (तत्त्वावतार), (२७६) (२७७) न्याय बिन्दु, (२७८) न्यायबिन्दु टीका, न्यायबिन्दु टीका, (२७९) हेतुबिन्दु, (२८०) हेतुबिन्दु टीका, (२८१) रिक्ख- णिय यात्रा, (२८२) रिक्खणिय-यात्रा, टीका, (२८३) बरित्तरताकर (वृत्त रत्नाकर,) (२८४) श्यारामितकव्य, (२८५) युत्तिसग्रह (२८६) युत्ति सगह टीत्रा, (२८७) सारसंगह निस्सय, (२८८) रोग यात्रा निस्सय, (२८९) रोग निदान निस्सय (२९०) सद्दत्थभेद चिन्तानिस्सय, (२९१) पारानिस्सय, (२९२) श्याग मितकव्य-निस्सय, (२९३) बृहज्जातक-निस्सय, (२९४) रत्तमाला, (२९५) नरयुत्ति सगह।

रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का १४६७ ई० का कल्याणी अभिलेख

कल्याणी (पेगू-बरमा)-अभिलेख रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति ने सन् १४६७ ई० मे अकित करवाया था। बरमा मे बौद्ध धर्म के विकास, विशेषतः भिक्षु-सघ की परम्परा, पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पडता है। भिक्षुओ के उपसम्पदा-संस्कार की विधि एवं विहार-सीमा के निर्णय करने के विषय पर राजा धम्मचेति के समय मे बरमी भिक्षु-सघ मे विवाद उपस्थित हो गया। इस विवाद का निश्चित समाधान करने के लिए प्राचीन बौद्ध साहित्य, विशेषतः विनय पिटक और उसकी अट्ठकथा एवं उपकारी साहित्य

का काफी गवेषण किया गया । उसके परिणाम स्वरूप जो निश्चित मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ उसी का उल्लेख कल्याणी-अभिलेख मे है । यह विषय बौद्ध क्रिया-काण्ड से इतना संबधित है कि उसका उद्धरण देने से यहा कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता । पालि-साहित्य के वरमा मे विकास की दृष्टि से केवल इस अभिलेख पर अंकित उन पालि ग्रन्थों के नाम महत्वपूर्ण है जिनकी सहायता उपर्युक्त विवाद के शमनार्थ ली गई थी । इन ग्रन्थो में ये मुख्य है—पातिमोक्ख खुद्दक-सिक्खा, विमति-विनोदिनी, विनय-पालि, बज्रबुद्धि स्थविर (वजिरबुद्धि थेर ।) कृत विनय टीका या सारत्थदीपनी मातिकट्ठकथा या कखा वितरणी विनय विनिच्छयप्पकरण, विनयसगहप्पकरण, सीमालकार पकरण, सीमालकार सगह आदि । जैसा स्पष्ट है, बिनय-पिटक सबधी साहित्य ही इसमे प्रधान है ।

कल्याणी-अभिलेख इस दिशा में पालि-साहित्य सृजन की अंतिम काल सीमा निश्चित करता है । वह उस प्रभूत पाल-साहित्य की ओर भी सकेत करता है जो लका की तरह बरमा मे भी लिखा गया । पालि-साहित्य यद्यपि सस्कृत की तरह एक पूरा वाङ्मय नही है, फिरभी उसकी रचना भारत, लका और वरमा तीन देशो मे हुई है । उसकी अनेकविध बिखरी हुई सामग्री इसका प्रमाण है । पालि मे विभिन्न ज्ञान-शाखाओं पर ग्रन्थ नही लिखे गये । जो कुछ लिखे भी गये उनका भी आधार विशाल सस्कृत वाङ्मय ही था और उनका अपने आप मे कोई विशेष महत्व नही है ।

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में पालि साहित्य का स्थान

गत पृष्ठो में जिस साहित्य का पर्यालोचन किया गया है वह भारतीय साहित्य का अभी तक प्राय एक उपेक्षित अंग ही रहा है। सपूर्ण मध्यकालीन भारतीय आर्य साहित्य का ही वैसे तो यथावत् अध्ययन अभी हिन्दी मे नही किया गया। किन्तु पालि-साहित्य के अतिशय गौरवशाली होने के कारण उसकी उपेक्षा तो अत्यत हृदय द्रावक है। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक अर्थात् पूरे १२०० वर्ष के भारतीय इतिहास मे जो कुछ भी सबसे अधिक स्मरणीय, जो कुछ भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह पालि-साहित्य मे निहित है। इस युग का भारतीय समाज, धर्म, दर्शन और सबसे अधिक विश्व-संस्कृति को उसका मौलिक दान, सभी कुछ पालि साहित्य मे अकित है। फिर भी इस महत्वपूर्ण साहित्य का जितना अध्ययन और प्रकाशन कोलम्बो (सिहल), रगून, (बरमा), बकाक (स्याम) और पालिटैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन से हुआ है, उतना किसी भारतीय नगर या शिक्षा-केन्द्र के विषय मे तो कहा भी नही जा सकता। सपूर्ण भारत की बात जाने भी दे तो भी मध्य-मडल (शास्ता की विचरण भूमि) मे पालि स्वाध्याय की जो दयनीय अवस्था है उसे देखकर तो आश्चर्य होता है कि हम किस प्रकार अपनी सस्कृति के तत्वो के संरक्षण का दम भरते है। जिस सस्कृति के प्रभाव को चीन, जापान, कोरिया, मगोलिया, तिब्बत, मध्य-एशिया और अफगानिस्तान की भूमियाँ अभी नही भूली है, जिसकी स्मृतियाँ अभी तक लका, बरमा और स्याम के निवासियो के हृदय में, उनके सारे सामाजिक संस्थान और राजनैतिक विधान में गुथी हुई पडी है, उसे हम भारतवासी, जो उसके वास्तविक प्रतिनिधि है, भूल चुके है। यह एक दुःखद, किन्तु सत्य बात है। भगवान् बुद्ध के जिस शासन के माध्यम से हम संसार के संपर्क मे आये

थे, उसे हम आज तोड चुके हैं। आज हम कच्ची बुनियादों पर महल खड़े कर रहे हैं। समय ही बतायेगा कि वे बुनियादें कितनी स्थायी होती हैं। हाँ इतिहास की ओर मुड़कर हम चाहें तो एक ऐसे आधार का भी आश्रय ले सकते हैं जिसकी परीक्षा पहले हो चुकी है। यह आधार उस साहित्य और संस्कृति का है जिसे हम बुद्ध के नाम से संयुक्त करते हैं। इस माध्यम की पूर्व परम्परा बड़ी शुभ्र रही है। इसके द्वारा हम जिस किसी से मिले तो उसका शोषण करने के लिए नहीं, बल्कि अपने सपर्क से केवल उसी को कृतार्थ करने के लिए उसी के अनुकम्पार्थ ! अशोक के प्रव्रजित पुत्र महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं ने जब लंकाधिपति देवान पिय तिस्स से गौरव भरे शब्दों में यह कहा 'हम तेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भारत से यहाँ आये हैं' (तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता) तो उन्होंने अपने इन शब्दों में उस सारी भावना का ही प्रतिनिधित्व कर दिया जिससे प्रभावित होकर शत-सहस्र धर्मोपदेशक भिक्षुओं और मानव जाति के सेवक भारतीय मनीषियों ने हजारों कोसों की भयानक पैदल यात्राएँ कर विदेश-गमन किया था। इन स्मृतियों की पृष्ठभूमि को लेकर चाहे तो भारतीय राष्ट्र आज भी कम से कम एशिया के देशों में अपने पूर्व संबंधों को फिर से जीवित कर सकता है, उनके साथ मैत्री के संबंध दृढ़तर कर सकता है। पालि साहित्य का शुभ आशीर्वाद सदा उसे अपने इस प्रयत्न में मिलेगा।

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि साहित्य का अर्थ-गौरव और उसकी प्रभावमयी ओजस्विनी भाषा-शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। किन्तु उसके इस संबंधी गुणों या ऐतिहासिक महत्व के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। पहले भी इसके संबंध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। भारतीय साहित्य के इतिहास में पालि का स्थान सब प्रकार संस्कृत के साथ है। संस्कृत साहित्य रूपी महासमुद्र में ही आर्य जाति के संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का भांडार निहित है। उसी महासागर का एक आवर्त पालि भी है। पालि संस्कृत से व्यतिरिक्त नहीं, बल्कि भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से वह उसी का एक रूपान्तर या अंग ही है। अतः संस्कृत साहित्य के अविभाज्य अवयव के रूप में पालि का महत्व भारतीय साहित्य में सदा सुप्रतिष्ठित रहना चाहिये हां, भारत की

सीमा के बाहर के देशों मे पालि अपनी जेष्ठ भगिनी संस्कृत से भी कहीं कहीं प्रभावशीलता में अधिक बढ़ गई है। इसका कारण है पालि का तथागत की सन्देश-वाहिका होना। अपने इस गौरव के कारण ही सचमुच पालि जैसी प्रादेशिक भाषा को भी विश्वजनीन होने तक का सौभाग्य मिल गया है, जो संभवतः आज तक अशतः सस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा को नही मिला।

पालि और विश्व-साहित्य

जर्मन कवि–दार्शनिक गेटे ने साहित्य को विश्व का मानवी-करण कहा है। दुनिया का शायद ही कोई साहित्य इस कसौटी पर खरा उतर सके जितना पालि साहित्य।

भारतीय भाषाओ मे यदि किसी के भी साहित्य मे विश्व जनीन तत्व सबसे अधिक है तो निश्चय ही पालि में। गत पृष्ठों मे पालि साहित्य के विवेचन मे यदि लेखक ने अधिक प्रमाद नही किया है तो उससे स्पष्ट हो गया होगा कि पालि साहित्य एक धार्मिक संप्रदाय (स्थविरवाद बौद्ध धर्म) का ही साहित्य नही है, बल्कि वह जाति-धर्म-निर्विशेष विश्व-मानव का साहित्य है, जो विश्वजनीनता की भावनाओ से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारतीय भूमि से उद्भूत होकर उसका विकास समान रूप से ही अन्य देशो मे भी हुआ है। सकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति उसके अन्दर नही है। वह मनुष्य मात्र की समस्याओ को लेकर उनके समाधान के लिए खड़ा है जिनमें देश या राष्ट्र का वैसा कुछ भेद नही होता। बुद्ध-धर्म कैसे विश्व धर्म हो गया इसका बहुत कुछ रहस्योद्घाटन पालि-साहित्य मे ही हो जाता है। यहां कोई ऐसा विशिष्ट विश्वास नही, कोई ऐसा कर्मकाड का विधान नही, कोई ऐसा देवत्व का आदर्श नही, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद डाल सके। यहा केवल नैतिक आदर्शवाद है, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न है, और यह सब है मनुष्य को मनुष्य समझकर मनुष्य के द्वारा मनुष्य को मार्ग दिखाकर। यदि धर्म के नाम पर मानवता का अपलाप ही आज हमारे अनेक अनर्थों का कारण है, तो पालि-साहित्य हमें आज उसके प्रतिकार करने के लिए आह्वान करता है। यदि मनुष्यता के गठ-

बन्धन में बँधना ही विश्व-मानव के भावी कल्याण का एकमात्र मार्ग है और उसी के लिए चारो ओर से प्रगति करनी है तो उसके लिए भी पालि साहित्य सबसे पहले हमारा आह्वान करता है और हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है। विश्व-धर्म के प्रसारक इस साहित्य का यदि समुचित प्रचार और प्रसार किया जाय तो निश्चय ही यह भारतीय जनता को ससार के शेष मनुष्यो के साथ मनुष्यता की उस समान भूमि पर लाकर खड़ा कर देगा जिसकी आज सबसे अधिक आवश्यकता है और जिसके बिना भारत विश्व-सस्कृति को अपने उस महत् दान को दे भी नही सकता जिसे उसने बुद्ध-धर्म के रूप मे कभी उसे दिया था।

परिशिष्ट

१—नामानुक्रमणी

अ

इ

ई

उ

ग

थ

द

ध

न

प

फ

ब

भ

म

व

ष

स

ह

२—उद्धृत पालि शब्दों की अनुक्रमणी

अ

ग

घ

च

छ

ज

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

स

ह

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९ भूमिका	१३	नडे	नई
मिका	१७	पाडता	पड़ता
१२ भूमिका	१५-१६	पालि साहित्य संबंधी लेख	
११	पद-संकेत की प्रथम पंक्ति	हम	इम
२९	१९	शब्द-शोधन	शब्द-साधन
३१	पद-संकेत की अंतिम पंक्ति	प्रकृष्टं विदु	प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः
६०	१७	ऐरिम	एरिस
१२१	२१	मिनयेक	मिनयेफ
१२८	पद-संकेत की पांचवी पंक्ति	पूर्वागान	पूर्वागत
१२९	२४	करिस्समि	करिस्सामि
१६१	२२	वोज्झङ्ग	बोज्झङ्ग
२२७	८	सम्मोधि	सम्बोधि
२५२	३	उपसम्पता	उपसम्पदा
२७८	१८	भनन्त	भदन्त
३३०	१०	अनुभव	अनुश्रव
४८७	२	सब्बेव	सब्बेव
४९७	१०	अट्‌कथाय	अट्ठकथाय
४९९	पद-संकेत की दूसरी पंक्ति	बुद्धकोष	बुद्धघोष
५०४	५	पालि-सात्यि	पालि-साहित्य
५०७	६	धम्मकित्ति महासामि (धर्मकीर्ति महास्वामी)	महामंगल
५०९	पद-संकेत की अंतिम पंक्ति	जा तो	जातो
५१०	१०	विसुद्धमग्ग	विसुद्धिमग्ग
५१०	१६-१७	मज्झिम-निकया	मज्झिम-निकाय
५१५	पद-संकेत की पहली पंक्ति	विसुद्धिमग्गो	विसुद्धिमग्गे
५२६	२०	विशेष	विषय
५३५	११	कार्यकर्मज्ञता	कायकर्मज्ञता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४०	१	विनया, विनिच्छयटीका	विनयविनिच्छय टीका
५४०	११	[illegible]	बुद्धदत्तकृत
५४०	२६	दाढावंस	दाठावंस
५४२	१२	बुद्धघोसुप्पति	बुद्धघोसुप्पत्ति
५५०	५	ग्रन्थो	ग्रन्थ
५५६	११	सातव	सामर्वे
५६२	१०	सगति	सगीति
५६२	२२	समाश्रमणीय	समाश्रयणीय
५६३	१६	इतिपनन	इसिपतन
५६७	२३	सुदक	खुद्दक
५६९	७	बुद्धकोष	बुद्धघोष
५७२	१५	समन्तपासीदिका	समन्तपासादिक
५७५		२२४६	१२४६
५७५	१३	दाठवस	दाठावंस
५७६	१५	गन्वस	गन्धवंस
५७७	२२	सुद्दकपाठट्ठकथा	खुद्दकपाठट्ठकथा
५७८		पमग्त्थविनिच्छय	परमत्थविनिच्छय
५७८		सुबावलकार	सुबाधालकार
५७९	८	नवमोग्गलान	नवमोग्गल्लान
५८०	१५	सद्दत्थभेदविस्ताय	सद्दत्थभेदचिन्ताय
५८३	१४	उन्न	उन्नत
५९५		विटरनिग्त्ज़	विटरनित्ज़
६०१		पणिनीय	पाणिनीय
६०७		ग्रन्त	ग्रन्थ
६०७		उपकार	उपकारी
६११, ६१२, ६१३		मोबिल	मेबिल
६१२		विमत्यत्थप्पकरण	विभत्यत्थप्पकरण
६१३		रूपकाद्यपसिद्धि	रूपसिद्धि
६३३		विजिलावीसे	विजितावी सो
६४४	२१	राजनितक	राजनैतिक
६४६	९	कसौटी पर खरा	[illegible] पर उतना खरा